आधुनिक हिन्दी नाटकों

का

मनोवैज्ञानिक अध्ययन

[आगरा विश्वविद्यालय से पी० एच-डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

लेखक

डॉ० गणेश दत्त गौड़

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा आगरा

१९६५

मूल्य—१५ रुपये

प्रकाशक—
प्रतापचन्द जैसवाल
संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

एक हजार प्र तयाँ

जनवरी १९६५

⊙

मूल्य—१५ रुपया

⊙

मुद्रक—
पं० फूलशंकर पाराशर
पाराशर प्रिंटिंग प्रेस, धूलिया गंज आगरा।

विषय-सूची

समर्पण

वात्सल्यमयी

पूज्या माता जी

के

चरणों में

जिस पूत साधना के हित
माँ साधक मुझे बनाया;
उन साधों की माला का
है तुमको आज समर्पण ।

—गणेशदत्त गौड़

प्राक्कथन

अपने शोध प्रबन्ध की प्रस्तावना लिखते हुए मुझे नाटककार शॉ की ये पंक्तियों हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं—

'There is nothing that people will not believe now a days if only it be presented to them as science, and nothing they will not disbelieve if it be presented to them as relegion.'

कितना कटु सत्य है ! वस्तुत: आजकल वैज्ञानिक पद्धति विश्वसनीय एवं वाञ्छनीय बनती जा रही है । इसी तथ्य के अनुसार मैंने अपने शोध प्रबन्ध में धर्म और संस्कृति की अपेक्षा वैज्ञानिक तुला को प्रश्रय दिया है ! शोध प्रबन्ध का शीर्षक "प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन" है ! इसमें आद्योपान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही प्रतिपाद्य नाट्य साहित्य का विज्ञान की कसौटी पर रख कर परखा गया हैं । थीसिस के परीक्षक ने मेरी इस परख की जिन शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति की है । उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं—

'The Candidate has worked very hard on the subject, and has tried to base his Conclusions on vasious theories pertaining to Psycho-analysis. As for as this part of the approach is concerned it is quite scientific and logical.

The Thesis is commendable. Classifications, interpretations and discussions on various aspects of the problem and enquiry are scientific and well thought of.,

मनोविज्ञान का क्षेत्र अपार है ! फलत: एक ग्रन्थ में उसकी अनन्त सामग्री को रखना असम्भव था। आधुनिक हिन्दी नाटककार जिन मनस्तत्त्ववेत्ताओं से अनुप्राणित हैं । तत्सम्बिन्धी मान्यताओं को ही यहाँ आधार बनाया गया है। इतनी सीमित मनोवैज्ञानिक सामग्री पर भी आधुनिक नाट्य साहित्य को विज्ञान की तराजू पर तोलने वाले साहित्यकों और मनोवैज्ञानिकों के लिए यह ग्रन्थ आग्रह की दृष्टि से देखेगा कि उसका आद्योपान्त अध्ययन किया जाये ।

यह शोध प्रबन्ध आगरा विश्व-विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत है । इसको पूरा करने में जिन साधु विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ है । उनके प्रति आभार प्रदर्शन करना मेरे लिए आवश्यक है ।

वस्तुत: इस शोध प्रबन्ध को सम्पन्न करने का श्रेय धर्म समाज कालिज अलीगढ़ की महान् विभूतियों को है । कालिज के प्रिंसिपल साहब श्री वंशगोपाल झिंगरन की प्रेरणा ही इस शोध प्रबन्ध में सजीव हो उठी है । हिन्दी विभाग

के अध्यक्ष डा० मनोहरलाल गौड़ और डा० गोपालदत्त सारस्वत की आँखों के नीचे होकर थीसिस का एक-एक अक्षर गुजरा है। उनके मार्ग-प्रदर्शन के बिना इस कार्य में सफलता मिलनी कठिन थी। रिसर्च का प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त जटिल एवं दुरूह था, किन्तु डा० गौड़ जी ने इस विषमता को स्वयं महसूस करते हुए भी मेरे धीरज का बाँध नहीं टूटने दिया। उक्त दोनों विद्वानों द्वारा प्राप्त अदम्य साहस के सहारे मैं यहाँ तक निर्भीक चला आया हूँ।

इस कार्य में डा० हरबंशलाल शर्मा अध्यक्ष (हिन्दी-संस्कृत विभाग मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़) का सहयोग स्तुत्य है—वास्तव में शोध कार्य की दिशा उन्होंने ही मुझे दिखाई है। आचार्य प्रवर डा० नगेन्द्र, डा० देवराज उपाध्याय (जयपुर) और डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना (खुर्जा) आदि विद्वानों ने भी रिसर्च की भूल भुलैयों से निकालकर मुझे महत्वपूर्ण एवं सही दिशा दिखायी है। मैं इन सभी विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ।

शोध प्रबन्ध को लिखते समय देश-विदेश के अनेकानेक विद्वानों के ग्रन्थों का अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए मैंने यथायोग्य उपयोग किया है। जिन कृतियों ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप में मुझे इस कार्य में योग दिया है उन सबके प्रति भी मैं अपनी गहरी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

—गणेशदत्त गौड़

२० अप्रैल १९६४ (दुर्गाष्टमी)

आमुख

यद्यपि हिन्दी नाटकों पर गम्भीर आलोचनात्मक ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है, पुनरपि कुछ विद्वानों द्वारा हिन्दी नाटकों का गहन अध्ययन शोध-प्रबन्धों के रूप में प्रस्तुत हो चुका है। स्थूल रूप में प्रायः ये प्रबन्ध तीन प्रकार के हैं—

(१) कुछ शोध-प्रबन्ध हिन्दी नाटकों तथा एकांकियों के उद्भव और विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हैं।[1]

(२) कुछ में हिन्दी नाटकों के किसी काल अथवा हिन्दी के प्रतिभा सम्पन्न नाटककारों की नाट्य कृतियों का शास्त्रीय अध्ययन हुआ है।[2]

१—(क) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास और विकास, डा० सोमनाथ गुप्त, आगरा विश्वविद्यालय सन् १९४७
(ख) भारतीय नाट्य साहित्य का उद्भव और विकास, डा० शिवनन्द पाण्डेय, कलकत्ता विश्वविद्यालय सन् १९५१
(ग) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा, दिल्ली विश्वविद्यालय सन् १९५२
(घ) हिन्दी नाटक साहित्य, उद्भव और विकास, डा० वेदपाल खन्ना, पंजाब विश्वविद्यालय सन् १९५२
(ङ) हिन्दी एकांकी, उद्भव और विकास, डा० रामचरण महेन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय सन् १९५७

२—(क) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सन् १९५७
(ख) जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, डा० जगदीश चन्द्र जोशी, राजस्थान विश्वविद्यालय सन् १९५७
(ग) भारतेन्दु का नाट्य साहित्य, डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, सागर विश्वविद्यालय सन् १९५२
(घ) भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, डा० गोपीनाथ [illegible] विश्वविद्यालय सन् १९५७

३—और कुछ शोध-प्रबन्धों में अँग्रेजी या पाश्चात्य नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव दिखाने का प्रयास किया गया है।[1]

इन शोध-प्रबन्धों में हिन्दी के विद्वानों ने अपने पाण्डित्य पूर्ण अध्ययय का यथा शक्ति परिचय दिया है। परन्तु उनकी इन गवेषणाओं में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से प्रवाहित हिन्दी नाटकों का अनुशीलन नहीं पाया जाता, जबकि परोक्ष या अपरोक्ष रूप में आधुनिक हिन्दी नाटक मनोवैज्ञानिक से अत्यधिक अनुप्राणित है। इस दशा में यदि एक दो विद्वानों ने कुछ दृष्टिपात किया भी है तो केवल संकेत मात्र। वे फ्राइड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रभाव की एक झलक दिखाकर आगे बढ़ गये हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी दिशा में प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों को मनोविज्ञान की कसौटी पर परखने का प्रथम प्रयास है, जिसमें मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को आधार बना कर इस नवीन मनोवैज्ञानिक धारा से अनुप्राणित नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों को जिन मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों ने अत्यधिक प्रभावित किया है, वे फ्राइडियन मनोविश्लेषण वाद की उपपत्तियां हैं। परिणामस्वरूप अन्य मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों की अपेक्षा मनोविश्लेषण सम्प्रदाय की प्रतिपत्तियों को प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अधिक प्रश्रय मिला है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की उपादेयता और उसका उद्देश्य—यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के उपन्यास, कहानी, नाटक, काव्य और आलोचना पर नवीन मनोवैज्ञानिक धारा का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में परिलक्षित है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक मानदण्डों को आधार मानकर हिन्दी साहित्य के विद्वानों द्वारा कथा साहित्य आलोचना एवं काव्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अनुसन्धान प्रस्तुत किये जा रहे है—

डा० देवराज उपाध्याय का 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' (१९५५) नामक शोध प्रबन्ध आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य पर पड़े हुये पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विचारधारा के प्रभाव को स्पष्ट करने का अभूतपूर्व प्रयत्न है।

१—(क) पाश्चात्य (अंग्रेजी) नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव, डा० धर्मकिशोर लाल (अंग्रेजी विभाग) प्रयाग वि० वि० सन् १९५१

(ख) हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, डा० श्रीपति आगरा विश्व विद्यालय सन् १९५८

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में डा० राकेश का शोध प्रबन्ध 'साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस' (१९४३) जोकि आंग्ल भाषा में लिखा गया है, इसी शृङ्खला की एक कड़ी है।

इसी प्रकार हिन्दी काव्य में भी नवीन मनोवैज्ञानिक धारा के प्रभाव को स्पष्ट करने का रूप यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना द्वारा 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' (१९५७) नामक शोध प्रबन्ध के षष्ठ प्रकरण में महाकाव्य कामायनी को इसी नवीन मनोविज्ञान की कसौटी पर रखकर परखा गया है।

परन्तु हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य नवीन मनोविज्ञान की विचारधारा के परोक्ष या अपरोक्ष रूप में पड़े हुये प्रभाव को ध्यान में रखकर आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्यक् रूप से अभी तक सम्पन्न नहीं हुआ है, जबकि मनोविश्लेषण सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सिगमण्ड फ्राइड ने अपने मनोविश्लेषण सिद्धान्तों की पुष्टि अधिकांश में शेक्सपीयर, इब्सन और शॉ के नाटकों से उदाहरण लेकर की है। इससे स्पष्ट है कि डा० फ्राइड ने दृश्य काव्य में जीवन की सची अनुभूतियों के प्रमाण प्राप्त किये हैं। इसके अतिरिक्त ओटोरैंक ने भी अपनी महत्व-पूर्ण गवेषणा के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि फ्राइडियन इडिपस ग्रन्थि के प्रमाण विशेषतया नाटकों में अन्तर्निहित हैं, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण सोफोक्लीज के दुःखान्त नाटकों में मिलता है। इस भांति इन मनस्तत्ववेत्ताओं के पुष्ट प्रमाणों से इस मत का समर्थन स्वतः हो जाता है कि नाट्य साहित्य का नवीन मनोविज्ञान से अति निकट का सम्बन्ध है।

आज जब अपने विशाल साहित्य की अभिवृद्धि के लिए हिन्दी साहित्य के विविध अंगों का पर्यालोचन शोध प्रबन्धों द्वारा पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है, ऐसी दशा में इस महत्वपूर्ण शृङ्खला को जोड़ने के लिए प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों में निहित नवीन मनोवैज्ञानिक धारा का अध्ययन करना अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी अभाव की पूर्ति का एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की रूपरेखा और उसका दिग्दर्शन—यों तो मनोविज्ञान की दृष्टि से सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर प्रायः सभी नाटक दृश्य श्रव्य माध्यम के कारण मनोविज्ञान के निकटवर्त्ती सिद्ध होते हैं। पर ऐसे अनुशीलन के लिए मनस्तत्व की अनन्त शाखाओं और उनकी उपपत्तियों का पर्यालोचन अपेक्षित था जो कि प्रतिपाद्य विषयानुसार अनुपयुक्त ज्ञात होता है। अतएव यहां उन्हीं मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को ग्रहण किया गया है जो सरल, सुगम और सुस्पष्ट हैं। मनोविज्ञान की विवाद-

ग्रस्त एवं उलझी हुई उपपत्तियों का आलोच्य ग्रन्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह मनोविज्ञान का विषय है।

प्रतिपाद्य विषय में मनोविज्ञान को केवल इसलिए प्रश्रय मिला है कि बीसवीं शताब्दी के चतुर्थांश के अनन्तर विश्व भर में मानव जाति की सभ्यता, संस्कृति और परिस्थितियों ने ऐसा मोड़ लिया है जिनसे मनोविज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। उसी मनोवैज्ञानिक गतिविधि का प्रभाव बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक के उपरान्त ही आधुनिक हिन्दी नाटकों पर भी सुस्पष्ट है। जिन मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों ने हिन्दी नाट्य साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है संक्षेप में उनका उल्लेख प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हुआ है।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित होकर आधुनिक काल के कुछ हिन्दी नाटककार अपने नाटकों के मुखपृष्ठ पर 'मनोवैज्ञानिक नाटक' लिखकर यह सिद्ध करना चाहते है कि उन पर मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव है। कुछ नाटककार पाश्चात्य 'स्ट्रिन्डवर्ग' 'मैतरलिंक' 'पिरेन्डेलो' और 'युगेन ओ नील' आदि मनोवैज्ञानिक नाटककारों का प्रभाव भी स्वयं स्वीकार करते हैं, जिससे पाश्चात्य मनोविज्ञान का प्रभाव उनके नाटकों पर पड़ना स्वाभाविक सिद्ध होता है। इस मत के प्रतिपादन में हिन्दी के आधुनिक विद्वानों का भी कथन है कि प्रायः प्रसादोत्तर युग के सभी हिन्दी नाटककारों फ्राइड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है।[1] फलतः इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय हिन्दी के विद्वानों एव नाटककारों से स्वीकार होने के कारण पुष्ट प्रमाण और तर्क सम्मत है।

बीसवी शताब्दी में मनोविज्ञान के उत्तरोत्तर विकास ने मानव जीवव को अत्यधिक प्रभावित किया है। अन्ततः साहित्य से उसका निकटतम सम्बन्ध हो गया है। इसी आधार को लेकर द्वितीय अध्याय में साहित्य और मनोविज्ञान का सम्बन्ध दिखलाया है। साहित्य और मवोविज्ञान के इस परिचय के उपरान्त हिन्दी साहित्य का मनोविज्ञान से सम्बन्ध स्वाभाविक प्रतीत होता है। अतएव हिन्दी साहित्य के चारों कालों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामान्य विश्लेषण भी इसी प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी काव्य, कथा और नाट्य साहित्य में मानवीय मनोविज्ञान की परम्परा शाश्वत प्रवहमान है। आधुनिक हिन्दी साहित्य पर परोक्ष या अपरोक्ष रूप में मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित है। ऐसी दशा में आधुनिक हिन्दी नाटकों की

१—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, डा० श्रीपति (आमुख)

प्रवृत्तियों पर मनोविज्ञान का प्रभाव स्वाभाविक है। तृतीय अध्याय में इसी प्रभाव का पर्यालोचन नाट्य साहित्य में निहित मनोवैज्ञानिक परम्परा के साथ हुआ है।

जिस प्रकार फ्राइड से पहले पश्चिम में मनोवैज्ञानिक परम्परा के प्रमाण उपलब्ध होते है, जिनके सन्दर्भों के आधार पर स्वयं फ्राइड ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि की, उसी भाँति पौरस्त्य नाट्य परम्परा मे भी यह मनोवैज्ञानिकता अनवरत गति से प्रवहमान है। ऋग्वेद के संवादों के उपरान्त संस्कृत नाटकों में मनोविज्ञान की यह स्वाभाविक परम्परा शूद्रक, भास, कालिदास और भवभूति के नाटकों मे मिलती है। मानवीय मनोविज्ञान की इस परम्परा का प्रभाव हिन्दी नाटककारों ने भी अपने नाटकों में स्वीकार किया है।

पश्चिम में इसी ढंग से मनोवैज्ञानिक परम्परा का यह रूप ग्रीक के सोफोक्लीज और यूरोपिडीज के दुःखान्त नाटकों से माना जा सकता है। रोम के 'सेनेका' के दुःखान्त नाटकों में होकर यह परम्परा शेक्सपीयर के नाटकों में स्पष्ट पाई जाती है। तदुपरान्त फ्रान्स के मौलियर, नारवे के 'इब्सन' और आयरलैण्ड के बर्नार्ड शॉ के नाटकों में इस मनोवैज्ञानिक परम्परा का यथार्थ रूप हमारे सामने आता है। इसी नाटककार टाल्सटाय के पात्रों की शतधा मनोविकृतियाँ इसी धारा में महत्वपूर्ण योग देती हैं। आधुनिक युग की अहंवादिता के परिणामस्वरूप यूरोपीय नाटकों के विभिन्न वादों—अर्थात् प्रकृतवाद, तथ्यातिरेकवाद, मनोविश्लेषणवाद और अभिव्यंजनावाद आदि के सभी नाटकों में यह परम्परा सुस्पष्ट मिलती है। अमेरिकन नाटककार 'युगेन ओ नील' रूस के 'चेखव', इटली के पिरेन्डेली, जर्मनी के 'सन्डरमैन', स्वीडन के 'स्ट्रिन्डवर्ग' और वेलजियम के 'मैतरलिंग' आदि नाटककारों ने अपने-अपने नाटकों में उक्त वादों के अन्दर नवीन मनोवैज्ञानिक धारा का परिष्कृत रूप उपस्थित किया है। इन नाटककारों द्वारा प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटककारों पर नवीन मनोवैज्ञानिक विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य पड़ा है। तृतीय अध्याय के दूसरे प्रकरण में इसी मनोवैज्ञानिक परम्परा एवं प्रभाव को तर्क एवं प्रमाण सहित दिखलाया गया है।

पूर्व प्रसाद युगीन एवं तत्कालीन नाटकों में मनोवैज्ञानिक स्थिति कैसी थी—इस मनोवैज्ञानिक परम्परा को स्पष्ट करने के लिये चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन नाटकों के सन्दर्भों एवं विद्वानों की पुष्टि द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए, उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामान्य विवेचन पंचम अध्याय में इसलिए रखा गया है कि प्रतिपाद्य नाटकों की कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया में समाविष्ट मनोवैज्ञानिक पद्धति स्पष्ट हो सके।

प्रसादोत्तर युग के प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटकों का सांगोपांग मनोवैज्ञानिक अनुशीलन कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया में सन्निहित मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के आधार पर षष्ठ अध्याय में हुआ है।

प्रसादोत्तर युग के गौण मनोवैज्ञानिक नाटकों को कथावस्तु पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया के आधार पर पृथक्-पृथक् करके सप्तम अध्याय में उनका विश्लेषण किया गया है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में ही आधुनिक हिन्दी नाटकों में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का प्रवेश हो चुका था। तदन्तर प्रत्येक दशक से इन प्रवृत्तियों से सम्पन्न नाटकों का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। उपसंहार में प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों में निहित इन्हीं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास दिखलाया गया है, क्योंकि प्रारम्भ से लेकर अब तक प्रतिवर्ष हिन्दी नाट्य साहित्य में कोई न कोई नाट्य कृति मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर अवश्य ही लिखी गयी है। राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक मर्यादाओं और औद्योगिक संस्कृति की अभिवृद्धि के कारण मनोविकारों का बाहुल्य अवश्यम्भावी है। आज हिन्दी के नाटककार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के आधार पर मनोविकृतियों के कारण और निवारण प्रस्तुत कर रहे हैं। इन सब परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से प्रभावित हिन्दी नाटकों का भविष्य उज्ज्वल है। प्रबन्ध के अन्त में ऐसी नाट्य कृतियों का भविष्य कारण सहित स्पष्ट किया गया है।
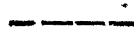
पहला अध्याय

मनस्तत्व की निरुक्ति एवं नवीन मनोविज्ञान के सिद्धान्त

आत्म विज्ञान और मनोविज्ञान—प्राचीन काल के सभी विचारक आत्मा की सत्ता में विश्वास करते थे। ग्रीक भाषा से गृहीत साइकालोजी शब्द का अर्थ तब आत्म विज्ञान था।[1] यह मनोविज्ञान बौद्धिक (Rational) अथवा दार्शनिक था। यह आत्मा के स्वरूप, व्यापार और परमगति का विवेचन करता था।[2] तभी उपनिषदों के मनोविज्ञान को, बौद्धिक मनोविज्ञान के कारण 'रेशनल साइकालोजी', कह सकते हैं। भारतीय दर्शन में मन अन्तरिन्द्रिय है। आत्मा मन के द्वारा ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, तथा संकल्प का प्रत्यक्ष करती है। आत्मा चेतनायुक्त है, परन्तु मन चेतन-हीन द्रव्य है। हम आज मन का प्रयोग भारतीय दर्शन के अर्थ में नहीं करते हैं।[3]

पाश्चात्य मनोविज्ञान के चिन्तन में बीसवीं शताब्दी से पूर्व ही आत्मा शब्द का प्रयोग छोड़ दिया गया था, तदनुसार मानस-शास्त्र का काम मानसिक दशाओं के अध्ययन तक ही सीमित रह गया। परिणाम-स्वरूप अब मनोविज्ञान अनुभवमूलक (Empirical) हो गया है। यह मन या चेतना का विज्ञान है। यह मानसिक प्रक्रियाओं के स्वरूप की जिज्ञासा करता है।[4]

मन की निरुक्ति—महर्षि यास्क ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्तम्' में मन 'शब्द की

१—दर्शन शास्त्र का इतिहास—डा० देवराज और डा० तिवारी। पृ० ८८
२—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा—अनु० भट्ट (सि० सं०)। पृ० ३३
३— ,, ,, ,, पृ० ३३-३४
४— ,, ,, ,, पृ० ३३

व्युत्पत्ति 'मनु' अवबोधन से की है, जिसका तात्पर्य अवबोधन, चिन्तन, मनन आदि माना है।[1]

अरस्तू ने भी मन को चिन्तन या मनन करने की शक्ति माना है और उसे आत्मा से परे स्वीकार किया है।[2]

हीगेल ने मन को तर्कों से भरे हुए विचारों का विकास मात्र बतलाया है।[3]

हर्बर्ट स्पेंसर ने मन को अविगत एवं अज्ञेय विचार-शक्ति का जागृत करने वाला सिद्ध किया है।[4]

फ्राइड ने मन में विचार, अनुभूति और इच्छा के क्रम के साथ-साथ उसमें अचेतन विचार और अचेतन इच्छायें मानी हैं।[5]

फलत: मन विचार और अनुभूतियों का पंजीकृत रूप है। मन के चिन्तन और मनन के उपरान्त अनुभूतियाँ सुविकसित हो पाती हैं। फ्राइडियन अतृप्त-दमितेच्छाओं का गुप्त भण्डार भी मन है।

मन के प्राकृतिक गुण—मन गतिशील होता है और इच्छा-शक्ति उसे आगे बढ़ाती है। मन की पूरक इकाइयाँ विचार न होकर प्राकृतिक गुण होती है। इसी विचार को सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने अपने दर्शन में यह कहकर व्यक्त किया है कि अपने गुणों के अनुसार मन एक रूपरेखा अथवा चित्र बना लेता है और इसी चित्र के अनुसार हम वास्तविकता की व्याख्या करते हैं। अर्थात् मन बाह्य परिस्थितियों का निष्क्रिय दर्शक-मात्र नही है वरन् पूर्णतया सक्रिय और सर्जनात्मक है। काण्ट के अनुसार मन के तीन मुख्य गुण हैं—वे बोध (नोइंग) भावना (फीलिंग) और इच्छा (विलिंग) हैं। हम किसी वस्तु को देखते हैं— (बोध), उसे पाने की चाह करते हैं (भावना) और फिर उसे पाने का प्रयत्न करते हैं—(इच्छा)।[6]

श्रीमद्भगवद्गीता में मन अति चंचल, प्रमथन प्रकृतिवाला, बलवान, दृढ़ एवं वायु के समान गतिशील बतलाया है।[7] छान्दोग्य उपनिषद् में मन को ब्रह्म की संज्ञा

१—देखिए— निरुक्तम् महर्षि यास्क कृत-नैगम काण्ड ४।१।५। पृ० सं० १६५

2—History of Western Philosophy=By B. Russel pp 192-193

3—A History of Philosophy—By Frank Thilly—Page 4?5

4—A History of Philosophy—By Frank Thilly—Page 549

५—ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइकोनेलसिस-फ्राइड (हि० सं०) पृ० ७-८

६—रोगीमन-सूरज नारायण मुन्शी और निगम पृ० २१-२२

७—चंचलं हि मन: कृष्ण: प्रमाथि बलवत् दृढम्, तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।—श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६। ३४

दी है ।[1] प्लौटीनस ने भी मन को दैवी गुणों से ओत-प्रोत बतलाया है, किन्तु उसकी सत्ता आत्मा, इन्द्रिय और शरीर से भिन्न मानी है ।[2] सामवेद में मन को श्रेय एवं प्रेय सिद्ध किया है ।[3] अथर्ववेद में मन ही व्यवहार, स्वप्न और क्रान्ति का स्वरूप है । वही अन्तर्बाह्य रोगों की औषध है ।[4] तात्पर्य यह है कि मन ब्रह्म के समान जीवन की प्रेरक शक्ति है ।

मन द्रव्य-रूप—न्यायवैशेषिक में मन नौ द्रव्यों में एक है । मन परमाणु रूप और अनन्त है ।[5] बैनेडिक्ट स्पिनोजा भी मन को द्रव्य का विकार मानते हैं ।[6] जान लाक ने भी मन को द्रव्यों में स्थान दिया है ।[7] योग वासिष्ठ के अनुसार ये तीनों लोक मन के मनन द्वारा ही निर्मित हैं ।[8] देश और काल का क्रम मन के आधीन हैं ।[9] जिनका प्रियतमा से वियोग हो जाता है उन्हें एक दिन वर्ष के बराबर प्रतीत होता है ।[10] सांख्य योग के अनुसार मानसिक तत्वों और भौतिक तत्वों में भेद नहीं हैं ।[11] संक्षेप में मन और जड़ पदार्थ एक दूसरे से प्रभावित हैं ।

मन की दशायें—पाश्चात्य मनस्तत्ववेत्ताओं ने सारी मानसिक दशाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है :—

१ - संवेदन (फीलिंग)

२ — संकल्प (वालिशन) और

३—विकल्प अथवा विचार (थाट)

शतपथ ब्राह्मण में बुद्धि, संकल्प, काम, धृति, अधृति, श्रद्धा, अश्रद्धा, भय, लज्जा और संशय को मानसिक दशाओं के अन्तर्गत स्थान दिया है ।[12] ऐतरेय

१—छान्दोग्य उपनिषद् ३ ।१८ । १

2—History of Western Philosophy -pp 314 by B. Russel

३—भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् । सामवेद, पूर्वार्चिके ऐन्द्रकाण्डं मन्त्र सं० ४२२

४—देवांजन त्रैककुदं .... बाह्या पार्वतीया उत । अथर्ववेद १९ । ४४-६ अ०

५—भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास–डा० देवराज और तिवारी पृ० २६६

6—A History of Philosophy-By Frank Thilly page 328

7— „ „ „ 335

८—मनोमनन निर्माणमात्रमेतत् जगत् त्रयम् । योगवासिष्ठ ४ । १९ । २३

९—मनस्तदायत मतो देश कालक्रमं विदुः । „ ३ । १०३ । १४

१०—कान्ता विरहिणामेकं वासरं वत्सरायते । योगवाशिष्ठ ३ । २० । ५१

११—भारतीय दर्शन का इतिहास-डा० देवराज और तिवारी पृ० ३०४

१२—शतपथ ब्राह्मण १४ । ४ । ३ । ६

के अनुसार मानसिक दशाओं के नाम सज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, संकल्प काम और वश हैं।[१] छान्दोग्य में चित्त को संकल्प से ऊपर बतलाया है।[२] चित (चेतति या चेतयते) के अनुसार चेत होने के उपरान्त ही संकल्प की वृत्ति बनती है। जीवन को चेतना चित्त से प्राप्त होती है।[3] मनुष्य मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है।[४] इन्द्रियों पर मन की ही प्रधानता है। विभिन्न मानसिक दशायें मन का विकार ही तो हैं।[५] मन की दशा कभी एक सी नहीं रहती। स्काटलैंड के दार्शनिक ह्यूम का कथन है कि यदि हम अपने आन्तरिक जीवन का निरीक्षण करें तो इन्द्रिय, विज्ञानों वेदनाओं एवं इच्छाओं और संकल्पों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता।[६]

बौद्ध मानस-शास्त्र में अननुभूत मानसिक दशाओं को भी माना गया है। बौद्ध-विचारकों के इस अननुभूत मानसिक दशाओं के दृष्टिकोण को हम फ्राइड के अचेतन सिद्धान्त से मिलान कर सकते है। फ्राइड ने अन्तश्चेतना अथवा अव्यक्त-चेतना चित्त प्रदेश पर बहुत जोर दिया है। फ्राइड का मत है कि हमारे बाह्य-जीवन की क्रियाओं पर अन्तर्जगत् की निचली सतह में छिपी हुई गूढ़-वासनाओं का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ता है।[७] अतः प्राचीन एवं अर्वाचीन मानसिक दशायें बहुत कुछ समान प्रतीत होती हैं। अव्यक्त चेतना दोनों दृष्टियों से महान् है।

मन काम का मूल स्रोत—मन को ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में काम का रेतस् या मूल बीज कहा है।[८] फ्राइड के अनुसार मूल प्रवृत्ति कामवासना है। उसका अचेतन मन अतृप्त-दमित-कामेच्छाओं का केन्द्र है। यह भी ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के अनुसार अपने में काम का मूल बीज अन्तर्निहित किये हुए है। दमित-काम-वासनाओं के कारण फ्राइड ने अचेतन-मन को शैशवीय मानसिक जीवन ही बतलाया है।[९] निष्कर्षतः मन काम का मूल स्रोत विदित होता है, तभी काम की अतृप्ति से वह विकृत हो जाता है।

१—ऐतरेय उपनिषद् ३। २

२—छान्दोग्य उपनिषद् ७। ४। २

3—Sanskrit-English Dictionary-Varman Shiw Ram Apte. pp 492

४—मैत्री ४। ३

५—भारतीय दर्शन का इतिहास-डा० देवराज और तिवारी पृ० ८४

६—भारतीय दर्शन का इतिहास-डा० देवराज और तिवारी पृ० ६५

७— ,, ,, पृ० १६६

८—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदा सीत्। ऋग्वेद १०। १२९। ४

९—ए जनरल इन्ट्रोडक्सन टू साइकोनलिसिस-फ्राइड (हि० सं०) पृ० १८५

विकृत मन और उसका शोध—जब मन विषयाकार होता है और दृश्य (प्रपंच) में आसक्त होता है, तभी उसकी विकृत अवस्था होती है, क्योंकि तब उसमें राजस, तामस भावों का प्राधान्य हो जाता है। योग-दर्शनकार का मत है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा चित्त के मलिन संस्कार क्षीण हो जाते हैं।[1] उनमें सत्व के अंश की पराकाष्ठा हो जाती है। उस समय चित्त विषय वासनाओं की ओर से उपरत हो जाता है और उसकी स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है।[2]

योग-दर्शन के अनुसार निरोध ही आत्म-संयम है।[3] परन्तु फ्राइड ने इसको दमन की संज्ञा दी है। फ्राइड के मत में इड् प्रकृत-काम का भंडार है। वह अपनी तृप्ति के बीच में किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं चाहता। फलतः वह नियन्त्रण नहीं सहन करता। तभी वह अनियन्त्रित एवं अव्यवस्थित होता है। किन्तु नैतिकाहं की प्रताड़ना से अहं को उस पर नियन्त्रण करना पड़ता है, और इड् का अतृप्त-काम दमित होकर अज्ञात-मन में पहुंच जाता है जिससे मनोविकृतियों का प्रादुर्भाव होता है। फ्राइड ने अतृप्त-दमितेच्छाओ से निर्मित विकृत-मन का शोध मार्गान्तरीकरण द्वारा ऊर्ध्वगमन में बतलाया है, क्योंकि मनुष्य जीवन का विकास इसी ऊर्ध्वगमन द्वारा सम्भव है।

निदान, विकृत-मन का शोध अतृप्त-दमितेच्छाओं के प्रति-गमन में न होकर ऊर्ध्वगमन में है, इसी उदात्त मानसिक प्रक्रम से साहित्य, संस्कृति और समाज का प्रतिपालन होता है। आलोच्यकाल के नाटक-साहित्य में यही मन की विकृति एवं परिष्कृति, अचेतन मन के सामान्य तथा असामान्य कार्य और हृदयस्पर्शी अन्य मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ उपलब्ध है। प्रतिपाद्य विषय में अन्तर्भूत उन्हीं उपपत्तियों को यहाँ विवेच्य बनाया गया है, जो प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटको के मनोवैज्ञानिक अध्ययन मे अनुशीलन की वस्तु बनी है। उन उपपत्तियों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है।

मन और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध—जेम्स और डेनमार्क के मनोविद् डा० लाज्ज के संवेग सिद्धान्तानुसार हम रोते है इसी से हमे दुःख होता है, हम पीटते हैं अतः क्रुद्ध हो जाते है। हम कांपते है और डर जाते है। इसके अनुसार मानसिक अवस्था का शरीर पर और शारीरिक परिवर्त्तन का मन पर प्रभाव पड़ता है।[4]

१—तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि-योगदर्शन (साधनपाद) २।१

२—तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् " " १।३

३—योगश्चित्त वृत्ति निरोधः १।२

4—Mental states affect the body and that bodily changes affect the mind.-By Poff Enbersger-Principles of Psychology. pp. 558

शारीरिक क्रियाओं का संचालन मनोभावों के बिना असम्भव है। ये मनोभाव या संवेग संवेदनाओं का पुंज है। डर कुछ नहीं है, वह केवल संवेगों के वाह्य-रूपो का फलस्वरूप है। इस सम्बन्ध में डा० भगवान दास का कथन है कि संवेग अवदमित गतियों का सूचक है। भय पलायन हीन पलायन है, क्रोध युद्ध हीन युद्ध है अर्थात् भागने या लड़ाई के अक्रियान्वित रूप ही क्रम से भय एवं क्रोध के संवेग है। किन्तु वैसे ही उतनी ही दृढ़ता से यह भी कहा जा सकता है कि पलायन क्रियान्वित भय है, लड़ाई क्रियान्वित क्रोध है।[1]

शारीरिक बाह्य-क्रियाओं से अभिप्रेत नाटकीय अभिनय-और संवेगों से उसका सान्निध्य— संवेग शारीरिक परिवर्तनों को छोड़कर और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ क्रोध एक संवेग है। यदि हम उससे उसकी शारीरिक क्रियाओं यथा दाँत पीसना, मुँह लाल होना, ओठ चबाना आदि को निकाल दें, तो क्रोध का संवेग नहीं पाया जायेगा।

जेम्स के सिद्धान्तानुसार यदि हम किसी विशिष्ट संवेग में अभिव्यंजित होने वाली शारीरिक क्रियाओं को व्यक्त करने का प्रयत्न करें तो उस संवेग की उत्पत्ति हो जाती है। नाटक मे अभिनेता यही तो करते है।[2]

प्रायः अभिनय करते समय रंगमंच पर अभिनेता, पात्रों के शारीरिक अवयवों के द्वारा विभिन्न रसों के अनुकूल आंगिक क्रियायें करते है और तब उन क्रियाओ के अनुसार उनको संवेगों की अनुभूति होती है। पात्र के सम्मुख सवेग पैदा करने वाली स्थिति पैदा की जाती है। वह स्थिति उत्तेजक वस्तु बनती है और पात्र उस उत्तेजक स्थिति से उत्तेजना पाकर स्थिति अनुसार अपने अंग प्रत्यङ्गों द्वारा अनुभूति का प्रदर्शन करने लगता है। वह जैसे जैसे इन अनुभूतियों का प्रदर्शन करता जाता है, उसी प्रकार से वह संवेगों का अनुभव करता जाता है। बहुधा हम देखते है कि कोई पात्र संवेगाविष्ट होकर अपने को वही अनुभव कर बैठता है जिसका वह पार्ट अदा कर रहा होता है। हत्या, आत्म हत्या, रोना आदि इसी के उदाहरण हैं।

नाटकों में संवेगों का भावरेचन— शारीरिक स्वास्थ्य के लिए संवेगों का प्रकट होना अपेक्षित है। नाटकों के माध्यम से मानव-मात्र का भाव-रेचन स्वाभाविक रूप से हो जाता है। संस्कृत नाटककार भवभूति ने संवेगों की भावरेचन विधि का उल्लेख अपने 'उत्तर रामचरितमानस नाटक' में तालाब के जल से लबालब भर जाने पर बांध की सुरक्षा की एक मात्र प्रतिक्रिया उसके किसी न किसी भाग को तोड़ कर जल को

1—The Science of emotions-Dr.Bhagwan Dass pp 3 (Foot note)

२—अध्यात्म योग और चित्त विकलन-श्री वेंकटेश्वर शर्मा पृ० १३५-१३६

बहा देने से की हैं। उनकी दृष्टि में इसी भाँति विक्षोभ से भरे चित्त वाले व्यक्तियों को संवेगों का अभिव्यंजन ही जीवित रख सकता है।[1]

नाटकों में संवेगों के निरोध की प्रतिक्रिया वाले पात्र—गीताकार के शब्दों में (संगात् संजायते कामः) संग से काम की उत्पत्ति है, काम के साथ उसका संवेग होता है। चित्तवृत्ति का पूर्ण स्वरूप ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक है। ज्ञान के कारण भाव अथवा संवेग जाग जाता है। चित्तयन्त्र में अपरिमित अनुद्भूत काम शक्ति है। लेकिन शरीर में यह शक्ति तभी अभिव्यक्त होती है जब उसे प्रेरित करने वाले स्फुलिंग हों। बाह्य एवं आन्तरिक उद्दीपकों से उत्पन्न संवेदनायें तथा ज्ञानात्मक मानसिक गतियाँ स्फुलिंग का काम देती हैं। फलतः भावावेग (संवेग) के साथ वह काम शक्ति बाह्ययोन्मुख हो जाती है। शारीरिक संसर्ग से काम के आवेग का यह उदाहरण उदयशंकर भट्ट के भाव-नाट्य मत्स्यगन्धा के वृद्ध तपस्वी पराशर ऋषि में मिलता है, जो मत्स्यगन्धा के अल्पकाल के संसर्ग से कामोन्मत्त होकर अपने आप को न सम्हाल सके। इससे स्पष्ट है कि अनेक वर्षों की कठिन तपश्चर्या भी सहज प्रकृति का निरोध पूर्णतया नही कर सकती। यही प्रमाण हमें योग वासिष्ठ में नारद की कामान्धता के विषय में भी मिलता है।[2]

सवेगों के निरोध का मार्गान्तरीकरण और उसकी आवश्यकता—शरीरस्थ प्राकृतिक वासना का दमन अथवा निग्रह, निरोध से नहीं होता है। निरोध के कारण, निरुद्ध भावावेग अपने को स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों, अनुदिन की त्रुटियां, लाक्षणिक क्रियाओं आदि में परिणत कर लेता है।[3] संवेगों के मार्गान्तरीकरण की यह विधि शरीर और मन की स्वस्थता के लिए अनिवार्य है, क्योंकि मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन ही चेतना है। जिसकी इच्छा (Feeling) ज्ञान (Cognition) और क्रिया (Conation) ये तीन प्रक्रियायें होती हैं। इसी चेतना के ध्यान और अवधान दो भाग है। ध्यान का क्षेत्र तो स्पष्ट ही चेतना का प्रदेश है, परन्तु अनवधान का क्षेत्र चेतना की सीमा है, जहाँ वह अस्पष्ट एवं धुंधले रूप में विद्यमान रहती है। यही क्षेत्र मन का अचेतन प्रदेश है।[4] फ्राइड का यही अचेतन मन है, जिसमें अतृप्त-

---

१—पूरोत्पीडे तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
  शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

—भवभूति कृतम—उत्तररामचरित नाटकम् अंक ३ श्लोक सं० २९

२—योग वासिष्ठ : निर्वाण-पूर्वार्द्ध ८५, १०५, १०८

३—अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन—श्री वेंकटेश्वर शर्मा, पृ० १५०

४—मनोविज्ञान—डा० सिन्हा (हु० सं०) पृ० ५७४, ५४८

दमित-वासनायें विद्यमान रहती हैं। प्राय: सभी शारीरिक घटनायें चेतना युक्त होती हैं, लेकिन जब ये चेतना से युक्त नहीं होती, तब हम उन्हें अचेतन-मानसिक घटनायें कह सकते हैं।

निष्कर्षत: अचेतन मानसिक घटनाओं का अन्त:संघर्ष विभिन्न शारीरिक व्यापारों का ऐसा अन्त:संघर्ष है जो कि चेतन मानसिक व्यापारों को प्रभावित करता है। हमारे जीवन में संकल्पात्मक और विकल्पात्मक कार्य ऐसे हैं, जिनमे मन शरीर को प्रभावित करता है और शारीरिक पीड़ा की अनुभूति में शरीर मन को प्रभावित करता है।[१]

फ्राइडवाद का आधार मानसिक नियतिवाद या कार्य-कारणवाद—प्रकृति के अन्तर्गत होने वाले सभी कार्य, कारणों पर ही आश्रित है। किसी घटना को नियत (डिटरमिन्ड) तब कहते है जब उसका कोई कारण होता है। व्यक्ति के मन की व्यवस्था भी कार्य-कारण के उन्हीं नियमों पर आधारित है जो कि समस्त जगत् का नियन्त्रण और संचालन करते हैं। सांसारिक समस्त घटनायें नियत होती हैं, उनका रूप पूर्ववर्त्ती कारणों में पहिले से ही अन्तर्निहित होता है। फ्राइड के अनुसार कोई घटना आकस्मिक अथवा सांयोगिक नहीं। पूर्णतया नियत घटना का कोई पर्याप्त कारण होना अपेक्षित है। प्रत्येक मनुष्य को कोई आन्तरिक प्रबल आवेग उसकी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवश करता है।

मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे इस नियतिवाद को लागू करने का अर्थ होगा कि मनुष्य के जितने भी व्यवहार होते है—चाहे शारीरिक हों, चाहे मानसिक, उन सबके पीछे पर्याप्त कारण अवश्य होगे। यह और भिन्न बात है कि उसके शरीर और वातावरण की अत्यन्त पेचीदगी के कारण उन्हें हम ठीक-ठीक न जान सकें। इसीलिए फ्राइड की विचार धारा में स्वतन्त्र-इच्छा के लिए अधिक स्थान नहीं है। उसका यह आवश्यक पूर्वकल्प था कि हर मानवीय व्यवहार के पीछे कोई न कोई उद्देश्य या प्रेरक अवश्य होता है, वह यदि ज्ञात नहीं तो अज्ञात और चेतन नही तो अचेतन होगा।

इन मानसिक कारणों में फ्राइड के मतानुसार एक इच्छा है, प्रेरक है, इरादा है। मनोविज्ञान और कुछ नहीं है, बस प्रेरकों का अपना व्यवहार व्यापार है। इसी आधारभूत पूर्वकल्प के अनुसार मनोविकृति के हर लक्षण का कोई न कोई उद्देश्य या लक्ष्य होता है, जिसकी ओर उसे एक अज्ञात अथवा अचेतन प्रेरक खींचा करता है।[२]

१—मनस्तत्व—यशदेवशल्य—पृ० २४५, २२३

2—Contemporary Schools of Psychology—By R. S. Woodworth—pp 172-173

तभी फ्राइड ने मनोग्रस्तता की उपचार विधि इस अचेतन प्रेरक को चेतन प्रेरक बना देना ही बतलायी है, क्योंकि मनुष्य का आन्तरिक वेग या आभ्यान्तरिक प्रबल हेतु चेतन की अपेक्षा अचेतन में होकर हमें प्रेरित करता है। भूलों के मनोविज्ञान और अप्रत्याशित घटनाओं में हम जीभ की फिसलन और दैव संयोग कहकर संतोष की सांस लेते है। किन्तु बात यह नहीं है, उनकी उत्पत्ति किसी विशेष उद्देश्य से हुई है। अभीष्ट साधकता ही इनका वास्तविक रूप है। यही मानसिक नियतिवाद है, जिस पर फ्राइड की सम्पूर्ण विचारधारा अवलम्बित है।

संस्कृत नाटककार भवभूति के "उत्तररामचरित" नाटक में इस मानसिक नियतिवाद (सायकिक डिटरमिनिज्म) का उत्कृष्ट उदाहरण राम के संवाद में बन पड़ा है। प्रत्यक्ष में राम सीता के विरह चित्र को देखने में असमर्थ हैं, लेकिन थोड़ी देर बाद ही वह दुर्मुख पात्र से सीता सम्बन्धी लोकापवाद सुनकर दैवी संयोग की ओट लेते है।[1] पर उनके अचेतन में सीता के प्रतिकूल नियत पर्याप्त कारण पूर्व से ही विद्यमान हैं, जो आभ्यन्तरिक प्रबल हेतु के बावजूद अवसरानुसार सीता को वनवास देने में तत्पर होते हैं।

इस प्रकार नियतिवाद से प्रेरित जीवन में ऐसी घटनायें उपस्थित होती हैं, जिनकी कभी कल्पनायें भी नहीं की जा सकती। व्यवहार में जिनको हम अपना समझते हैं और वे भी स्वयं हमरे आत्मीय बनने का अपनी जानकारी में दावा भरते हैं, वे इसी नियतिवाद की प्रेरणा से कभी-कभी हमारे जीवन तक से खेल जाते है। यही प्रवंचना, आत्मवंचना के साथ मानसिक नियतिवाद की उत्प्रेरक है।

फ्राइड की मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी स्थापना—मानवीय स्वभाव एवं व्यावहारिक अनुभव के आधारभूत फ्राइड की यह सर्वप्रथम स्थापना थी कि शारीरिक विकास के लम्बे इतिहास में मनुष्य जाति ने कुछ विशेष शक्तियां अथवा प्रवृत्तियां ग्रहण कर ली है। यह प्रवृत्तियाँ मनुष्य की शारीरिक रचना एवं गठन पर आधारित होने के कारण जन्मजात होती है। जीवन के विभिन्न प्रकार के प्रभाव में आकर इन प्रवृत्तियों का निश्चित रूप बनता जाता है और अनुभावों के परिवर्तनो के साथ-साथ इनका रूप

१—विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि।
प्रत्यावृत्तः स पुनरपि जानकी विप्रयोगः ॥३३॥

० ० ०

हा हा धिक् पर गृह वास दूषणं यद्वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः।
एतत्तत्पुनरपि दैव दुर्विपाकादालार्क विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥४०॥

—उत्तररामचरितम्—भवभूति कृत—प्रथम अंक—श्लोक सं० ३३, ४०

बदलता भी जाता है ये परिवर्त्तन उनकी अभिव्यक्तियों में होता है और असली तथा मूलसार वही रहता है।

ये प्रवृत्तियां मूलतः शारीरिक होती है और मनुष्य के हर व्यवहार करने तथा सोचने दोनों-की तह में इन्हीं की क्रियाशीलता होती है। अतः इनका विकास शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों में साथ-साथ होता रहता है।

इन मूल प्रवृत्तियों का विकास एवं रूप ग्रहण जीवन के अनुभवों से सम्बन्धित तथा उन पर आधारित होता है, इसलिए मनुष्य का व्यवहार न तो विशुद्ध शारीरिक है, न मानसिक और न वातावरण से उत्पन्न, प्रत्युत उसके हर व्यवहार मे, शरीर, मन और वातावरण तीनों का पर्याप्त योग रहता है।[1]

मनोविश्लेषण सम्प्रदाय में लिबिडो का पर्यालोचन—फ्राइड के सिद्धान्तानुसार मूल प्रवृत्तियां दो प्रकार की होती हैं—

(१) जिजीविषा (लाइफ इन्सटिंक्ट)

(२) मुमूर्षा (डेथ इन्सटिंक्ट)

लेटिन भाषा में लिबिडो शब्द का अर्थ कामुकता है। फ्राइड ने इस शब्द का प्रयोग उसके मौलिक अर्थ में करते हुए कहा है कि लिबिडो या राग या काम-वृत्ति बिल्कुल क्षुधा की तरह है।[2] फ्राइड के मतानुसार कामिक व्यवहार अथवा अनुभव में वे सभी व्यवहार तथा अनुभव सम्मिलित है—जिनका सम्बन्ध शारीरिक सुख, आनन्द, तुष्टि अथवा तृप्ति से होता है। आनन्द प्राप्त करने अथवा तृप्ति की इच्छा करने की जिजीविषात्मक अथवा प्रेरक प्रवृत्ति हर व्यक्ति में उसी प्रकार होती है जिस प्रकार उसकी अन्य जिजीविषात्मक प्रवृत्तियाँ। बल्कि सच तो यह है कि अन्य सभी प्रवृत्तियों में भी इसका कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है।[3] युंगीय विशद विवेचन इस सम्बन्ध में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है युंग की लिबिडो की धारणा मूलतः फ्राइड के नवीन विचारों के अन्तर्गत जीवैषणा की धारणा से भिन्न नही है। लिबिडो शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में युंग की व्याख्या अति प्रसिद्ध है। युंग की समीक्षा[4] के अनुसार

१—रोगीमन-ले० सूरजनारायण मुन्शी-सावित्री एम० निगम पृ० सं० १८८

२—मनोविश्लेषण-फ्राइड (हि० सं०) पृ० सं० २७७

३—रोगी मन-सूरजनारायण मुन्शी-सावित्री एम० निगम पृ० १९०

4—The use of Libido is very general—Etymological context of the world (i) Libido or Lubida (with libet more ancient lubet) It pleases me (प्रसन्नता-सुख पहुँचाना) (ii) and libens or lubens gladly, willingly (खुशी से, संतोष के साथ) (iii) Sansakrit Lubhyati (लुभ्यति)

सभी भाषाओं में "लिबिडो" शब्द की विकृति और उसका अर्थ साफ है। संस्कृत में उसके रूपान्तरों का अर्थ है—तीव्र काम के वश होना, काम उत्पन्न करना, उत्कंठा, काम, लोभ आदि : गौथिक भाषा में इसका अर्थ आशा है, पुरानी जर्मन भाषा में प्रेम, स्तुति, प्रशंसा, कीर्ति है, ब्लगेरियन भाषा में प्रेम है और लिचूनियन भाषा में प्रशंसा है।

इस रीति से लिबिड़ो तथा लिबिडो सम्बन्धी जितने अर्थ प्राप्त होते हैं, उन्हें हम स्थूलतः प्रेम और यश अथवा काम और यश समझते हैं। काम किसी भी वस्तु का हो सकता है, धन का काम, यश का काम और स्त्री का काम आदि।

फ्राइड के अनुसार काम का स्वरूप है - दो भिन्नताओं के बीच का सम्बन्ध। वह विषय और विषयी को एकात्म बनाने की प्रवृत्ति है और वह आकर्षण रूप वाला है। फ्राइड का कथन है कि मिथुन-वासनाओं में अभिव्यक्त होने वाले काम और कवि तथा दार्शनिकों के साथ में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का धर्म एक ही है। वही सभी प्राणियों की धारणा है।[1]

फ्राइड ने मैथुन शक्ति का इतना विस्तृत क्षेत्र माना कि उसी में सभी प्रकार के प्रेम, यथा भ्रात प्रेम, भगिनी प्रेम, गुरु भक्ति, देव भक्ति, पितृ प्रेम और मातृ प्रेम, सखा प्रेम, सखि प्रेम, आदर्श प्रेम आदि समाहित हो गये। इस उक्ति की संपुष्टि फ्राइड ने करते हुए लिखा है कि लिबिडो शब्द "संवेग-सिद्धान्त" से लिया गया है। यह शब्द उस शक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जो प्रेम शब्द से किसी प्रकार से भी

---

to experience violent longing (तीव्र काम उत्पन्न करना) (iv)Lobhayati (लोभयति) excites loging (काम उत्पन्न करता है), (v) Lubdha (लुब्धा), Eager (उत्कण्ठता), (vi) Lobha (लोभ), Longing, eagerness (काम-उत्कण्ठा), (vii) Gothic=limps and (8) old high german liob=Love (प्रेम), Moreover in Gothic, (9) Lubians was represented as hope (आशा) and (10) old ligh german, lobon to prais (स्तुति करना) (11) Lob=commendation (प्रशंसा), praise. glory (कीर्ति) (12) old Bulgyrian, Gubili = To love (प्रेम करना) Guby = Love (प्रेम) (13) Lithuanian, Liaupsinti=to praise (प्रसंशा करना)

— The psychology of unconseious—C.G. Jung pp 76

1—Thus the Libido of our sexnal instincts would coincibe with the Eros of poets and philosophers, which Holds together all living things.

—Beyond the pleasure principle—Freud—pp 64

सम्बन्ध रखनेवाली मूल प्रवृत्तियों में अभिव्यक्त होती है। प्रेम का यदि कोई बीज, गर्भ या संचयास्पद है (जिसे सभी "प्रेम कहते हैं) और कवि जिसके विषय में गाया करते हैं। तो वह मैथुन-प्रेम है। जिसका ध्येय संप्रयोग है। किन्तु मैथुन-प्रेम, (Sexual Love) में किसी प्रकार से "प्रेम" शब्द भागी जितने सम्बन्ध हैं, सभी अभ्यर्हित हैं। उससे वे भिन्न नहीं किये जाते है, यथा स्वीय प्रेम और दूसरी ओर पितृ मातृ प्रेम, शिशुवात्सल्य, मैत्री, विश्व-प्रेम, वैषयिक आसक्ति और भावनाओं के प्रति श्रद्धाभाव आदि। इस प्रकार के प्रयोग के विषय में फ्राइड का कथनै है कि चित्त विश्लेषण ने इन सभी प्रवृत्तियों को उसी (मिथुन-वासना या दारैषणा) वासना की अभिव्यक्तियाँ-सी सिद्ध किया है।[1]

सारी वासनाओं अथवा मूल प्रवृत्तियों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१—वित्तैषणा।

२ - दारैषणा।

३ —लोकैषणा।

अर्थात् धन की वासना, स्त्री और पुत्र की कामना और लोक अथवा समाज की कामना। फ्राइड के मत के अनुसार तीनों को, और सूक्ष्म विचार करने से सबको, काम अर्थात् दारैषणा में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है। क्योंकि उसका ही सार आकर्षण है, आकर्षण स्त्री-पुरुष-संयुति में पर्यवसित होता है। धन के प्रति और लोगो के प्रति एक आकर्षण है। आकर्षण ही मिथुनजन्य है। अतः आदिशक्ति का स्वरूप काम, अर्थात् सहचर की कामना है, वह सहचर पुरुष अथवा स्त्री होती है और धन आदि भी हो सकते हैं। अन्य वासनायें तथा मूल प्रवृतियाँ इसी द्वितीय (धन आदि) की कामना के रूपान्तर हैं।

धन आदि की कामना आनन्द भोग के लिए होती है। व्यक्ति आनन्द के लिए स्त्री चाहते है, आनन्द के लिए धन चाहते हैं और उसी के लिए समाज की इच्छा भी होती है। आनन्द ही सभी कामो का प्राण है। आनन्द ही सभी प्राणों को चलाने वाली प्रेरणा शक्ति है। इसी पर अस्तित्व, वृद्धि, नाश आदि निर्भर है। उसका स्थूल प्रत्यक्ष अनुभव मैथुन में होता है। मैथुन-आनन्द सांसारिक जीवन में पराकाष्ठा का आनन्द है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सभी आनन्दों को इसी मैथुन-आनन्द का

1—Libido is an expression taken from the theory of the emotions. We call by the that name the energy of those instincts which have to do all that may be comprised under the word (love). The nucleus of what we mean by love abstract ideas.

—Group psychology and the analysis of the Eros—G. Freud py37, 8. 9. 40

रूपान्तर समझने में फ्राइड ने कोई गलती नहीं की है। दारैषणा (पुत्रैषणा) अथवा कामैषणा-सम्बन्धी आनन्द की खोज सार्वभौम है। यह विश्व वासना है। कवि, शास्त्र, भक्ति, भक्त आदि सभी इसी विश्व वासना के प्रमाण है।[1]

इस सम्बन्ध में 'विएन' के एडलर और 'ज्यूरिच' के युंग का मत भिन्न है।

एडलर काम वासना को आदि वासना मानने के पक्ष में नहीं और न वह दारैषणा को ही प्रधानता देने के पक्षपाती है। वे सभी क्रियाओं का आदि स्रोत अधिकार की इच्छा अथवा लोकैषणा, मानते हैं। अधिकार भावना की इच्छा की अभिव्यक्ति की मात्रा व्यक्ति के ऊपर निर्भर है। जिस व्यक्ति में कुछ शारीरिक दोष अथवा अंग-भंग पाया जाता है, उसमें इस शक्ति की वांछा प्रबल रूप में दृष्टिगोचर होती है।

एडलर के कथनानुसार सारा संसार लोकैषणा की भावना से प्रेरित है। लोकैषणा अथवा यश की कामना से प्रेरित व्यक्ति ही अपनी संतान को बढ़ाना चाहता है। यश की कामना के कारण ही कवि ग्रन्थ लिखते है अथवा नेता दुःख भोगते हैं। भगवान् से प्रशंसा की अभिकांक्षा रखकर ही भक्त इहलोक में हर प्रकार की यातनायें सहते है। इतना ही नहीं, यश के सम्पादन के लिए कतिपय अपने प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। यश के लिए पत्नी का, माता-पिता का, धन का त्याग करते हैं, यहाँ तक कि बहुधा, अपने प्राणों का परित्याग कर देते है। यही यश की कामना उन्नति के मूल में है। इसी को विश्व वासना की संज्ञा दी जाती है।

युंग ने जीवित रहने की स्पृहा पर जोर दिया है। व्यक्ति में अपने स्वत्व को स्थिर रखने की कामना प्रबल होती है। स्वत्व प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति दारैषणा और लोकैषणा द्वारा होती है। यदि व्यक्ति स्वत्व अनेक रूप में रखना चाहता है तो स्त्री को अपना साधन मानता है और यदि अधिक रूप में रखना चाहता है तो समाज में यश की कामना करने लगता है। क्योंकि पुत्र से स्वय अपने आप व्यक्ति संसार में स्थूल रूप से रह जाता है और यश के रूप में उसकी सत्ता चतुर्दिक फैल जाती है। यही अस्तित्व की वांछा कभी दारैषणा कभी लोकैषणा बन जाती है। इसी के फलस्वरूप विकास होता है। इसी से विश्व की धारणा होती है। यही सभी क्रियाओं का मूलाधार है।

जीवन मरण प्रवृतियां अथवा मुमूर्षा प्रवृत्ति (डेथ इन्सटिंक्ट) — जिजीविषा के उपरान्त मुमूर्षा प्रवृति का ध्यान अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में फ्राइड को हुआ। जीवन को विकासोन्मुख होने के साथ-साथ अवसानोन्मुख होना भी अनिवार्य है।

---

१ — आध्यात्म.योग और चित्त विकलन-पृ० सं० १०७, ले० स्व० श्री वेंकटेश्वर शर्मा

जिजीविषा के अनुसार मनुष्य रचनात्मक कार्य करता है और मुमूर्षा प्रवृत्तिगत उसे विनाशात्मक कार्यों की ओर प्रवृत होना पड़ता है। मानव को ये दो विरोधी प्रवृत्तियाँ जीवन पर्यन्त संचालित करती रहती हैं। यह विरोधाभास, जीवन, मरण, स्वप्रेम, परप्रेम, निर्माण एवं विनाश आदि विरोधी प्रवृत्तियों में मनुष्यों के व्यक्तित्व में पाया जाता है। इसी के फलस्वरूप फ्राइड ने जीवन प्रवृत्ति (Eros) और मरण प्रवृत्ति (Thantos) का प्रतिपादन किया।

जिस प्रकार प्रारम्भ में मानव की लिबिडो 'स्व' पर केन्द्रित रहती है, अर्थात् अन्तर्मुखी होती है, किन्तु फिर वह प्रेम भाव में परिणत हो कर दूसरों पर केन्द्रित अर्थात् बहिर्मुखी हो जाती है, इसी प्रकार स्वमृत्यु भावना बहिर्मुखी होकर पर मृत्यु भावना के रूप में बदल जाती है। दूसरे शब्दों में मरने की भावना मारने की भावना में परिवर्तित हो जाती है।

मानव में प्रतिस्पर्धा, विजयाकांक्षा, शोषण, कटु आलोचना, व्यंग्यात्मक और विवादात्मक-बौद्धिक क्रियायें मुमूर्षा-प्रवृति के ही प्रकारान्तर है। आत्म-भर्त्सना, आत्म-पीड़न, शत्रुता या आक्रमण, प्रेम की ही भाँति मनुष्य औरो के प्रति भी करता है और स्वयं अपने प्रति भी। अर्थात् वह पर हत्या और आत्म-हत्या दोनों करता है।

निष्कर्षतः जिस प्रकार व्यक्ति में सर्जन या रचना करने की जिजीविषात्मक प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार विनाश और नष्ट करने की मुमूर्षात्मक प्रवृत्ति भी होती है।

फ्राइड द्वारा मानसिक व्यापारों के तीन मानसिक स्रोतों की स्थापना—व्यापारिक जीवन में जब हम किसी विषम-समस्या में उलझ जाते हैं, तब हमारे समक्ष मानसिक द्वन्द्व की अवस्थित उपस्थित होती है। उस समय हम सभी यह अनुभव करते हैं कि हमारे इस एक 'मैं' या मन के कई अङ्ग हैं—एक-एक बात कहता है तो दूसरा दूसरी और तीसरा तीसरी। इसी द्वन्द्व ग्रस्त स्थिति को समझने के लिए फ्राइड ने मानसिक व्यापारों के तीन मानसिक स्रोतों की स्थापना की।

इदम् (Id) अहं (Ego) नैतिकाहं (Super-Ego)—इदं जिजीविषा और मुमूर्षा दोनों प्रकार की मूल प्रवृत्तियों का भण्डार है, जिसे हम मानसिक शारीरिक शक्ति कहते हैं उसका मूल-स्रोत यही इदं होता है। इदं का सम्बन्ध सिर्फ उन व्यवहारों तथा इच्छाओं से होता है जो या तो विशुद्ध सुख तथा तृप्ति के लिए होती हैं या फिर विशुद्ध आक्रमण और विनाश के लिए, वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इदम् में वास करने वाले आवेग हमारी जिस अवस्था में आते है तो कब, क्यों और कैसे आते है, इसका हमें कुछ भी पता नहीं रहता, ये पूर्णतया व्यक्ति-

त्वहीन और अचेतन होते हैं, इसलिए इन्हें इदं (Id) कहा गया है।[१]

फ्राइड के शब्दो में इड् में ऐसी हर चीज रहती है जो जन्मजात है। जो हमें आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति गत मिलती है, जो हमारे शरीर की आवश्यकताओं के रूप में शुरू से ही एक प्रकार से स्थिर रहती है, और इन सब में सबसे महत्वपूर्ण हैं मूल तथा आदिम प्रवृत्तियाँ, जिनका स्रोत हमारी शारीरिक व्यवस्था में ही होता है और जिनकी सर्वप्रथम मानसिक अभिव्यक्ति अचेतन के रूप में इदम् होती है।[२]

यह इड् असंस्कृत विद्रोही मूल प्रवृत्तियों का समुच्चय है।[3] समाज के नियमों का इस पर कोई प्रभाव नहीं। इसका उद्देश्य मानव की प्रकृत कामवासनाओं की तुष्टि करना है। ये नीति, अनीति नहीं जानता, यह विवेक रहित अबोध है। इसकी क्रियायें उन्मुक्त स्वचालित है। यह दबी दबायी इच्छा, वासनाओं का भण्डार होता है। इसकी इच्छायें प्राकृतिक एवं अव्यवस्थित होती हैं। सब इच्छायें या तो काम सम्बन्धी होती है या विद्रोह प्रकृति की ओर तुष्टि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है। सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय होने के कारण अधिकतर काम वासनायें दबा दी जाती है और तब वे मन के इस भाग मे आकर स्थान बना लेती हैं। पूर्वजों द्वारा प्राप्त जातीय विशेषतायें इसी में समाविष्ट रहती है। यह काम शक्ति का कोश है।[४] इस भांति मन का प्रारम्भिक और प्रमुख रूप इड् है और अहं का विकास इसी से होता है।

मानसिक विकास की आरम्भिक अवस्था में ही बाह्य जगत् से सम्पर्क में आने से इस इदं का एक भाग पूरे से भिन्न हो जाता है। इस नये भाग का काम मन और बाह्य जगत् के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है। इसे अहं (Ego) कहते हैं। इस अहं का कुछ भाग अचेतन ही रहता है और इसे मनो-विश्लेषण द्वारा ही चेतन किया जा सकता है। मानसिक विकास के साथ-साथ यह अहं अधिक व्यक्तितत्व पूर्ण और क्रियाशील होता जाता है और शेष इदम् (अचेतन) के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता जाता है, जो अपने मूल स्वभाववश तृप्ति तथा अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न तथा संघर्ष करता रहता है। इदं की कुछ मांगो को तो अहं स्वीकार कर लेता है और कुछ को नहीं। उसकी जो मांगें, इच्छायें, वासनायें अपूर्ण तथा अस्वीकृत रह जाती है उन्हीं को दमित कहते हैं। ये दमित इच्छायें, वासनायें परवश अपूर्ण तथा अतृप्त अवस्था में ही मन की सबसे नीचे की आदि तहों

१—रोगी मन-सूरजनारायण मुन्शी एम० निगम पृ० सं० १६८, १६६

२—ऐन आउटलाइन आफ साइको-ऐनालिसिस-फ्राइड पृ० २

३—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा (हि० सं०) पृ० सं० ३५८

४—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० २६

को लौट जाती हैं ।[1]

फलतः अहं समाज और इड् की मध्यस्थता करने का प्रयास करता है । एक ओर चेतनापूर्वक इड् के आदेशों का पालन करता है । दूसरी ओर यह इड् की उन असंस्कृत इच्छाओं का दमन करता है जो सामाजिक परिवेश की नियमावलियों से मेल नहीं खातीं ।[2] इस प्रकार अहं सफलता के साथ इड् से सामंजस्य करके मानसिक संतुलन के लिए उपयोगी होता है । अन्यथा व्यक्ति को मनोग्रस्तता आ घेरती है ।

अहं (Ego) एक चितवृत्ति का ही नाम है । चितवृत्तियों का पौर्वापर्य दिखाने के लिए, उनके व्युत्थान और निरोध संस्कारों के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने के लिए चित यन्त्र का एक भौतिक चित्र खींचा जाता है । और उसमें क्रम भेद से स्थान निर्देश किया जाता है, इस प्रकार के स्थान निर्देश में, ज्ञान और अहं का स्थान बाह्य प्रपंच के अत्यन्त निकट है, क्योंकि अहं और बाह्य प्रपंच का सन्निकर्ष ही ज्ञान का कारण है ।

विषय को देखने वाला या दृश्य का दृष्टा अहं है । विषय और व्यक्ति के सम्बन्ध में तीन मुख्य बातें हैं—(१) विषय
(२) क्रिया और
(३) ज्ञाता

दूसरे शब्दो में 'अहं' देखता है, देखना क्रिया है, और जिसे देखता है, वह विषय है । इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध होने पर ज्ञाता को ज्ञातृत्व का जो अभिमान होता है, वही अहं है । अहं का अस्तित्व विषय के बोध अथवा उसके अस्तित्व पर निर्भर है । फलस्वरूप ज्ञाता और ज्ञेय चित्तयन्त्र के मुख्य दो भाग है—

ज्ञाता दो प्रकार का होता है—(१) अहं (Ego)
(२) नैतिकाहं (Super-Ego)

ज्ञेय तीन प्रकार का होता है—(१) ज्ञात (Conscious)
(२) ज्ञाताज्ञीत (Per-Conscious)
(३) अज्ञात (Unconscious)

अहं को द्वन्द्व मूलक स्थिति का सामना करना पड़ता है । अहं मध्यस्थ है । उसके ऊपर बाह्य संसार से संवेदनायें आघात करती है । एवं अन्तरंग से संवेदनाओं सुख दुःख आदि का रूप धारण कर अहं पर अपना प्रभाव डालती हैं ।

अहं वृक्ष के बाहर की छाल के समान है जो अपना बल अन्दर की तहों से ग्रहण करती है और अन्दर की तहों को बचाती हैं ।

१—रोगी मन-सूरज नारायण मुन्शी एम० निगम पृ० सं० १६६

२—मनोविज्ञान – डा० सिन्हा पृ० सं० ३५८

अहंवाद और नाटक की समानता—नाटक में भी यही होता है। नट अभिनय करता है। प्रेक्षक आनन्द पाते है। किन्तु नाटक की सफलता अभिनेता पर इतनी निर्भर नहीं करती जितना कि पर्दे के पीछे रहने वाले पथ-प्रदर्शक पर। प्रेक्षकों के सामने नट अवश्य रहता है, पर नाटक का प्राण वस्तुतः नेपथ्य में है। इस प्रकार अहं दूसरे नियमों का पालन करता है और इड् दूसरे नियमों का।

अहं क्रम चाहता है, त्याग चाहता है और चाहता है विनय। इड् में कोई क्रम, कोई नियम नहीं रह जाता क्योंकि वहाँ की वृत्तियाँ स्वच्छन्द हैं। अहं, इड् की अनियन्त्रित वासनाओं को तृप्त करने के लिए बाह्य जगत् को बदलने का उपक्रम करता है। लेकिन उसके इस मार्ग में तीन बाधायें उपस्थित होती हैं।

१—इड् की अव्यवस्थित इच्छाओं के वेग की तीव्रता।

२ - बाह्य जगत् की परिस्थिति की कठोरता।

३—नैतिकाहं का अनुशासन।

इन तीनों में अपना ही शिष्टाहंकार (Super-Ego) सबसे अधिक शक्तिशाली होता है। इस सुपर ईगो का विकास व्यक्ति के समाज के सम्पर्क से होता है। इसका प्रादुर्भाव अहं के ही विकसित रूप का परिणाम है। इस पर जाति के संस्कारों का प्रभाव अपेक्षित है।

जिस प्रकार अपने विकास क्रम के दौरान में इदम् का एक भाग पूरे से भिन्न होकर अहं का रूप ले लेता है, उसी प्रकार अपने विकास क्रम के दौरान में अहं का भी एक भाग पूरे अहं से भिन्न हो जाता है, यही नैतिकाहं सुपर ईगो है। इसका अहं की अपेक्षा इदम् से अधिक सम्बन्ध होता है और उसका मुख्य काम भाग निकलने का प्रयत्न करने वाले दमित आवेगों पर चौकसी करना होता है। सुपर ईगो के आदेशानुसार ही सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं के विरोधी आवेगों का अहं (ईगो) दमन करता है। इस प्रकार अहं मुख्यतः वातावरण और परिस्थितियों के अनुकूल होता है।[1]

उक्त तीनों मानसिक स्रोतों के सम्बन्ध में फ्राइड की मान्यता उल्लेखनीय है। फ्राइड के मत में अहं का सबसे प्रथम यह कार्य है कि वह इदम्, नैतिकाहं और बाह्य जगत् तीनों आवश्यकताओ को एक साथ पूरा करे। इदम् और नैतिकाहं में एक समानता है। ये दोनों आदिम भूतकालीन प्रभावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इदं वंशानुक्रम के प्रभावों पर और नैतिकाहं दूसरों से प्राप्त प्रभावों पर और अहं इनकी अपेक्षा व्यक्ति के अपने स्वयं के अनुभवों पर अवलम्बित रहता है, या यह कह सकते हैं

१—रोगी मन-सूरज नारायण मुन्शी—एम० निगम पृ० सं० १९७, १९९

कि अहं वर्तमान, चालू और आकस्मिक घटनाओं का प्रतिनिधित्व करता है।[१] इन तीनों का साम्य ही मानव मात्र को श्रेय एवं प्रेय है। हिन्दी नाटकों में इदं, अहं, नैतिकाहं के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अश्क के चरवाहे में अनियन्त्रित इड् का स्वच्छन्द रूप है। उनके 'सूखी डाली' एकांकी में अहं की पराकाष्ठा है। इसी भाँति पन्त के रजत शिखर के प्रमुख पात्र युवक के संवादों का पर्यवसान नैतिकाहं पर ही होता है। निदान, अब, ज्ञाता के पर्यवेक्षण के उपरान्त चित्तयन्त्र के दूसरे भाग ज्ञेय का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है।

मनोविकृतियों के मूलाधार तत्व—ज्ञेय या दृश्य चित्त तीन प्रकार का होता है—

१—ज्ञात—जो ज्ञप्ति विशिष्ट है।
२—ज्ञाताज्ञात—जो स्वरूप से अज्ञात है, किन्तु ज्ञात हो सकता है।
३ – अज्ञात—जो वासनामय है।

फ्राइड के मत में जिन कामेच्छाओं पर समाज का प्रतिबन्ध होता है और जागृत जीवन में जिनकी तृप्ति नहीं हो पाती, दबा दी जाती हैं, वे अचेतन इच्छायें बन जाती हैं। दूसरे शब्दों में जिस काल से सामाजिक और नैतिक दबावों के परिणाम स्वरूप 'ईगो' और 'सुपर ईगो' का विकास होने लगता है, और स्वाभाविक कामेच्छाओं का दमन होता जाता है, तभी इन दमितेच्छाओं से अचेतन-मन का निर्माण होता है।

चेतन और अचेतन के मध्य ज्ञाताज्ञात रहता है। अचेतन वह है जिसका दमन कर दिया गया है। ज्ञाताज्ञात वह है जिसका दमन नहीं किया गया है, जो कि क्षण भर के लिए चेतन हो सकता है। ज्ञाताज्ञात या ईषद् ज्ञात मन में संचित अनुभूतियाँ सहज ही ज्ञात मन में प्रवेश कर सकती हैं। इसकी कार्य-व्यवस्था सहज और साधारण है। इसकी इच्छायें अपने में अनुचित या निकृष्ट नहीं होतीं। इस मन में जो विषय अन्तर्निहित होता है, वह बहुत कुछ बोधगम्य रहता है।[२]

चेतन मन की क्रियायें प्रायः वही होती हैं जो वातावरण और बाह्य परिस्थिति से प्रेरित और प्रभावित हैं। मन का यह भाग विचारशील, विवेकशील और क्रियाशील है। किसी भी क्रिया को करने के पहले उस पर सोच-विचार कर लेता है। इसका सम्बन्ध आवेग (टैम्परेरी इमोशन) से नहीं प्रत्युत ज्ञान से है। इसकी इच्छायें तथा आकांक्षायें अधिकतर विचारगम्य (बुद्धिगम्य) होती हैं। तर्क और युक्ति द्वारा वे

१—ऐन आउट लाइन आफ साइको-ऐनालिसिस—फ्राइड पृ० ३-४
२—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० २३

समझी और संतुष्ट की जा सकती हैं।[1]

चेतन और अचेतन में विरोध होता है। स्वभावतः मनुष्य सुख के लिए प्रयत्नशील होता है। वह अपनी इच्छाओं की तुरन्त तृप्ति चाहता है। लेकिन उसका सामना उसके सामाजिक परिवेश की वास्तविकताओं से होता है, जो उसे अपनी इच्छाओं का किसी सीमा तक दमन करने के लिए बाध्य करता है।

एडलर के अनुसार दबाये हुये स्वस्थापन के आवेग से अचेतन का निर्माण होता है। अचेतन हीन भाव ग्रन्थि और शक्ति प्राप्ति के लिए चेतन प्रयत्न मिलकर एक सक्रिय एकता को बनाते हैं।

युंग की दृष्टि में वैयक्तिक अचेतन और सामूहिक अचेतन में भेद है। व्यक्ति का चेतन और अचेतन जीवन सामूहिक अचेतन से विकसित होता है। इसमें मूल प्रवृत्तियों या कार्य करने के जन्मजात और आदिकालीन विचार और तरीके निवास करते हैं।[2] युंग का समिष्ट अचेतन (कलैक्टिव अनकोनसस) दार्शनिकों से मिलता-जुलता है। युंग का मत है कि समिष्ट अचेतन में स्थानापन्न भावनायें न तो सुव्यवस्थित, सजीव, साकार और सुस्पष्ट हैं, और न वे अभिव्यक्त ही हो पाती हैं। परन्तु तो भी वे मानव-जाति मे निसर्ग से उपलब्ध होती आयी हैं। अदृष्ट शक्ति में आस्था तथ्यान्वेषण आदि आध्यात्मिक उत्प्रेरणायें समष्टि अचेतन के ही सारभूत उद्गीथ है। इन्हीं से मानव मात्र की चेतना जागृत हो उठती है।

व्यष्टि अचेतन स्वार्थ-परक भोगाभिलाषी, भयावह एवं निष्ठुर मूल प्रवृत्तियों और दमित-वासनाओं का विलक्षण इन्द्रजाल भले ही क्यों न हो किन्तु अन्तर्दृष्टि से अभिज्ञात होगा कि मन के अन्तःपटल पर आसीन समष्टि--अचेतन में हमारी नीति निपुणता, सौंदर्याकर्षण और कल्याणमयी मानवीय विशेषज्ञता अन्तर्निहित है। जिन कल्याणप्रद अच्छाइयों और मंगलमय कामनाओं से हमारा चेतन मन सुपरिचित है, उन सबका तारतम्य युंग ने तात्विक अंश में समष्टि अचेतन में विद्यमान बतलाया है। उनका कथन है कि अचेतन में केवल अनैतिक ही नही अपितु नैतिक भावनायें भी वास करती हैं। व्यष्टि और समष्टि अचेतन मन के ही सामंजस्य द्वारा मानव का व्यक्तित्व सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न होकर क्रियान्वित होने की शक्ति संचित कर पाता है।

मनुष्यों में मानसिक शक्ति के समीकरण या (कमपनसेशन) क्षतिपूर्ति द्वारा ही यह सामंजस्य स्थापित हो पाता है। जिस प्रकार प्रकृति के व्यापक सिद्धान्त समीकरण से अपकर्षोत्कर्ष, सौंदर्यासौंदर्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य, निराशा, विषादाविषाद

१—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० २१

२—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा (हि० सं०) पृ० ३५२

आदि एक दूसरे के अनुपूरक हैं और प्रत्येक परिस्थिति अपनी विरोधी परिस्थिति में परिवर्तित हो जाती है। मानव के मन एवं स्वभाव मे भी यही प्रक्रम जारी रहता है।

युंग ने मानसिक एवं शारीरिक रोगों से आक्रान्त होने का हेतु समीकरण की इसी प्रवृत्ति को सिद्ध करते हुए लिखा है कि बहुधा बहिर्मुखता के कारण धनार्जित करने में व्यस्त व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में धनोपार्जन की चिन्ता त्यागकर उसे मानसिक शक्ति पर केन्द्रित होना आवश्यक होता है।[१] इस ढंग से उसकी बहिर्मुखता प्रकृति द्वारा बाध्य होकर अन्तर्मुखी रूप में परिवर्तित हो जाती है।

फ्राइड के मतानुसार अचेतन मन का सम्बन्ध सुख एवं तृप्ति सिद्धान्त (प्लेजर प्रिंसीपल) से होता है। वह सामाजिक नियमों पर आधृत नहीं है। समाज की नियंत्रणा और वास्तविकता से उसका कोई सरोकार नहीं। विवेकशीलता उसकी शत्रु है, क्योंकि उसी के द्वारा बहिष्कृत, तिरस्कृत, तथा दबाये गये विचार आदि से ही तो यह बना है। क्षणिक एवं अस्थायी संवेग अचेतन मन की क्रियाशीलता के लिए बड़े सहायक होते हैं क्योंकि संवेगात्मक तनाव में ही तो मनुष्य की चेतन-शीलता उत्तरदायित्व नहीं निभा पाती। इसकी इच्छायें तथा क्रियायें परिवर्तित अर्थात् परोक्ष रूप लिए रहती हैं, इसलिए उन्हें पहचानना नितान्त असम्भव है, अत: मनोविकृतियों के मूलाधार तत्वों में अचेतन मन का प्रथम स्थान है। अचेतन मन के अतिरिक्त मानसिक द्वन्द्व भी अपना प्रमुख स्थान रखता है। इन दोनों मूलाधारों के साथ-साथ मनोग्रन्थियां, मनोग्रस्तता, स्थिरता, प्रत्यावर्तन और विफलता को भी इसमें प्रश्रय मिलता है।

मानसिक द्वन्द्व—मानसिक द्वन्द्व मनोविकृत धारा का सर्वप्रमुख स्रोत है। परस्पर विरोधी संवेगों या इच्छाओं के बीच के विरोध को द्वन्द्व कहते है। शारीरिक सामाजिक व्यवहारवादी विचारधारा के अनुसार दो या दो से अधिक प्रतिद्वन्द्वी (परस्पर विरोधी अथवा केवल भिन्न) प्रतिक्रियाओं के ऐसे परस्पर संघर्ष को द्वन्द्व कहते हैं जो विकसित होते रहने वाले गतिशील प्रेरित व्यवहार को उपयुक्त प्रगति

1—This is the extravert's danger; he becomes caught up in objects, wholly losing himself in their toils. The functional (nervous or actual physical disorders which result from this state) have a compensatory significance, forcing the subject to involtuntary self restriction.

—Jung: Psychological types pp 420

क्रम, विस्तार, सिद्धि-अथवा पूर्णता को बाधित करता या रोकता है।[1] राबर्ट एस० वडवर्थ के शब्दों में मानसिक द्वन्द्व परस्पर विरोधी प्रेरणाओं के बीच होता है और उसकी मुख्यतः दो अवस्थायें होती है, निश्चय की प्रक्रिया और निश्चय हीनता अर्थात् असमंजस,[2] इस द्वन्द्व की स्वभावगत तीन श्रेणियाँ हैं:—

१—ग्राह्य-त्याज्य-द्वन्द्व (एडियन्ट-एवायडेन्ट कानफ्लिक्ट)—इसमें एक प्रतिक्रिया हमारी स्वभावगत रुचि तथा जीवन-शैली से मेल खाती है जबकि दूसरी विरोध करती है।

२—ग्राह्य-ग्राह्य-द्वन्द्व (डबुल—एडियन्ट कानफ्लिक्ट)—इसमें दोनों का ग्राह्य रुचिकर होता है लेकिन परवश होकर एक का परित्याज्य असह्य एवं उसका अभाव कुरेदता रहता है ।

३— त्याज्य—त्याज्य—द्वन्द्व (डबल एवायडेन्ट कनफ्लिक्ट)—इसमें दोनों त्याज्य होते है किन्तु विवशता से उनमें एक का ग्रहण करना अखरता ही रहता है क्योंकि यहाँ दोनों स्थिति निकृष्ट होती हैं। चेतन और अचेतन के अतिरिक्त चेतन द्वन्द्व भी है जिन्हें फ्राइड ईषत् ज्ञान (प्रिकांशस) द्वन्द्व कहते हैं।

परस्पर विरोधी भाव प्रवणता (Ambivalence)—मानव मन ही मन अपनी अन्तर्तम की भावनाओं की कदर्थता, दुःशीलता और कुरुपता पर कुढ़ा करता है। उसके अज्ञात मन में समाया हुआ विद्रोह उसे पुनः पुनः प्रताड़ित करता रहता है। जब आन्तरिक यातना को वह सहने मे समर्थ नहीं हो पाता तब बाह्याचरणों के द्वारा वह अपने आत्म विद्रोह को शान्त करने के लिए लालायित होता है। मानव की बाह्य नैतिकता, कर्त्तव्य परायणता, आदर्शवादिता आदि की स्थिति अज्ञात मन की ठीक विरोधी भावनाओं से परिचालित होती है। उसका चेतन मन जितना उदासीन वैराग्य एवं घृणा से परिपूर्ण होगा उतना ही अज्ञात मन आसक्ति और मोह के भाव छिपाते हुये पाया जायेगा। हमारे सभी परोपदेश प्रायः हमारी आन्तरिक प्रक्रिया के विकृत रूप ही हैं। यह बाह्याचरण की क्रियायें हमें आत्म भर्त्सना से छुटकारा देने को होती है ताकि हम अपनी कमजोरियों से उद्भूत व्यथा को भूल जावें, और अपने आप को छलकर संतोष की साँस लें।

कहने का तात्पर्य यह है कि हममें दो विरोधी प्रवृत्तियाँ सर्वदा घर किये होती हैं। यदि मानव घृणित है तो उसी अनुपात में वह प्रिय भी है। यदि उसमें आकर्षणी है तो विकर्षण भी है। अर्थात् प्यार और घृणा, तनाव और खिचाव, आकर्षण और विकर्षण दोनों विरोधी भावों में मूलगत एकता का निवास है।

१—**बिहेवियर डिसआर्डर्स—नार्मन ए० केमरान पृ० १३१–३२**

2—Pscyhology, a study of mental life—R. S. Woodworth pp 392-93

स्व-प्रवंचन-(रिएक्शन फारमेशन)—यह हमारे अन्तर्मन की वह क्रिया है जिसे अन्त:करण से तो नहीं वरन् बाह्य वातावरण से समझौता कर उसकी वकालत भी की जाती है। दूसरे शब्दों में इस अवस्थिति से अपने आपको ठगने का प्रक्रम व्यक्ति करता है। यह विरोधाभास ही अन्त में अन्तर्द्वन्द्व कर बैठता है। जे० एफ० ब्राउन इस वृत्ति को अचेतन मन द्वारा व्यक्ति की स्वकीय प्रवंचना मानते है।[१]

सह-बोधावस्था (Co-conscious persoality)—यह बहुव्यक्तित्व की विधा है। इस मानसिक अवस्थिति में व्यक्तित्व आन्तरिक द्वन्द्व के बावजूद कई खण्डों में विभाजित होता जाता है। कभी-कभी व्यक्तित्व का एक भाग दूसरे खण्ड से सर्वथा अपरिचित एवं स्वच्छन्द रूप में कार्य करता रहता है। मानसिक द्वन्द्व-वश्यता कभी विरोधी एवं कभी सहयोगी के रूप में इन व्यक्तित्व खण्डों को परिवर्तित करती रहती है।

प्रबल मनोवेग का अभाव (want of master sentidment)—मनुष्य के व्यक्तित्व के संगठित विकास में सबसे बड़ी बाधा है इच्छाशक्ति की दुर्बलता, मेक्डुगल के शब्दों में एक प्रबल मनोवेग का अभाव (वान्ट आव् मास्टर सेन्टीमेण्ट) है। मनुष्य में यदि कोई मानसिक असाधारणता आ जाती है, यदि वह अफीमची, गजेंडिया, जुआरी, वेश्यासक्त, मद्यपायी है तो वह उसके लिये एक मानसिक आवश्यकता है।

ब्राउन के शब्दों में मनोविकृति या मानसिक रुग्णता भले ही भयंकर दीख पड़े, पर उस व्यक्ति के लिये एक आवश्यक पदार्थ है। उसके जीवन धारण के लिए सबसे सुविधापूर्ण मार्ग है। साहित्य में ऐसे रोग, असाधारणतायें और मनोविकृतियां व्यक्ति विशेष के लिए मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है।

आधुनिक मनोविकृत विज्ञान का प्रधान सिद्धान्त यह है कि मनोविज्ञान की असाधारण घटनाएँ मनोवैज्ञानिक प्रकृत-घटनाओं के अतिरंजित या छद्म-वेशी रूप है। अर्थात् या तो उनका विकास अधूरा रह गया है या इनका विकास आवश्यकता से अधिक हो गया है। अथवा कहना चाहें तो कह लीजिए कि वे विकृत हो गई है।[२]

स्व-आक्रमण - प्रेरणावेग (ओटो-एग्रेशन)—इस मानसिक अवस्थिति को

1—By reaction-formation, or over compensation we mean the development of behaviour which are diamerioncally opposed to the unconscious wish.

—Psycho-Dynamics of abnormal behaviour-J.F.Brown pp-173

२—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय पृ०सं० २६५—२६६

जे० सी० फ्लुगेन • ने नेमीजिज्म, ओटो-एग्रेशन और डैस्टारयूरिडा नामों से पुकारा है।[1]

परिवार में पला बालक अपने माँ बाप को श्रद्धा और घृणा दोनों विरोधी प्रवृत्तियों से देखता है। बच्चे के इच्छानुकूल कार्य श्रद्धा और प्रतिकूल घृणा में परिवर्तित हो जाता है। घृणा के कारण बालक में आक्रमणात्मक भाव जाग्रत हो उठते हैं। यह परिस्थिति तीन मानसिक प्रक्रमों को पैदा करती है—

(१) निरोधन (रिप्रेशन)।
(२) स्थानान्तरण (डिसप्लेसमेन्ट)।
(३) स्व-आक्रमण (टर्निंग इट एगेन्स्ट हिमसेल्फ)।

स्व-आक्रमण में बालक को अधिक सुगम स्वपीड़क परितोष होता है। यथा बालक इच्छा विरुद्ध पेय पदार्थ देने पर उसे हाथों से हटाकर निषेध करेगा। लेकिन ताड़ना के साथ स्व-आक्रमण-प्रेरणावेग के वशीभूत होकर वह सबको एक साँस में पी जायेगा। यह मनोवृत्ति अपने आप को दण्डित कर दूसरों से प्रतिशोध लेने की है। यह प्रवृत्ति अचेतनावस्था में काम करती रहती है। मानव इससे पूर्णतया अनभिज्ञ रहता है। कभी-कभी ऐसे न्यूरोटिक मनुष्यों की एक सेना तक बन जाती है—सत्याग्रह, स्ट्राइक इसी के प्रकारान्तर हैं। आत्म-हत्या स्व-आक्रमण-प्रेरणा-वेग का अन्यतम रूप है। यथा प्राण दण्ड का अपराधी आत्म हत्या करके इसी मनोवृत्ति से स्वयं की विजय मानता है, क्योंकि यहाँ पीड़ित की पीड़क पर विजय है।

मानसिक भावना-ग्रन्थियाँ—मानसिक शक्ति का अपना प्रकाशन सुचारु रूप से न होने पर मानसिक विकार में परिवर्तित होना पड़ता है। यही मनोविकार मनोग्रन्थि का स्वरूप धारण कर लेते हैं। जिन भिन्न तथा विरोधी इच्छाओं की अभिव्यक्ति तथा आवश्यकताओं की पूर्ति का दमन किया जाता है, या जिनकी उपेक्षा की जाती है, वे मानसिक भावना-ग्रन्थि को जन्म देती हैं। इसी दमन क्रिया के सम्बन्ध में फ्राइड ने व्यक्ति की काम प्रवृत्ति (सेक्स) की ओर अधिक संकेत किया है। "सामाजिक बन्धन रूढ़ियों, अन्य नियम परम्पराओं तथा नैतिक सिद्धातों के कारण इस काम प्रवृत्ति को अपने प्रकृत और पूर्ण रूप में तुष्टि पाने का अवसर नहीं मिलता। फलतः अचेतन मन में भावना-ग्रन्थियाँ बनती हैं और फिर मानसिक रोग हो जाते हैं।"[2]

१—मेन, मोरल्स एण्ड सोसाइटी—जे० सी० 'फ्लूजेन—पृ० ७८
२—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० ५०

एडलर भी मनोग्रन्थि को दमन क्रिया का प्रतिरूप मानता है। अपनी मूल प्रवृत्ति आत्म स्थापन (सेल्फ-एजर्शन) के अनुसार उसके मत में जब व्यक्ति को किसी भी कारण से तृप्ति नहीं मिलती तब उसमें हीनता की मनोग्रन्थि बन जाती है। इससे ग्रस्त होकर व्यक्ति का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और नाना प्रकार की मनोविकृतियाँ फूट पड़ती है।

युंग के सिद्धान्त से जब हमारी प्रकृतेच्छायें बाह्य परिस्थिति एवं वातावरण से सामंजस्य स्थापित नही कर पाती, या उनकी पूर्ति एवं सतुष्टि असम्भव प्रतीत होती हैं, तब इसी असामंजस्य के फलस्वरूप मानसिक वैषम्य बन जाता है। अत: मानसिक ग्रन्थियों का कारण यही असमन्वयात्मक आन्तरिक द्वन्द्व है।

हार्ट के अनुसार सामान्य अथवा स्वस्थ मन की प्रक्रियाये उन कारणों का परिणाम होती हैं जिनकी क्रियाशीलता से व्यक्ति निरंतर अनभिज्ञ रहता है। इन मनोग्रंथियों की प्रक्रिया अस्पष्ट एव परोक्ष होती हैं। इन ग्रंथियों से स बन्धित बिचारों और कार्यों को व्यक्ति अज्ञेय प्रेरणा से अपनाता है लेकिन उस मानसिक प्रक्रम का उसकी दृष्टि में कोई भी अस्तित्व नही होता पुनरपि उसमे तल्लीन रहता है।[1]

मनोग्रस्तता — यही मनोग्रस्तता है। मनोग्रस्तता से पराभूत व्यक्ति के मन में ऐसे विचार भरे रहते है जिनमें उसकी वास्तव में दिलचस्पी नही होती। वह ऐसे आवेग अनुभव करता है जो उसे अपरिचित ज्ञात होते है, और ऐसी क्रियायें करने को प्रेरित होता है, जिससे उसे आनन्द नहीं मिलता, पर जिनसे हटने की सामर्थ्य भी उसमें नहीं है। फ्राइड द्वारा प्रस्तुत नपुंसक पति की पत्नी का उदाहरण इसके लिए पूर्णतया उपयुक्त है।

मनोग्रन्थि का शोध आत्म तुष्टि है। मुण्डकोपनिषद् में इस ग्रन्थि के भेदन से अखिल संशयों का निवारण बतलाया है।[2] हिन्दी नाटकों में काम, हीनता, समाज, धर्म, अपराध, प्रतिशोध ग्रंथियों के उदाहरण उपलब्ध है।

बद्धता या स्थिरता (फिक्सेशन)—मनुष्य अपनी अवस्था के क्रमिक विकास में सक्रिय भाग लेता हुआ भी कदाचित् शैशवकालीन विगतावस्था से ज्यों का त्यों पुन: सम्पर्क स्थापित कर लेता है। यही प्रवृत्ति बद्धता की द्योतक है। इस प्रवृत्ति का उद्गम

---

१ – साइकलोजी आफ इन्सैनिटी—बर्नर्ड हार्ट—पृ० ७४

२—भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यते सर्वसंशया क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। २। ८।

जीवन की विषमताओं से त्रस्त एवं उनमें असफल होने के कारण होता है। बहुत से व्यक्ति अपनी धर्मपत्नी से वैसी ही आशा रखते हैं जैसी माँ ने बचपन में उनकी देख-रेख की थी। उनमें पति होकर भी बालक बनने की लालसा जीवन में असफल होने के कारण बनी रहती है।

प्रतिगमन या प्रत्यावर्तन (रिग्रेशन)—कुछ ऐसी ही गतिविधि प्रतिगमन की है। प्रत्येक मनुष्य में प्रकृतिदत्त-जन्मजात मानसिक शक्ति होती है। इस शक्ति का सदुपयोग जीवन को विकसित करना है। दुरुपयोग की स्थिति में उसका बल क्षीण होकर जीवन की जटिलताओं को सुलझाने में अक्षम होता है। जब यह शक्ति अपना नवीन मार्ग बनाने में समर्थ नहीं हो पाती तब वह तुरन्त प्रतिगमन कर बैठती है। अर्थात् विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगती है।

टेन्सले के मतानुसार जब मूल मानसिक शक्ति अपनी स्वाभाविक कमी अथवा कठिनाई की जटिलता के कारण प्रगति की ओर नहीं बढ़ती तो वह प्रतिगामिनी बन जाती है।[1]

विफलता—(फ्रस्ट्रेशन)—फ्राइड ने इस विफलता को तृप्ति का अभाव (प्राइवेशन) कहा है। विफलता वह स्थिति है, जिसमें किसी मनुष्य का आगे बढ़ते हुए गतिशील या उस पर आधारित कार्य अस्थायी अथवा स्थायी रूप से रुक जायें, अर्थात् वे पूर्ण न हो पावें।[2] यदि मानसिक विकारो अथवा विकृत मनोदशा की समीक्षा के परिणाम पर हम पहुँचते हैं तो इसके मूल में मन शक्ति की गति की विफलता या रुक जाना-आवश्यकताओं की पूर्ति ही न होना है।

फ्राइड के शब्दों में व्यक्ति मानसिक रोग के शिकार तब होतें है जब कामज-शक्ति (मनःशक्ति) की पूर्ति इच्छाओं की तुष्टि की सम्भावना दूर हो जाती है, अर्थात् वे विफलता के फलस्वरूप बीमार होते हैं।[3] साहित्य में मनोविकृतियो के कारणों की अवतारणा प्रचुरता में मिलती है, जिसकी विवेचना आगे देनी सम्भव हो सकेगी।

निदान, मनोविकृतियों के मूलाधार तत्वों के उपरान्त मानसिक संतुलन विधियों का पर्यावलोचन आवश्यक है। अचेतन मन की ये कार्य विधियाँ सामान्य और असामान्य दो प्रकार की हैं। आज हिन्दी के नाटकों मे ऐसे पात्रों की सृष्टि सुगमता से प्राप्त हो जाती है जिनमें मानसिक संतुलन के ये सामान्य और असामान्य मनोवैज्ञानिक सूत्र उपलब्ध हैं।

१—न्यू साइकोलोजी—टांसले पृ० १०९

२—साइकोलाजी आव् बिहेवियर डिस आर्डर्स—नार्मल ए० कैमरान पृ० १३०

३—इंट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको—ऐनालिसिस पृ० ६८९

मानसिक संतुलन के लिए अचेतन मन की सामान्य कार्यविधियां-आक्रमण— परिस्थिति के अनुकूल जब व्यक्ति किसी जटिल समस्या में उलझ जाता है तो उसके समक्ष दो स्थितियाँ होती हैं। या तो वह अपना व्यवहार आक्रमणकारी रखता है अथवा वह पलायन करता है। यह अचेतन मन की सामान्य कार्यविधियाँ उसका इन दोनों मनोवृत्तियों से मानसिक संतुलन बनाये रखती है। जीवन मे किसी भी प्रकार की विफलता का परिणाम आक्रमण है। यह आक्रमण सीधे अपने असली विरोधी विषय के प्रति होता है या उस असली विषय के स्थान पर किसी अन्य विरुद्ध विषय के। अथवा स्वयं अपने विरुद्ध जिससे यह भावना उत्पन्न होती है। बड़बड़ाना, चिड़चिड़ापन, बदमिजाजी इसी आक्रमण के स्पष्ट प्रतिरूप हैं।

पलायन—विरोधी स्थितियों से बचने के लिए जैसे आक्रमण का प्रयोग होता है, इसी भाँति पलायन इसकी ठीक विपरीत दिशा में प्रस्थान करता है। पलायन करने वाला व्यक्ति असली विरोधी स्थिति से पलायन करता है। प्रत्येक स्थिति में उसे खतरा दृष्टिगत होता है। नवीन एवं अपरिचित स्थिति में वह भाग निकलने को तत्पर होता है। स्वयं अपने को ही खतरा समझ कर अपने से ही भागने अर्थात् आत्म-भर्त्सना के लिए उद्यत होता है। अपनी ही इच्छा और आदर्शों से विमुख होता है। इसके अतिरिक्त अचेतन मन की सामान्य कार्य विधियों में भय और चिंता का भी स्थान है।

मानसिक संतुलन के लिए अचेतन मन की असामान्य कार्यविधियां—फ्राइड ने इन मानसिक संतुलन की कार्य-विधियों को सुरक्षात्मक बतलाया है। वैसे तो मनो-विश्लेषकों ने अचेतन मन की असामान्य कार्यविधियाँ बहुत-सी बतलायी हैं लेकिन प्रतिपाद्य विषयानुसार जो कार्य-विधियाँ हिन्दी नाटकों में उपलब्ध हुई हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख निम्न प्रकार से है:—

ध्यानाकर्षण (अटेन्शन गेटिंग) ध्यानाकर्षण मुख्यतः अथवा आत्म-स्थापन प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का एक ढंग है। जो व्यक्ति बहुत कुछ प्रसाधन क्रिया पर आश्रित रहते हैं, शेखी बघारते हैं, अपना प्रदर्शन करते है, उन पर इस विधि का प्रभाव होता है। कुछ मनुष्यों में किसी न किसी निजी कष्ट साध्यता एवं शारीरिक अस्वस्थता का शाश्वत भ्रम बना रहता है। वे सदैव यत्र-तत्र अपनी इस शिथिलता का परिचय देते रहते हैं। ऐसा करने में वह पूर्ण सफल नहीं उतरते, क्योंकि अपने विषय में वह पूरी पूरी ठीक बात बताने में भी असमर्थ होते है। उनका मन किसी कार्य को करने में अनुरक्त नहीं रहता। ये लक्षण ध्यानाकर्षण असामान्य कार्य विधि के है। इनमें अतिस्वास्थ्य चिन्तित, उन्मादी और अत्युत्साही के रोग असामान्य अचेतन कार्य-विधियों द्वारा व्यक्ति में समा जाते हैं।

आरोपण-(प्रोजेक्शन)—आरोपण का प्रादुर्भाव आत्म-ग्लानि एवं आत्म भर्त्सना से छुटकारा पाने के निमित्त होता है। हम बहुधा अपने मानसिक दोषों को दूसरों पर आरोपित करते हैं तथा दूसरों के उन कल्पित दोषों को अपनी कठिनाई और असफलता का कारण बतलाते हैं। जीवन में संघटित इसी प्रक्रिया को आरोपण कहा जाता है।

आरोपण की यह मनोवृत्ति मानव के अपने दोषों को उसमें न बताकर प्रायः बाहर ही दिखाने की चेष्टा करती है। हमें आत्म ग्लानि से बचने के लिए सदैव आत्मवंचना की प्रवृत्ति अपनानी होती है और आत्मवंचना की विधि का प्रक्रम आरोपण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

वस्तुतः मनुष्य का अन्तस्तल कमियों का आगार है। किन्तु फिर भी वह अपनी कमियों पर ध्यान न देकर उन्हे दूसरों पर थोपकर ही संतुष्ट होता है। इस कथन के सम्बन्ध में हार्ट महोदय की संपुष्टि उपयुक्त है। वे कहते हैं कि जिन व्यक्तियों के व्यक्तित्व में कोई दोष या कमी होती है जिसके लिए उन्हें आत्म-ग्लानि होती है, वे दूसरों की इसी प्रकार की कमी को सह नहीं सकते।[१] इस विषय में एडलर की मान्यता है कि जिन मनुष्यों की धारणा अपने प्रति जितनी ऊँची होती है, परन्तु कार्य क्षमता का अभाव होता है, उनमें उतनी ही अधिक आरोपण की प्रवृत्ति होती है, अर्थात् आरोपण का कारण प्रायः आशा और योग्यता की अत्यधिक विषमता होती है।[२]

टेन्सले के मतानुसार आरोपण की प्रबलता के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी असफलता का कारण किसी दूसरे व्यक्ति को मान बैठता है और इसको प्रमाणित करने के लिए नयी-नयी कहानियाँ गढ़ लेता है। (भाग्य, दैवी-प्रकोप, अपशकुन, परिस्थिति-वश इसी के प्रतिरूप है।) कभी कभी प्रौढ़ अविवाहित महिला जिसकी प्रबल काम-इच्छा दबी हुई है, अपनी विक्षिप्त अवस्था में किसी निर्दोष युवक को अपने ऊपर बलात्कार करने और भगा ले जाने की इच्छा रखने का दोषारोपण करती है।[3]

फ्राइड द्वारा उद्धृत सास रोगिणी का इतिवृत आरोपण का उत्कृष्ट उदाहरण है। सास का प्रेम दामाद के प्रति अन्तर्तम में बढ़ता ही रहा। पर अचेतन की यह वासना अहं (इगो) की नैतिकता के प्रतिकूल थी। इस अदृष्ट वासना ने अभिव्यक्त

१—साइकोलोजी आव् इंसेनिटी—अध्याय ६ पृ० ११८—हार्ट

२—इनडीविज्यूल साइकोलोजी—दी प्रोबलेम आव् डिस्टेन्स – एडलर पृ० १०१

३—न्यू साइकोलोजी– टान्सले—पृ० १३६

होने के पहले दोषारोपण का रूप धारण कर लिया, जिससे कि वह उस महिला के नैतिक अहं से न पहिचानी जा सके। इसी कारण वह महिला अपने दोष को अपने पति में देखने लगी। या यों कहिये कि दोषारोपण की चेष्टा उसके अज्ञात मन की वासना ने नैतिक प्रतिबन्ध से बचने का सुगम उपाय ढूंढ निकाला कि जब उसका पति ही व्यभिचारी है, तो उसे व्यभिचारिणी बनने से कौन रोक सकता है।

हेत्वारोपण-(रेशनलाइजेशन)-(Rationalisation)—मानव में विचारों से भी प्रबलतम मूल प्रवृत्ति-जन्य वासनायें और उद्वेग पाये जाते है। प्राय: उसका विवेक इन्ही की सेवा में तत्पर रहता है। वैसे तो विवेक का कार्य मानसिक उत्तेजनाओं पर नियन्त्रण रखना है, पर बहुत से अवसर ऐसे आते है जब हमारा विवेक वासनाओं के अनुकूल होकर तज्जनित कार्यों का औचित्य सिद्ध करने लगता है। यद्यपि वासना जनित कार्यो की औचित्य सिद्धि के हेत्वारोपण मे चेतन मन कार्य करता है किन्तु उससे यह कार्य कराने वाला अचेतन मन ही होता है। अचेतन मन ही हेत्वारोपण में चेतन मन को कठपुतली की तरह नचाया करता है। हेत्वारोपण मे औचत्य सिद्धि के हेतु सर्वदा झूठे ही हुआ करते है। हम अपनी दिनचर्या में किसी काम के करने अथवा न करने के झूठे हेतु प्रस्तुत करते रहते है। अचेतन, चेतन मन का यही प्रक्रम हेत्वारोपण कहलाता है। टेन्सले ने हेत्वारोपण को ऐसी मनोवृत्ति का ही द्योतक सिद्ध किया है जो किसी काम के यथार्थ हेतु से अलग किसी कल्पित हेतु का प्रतिपादन मात्र है।[1]

स्थानान्तरण (ट्रान्सफरेन्स)—स्थानान्तरण प्रकरण मे फ्राइड ने जीवन के समस्त दु:खों का आधार निर्धनता, व्यक्ति पर नैतिक रूढ़ियों के नियमो की कठोरता, जीवन-साथी के निर्वचन में असंतोष, पारिवारिक संघर्ष, सामाजिक अवस्थाओं का प्रतिकूल होना आदि बतलाया है। और इनको यथार्थ में कुण्ठा, के अन्तर्गत माना है। तज्जन्य मानसिक द्वन्द्व रागात्मक इच्छाओं और यौन दमन में भोगात्मक और निवृत्ति की प्रवृत्तियों में होता है। यह द्वन्द्व एक को प्रबल तथा दूसरे को निर्बल, बनाकर पराजित करते हुए दूर नहीं किया जा सकता। यह दमन को खोजकर, स्मृति में रिक्त स्थानों को भरकर, प्रतिरोधों को जानकर, दमित को निर्दिष्ट करके कार्य में सफलता पाने से, प्रतिरोधों को दूर करने से, दमन को हटा देने से और अचेतन विचारों को चेतन विचारों में रूपान्तरित करने से ही दूर किया जा सकता है।

1—' Rationalisation may be defined as the production of a 'reason' for, as distinct from the true cause of motive of, an act or conation."
—New psychology—Tansley—pp 182

इस मानसिक परिवर्त्तन के लिए मनोविश्लेषक को एक साधक की भाँति साधना में अनुरक्त रहना होता है। इस विषय मे जेकोबी ने युग के विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि मनोविश्लेषक इस मनोविश्लेषण की साधना में केवल रोगी के ही मन का मनोविश्लेषण नहीं करता अपितु उसे रोगी की आत्म स्वीकृति के अनुसार ही स्वयं अपने चरित्र के सम्बन्ध में आत्म स्वीकृति करनी पड़ती है। इस दृष्टि से मनोविश्लेषण पद्धति आत्मज्ञान-लाभ के प्रमुख साधन से कम नहीं प्रतीत होती।[1]

प्रतीकीकरण (सिम्बलाइजेशन)—प्रतीक वह वस्तु या विचार होता है जो किसी अन्य वस्तु या विचार का प्रतिरूप अथवा स्थानापन्न होता है। अज्ञान मन प्रतीको का पुंज है। प्रतीकीकरण अज्ञात की इच्छाओं को व्यंजित करने का मुख्य साधन है।[2] फ्राइड के मत में प्रतीक मनुष्य की काम-वासना और उससे सम्बन्धित क्रियाओं का ही द्योतक है। ये प्रतीक, स्वप्न, धर्म पुराण गाथाओं और विक्षिप्तावस्था में बराबर उपलब्ध होते हैं। बर्नर्ड हार्ट के मतानुसार-वास्तविक मूल (कारणात्मक) विकारों को मनुष्य की चेतना से छिपाना ही प्रतीकीकरण का उद्देश्य होता है। अनुदिन जीवन में बड़प्पन या आत्म स्थापना-जिनकी अभिव्यक्ति सामाजिक परम्पराओ द्वारा निषिद्ध होती है-प्रतीकों के रूप में ही व्यक्त होती है। विशेष प्रकार की चाल ढाल, पाण्डित्य प्रदर्शन, आडम्बरपूर्ण व्यवहार प्रतीकीकरण के उदाहरण हैं। इसी विधि द्वारा अविवाहित स्त्रियों मे दमित मातृत्व की प्रवृत्तियाँ कुत्ता बिल्लियों के प्रति अति प्रेम में अभिव्यक्त होती है।[3]

रूपान्तरण—(कन्वर्जन) – दमितेच्छाओं एवं मनोग्रन्थियों का शारीरिक रूपों में प्रकट होना रूपान्तरण है।[4] जिह्वा, दृष्टि और श्रोत्रेन्द्रियों का अकस्मात् अकर्मण्य बन जाना, उन्माद के अन्तर्गत आने वाले रूपान्तर है। पक्षघात और संज्ञा-शून्यता तत्सम्बन्धी व्याधियाँ है। ये व्याधियाँ तीव्रतर वेदना एवं पीड़ा की अवस्था में उद्भूत होती हैं। इनका मूलाधार संवेगात्मक दबाव होता है।

मनोविच्छेद—(डिसोसियेशन) – व्यक्तित्व अथवा मन का खण्डित हो जाना, मनोविच्छेद का आधार आन्तरिक द्वन्द्व, मनोग्रन्थियाँ और हेत्वारोपण है। आन्तरिक द्वन्द्व के प्रवाह में व्यक्तित्व एवं मन के तारतम्य में क्रमबद्धता का अन्त हो जाता

१—साइकोलोजी आव् युंग—जेकोबी पृ० ६८

२—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० सं ३६–३७

३—साइकोलोजी आफ इनसेनिटी—बर्नर्ड हार्ट पृ० सं० ११४

४—डिक्शनरी आव् साइकालोजी—जेम्स ड्रेवर

है और उसके पृथक्-पृथक् मानसिक प्रक्रम तैयार हो जाते हैं जो एक दूसरे के विरोधी होते हैं। अतः मनोविच्छेद द्वन्द्व का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में मनोविच्छेद एक उपाय है जिसके द्वारा प्रादुर्भूत होने वाले संवेगात्मक तनावों और पक्षाघातों से मन की रक्षा होती है।

दो परस्पर विरोधी द्वन्द्वरत विचार-क्रम पृथक-पृथक स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हैं। दोनों परस्पर विरोधी अवस्थायें सम्पर्क में आती तो अवश्य हैं, लेकिन केवल उस विधा से जो दोनों को मिलाने वाले उपक्रम को ऐसा बिगाड़ देती हैं कि दोनों असंगत शक्तियों का असली महत्व छिप जाता है और मन यह नहीं जान पाता है कि उसमें कोई वास्तविक अन्तर्विरोध भी है। यह विलक्षण तथा निकृष्ट विधि वही है जो हेत्वारोपण कहलाती है।

मनोविच्छेद में मनोग्रह, भ्रम, बहु व्यक्तित्व, दोहरे व्यक्तित्व और विस्मृति आदि विकृतियाँ मिलती है।

संक्षिप्तीकरण (कन्डेन्सेशन)— फ्राइड के मत में दो या दो से अधिक विचारों की आंशिक मिलावट को संक्षिप्तीकरण कहते हैं। इस प्रकार की मिलावट स्वप्नों में सबसे अधिक मिलती है।[२] विक्षिप्तावस्थाओं में भी संक्षिप्तीकरण पाया जाता है। इसमें अचेतन मन की अतृप्त दमितेच्छायें चेतन मन के विरोधी भावों के बिना ही व्यक्त होती हैं। यह अभिव्यक्तिकरण संक्षिप्त रूप में होता है।

एकान्तप्रियता (सेक्ल्यूसिवनेस)—पलायन प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की सबसे सरल विशेष विधि है एकान्तप्रियता। एकान्तप्रियता द्वारा दिवास्वप्न, हेत्वारोपण और दमन की मनोवृत्ति जागृत होती है। जो व्यक्ति बहुधा किसी न किसी शारीरिक कष्ट या विश्रान्त आदि की शिकायत किया करते हैं, जिनमें कुछ विशेष प्रकार के कार्यों के लिए दृढ़ प्रवृत्ति होती है, वे एकान्त प्रियता से ही ग्रसित होते हैं। उन्माद, स्थिर भ्रम और असामयिक मनोह्लास इसी एकान्त प्रियता का भयंकर रूप है।

अस्वीकृत (नेगेटिविज्म)—अस्वीकृति का आरम्भ उत्पन्न परिस्थिति के प्रति मौन से होता है। शनैः शनैः यह मौन अपेक्षा तथा विमुखता का रूप ले लेता है। प्रायः पहले जैसे बालक में अवज्ञा और प्रतिक्रिया की ग्रन्थि बन जाती है। वह बड़ा होकर प्रत्येक कार्य का विरोध करता है। इसमें उसे तृप्ति मिलती है। अपनी दुर्बलता के कारण वह विरोधी से लड़ नहीं सकता। अतः असहयोग से ही विरोधी का विरोध करता है। यह मनोदशा राजनीतिक सत्याग्रहियों की होती है।

१—साइकोलाजी आफ इनसैनिटी— बर्नर्ड हार्ट पृ० ८२ और ८४

२—इंट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको—एनालिसिस—फ्राइड पृ० १४४

दिवा स्वप्न (डे-ड्रीम्स)—दिवा स्वप्न आत्यन्तिक कल्पना का एक रूप तथा व्यक्ति के स्वभाव का अंग है। प्राय: वास्तविक जीवन में कुण्ठित, निराश अथवा असफल व्यक्ति दिवा-स्वप्नो के द्वारा अपनी दमित अथवा अतृप्तेच्छाओं की पूर्ति करता है।

फ्राइड के मतानुसार दिवा-स्वप्न कल्पना होते है। इन कल्पना सृष्टियों की वस्तु एक बहुत सूक्ष्म प्रेरक कारण से उत्पन्न होती है। ऐसे दृश्य या घटनायें इनकी प्रेरक होती हैं जो या तो आकांक्षा की अहंकार मूलक लालसाओं, या सत्ता की लिप्सा को, अथवा पात्र की कामुक इच्छाओं को तृप्त करती हैं। युवकों में आकांक्षा से पूर्ण कल्पनायें मुख्य होती है, स्त्रियों में जिनकी आकांक्षा प्रेम सम्बन्धी सफलता पर केन्द्रित होती हैं, कामुक कल्पनायें मुख्य होती हैं। इसी प्रकार पुरुषों में भी कामुक भावना प्राय: छिपी हुई देखी जा सकती है। वास्तव में उनके सारे वीरता के कार्यों और सफलताओं का एक मात्र आशय स्त्रियों का हृदय जीतना होता है।[1]

इस सम्बन्ध में वुडवर्थ का कथन है कि दिवास्वप्न में अधिक अविच्छिन्नता होती है। हम हवा में महल बना रहे होते है, वस्तुओं की कल्पना इस रूप में कर रहे होते है जिस रूप में हम उन्हें देखना चाहते हैं, न कि जिस रूप में वे वास्तव में है। अथवा हम ऐसी कहनी का निर्माण कर रहे होते हैं, जिसके नायक हम स्वयं होते हैं।

साधारणतया दिवा-स्वप्न मे हम 'विजेता नायक' होते हैं। हम कल्पना करते हैं कि हमने प्रियतमा का हृदय जीत लिया। प्रतियोगी लोग अपना-सा मुँह लिये रह गये, या हम यह कल्पना करते है कि हमने किसी काम में विलक्षण योग्यता का परिचय दिया।

किन्तु इस बात की भी सम्भावना है कि हम अपने दिवास्वप्न में स्वयं को पीड़ित नायक के रूप में देखें, अपनी प्रियतमा से ठुकराया जाना पावें। दोनों प्रकार के नायक दिवा स्वप्न दृष्टा के आत्म सम्मान को सहारा लगाते है। दिवा-स्वप्न के प्रेरक दैनिक जीवन के प्रेरक होते हैं, वीर जिन सामग्रियों से स्वप्न के महल का निर्माण होता है, वे दैनिक जीवन के अनुपम से ली गयी होती है।

यदि इसे चरम सीमा तक बढ़ाया जाय, तो यह व्यक्ति को यथार्थ जीवन के अयोग्य बना देता है। इनमें कुछ भाग्यहीन लोग कल्पना सृष्टि में तल्लीन हो जाते हैं

१—मनोविश्लेषण— फ्राइड (हि० सं०) पृ० ७७, ७८

कि वे वातावरण के साथ, कम से कम सामाजिक वातावरण के साथ अपना सारा सम्पर्क खो बैठते हैं ।

दूसरे दिवा स्वप्न अपने चतुर्दिक संसार से कुछ सम्पर्क बनाये रखते हुए उसे एक काल्पनिक जगत का रूप दे देते हैं, जिसमें वे या तो विजेता नायक होते हैं या पीड़ित नायक या एक ही साथ दोनों । तात्पर्य यह है कि उन्हें महान और पीड़ित होने का मिथ्या विश्वास होता है ।[1]

क्षतिपूर्ति (कम्पेन्सेशन)— अपनी कठिनाइयों एवं विफलताओं का सामना करने तथा व्यक्तित्व को सुरक्षित और संतुलित बनाने में क्षतिपूर्ति का महान योग है । जब जीवन में व्यक्ति किसी कार्य मे अपने को असफल पाता है तब इस कार्य की पूर्ति वह इसी विधि से करता है । लेकिन अचेतन मन के इस प्रक्रम से यदि क्षतिपूर्ति अधिक हो जाती है तो वह हानिप्रद है । अति विषाद में अत्युत्साह, आकांक्षाओं की विफलता में आत्म-सम्मान का अभाव, अपने प्रति दूसरों की उदासीनता में अति-स्वास्थ्य चिंता क्षतिपूर्ति के ही मानसिक विकार हैं ।

विस्थापन-(डिसप्लेसमेन्ट)—संवेगात्मक अनुभव के मूल विषय के स्थान पर किसी अन्य विषय का हो जाना ही विस्थापन है । हमारी शक्तिशाली संवेगात्मक प्रतिक्रिया और उसके फलस्वरूप कायम रहने वाले संवेगात्मक दृष्टिकोण के मूल स्रोत का हमारी बाद की नयी प्रतिक्रियाओं से बहुधा कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता है, प्रत्युत यह भी होता है कि हम उस मूल स्रोत को बिल्कुल भूल ही जाते है ।[2] अचेतन मन में जो दबी दबायी और अपूर्ण अथवा विफल इच्छायें होती है, विस्थापन उनके भिन्न रूप में प्रकट होने की एक विशेष कार्य विधि है । विस्थापन की क्रिया दबायी हुई इच्छाओं में और दमन करने वाली शक्ति में समझौता कराती है । इसमें आवश्यक विषय विचार अनावश्यक और अनावश्यक आवश्यक हो जाते है ।

तादात्म्यीकरण-(आइडेन्टीफिकेशन)—तादाम्य का अर्थ है वही हो जाना । यथा आदित्य-मण्डल में रहने वाला पुरुष कौन है । वह मैं ही हूँ ।[3] ओटो रैंक के शब्दों में भक्त इष्ट से कहता है:—

हम दोनों के बीच में 'अहं' और 'त्वं' दोनों नहीं हैं । मैं, में नहीं हूँ, तू, तू नहीं है, तू 'मैं' भी नहीं है, मैं, मैं और तू दोनों हूँ, तू, तू और मैं दोनों हैं । मुझे भ्रम

१—मनोविज्ञान —वुडवर्थ (हि० सं०) पृ० ३५७

२—साइकालोजी आफ बिहेवियर डिस आर्डर्स—नार्मन ए० केमरान पृ० ७५

३—यो सौ आदित्य पुरुषः सोसावहम् ।—ईशावास्योपनिषद्

हो रहा है कि तू मैं या मैं तू हूँ।[1]

तादात्म्यीकरण के उदाहरणार्थ हिन्दी भक्ति साहित्य में गोपियों की उच्च-कोटि की भक्ति है। गोपियाँ अपने को कृष्ण से एकात्म समझती हैं। इस एकात्मता का मर्म हमें चित्त यन्त्र की एक विशेष क्रिया का पता देता है, जिसे हम तादात्म्य कहते हैं। तादात्म्य भी उभयमुखी है। अधिक प्रेम अत्यन्त द्वेष में भी परिणत हो सकता है। इसका कारण यही है कि संवेग का स्वभाव भी उभयमुखी है। यह अनवरत घूमने वाला चक्र है। इसी के मूल मे तादात्म्य का रहस्य छिपा है। युवावस्था मे तादात्म्य तीव्र रूप धारण करता है। प्रत्येक युवक ने, जिसमें यौवन का रक्त बहता रहा है, कई बार महत्वाकांक्षा के सुमनोज्ञ रथ पर चढ़कर भ्रमण किया होगा। राणा, प्रताप, शिवाजी की वीर रस पूर्ण गाथायें सुनकर वैयक्तिक सत्ता नष्ट करके उसमें तादात्म्य स्थापित किया होगा।

नाटकों में तादात्म्यीकरण—अभिनय करते समय अभिनेता का प्रयत्न यही रहता है कि वह दर्शक को तन्मय कर दे। अभिनेता का प्रधान उद्देश्य ही है नाटक के दृश्य एवं परिस्थिति के अनुकूल भावों एवं संवेगों का अभिनय कर दर्शको को तद्रूप बना देना। जब तक दर्शक पात्र के साथ एक ही भाव के सूत्र में पिरों न उठें, और जब तक वे पात्रों के साथ एकता न स्थापित कर लें, तब तक अभिनेता के प्रयत्न सफल नहीं कहे जा सकते।

एक बार बंगाल में 'नील दर्पण' का अभिनय हो रहा था। प्रसिद्ध अभिनेता जालिम पात्र का अभिनय कर रहा था। दृश्य था, एक अबला पर आक्रमण। अपने हाव-भाव अथवा आंगिक अभिव्यंजन द्वारा अभिनेता ने दर्शक मण्डली से परिस्थिति के अनुकूल तादात्म्य स्थापित कर लिया।

दर्शकों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी उपस्थित थे उन्होंने उस अबला के साथ अपने को एकात्म समझा और अपना जूता उठाकर जालिम के ऊपर फेंक दिया। फिर क्या था, अभिनेता ने जूते को सिर पर चढ़ाया और झुक कर प्रणाम किया। स्पष्ट है, अभिनेता ने अपने पार्ट का सम्यक् निर्वाह किया। उसके अभिनय ने विद्या-

---

1—"The Ego and the you have ceased to exist beween us, I am not I, you are not you, also you are not I, I am at the same time I and you, you are at the same time you and I. I am confused whether you are I or I you.

—the trauma of birth—ओटोरैंक pp 177.

सागर जैसे विद्वान् को भी धोखे में डाल दिया। विद्यासागर भूल गये कि वह नाटक देख रहें हैं।[१]

"शेक्सपियर के दु:खान्त नाटकों का प्रभाव दर्शकों पर तादात्म्यीकरण की दृष्टि से गहरे रूप में पड़ता है। कभीकभी तो हमें नायक की घातक त्रुटि पर अचानक क्रोध आता है। कहा जाता है कि जब शेक्सपियर का नाटक, 'ओथेलो' लन्दन में खेला जा रहा था और जब वह दृश्य आया जहाँ 'ओथेलो' डेस्डेमोना की हत्या का निश्चय करता है तो उसी क्षण एक स्त्री दर्शक अपनी जगह से उठ कर रंगमंच पर भागी हुई आई और ओथेलो को एक बड़े जोर से तमाचा मारकर कहा, "मूर्ख, तुझे कुछ सूझता नहीं क्या ?"[२]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जब तक वैयक्तिक ज्ञान प्रेक्षकों में बचा रहता है, तब तक अभिनेता अपनी अभिनय निपुणता में पारंगत नहीं कहा जासकता। इसी तादात्म्य के रूपान्तर कला, कौशल, राष्ट्रीयता, विश्वबन्धुत्व आदि में पाये जाते हैं।

कवि जिस पात्र की सृष्टि करता है उससे उसका तादात्म्य स्थापित रहता है और इसी तादात्म्य पर कवि की सफलता निर्भर करती है। राष्ट्रीयता में तादात्म्य का केन्द्र राष्ट्र है जो लोग उसके लिए त्याग करते है वे एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। समाज तथा धार्मिक सम्प्रदायों में भी ऐसे ही तादात्म्य सम्बन्ध बने रहते हैं। संस्थाओं में लोग एक ही उद्देश्य को केन्द्र बनाकर आपस में एक दूसरे के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। हमें ईशावास्योपनिषद् में तादात्म्यीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है।[३]

अचेतन मन का वास्तविकता को छोड़ देने का सर्व प्रमुख स्वभाव है। तादात्म्य के विधि प्रयोग में अचेतन मन क्रियाशील रहता है। जिन विषयों को पारिवारिक राष्ट्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक या कोई संवेगात्मक महत्व बहुत अधिक दिया जाता है, वे सब हमारे सामूहिक अचेतन मन में वास करते हैं और परवश होकर हम उन्हीं का सा व्यवहार करते है। मूलत: तादात्म्य एक आदत है, ऐसी संतुलन विधि

१—अध्यात्म योग और चित्तविश्लेषण—श्री वेंकटेश्वर शर्मा पृ० १७६

२—नाटक की परख—डा० एस० पी० खत्री—पृ० ६१

३—यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

—ईशावास्योपनिषद् ६, ७

है जिससे मानव अन्यों का सा आचरण करके, उनके गुण दोषों को अपना समझ लेता है। फलतः अपनी मानसिक विषमता और विफलता के प्रभाव को बहुत कुछ हल्का बना लेता है। तादात्म्य में भ्रम, अत्युत्साहावस्था असामाजिक मनोवास आदि मानसिक विकृतियाँ पायी जाती हैं।

उदात्तीकरण (सब्लीमेशन)—उदात्तीकरण या उर्ध्वगमन की गति ठीक प्रतिगमन के प्रतिकूल प्रवाहित होती है। शोधन, उर्ध्वगमन या उदात्तीकरण द्वारा मनुष्य और उसकी सभ्यता तथा संस्कृति पल्लवित, पुष्पित एवं पूर्ण विकसित होती है। किन्तु प्रतिगमन पद्धति के अनुसरण में वह पूर्व स्थिति की ओर प्रत्यावर्तन कर बैठता है। ये दोनों उपपत्तियाँ अपने मूल में प्रमुख प्रवृत्तियों का दमन अन्तर्निहित रखती हैं।

फ्राइड, एडलर, युंग ने मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों को क्रम से काम-भावना (सेक्स इंसटिक्ट) स्वत्व-भावना (ईगो इंसटिक्ट) और समाज-भावना (हर्ड इंसटिक्ट) नाम से पुकारा है। भारतीय दार्शनिकों ने इसे त्र्यैषणा अर्थात् पुत्रैषणा, वितैषणा और लोकैषणा कहा है। मानव के अन्तर्तम में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति इनमें से किसी एक के अवरोध के कारण होती है। कभी इनमें से एक प्रबल और दूसरी का दमन होता है। यह क्रम सांख्य के दर्शन के त्रयगुण की भाँति है। काम भावना तमोगुणी, स्वत्व-भावना रजोगुणी, और समाज-भावना सतोगुणी है। सत, रज, तम में द्वन्द्व होता रहता है। वे एक दूसरे से सम्पर्क, दमन और प्रभुता का अभिनय प्रदर्शित करते रहते हैं।

इस आन्तरिक द्वन्द्व में किसी मूल प्रवृति के पूर्ण अवरोध से मानसिक विषमता या विक्षिप्तता का सूत्रपात्र होता है। मानसिक शक्ति के सीमित अवरोधन से एक ओर मानव जीवन का विकास और दूसरी ओर समाज सुदृढ़, उन्नति-शील और सभ्य बनता है। फ्राइड ने भी उदात्तीकरण के विवेचन में उसे संस्कृति के परिवर्धन का एक प्रमुख स्रोत निश्चित किया है। वे कहते है कि अभाव में पैदा होने वाली बीमारी से बचने वाले इन प्रक्रमों में से एक प्रक्रम संस्कृति के परिवर्धन में विशेष महत्व प्राप्त कर चुका है, वह है यौन-आवेग द्वारा घटक आवेग की परितुष्टि रूप या प्रजनन की प्रासांगिक परितुष्टि रूप, पहले गृहित उद्देश्य का त्याग और एक नये उद्देश्य का ग्रहण यह नया उद्देश्य प्रजनन विज्ञान की दृष्टि से, पहले से सम्बन्धित तो है, पर इसे अब यौन का कामुक नहीं माना जा सकता, बल्कि इसके स्वरूप को सामाजिक कहना चाहिए। इस उपक्रम को हम उदात्तीकरण (सबलीमेशन) कहते हैं। और ऐसा कहकर हम साधारण प्रचलित मानदण्ड का ही समर्थन करते हैं, जो सामाजिक उद्देश्य को यौन (अन्ततः स्वार्थ पूर्ण) उद्देश्यों से ऊँचा मानवता है। प्रसंगतः, उदात्तीकरण यौन

आवेगों और दूसरे अयौन या निष्कर्ष आवेगों के बीच मौजूद सम्बन्ध सूत्रों की सिर्फ एक विशेष अवस्था है।[1]

प्राय: मानसिक शक्ति और नदी के अबाध प्रवाह के सादृश्य में किंचिदपि भिन्नता नहीं। मानसिक शक्ति और नदी का नैसर्गिक प्रवाह समाजोपयोगी कदापि नहीं हो सकता। इसका सीमित अवरोध ही सभ्यता और संस्कृति को समृद्धशाली बनाने में सहायक होता है। यथा नदी के बाँधों द्वारा विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं। उसी भाँति मानसिक शक्ति के अवरोध द्वारा हम व्यक्तित्व विकास के साथ-साथ समाजोपयोगी सामग्री उपलब्ध करते हैं, परन्तु नदी और मानसिक शक्ति का पूर्णतया अवरोध अनेक भयंकर-दृश्यों और विषमताओं का प्रतीक बन जाता है। अधिक अवरोध की स्थिति में जब शक्ति पुन: क्रियान्वित होती है, तब उसका प्रवाह विध्वंसात्मक होता है। वह मानसिक शक्ति लाभ के स्थान पर हानिकारक होती हुई व्यक्ति के सुख को दुःख में परिणत करने को कटिबद्ध हो जाती है। यहां तक कि उसके परपीड़न का स्वरूप स्वपीड़न में परिवर्तित हो जाता है। गांधी जी के उपवास पर आधारित आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को हम परपीड़न का स्वपीड़न में रूपान्तरित होना ही कह सकते हैं।

टेन्सले ने मानसिक शक्ति के असीम अवरोध की भर्त्सना करते हुए लिखा है कि मूल प्रवृत्तियों की सम्पूर्ण शक्ति को किसी विशेष ओर प्रवाहित करने का प्रयत्न मन और चरित्र का एकांगी विकास करता है। इस प्रकार के विकास का प्रौढ़ जीवन में प्राय: बड़ा भयानक परिणाम होता है। हम मूल प्रवृत्तियों को उनके नैसर्गिक मार्ग से तृप्ति न होने देकर क्षीण-काय भले ही कर दें, उन्हें सर्वथा नष्ट नहीं कर सकते। मूल प्रवृत्तियों की शक्ति का शोधन कुछ सीमा तक सरलता से किया जा सकता है, और ऐसा शोधन लाभकारी भी होता है। किन्तु एक विशेष सीमा का अतिक्रमण करने के पश्चात् इस प्रकार के शोधन का प्रयत्न अविवेक-मूलक होता है तथा वह व्यर्थ जाता है।[2]

मानसिक शक्ति का मार्गान्तरीकरण या शोधन सभ्यता और संस्कृति के लिए श्रेयस्कर है। काम भावना-सम्बन्धी अधिक शक्ति का उपयोग स्वत्व-भावना एवं समाज-भावना की अभिवृद्धि में सम्पन्न होता है। ब्रह्मचर्य युक्त जीवन में आत्म सम्मान और समाज सेवा के भाव कामेच्छा के ही परिष्कृत रूप हैं। हम काम-प्रवृति को मानव की प्रबलतम प्रवृत्ति चाहे न मानें, पर यह प्रवृत्ति प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक अवश्य

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड (हिन्दी संस्करण) पृ० ३०८

२—न्यू साइकोलोजी—टेन्सले पृ० ९७

है। काम-वासना की तृप्ति में समाज और व्यक्ति द्वारा जितनी बाधायें उपस्थित होती हैं, उतनी अन्य प्रवृत्तियों की तृप्ति में कम पायी जाती हैं। इस दृष्टिकोण से अधिकतर कामेच्छा के शोधन द्वारा ही कला, संस्कृति और सभ्यता के विकास का मार्ग अवलोकित होता है। फ्राइड ने इस धारणा की पुष्टि करते हुए लिखा है कि स्नायु सम्बन्धी और मानसिक गड़बड़ें पैदा करने में उन आवेगों (इम्पलसेस) का खासतौर से बहुत बड़ा हिस्सा होता है जिन्हें काम सम्बन्धी (सेक्सूअल) ही कहा जा सकता है। इन काम आवेगों ने मनुष्य के मन को संस्कृति, कला और समाज के क्षेत्रों में, ऊँची से ऊँची उन्नति करने में कीमती मदद दी है।

सभ्यता का निर्माण जिन्दा रहने का संघर्ष करते हुए आदिम आवेगों की तृप्ति का त्याग करके ही हुआ है, और प्रत्येक व्यक्ति मानव-समुदाय में जन्म लेकर आम जनता की भलाई के लिए अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सुखों का त्याग करता है और इस तरह सभ्यता का निर्माण सर्वदा आगे बढ़ता जाता है। इस काम में आने वाली सबसे महत्व की वस्तु मनुष्य स्वभाव की वे शक्तियां हैं, जिन्हें हम यौन शक्तियां या काम-आवेग कहते हैं। वे शक्तियां इस तरह ऊँचाई की ओर उठ जाती हैं अर्थात् उनकी कार्य शक्ति या ऊर्जा अपने यौन उद्देश्य से हटकर दूसरे उद्देश्यों की ओर मुड़ जाती हैं ये उद्देश्य काम सम्बन्धी नहीं होते और समाज की दृष्टि से बहुत कीमती होते हैं।[1]

फ्राइड के मतानुसार कवि और कलाकारों की उच्च से उच्च कृतियां काम-वासना के ही उदात्त रूप हैं। धर्म एवं समाज सेवा में अनुरक्त होना कामेच्छा के परि-शोधन की प्रक्रिया मात्र है। काम प्रवृत्ति के उदात्तीकरण द्वारा मानव चिरस्थायी कला एवं कविता का सर्जन करता है। बौद्ध भिक्षुओं ने अजन्ता की गुफाओं में जो चित्र चित्रित किये है वे सब इसी के परिमार्जित रूप हैं। कालिदास की कृतियों को हम विद्योत्तमा की तिरस्कृत भावना से अनुप्राणित संशोधन का विस्तार ही कह सकते हैं। मीराबाई की पदावली का स्वरूप दमित कामेच्छा का मार्गान्तरीकरण ब्रह्मचर्य की उदात्त ध्वनि में प्रस्फुटित दृष्टिगोचर होता है। तुलसी की काम-वासना का उर्ध्व-गमन या शोध ही हिन्दी के अमर साहित्य की सृष्टि करने में समर्थ हुआ है।

मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति में स्नायु-विकृतियों के आधार

★

मूल सिद्धान्तों की मीमांसा—फ्राइड के मतानुसार दबी हुई बचपन की कामुकता स्नायुविकृति का कारण है। फ्राइड अवचेतन-दमन, कामेच्छा और शैशवास्था के

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड (हि० सं०) पृ० ८

महत्वों को प्रश्रय देता है। उसके स्वप्न और भूलों के मनोविज्ञान की आधार शिला स्नायुविकृतियों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है। फ्राइड के कथन से स्पष्ट है कि स्नायु-विकृति की उत्पत्ति बचपन की दबी हुई कामुकता से होती है।[1] फ्राइड प्रेम के व्यवहार और मैत्री तथा कला और संगीत के प्रेम का काम तृप्ति में समावेश करता है। वह माता पिता, भाई, बहिन सजीव और निर्जीव पदार्थों के प्रेम को काम में सम्मिलित करता है।

एडलर स्व-स्थापन-(सेल्फ एजरशन)—को जीवन का प्रमुख आवेग मानता है। कामवासना की अपेक्षा इसका प्रतिरोध सामाजिक परिवेश में अधिक होता है। उसके मत में हीन भाव-ग्रन्थि (इनफीरियोटी कोम्पलेक्स) की अनुभूति स्नायु-विकृतियों का कारण है।

युंग के मत में स्नायु विकृति जीवन से समायोजन करने का एक वर्तमान प्रयत्न है। जब मनुष्य की प्राकृतिक इच्छायें परिस्थितियों तथा वातावरण से मेल नहीं खातीं और उनके बीच सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता अर्थात् वातावरण और स्थितियों के कारण पूरी नहीं हो पाती तभी स्नायु-विकृतियों का जन्म होता है।

इसी सम्बन्ध में डा० एरिक फ्राम के मानववादी मनोविश्लेषण के द्वारा कुछ भिन्न मत मिलता है। उनकी मान्यता है कि स्नायु-विकृतियों का कारण सम्बन्ध स्थापना की समस्या अर्थात् दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में आने वाली सफलता एवं विफलता है। फ्राम की यह स्थापना "सिम्बायोसिस" कहलाती है। इसमें सादनकाम और भर्षण काम दो मुख्य विधियाँ पारस्परिक सम्बन्ध स्थापना की है। सादन काम में व्यक्ति दूसरों को दास बनाकर रखता है और भर्षण काम में स्वयं दास वृत्ति स्वीकार करता है। यही मानसिक प्रक्रम विकृतियों को प्रादुर्भूत करता है।

डा० केरेन हार्नी के सांस्कृतिकतावादी मनोविश्लेषण के अनुसार 'चरित्र संघटन" की गतिविधि में उत्थान पतन के मानसिक उपक्रम स्नायु-विकृतियों के उत्पादक हैं। "चरित्र संगठन" के सम्बन्ध में हार्नी कहती है कि सुसंगत तथा समन्वित सामाजिक जीवन के मार्ग में आधुनिक सभ्यता की परस्पर विरोधी भाव प्रवणता, विभिन्न प्रकार की बाधायें एवं प्रतिबन्धों का कार्य करती हैं। इसमें व्यक्ति व्यक्ति के प्रतिद्वन्द्वी बन जाते हैं। फलतः अन्तर्विरोधों, प्रतिस्पर्धाओं और विद्वेषों का बीजारोपण स्वाभाविक होता है, जिससे चरित्र संगठन बिगड़ जाता है और स्नायु-विकृतियां ऐसी स्थिति में स्वतः प्रस्फुटित हो उठती हैं।

काम-प्रवृत्ति—फ्राइड के मत में काम-प्रवृत्ति समस्त चेष्टाओं का उद्गम

१—मनोविज्ञान के समसामायिक सम्प्रदाय—वुडवर्थ पृ० १५०

है। सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का विकास काम-प्रवृत्ति के अवरोध, रूपान्तरण (ट्रान्सफारमेशन), मार्गान्तिरीकरण (रिडाइरेक्शन) या शोध (सबलीमेशन) में है। विक्षिप्तता काम प्रवृत्ति के अत्यधिक दमन अर्थात् प्रकाशन में अनुचित बाधा डालने से स्वाभाविक है। इस दमन के दो परिणाम होते हैं:—ऊर्ध्वगमन या प्रतिगमन। ऊर्ध्वगमन उत्कर्षता की ओर प्रवृत्त होता है जबकि विनाश चिन्ह प्रतिगमन अपकर्षता की ओर ले जाता है।

आधार और लक्ष्य सम्बन्धिनी विकृतियां—फ्राइड ने ऐसे काम-विकृत व्यक्तियों को विपर्यस्त कहा है। इनकी कामधारा का प्रवाह सीधा सादा न चलकर टेढ़ी पगडन्डियों की भांति चलता है।

आधार द्वारा प्रेरित विकृति (सेक्सूअल आबजेक्ट)—स्त्री की एड़ियाँ, अलकावली, स्तन आदि को ही कुछ व्यक्ति अपनी काम तृप्ति का केन्द्र बना डालते हैं। आगे यह विकृति स्त्री के वस्त्र, जूती अथवा अधोवस्त्र के नीचे के किसी खण्ड से ही (उनकी काम-लिप्सा) तृप्त हो जाती है। इसी श्रेणी में वह भी व्यक्ति आते हैं जो स्त्री के शरीर को निष्क्रिय, निर्जीव और शव पदार्थ के रूप में प्राप्त करने के इच्छुक हैं और जिसका यह मनमाना उपयोग अपनी दुर्दमनीय विकृत इच्छाओं के तृप्त्यर्थ कर सकते हैं।

लक्ष्य प्रेरित विकृति:—इन व्यक्तियों के विषय-भोग का अन्तिम चरण प्राक्क्रीड़ा है, अर्थात् ये दर्शन, प्रदर्शन, स्पर्शन, चुम्बन, आलिंगन को ही मानकर सतुष्ट हो जाते हैं। इसी पद्वति के अनुयायी स्वपीड़क (Masochist) और परपीड़क (Sadist) भी होते हैं। ये स्वाभाविक स्त्री पुरुष परस्पर सापेक्ष काम तृप्ति को छोड़ उसे पीड़ा का रूप दे डालते हैं।

आहत तृतीय पक्ष—फ्राइड ने प्रणयी के निर्वाचन (चौइस फार लव ओबजेक्ट) में एक विशेष प्रकार की विधा अभ्यर्हित की है। कुछ व्यक्ति सच्चरित्रा स्त्री को तब तक अंगीकार नहीं करते जब तक वह पुरुष की अंकशायिनी नहीं बन जाती।[1]

यह काम के सम्बन्ध में असामान्य मार्ग का अवलम्बन मानव की शिशुकालीन अवस्था से स्थिर (फक्सेशन) रहने वाली मानसिक स्थित का परिचायक है। फाइडियन इडिपस ग्रन्थि के अनुसार वह बाल्यकाल में एक विशेष ढंग से अपनी कामना की तृप्ति लाभ करता था। आज भी वह बालक ही है।

इडियस ग्रन्थि—इस ग्रन्थि के आधारभूत वह मां को प्यार करता था, उस मां को जो उसके पिता के प्रेम की अधिकारिणी थी। वह पिता को ईर्ष्या और द्वेष

१—कलेक्टेड पेपर्स—फ्राइड वाल्यूम ४ पृ० १६६, १६६

की दृष्टि से देखता था। उस समय उसके और उसकी माँ के बीच पिता बाधक था।[1] आज भी वह प्रत्येक नारी में अपनी मां का प्रतिनिधित्व देखता है। प्रत्येक नारी उसके लिए (मदर-सरोगेट) है और इस मानसिक चक्र को पूरा करने के लिए उसके और प्रेमिका नारी के बीच में एक तीसरा व्यक्ति होना भी आवश्यक है। तभी उसकी प्रेम भावना उद्‌बुद्ध हो सकती है। यह आहृत तृतीय पक्ष पिता के अतिरिक्त दूसरा नहीं।

काम विकृति के अन्य प्रकार—यौन स्फीति या प्राक्क्रीड़ा में स्पर्श, गन्ध, श्रवण और दृष्टि का महत्व है। जब व्यक्ति इनके स्थान पर असामान्य व्यवहार करता है तो उसकी प्रकृति का भान होता है,

काम चौर्य—प्रेमी या प्रेमिका द्वारा छुपे हुए पदार्थ की चोरी करने में काम चौर्य विकृति की प्रेरणा सन्निहित होती है।

कामसंघर्षण—कपड़े पहिने हुए स्त्री से शरीर भिड़ाकर चलना कामघर्षण की विकृति का रूप है।

पिगमैलियनवाद—यौन विच्युति के कारण व्यक्ति पूर्ति पर ही आसक्त पाये जाते हैं। यह पिगमैलियनवादी विकृति कहलाती है।

कामात्मक दिवास्वप्न—इस काम विकृति वाले व्यक्ति का चरित्र नाटकीय अथवा रोमान्टिक होता है। ये कामात्मक कल्पना के महल बनाते हैं और गिराते हैं।

कामात्मक स्वप्न—स्वप्न में काम तृप्ति के स्वप्न भी कामविकृति के प्रतिपादक है।

आत्म मैथुन—आत्म मैथुन में दमित यौन सक्रियता के सब रूप विद्यमान होते हैं। इसके अन्तर्गत कला और कविता की स्वाभाविक और स्वस्थ अभिव्यक्तियाँ भी आ जाती हैं। डिकिन्सन के अनुसार आत्म मैथुन के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की आत्माभिव्यक्ति में व्यक्त होने वाला आत्म-प्रेम सम्मिलित है।[2]

नार्किससवाद या आत्म प्रेम वाद—इस दिशा में यौन भावनायें आत्म प्रशंसा में निमज्जित हो जाती हैं। इसमें कर्त्ता अपने आपको किसी स्त्री के साथ एकाकार कर देता है और इस प्रकार आत्म-प्रेम अपना लेता है।[3]

१—इस ग्रन्थि के अनुसार राजा ओडियस ने मात्र-संभोग किया था।
मनोविश्लेषण—फ्राइड पृ० २९८

२—साइकालोजी आफ सेक्स—हैवलाक एलिस पृ० सं० १०८

३— „ „ „ „ १३०

कामात्मक फेटिशवाद—कामात्मक अतिवाद को स्पष्ट करने वाली प्रेमिका सम्बन्धी वस्तुओं को तीन वर्ग में विभाजित करने का श्रेय अर्नेस्ट जोन्स को है। उन्होंने प्रेमिका के शरीर के अंग, जड़ पदार्थ और उसके कार्यो को इन वर्गो में रखा है। इन्हीं से आकर्षित होकर फेटिशवादी असामान्य काम वृति करता है।[1]

सहयौन सुख दु:खास्तित्व (सादवाद, मासोकवाद)—प्रेमी को कष्ट पहुंचाना सादवाद और कष्ट सहना मासोकवाद कहलाता है।

ए ओन वाद या भिन्न लिंगीय परिच्छ्यासक्तितवाद—फेनिकेलि का मत है कि ए ओन वाद की विशिष्टता नपुंसकीकरण की जटिलता से सम्बन्धित है।[2]

चेतनाचेतन में असामंजस्य के परिणाम -- चेतन, अचेतन के असामंजस्य का पर्यवसान अन्तर्द्वन्द्व में समाहित है। आन्तरिक द्वंद्व के वैषम्य का प्रतिफल मानसिक साम्य का विरोधी है। व्यक्ति अपने जीवन की सुरक्षा के लिए मानसिक संतुलन को आवश्यक समझता है। फलतः चेतन अचेतन के द्वंद्व का मार्गान्तरीकरण भूलों, स्वप्नों और सांकेतिक चेष्टाओं में अभिव्यक्त होता है। फ्राइड ने जहाँ काम प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया है वहाँ उनकी भूल, स्वप्न एवं सांकेतिक चेष्टा सम्बन्धी उपपत्तियाँ भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इन तीनों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

भूलों का मनोविज्ञान—फ्राइड की दैनिक जीवन का मनोविज्ञान (दी साइकालोजी आव एवरी डे लाइफ) नामक पुस्तक के आधार पर ये भूलों या गलतियों के लक्षण केवल स्नायविक रोगियों में ही नहीं प्रत्युत हमें व्यक्तियों के दैनिक कार्यों में भी देखने को मिलते हैं।

जब कभी चेतना में कोई मनोवृत्ति सजग हो उठती है और वह अभिव्यक्त नहीं हो पाती, तब वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग टटोला करती है। परन्तु उसके सतत प्रयत्न करने पर भी यदि अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, तब वह कार्यों तथा विचार धाराओं में विप्लव उठा देती है और इन विचारों की क्रान्ति के प्रभाव के कारण साधारण, असाधारण या आकस्मिक भूलों का सर्जन होता है।[3]

असाधारण भूलें व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व के ही कारण होती है और अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया तब होती है जब चेतन और अचेतन में सामंजस्य स्थापित नहीं रहता। अचेतन मन का चेतन मन के दबाने के परिणाम स्वरूप ही पानी के बाँध के फूटने की भाँति भूलें निर्बाध-गति से निकल पड़ती हैं।

१—**साइकालोजी आफ सैक्स—हैवलाक् एलिस पृ० १४७, १४८**

२— ,, ,, ,, ,, २३४

३—**हिस्ट्रीरिकल इन्ट्रोडक्शन टू मार्डन साइकालोजी —जी० मरफी पृ० ३१५**

फ्राइड ने भूलों के इस मनोविज्ञान को नाटकों से उदाहरण देकर सिद्ध किया है। उन्होंने शिलर के नाटक वालेन स्टाइन (पिक्कोलोमिनी, अंक एक, दृश्य पाँच) और बर्नार्डशा के नाटक 'सीजर एण्ड क्लियोपाट्रा' के अन्तिम दृश्य में भूलों के मनोविज्ञान की सुन्दर अवतारणा बतलायी है। इसी का अनुकरण करके ओ टो रैंक ने भी शेक्सपीयर के मर्चेन्ट आफ वेनिस (अंक तीन, दृश्य दो) में इस मनोविज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

स्वप्नों का मनोविश्लेषण—स्वप्न सम्बन्धी अनुशीलन का श्रेय स्वयं फ्राइड ने दार्शनिक के० ए० शर्नर को दिया है।[1] भारत में भी योग वासिष्ठ और शंकराचार्य ने तत्सम्बन्धी विवेचन किया है। पश्चिम में जी० टी० फेकनर और काण्ट की मान्यतायें भारतीय विचारधारा से मेल खाती है। फ्राइड ने स्वप्न को किसी इच्छा का कारण कहा है उनके मत में स्वप्न की वस्तु उस इच्छा को ही प्रकट करती है।[2]

इच्छापूर्ति और स्वप्न—वुडवर्थ ने भी फ्राइड के इस कथन की संपुष्टि करते हुए लिखा है कि ये सभी स्वप्न किसी न किसी इच्छा की प्रच्छन्न तृप्ति के रूप हैं। बहुधा ये बचपन से लेकर अब तक व्यक्ति की दबायी इच्छाओं की पूर्ति के साधन होते हैं।[3] स्वप्न स्वयं सर्वदा एक अचेतनेच्छा की पूर्ति होता है। वह अचेतन इच्छा की सहायता से हमारे जागते समय की गुप्तेच्छा की पूर्ति को निरूपित करता है।[4] सांकेतिक दृष्टि से स्वप्नों के कई निम्न प्रकार होते हैं—यथा—

चिन्ता स्वप्न, अधैर्य स्वप्न, आदेशात्मक स्वप्न, आकुंचन (Condensation) विस्तारण (Secondary Elaboration) रूपान्तरण (Displacement) मूर्तिकरण (Concretion) और आरोपण (Projection)। हिन्दी नाटकों के अन्तर्गत आये हुए स्वप्नों के उदाहरणों में इन प्रकारों की विशद विवेचना करदी गई है। वैसे शब्दार्थों के अनुसार भी इन स्वप्नों के प्रकारों को समझा जा सकता है।

सांकेतिक चेष्टायें—अतृप्त-दमितेच्छायें सांकेतिक चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्ति होती है। नाक सकोड़ना, आँखें मटकाना, दाँतों से नाखून काटना, ताली पीटकर या अकारण हँसते हुये बातें करना आदि शारीरिक चेष्टायें अवदमित की हुई कुछ ऐसी इच्छाओं की द्योतक होती हैं जो इन सांकेतिक रूपों में तृप्ति प्राप्त करने का

१—ए जनरल इन्ट्रोडक्शन टू साइकोनेलसिस—फ्राइड (हि० सं०) पृ० १३०

२— ,, ,, ,, ,, १०८

३—मनोविज्ञान—वुडवर्थ (हि० सं०) पृ० सं० ३५७

प्रयत्न करती हैं। लेडी मैथ वैथ का अर्द्ध चेतनावस्था में पुनः पुनः हाथ धोना साँकेतिक चेष्टा का प्रतिपादक है। इस क्रिया से उसके अचेतन मन का द्वन्द्व प्रकट होता है।

एडलरीय हीनत्व कुण्ठा – एडलर के सिद्धान्तानुसार मानव-मात्र में अहं स्थापन (सेल्फ एजरशन) फ्राइड की काम प्रवृत्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। उनके मतानुसार अहं स्थापन की प्रबल लालसा और जीवन के यथार्थ का उसका प्रतिद्वन्द्वी बनना ही मानसिक जीवन की विषम समस्या है। प्रायः यह स्पृहा विवाह समाज और व्यवसाय में ही अबाध गति से शत-शत मुखी होकर प्रवाहित होना चाहती है। परन्तु यथार्थ से संघर्ष के कारण आत्म स्थापन की इस स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति को सर्वतः अशान्ति एवं असन्तोष के ही दर्शन हो पाते है। फलस्वरूप वहाँ हीनत्व भावना का आधिपत्य हो जाता है। इस भावना से विमुक्त होने के लिए मानव इसका दमन के प्रतिरूप कुछ व्यक्तियों में अतिशय गर्व हो जाता है, जिसको हीनत्व कुण्ठा का कपट रूप भी कहा जा सकता है। अनागत काल में यही हीनत्व कुण्ठा मानसिक स्नायविक व्याधियों का मूल कारण होती है।

वस्तुतः व्यक्ति में आत्महीनता ग्रन्थि कायिक और सामाजिक हीनता की ही द्योतक है। इस मनोग्रन्थि के स्रोत कुरूपता, निर्बलता, लिंग सम्बन्धी न्यूनता और अंग भंगादि होते हैं। कुमारी से जन्म, जन्मदात्री के प्रति अभिज्ञता अनैतिकता और निर्धनता की अनुभूति भी इसी ग्रन्थि की परिचायिका है।

आत्महीनता ग्रन्थि अपनी सामर्थ्य की हीनता पर क्रोध करने से प्रादुर्भूत होती हैं। परिस्थिति वश व्यक्ति असहाय अवस्था में दूसरों पर किया हुआ क्रोध स्वयं पर आरोपित कर डालता है और ऐसी स्थिति में दुःखी होकर अपने आपको ही कोसता है। ऐसे दुःख की अनुभूति जागृत होते ही मनुष्य अति व्यथित होता है। तदनन्तर इस दुःख की विस्मृति की ही चेष्टा से आत्म-हीनता की ग्रन्थि उसमें घर कर जाती है। और मानव के उन आचरणों का मूल कारण बन जाती है, जिनके द्वारा वह इतर व्यक्तियों की अपेक्षा विलक्षण प्रतिभा, शौर्यादि का अग्रदूत माना जाता है। अपने आपको अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा सर्वोच्च एवं महान् सिद्ध करने के लिए मानव के अनवरत अध्यवसाय करने की इस प्रक्रिया को मनोविश्लेषण में क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया (ओवर कम्पेनसेशन) की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

व्यक्ति की स्वतः प्रतिभा और आत्म हीनता द्वारा प्रेरित प्रतिभा में भेद इतना ही है कि स्वाभाविक प्रतिभा सामान्य रूप में विकासोन्मुख होती है जबकि हीनत्व कुण्ठा से अनुप्राणित प्रतिभा सतत प्रयास से कार्य कर पाती है। कभी-कभी इस ग्रन्थि से प्रताड़ित मनुष्य भविष्य में आततायी सिद्ध होता है। शैशवकाल में प्राप्त ताड़ना को वह अत्याचार मानकर आगे चलकर प्रतिकार स्वरूप समाज में अत्याचारी बन कर अपने को शक्ति सम्पन्न दिखाने का अभिलाषी होता है।

जिस प्रकार कुरूप मानव अपनी कुरूपता को छिपाने के लिए सुन्दर से सुन्दरतम वस्त्राभूषण धारण करता है। उसी भाँति वह अपनी हीनत्व कुण्ठा को विस्मृत करने के लिए नाना प्रकार के यत्न करता है। बहुधा व्यक्ति अपने अतीत की कर्त्तव्य परायणता पर आत्म ग्लानि करते हैं, पर इस घृणा को विस्मृत करने के लिए वे समाज सुधार में जुट जाते है। ऐसे व्यक्ति अपने मन की कमी को दूसरे पर आरोपित करते है। समाज में सच्चरित्रता का उपदेशक अपने व्यभिचारी स्वभाव को भूलने के लिए उत्सुक होता है। इस विधि से मनुष्य अपनी कमी को अन्यों पर आरोपित करके एवं उसकी निन्दा करके स्वकीय आत्म दर्शन से वंचित रह जाता है। वास्तव में व्यक्ति जितने छल-छद्म आत्मीय प्रवंचन के लिए करता है, उतना कपट दूसरों को धोखा देने में प्रयुक्त नहीं करता। चरित्रहीन मनुष्य ही दूसरों के चरित्र सुधारने की चिन्ता करता है, क्योंकि यह प्रक्रम उसका अपनी कमी को विस्मृत करने की चेष्टा मात्र होता है।

एडलर की हीन भावना से मुक्त होने के लिए ही व्यक्ति एक ऐसे पथ को चुन लेता है जहाँ उसकी प्रशंसा हो और उसके अहं को तुष्टि मिल सके।

इस मनोग्रन्थि का निराकरण रचनात्मक कार्यों पर आश्रित है, क्योंकि ऐसे कार्यों से उसे आन्तरिक संतोष और आत्म विश्वास मिलता है। रचनात्मक कार्य की अनुभूति आत्म गौरव की ओर प्रवृत करती है। तथ्यहीन उच्चता या महानता से ऐसा व्यक्ति विरत हो जाता है।

आत्महीनता से ग्रस्त व्यक्ति आत्म ग्लानि के कारण अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु पाता है। इसलिये मैत्री भाव बनाये रखने से इस ग्रन्थि का विनाश निश्चित है। दूसरों के प्रति प्रेम दर्शन करना आत्म दर्शन का सुगम मार्ग है। ऐसा करने से व्यक्ति मन के अन्तर्बाहि दोनों भागों में सामंजस्य स्थापित करता है, जिससे हीनत्व कुण्ठा का शमन होना स्वाभाविक है।

होमरलेन, ए० एस० नील और लार्ड लिटन मनोविज्ञों ने अपने आपके प्रति घृणा को ही मानसिक रोगों का कारण बतलाया है। आत्म भर्त्सना का परित्याग करके अपने आप को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बनाना आत्महीनता ग्रन्थि के निवारण का महा-मन्त्र है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवत्गीता में भी इस कथन की पुष्टि की है। उन्होंने कहा है कि मानव मात्र को अपने आपको विषादमय नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि उसे अपना कल्याण स्वयं करना है। अपनी आत्मा शत्रु मित्र दोनों हैं। इसके अतिरिक्त विश्व में न कोई अपना शत्रु और न मित्र है। जिसने अपने आपको वशीभूत कर लिया वही उसका मित्र है अन्यथा प्रतिकूलता में उसकी आत्मा ही उसका शत्रु

बन बैठती है।[1]

युंग की व्यक्तित्व सम्बन्धी उपलब्धियाँ—युंग के व्यक्तित्व का वर्गीकरण देने के पूर्व उसकी परिभाषा देना अपेक्षित है। वुडवर्थ ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि चरित्र का संकेत अधिकतर उस आचरण की ओर होता है जिसे अच्छा या बुरा कहा जा सके, जो समाज द्वारा स्वीकृत आदेश के अनुकूल होने में सफल या असफल रहता है। व्यक्तित्व का संकेत उस व्यवहार की ओर है जो भले ही अच्छा या बुरा न हो, परन्तु दूसरे लोगों को जो रुचिकर या अरुचिकर लगे तथा जो अपने साथियो के बीच व्यक्ति की स्थिति को अनुकूल प्रतिकूल बना दे। चरित्र और व्यक्तित्व के बीच का भेद स्पष्ठ नहीं है। व्यक्तित्व की परिभाषा मोटे तौर पर यह की जा सकती है:—

व्यक्तित्व व्यक्तित्व के व्यवहार का समग्र—गुण है। जैसा कि वह उसके विचार और अभिव्यक्ति की रीति, उसकी अभिवृति और रुचि, कार्य करने के उसके ढंग, और उसके व्यक्तिगत जीवन दर्शन से प्रकट होता है।[2]

युंग ने व्यक्ति को बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दो प्रकार का सिद्ध किया है। बहिर्मुखी के विषय में उनका कथन है कि बहिर्मुखी मानव का स्वभाव विषयानुरक्त, स्वाभिमान पूर्ण, कामुक प्रवृति, गार्हस्थ जीवन में तल्लीन धनैश्वर्याभिलाषी, समाज में प्रतिष्ठा स्पृही और अपने व्यवहार से सबको संतुष्ट करने वाला होता है।[3]

वुडवर्थ ने युंग द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट लक्षणों के अन्तर्मुखी बहिर्मुखी समूह का विवेचन करते हुए लिखा है कि युंग की परिभाषा के अनुसार बहिर्मुखता (एक्सट्रावरजन) से तात्पर्य व्यक्ति की बाह्य—जगत् (लोगों का संसार भी इसमें सम्मिलित है।) अन्तर्मुखता (इन्ट्रोवरजन) से तात्पर्य व्यक्ति की उस आन्तरिक वृत्ति से है जिसके अनुसार वह अपने ही विचारों, अनुभूतियों और आदर्शों में प्रधानतया

---

१ — उद्धरेदात्मात्मानं नात्मानमवसादयेत्
आत्मैव ह्यात्मानो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ अ० ६ श्लोक ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ अ० ६ श्लोक ६ ॥

२—मनोविज्ञान-वुडवर्थ (हिन्दी संस्करण) पृ० सं० ५३

3—If a man so thinks, feels and acts, in a word so lives, as to correspond directly with objective codition and their claims ; whether in good sense or ill, he is extraverted. His life makes it perfectly clear that it is the objective value which plays the greater role as the determining factor of his consciousness.

—Psychological types—Jung p p 417.

रुचि लेता है, और उन्हीं में मूल्यों का दर्शन करता है। ये दोनों प्रकार की रुचियां प्रत्येक व्यक्ति मे पायी जाती है और हर आदमी कभी एक की ओर उन्मुख होता है तो कभी दूसरी की ओर।

बहिर्मुखी व्यक्ति वर्तमान में रहता है और अपनी सम्पति तथा सामाजिक सफलता को महत्व देता है, जबकि अन्तर्मुखी व्यक्ति भविष्य के स्वप्न देखेगा या योजना बनायेगा और अपने ही प्रतिमानों (स्टेण्डर्ड्स) और भावनाओं को महत्व देगा। बहिर्मुखी व्यक्ति दृश्य, भौतिक जगत् में रुचि लेगा, जबकि अन्तर्मुखी व्यक्ति प्रकृति के अव्यक्त, अदृश्य नियमों तथा शक्तियों में दिलचस्पी लेगा। बहिर्मुखी व्यावहारिक होगा और अन्तर्मुखी आत्मा की आवाज पर काम करने वाला और काल्पनिक जगत् के ऊहापोह में पड़ा रहने वाला। बहिर्मुखी व्यक्ति सक्रियता पसंद करेगा और सरलतापूर्वक शीघ्र निर्णय करने वाला होगा, जबकि अन्तर्मुखी व्यक्ति सोचना, विचारना, योजना बनाना पसन्द करेगा और अन्तिम निर्णय करने में सदा हिचकता रहेगा।

वुडवर्थ के मतानुसार सामाजिक बहिर्मुखी की प्रवृत्ति, जनसमूह के सामने अधिक बातें बनाने, सदैव दूसरों को अपने मत से सहमत कराने, लोगों से मित्रता स्थापित करने, अपरिचितों के बीच आनन्दपूर्वक रहने और सामाजिक जीवन में नेतृत्व करने की होती है। जबकि सामाजिक अन्तर्मुखी की प्रवृत्ति लोगों को अपने विषय में संदिग्ध दृष्टि से देखने, दूसरे व्यक्तियों के प्रयोजन और हेतुओं को संदेह से अवलोकन करने, आत्महीनता की भावना से पीड़ित होने, छोटी-छोटी बातों पर उद्विग्न हो उठने और अपनी भावनाओं को क्षणिक में चोट पहुचाने की होती है। अत: अन्तर्मुखता में क्रियाशीलता की अपेक्षा विचार की ओर प्रवृत्ति, समाज की अपेक्षा एकान्त की ओर रुचि और जीवन में झंझट ही झंझट दृष्टिगोचर होते हैं।

हम बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता के विभेद को चाहे जितना पसन्द करें, किन्तु हमें हर व्यक्ति को बहिर्मुख या अन्तर्मुख के वर्ग में रखने की आदत का शिकार नहीं बन जाना चाहिए। जब कभी किसी उपयुक्त विधि द्वारा लोगों के एक बड़े समूह का परीक्षण हुआ है, यह देखने में आया है कि अधिकांश व्यक्ति दोनों आत्यन्तिक सिरों के बीच में पड़ते है। अन्तर्बहिर्मुखता का एक मिला-जुला प्रकार स्वीकृत किया जा चुका है और अधिकांश व्यक्ति इस मिले-जुले प्रकार के होते हैं।[१]

मन की चार शक्तियाँ होती हैं—

(१) विचार (थोट)
(२) भाव (फीलिंग)

१— मनोविज्ञान— रावर्ट एस वुडवर्थ (हि० सं०) पृ० सं० ५६, ५७

(३) अन्तर्दर्शन (इनट्यूशन)
(४) संवेदन (सेनसेशन)

इन्हीं मानसिक शक्तियों के अनुसार युंग ने अन्तर्बहिर्मुखी दोनों प्रकार के मनुष्यों के विचारात्मक, भावात्मक, अन्तरबोधात्मक और संवेदनात्मक चार-चार भेद बतलाये हैं। इन आठों प्रकार का विश्लेषण (Psychiatry for every man) के अनुसार निम्न प्रकार से है।

(१) बहिर्मुखी विचारात्मक व्यक्ति अपना जीवन ऐसे तार्किक निष्कर्षों में व्यवस्थित करता है, जो वास्तविक अनुभवों के तथ्यो पर या मान्य सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं। उसका विचार अवैयक्तिक और निर्णायक होता है और जीवन उन दृश्यों पर अपना अभिनय करता है जहाँ पदार्थनिष्ठ निर्णायक योग्यता की आवश्यकता होती है। भौतिक, प्रयोगशील वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ धनाधिकारी, वकील और इन्जीनियर इसी वर्ग में आते है।

(२) अन्तर्मुखी विचारात्मक मानव के विचार अनात्मिक की अपेक्षा आत्मिक हो जाते हैं। अन्तर्मुखी विचार मन में पड़ी हुई प्रतिमाओं के सम्पर्क में आता है और जब अचेतन से जागृत होकर यह प्रतिमायें चेतन में आजाती है, तो मन उन्हें अनात्मिक तथ्यों पर आरोपित कर देता है। इस वर्ग में कल्पनाशील, रचनात्मक रहस्यवादी, आदर्श दार्शनिक और उन्मुक्त कल्पना को प्राधान्य देने वाले लेखक आते हैं। रोब्सिपीयर, कार्ल मार्क्स और लेनिन आदि क्रान्तदर्शी विचारक इसके उदाहरण हैं।

(३) बहिर्मुखी भावात्मक के भाव परम्परागत मानदण्डों पर आश्रित रहते हैं। सबकी रुचि में उसकी भी रुचि होती है। साधारण नारी, मिलनसार एवं सर्वप्रिय मनुष्य और काव्य में अमौलिक शास्त्रीय रचयिता इसी वर्ग में आते हैं।

(४) अन्तर्मुखी भावात्मक स्त्री-समाज में अधिकांश रूप में पाया जाता है। ऐसा व्यक्ति संवेदनशील होते हुए भी अपनी संवेदनाओं और भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं रखता। उसे असामामाजिक एवं अव्यवहारिक कहा जाता है, और इसी कारण उसे मनुष्य यथातथ्य रूप में नहीं समझ पाते। काव्य में आत्माभिव्यंजना करना वाला ऐसी प्रकृति का व्यक्ति विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न स्वच्छन्दवादी लेखक सिद्ध होता है।

(५) बहिर्मुखी संवेदनात्मक मनुष्य वस्तुओं को केवल अपने भोग और सुख के लिए मान बैठता है। वह कामुक तथा उच्छृङ्खल इच्छाओं का पोषक होता है। किन्तु वह कोरा लंपट, धूर्त या अशिष्ट ही नहीं होता बल्कि इन्द्रिय परायण होने के कारण उसके भोग और सुख परिष्कृत हो सकते हैं और उसे सौन्दर्य सच्चा

अनुभव हो सकता है। इतना होने पर भी संवेदनायें ही उसके जीवन का एक मात्र जीवनाधार होती है। उदाहरणार्थ कीट्स की प्रारम्भिक रचनायें संवेदनाओं के जीवन पर ही लिखी गयी और पहिले वह संवेदनाओं के जीवन पर विचारों को न्यौछावर करने के लिए उद्यत रहता था।

(६) अन्तर्मुखी संवेदनात्मक वस्तु से पृथक् वस्तु और अपने मध्य में आत्मिक विचार की स्थापना करता है। वह वस्तु में ऐसे गुणों का समावेश कर डालता है जो उसमें नही होते और वस्तु जनित उनका सुख अनुपस्थित और परिवर्धित होता है। इस वर्ग में काव्य, कला, संगीत प्रेमी, रसास्वाद, मदिरा प्रेमी, ऐन्द्रिय-सुख, भोगेच्छु आते हैं क्योंकि उक्त पद्धतियों का अनुसरण करके यही एकान्तवासी आनन्दोपभोगी होते हैं।

(७) बहिर्मुखी अन्तरबोधात्मक व्यक्ति की लालसायें बाह्य घटनाओं पर अवलम्बित होती है। वह वस्तु के वर्तमान मूल्य के उसके भविष्य के हेतु उपेक्षित समझता है। उसका मस्तिष्क भविष्य के मूल्यांकन से आबद्ध होकर तथ्य को नये संयोग में और नये रूपों में देखता रहता है। उच्चकोटि के कवि, आविष्कारक और वैज्ञानिक इस वर्ग के होते हैं।

(८) अन्तर्मुखी अन्तरवबोधात्मक अवबोध बाह्य वस्तुओं से भिन्न आत्मिक होता है। वह अचेतन की प्रतिमाओं पर आधारित होता है। उसकी कल्पनाओं की उपकरण सामग्री ये अचेतन की प्रतिमायें ही होती हैं। बाह्य जगत की प्रतिमायें जैसे बहिर्मुखी व्यक्ति को आनन्द प्रद है। वैसे ही उसको आन्तरिक प्रतिमायें मंगलमय प्रतीत होती हैं। ऐसी प्रकृति का मानव कलाकार होने पर स्वच्छंद, विलक्षण, तर्कहीन कृतिकार सिद्ध होता है।[1]

मानववादी मनोविश्लेषण—इसके प्रवर्तक एरिक फ्राम हैं। स्वभाववश मानव मृत्यु से परे अमरता का उपासक है। जन्म और मरण में उसका कोई हाथ नहीं। जन्म के सम्बन्ध में उसे कोई जानकारी नहीं, मृत्यु न चाहता हुआ भी वह मरता है। यह दुहरा भाव ही उसकी गम्भीर समस्या है।

एरिकफ्राम के मतानुसार मानव अपने अस्तित्व के अन्तर्विरोधों के नित्य नये हल ढूँढने, प्रकृति, मानव-जाति और स्वयं से नित्य नये उच्चतर पर एकता स्थापित करने की जो आवश्यकता है वही उन तमाम मानसिक शक्तियों, प्रयत्नों, इच्छाओं, भावनाओं तथा उत्कण्ठाओं की स्रोत है जो मनुष्य को प्रेरित करती है।[2]

1—Psychiatry for every man—J. A. C. Brown pp 86, 97

२—रोगी मन—सूरज नारायण मुन्शी—सा० एम० निगम पृ० सं० २४३

मानव में सदैव परस्पर विरोधी सहज प्रवृत्तियाँ रहती है। अपनी विशेष आवश्यकताओं से प्रेरित कभी वह प्रगति अथवा प्रत्यावर्तन कर बैठता है। मानव विकास में वह प्रगतिशील होता है और प्रत्यावर्तन में उसे कुण्ठा, शारीरिक, मानसिक रोग आ घेरते हैं। मनुष्य की सभी इच्छायें इसी प्रगति और प्रत्यावर्तन के विरोधाभास पर आश्रित हैं।

मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएँ तो पैतृक संपत्ति के रूप में मिलती हैं ये शरीर को स्वस्थ बनाने में सहयोगी होती हैं। किन्तु मानवीय आवश्यकताएँ विवेक, आत्म-चेतना और कल्पनाशक्ति से उत्पन्न उसे सतुष्ट, तृप्त और सुखी बनाने में योग देती हैं। ये उसे अर्जित करनी पड़ती है। इनका विकास संस्कृति और समाज के साथ होता है। मानव अपने मूल प्रेरक-प्रगति प्रत्यावर्तन विरोधाभास को हल करने के लिए परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल बदलता रहता है।

एरिक फ्राम के सिद्धान्त से मानवीय आवश्यकतायें पाँच प्रकार की हैं—

(१) सम्बद्धता अर्थात् प्रेम-भाव (रिलेटेडनेस)

(२) पारीणता (ट्रान्सेन्डेन्स)

(३) मूलबद्धता (रुटेडनेस)

(४) आत्म परिचय (आइडेन्टिटी)

(५) मन संस्थान (फ्रेम आफ ओरियन्टेशन)

(१) **सम्बद्धता**—व्यक्ति नये सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध स्थापना के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्ध इच्छायें और वासनायें आती है। व्यापक रूप में इसे प्रेम सम्बन्ध या प्रेम भाव कह सकते हैं। यह संबंध अन्य व्यक्ति राष्ट्र, धर्म, संप्रदाय के समक्ष आत्मसमर्पण करके या आधिपत्य जमाकर स्थापित होता है। एरिक फ्राम इस प्रक्रम को सिम्बायोसिस कहते हैं। उनके मत में यही व्यक्तित्व विचारों का कारण है।

सिम्बायोसिस की दो विधियाँ हैं—

(१) (साडिज्म) सादन काम और

(२) भर्षण काम (मैंजोकिज्म)

सादन काम से व्यक्ति दूसरों पर आधिपत्य जमाकर अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

भर्षण काम से आत्म समर्पण और आत्म भर्त्सना करता है।

(२) **पारीणता**—व्यक्ति विवेक और कल्पना से सम्पन्न होने के कारण पशु की स्थिति को पार करना चाहता है, वह सृष्टि के परिणाम ही नहीं वरन् कारण अर्थात् रचयिता बनने की इच्छा से प्रेरित होता है। रचना के अतिरिक्त उसकी प्रवृत्ति विनाश की ओर भी होती है।

(३) **मूलबद्धता**—बच्चे का उद्गम माँ है। उसका विकास माँ के संरक्षण से अलग होता है। जो व्यक्ति माँ के संरक्षण से मुक्त नहीं हो पाते, वे मूलबद्धता और प्रत्यावर्तन के मानसिक रोगी होते हैं। उनमें स्थिरता के कारण विकास असम्भव होता है।

(४) **आत्म परिचय**—मनुष्य का स्वयं को मैं कहना ही आत्म परिचय है।

(५) **मन:संस्थान**—मानसिक विकास और ज्ञान का भंडार ही मन:संस्थान है। यह दो प्रकार का होता है—आत्मपरक और वास्तविकता से सम्बन्धित। आत्मपरक मन:संस्थान हेत्वारोपण द्वारा व्यक्ति का मानसिक संतुलन बनाता है। दूसरा सत्य पर आधारित है।

उक्त आवश्यकताओं की पूर्ति यदि गलत ढंग से होती है तो व्यक्ति में मनोविकृतियाँ घर कर जायेंगी। इनके पूर्णतया अभाव में मनुष्य पागल हो जायेगा।

इन आवश्यकताओं में सबसे प्रथम एवं महत्वपूर्ण और मूल समस्या सम्बन्ध स्थापना की है। व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित होना मानसिक साम्य के लिए अपेक्षित है। इन परस्पर सम्बन्धों की स्थापना द्वारा सामाजिक उपक्रम होता है और सामाजिक उपक्रम से मानसिक संतुलन की प्रक्रिया होती है।

सांस्कृतिकता वादी मनोविश्लेषण—केरेन हार्नी अपने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में सामाजिक संस्थान पर ही बल देती है। इनके मतानुसार व्यक्ति की शैशवावस्था का विकास तीन दिशाओं में गतिशील होता है—

(१) दूसरे व्यक्तियों की ओर,

(२) अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध,

(३) दूसरे व्यक्तियों से पृथक् एकाकीपन।

हार्नी के मत में बालक जब अपने चारों ओर विरुद्ध वातावरण का अनुभव करता है तभी उसमें मूल चिन्ता होती है। यही मूल चिन्ता आन्तरिक द्वन्द्व का कारण बनती है। किसी बालक के चरित्र संघटन की स्वस्थ एवं विकृत अवस्थिति उसके पारिवारिक और सामाजिक वातावरण पर अवलम्बित है।

सुसंगत तथा समन्वित सामाजिक जीवन के मार्ग में आधुनिक सभ्यता की प्रतिद्वन्द्विता, रोड़ों और रुकावटों का काम करती हैं। इस प्रतिद्वन्द्विता में परस्पर विरोध, स्पर्धा और द्वेष के बीज होते हैं जो चरित्र संगठन को बिगाड़ देते हैं।[1] अतः मनोविकृति का कारण चरित्र सम्बन्धी अव्यवस्था ही है।

अवयवीवाद (गेस्टाल्ट साइकोलोजी)—अवयवीवाद को जर्मन भाषा में गेस्टाल्ट साइकोलोजी कहते हैं। हम अपने व्यावहारिक जीवन में हर समय अवयवी और

१—रोगीमन—सूरजनारायण—एम० निगम पृ० सं० २५५

अवयव से साक्षात्कार करते हैं। हम यह मानते है कि किसी वस्तु को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें उसके अवयवों की अवहेलना न कर पहले उसकी सम्पूर्ण परि-स्थिति से अवगत होना होगा। गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के प्रतिपादक बरदरमियर कोहलर, काफ्का के मत में कोई विचार या भाव खण्डित नहीं हैं, सब जगह पूर्णता है। संसार और उसके समस्त वस्तु-जात खण्डांश अपनी पूर्ण साकारता में ही पूर्ण है। खण्डांशो में उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

आचरणवादी मनोविज्ञान—वाटसन मनोविज्ञान को मनुष्य के अन्तर्जगत् की प्रक्रिया मात्र नहीं मानते। मनुष्य के वाह्य आचरणों, शारीरिक अनुभवों पर विचार करने को वे मनोविज्ञान मानते हैं। मानव को समझने के लिए उसकी वाह्य क्रियायें और उसके द्वारा उत्तेजित वस्तु तथा तज्जनित प्रतिक्रिया के रूप में समझ सकते है।

शिशु मनोविज्ञान—वाटसन के अनुसार बालक में भय, क्रोध और प्रेम भावात्मक आचरण होते हैं। श्रीमती Mclamia Klein द्वारा निरीक्षित फ्रिटिज नामक बालक से ज्ञात होता है कि उसमें अदृष्ट शक्ति के प्रति उत्सुकता और उसे समझने की आकांक्षा होती है।[1]

व्यावहारिक मनोविज्ञान—प्रौफेन बरगर के मतानुसार इस मनोविज्ञान द्वारा मनुष्यों के जीवन में इस प्रकार सामंजस्य लाना है। जिससे उन्हें अधिक से अधिक व्यक्तिगत संतोष मिले और समाज का विकास हो।[2]

आगे के अध्यायों में उक्त मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के अनुसार ही हिन्दी साहित्य के प्रत्येक काल का संक्षिप्त रूप में अनुशीलन प्रस्तुत है, जिसमें साहित्य और मनोविज्ञान, हिन्दी काव्य और मनोविज्ञान तथा हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान को विवेच्य बनाया गया।

बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान का आलोक और साहित्य के लिए उसकी अन्तःप्रेरणा—साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद की प्रतिक्रिया है, और दोनों के संघर्ष का फल, अहंवाद पर आधृत जगत संहारक विश्व-युद्ध है। इसी पूँजीवाद के साथ-साथ बढ़ती हुई विलासिता के फलस्वरूप शारीरिक गुह्य रोगों एवं मानसिक विकारों की चतुर्दिक् व्यापक वृद्धि हुई है। इन रोगों के उपचार की खोज से मनो-विश्लेषण एवं उन्मादशास्त्र और नवीन मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसका प्रभाव सामाजिक जीवन एवं साहित्य पर अक्षुण्ण है।

1—Contribution to psycho-analysis (1921-45)—Mrs. Mclamia Klein, The Hogarth Press Ltd. 1948.

२—व्यावहारिक मनोविज्ञान—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० सं० ११६

डा० भगवानदास के मतानुसार पूँजीवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप साम्यवाद, समाजवाद और मनोविश्लेषण के आधार पर निर्मित पश्चिम में दो विचार शैलियाँ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सभी अंगों पर प्रायः पचास वर्ष से भारी प्रभाव डाल रही हैं। वे शैलियाँ साम्यवाद, समाजवाद और मनोविश्लेषण के निर्माताओं पर इस प्रकार आधृत हैं—

१—मार्क्स, एंगल्स, उनके परिष्कारक, परिशोधक लेनिन, स्टालिन और उनके अनुयायियों की साम्यवाद, और समाजवाद की शैली।

२—फ्राइड उनके साक्षात् शिष्य भी और परिष्कारक, परीक्षक, विशोधक भी, युंग, एडलर और उनके अनुयायियों और टीकाकारों की मनोविश्लेषण शैली।[1]

इन दोनों शैलियों का प्रभाव वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन फलतः साहित्य पर भी विद्यमान है। यह प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी परिलक्षित है, परन्तु परोक्ष एवं अपरोक्ष उसकी दो विधायें हैं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भी इन शैलियों का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी साहित्य पर स्वीकार किया है।[2]

एतदर्थ, मनोविज्ञान के पारदर्शी आलोक द्वारा साहित्य में अन्तर्निहित अज्ञात मन की अन्ध गुफाओं से मानव अन्तश्चेतना की सूक्ष्म तहों का पर्यवेक्षण कर विलक्षण रहस्यों को ढूँढ निकालना अपेक्षित है।

बीसवी शताब्दी के समस्त विज्ञानों में मनोविज्ञान का विशिष्ट स्थान है। मनोविज्ञान ने अपने सूक्ष्म कलेवर से ऐसी लचीली शाखाओं का सर्जन किया है, जो सबसे सामंजस्य बनाने में समर्थ है। इन समस्त शाखाओं का संक्षेप में यहाँ दिग्दर्शन कराते हुए मनोविज्ञान का अन्य विज्ञानों और शास्त्रों के सम्पर्क का पर्यालोचन करना, साहित्य के भावरेचन से साम्य स्थापित करने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि इन सबका भी मानव-मात्र से अटूट सम्बन्ध है और ये सब मानव-मन के ही मनोवांछित रूप हैं। विज्ञान को तीन श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है—

(१) भौतिक,
(२) जैविक और
(३) मानसिक।

भौतिक विज्ञान का विषय द्रव्य और शक्ति से सम्बन्धित है। जैविक विज्ञान का आधार वनस्पति और प्राणियों के तथ्यों का अध्ययन है। मनोविज्ञान ने अपना

१—**नवीन मनोविज्ञान—(प्रस्तावना) डा० भगवानदास (ले० लालजीराम शुक्ल)।**

२—**हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—(प्राक्कथन) डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (ले० डा० देवराज उपाध्याय)।**

विषय मानसिक प्रक्रियाओं और उनके साथ होने वाले अन्य तथ्यों को माना है। उसका चतुर्मुखी प्रकाश एक निराला आकर्षण छिपाये हुये हैं। उसकी केवल झलक मात्र से समन्वय की भावना को स्वत: ही बल मिल जाता है। मनोविज्ञान के आलोक में पली हुई शाखाओं ने संसार का कोना-कोना ही नहीं प्रत्युत उसके अणु से अणु विकास खण्ड को अत्यधिक प्रभावित कर रखा है। वस्तुत: संक्षिप्त रूप में मनोविज्ञान को इन्हीं शाखाओं का पंजीकृत रूप माना जा सकता है।[1]

सामान्य मनोविज्ञान ने विश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करके आज व्यक्ति के मन के व्यापार के प्रकार और रचना का सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जिस भाँति शारीरिक अंग प्रत्यंग का विकास होता है उसी प्रकार मानसिक विकास भी, क्योंकि वह अन्दर से समृद्ध होता है अतः विकासात्मक मनोविज्ञान नाम से भी पुकारा जाता है। बहुधा यह मनुष्य के विकसित मन की, पशु जीवन की निकृष्ट अभिव्यक्तियों से तुलना करता है। बाल मनोविज्ञान का अध्ययन संवेदना, प्रत्यक्ष, सरल स्मृति और कल्पना की प्रारम्भिक मानसिक प्रक्रियाओं की उत्पत्ति और विकास पर आधारित है। मानव के वैयक्तिक अन्तरों का अनुशीलन व्यक्ति मनोविज्ञान के हिस्से में आया है। इसने व्यक्ति के व्यक्तित्व को अन्तर्वाह्य वृत्तियों में विभाजित कर दिखाया है। मानव की समूहगत मनोवृत्ति विचार शून्य, उद्वेग और संवेगात्मक, उत्तरदायित्व रहित एवं

१—विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (Analytical Psychology)
२—व्यक्ति मनोविज्ञान (Individual Psychology)
३—समाज मनोविज्ञान (Social Psychology)
४—मनोभौतिक विज्ञान (Psycho Physics)
५—मनोविश्लेषण विज्ञान (Psycho analysis)
६—शारीरिक मनोविज्ञान (Physiological Psychology)
७—विकृत मनोविज्ञान (Abnormal Psychology)
८—विकासात्मक मनोविज्ञान (Genetic Psychology)
९—परीक्षणात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology)
१०—पशु मनोविज्ञान (Animal Psychology)
११—तुलनात्मक मनोविज्ञान (Comparative Psychology)
१२—बाल मनोविज्ञान (Child Psychology)
१३—व्यावहारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology) इसके पाँच भेद हैं:—शिक्षा मनोविज्ञान (एज्यूकेशनल साइकोलोजी) व्यापार मनोविज्ञान (कोमरशियल) औद्योगिक, कानूनी, चिकित्सा (इन्डस्ट्रियल, लीगल, साइचेट्रिरी) मनोविज्ञान।

चंचल पायी गयी है। समाज मनोविज्ञान इसी सामूहिक मन की छान-बीन करता है। लोक-मनोविज्ञान भी इसी के अन्तर्गत आता है, इसमें आदिकालीन मानवों के मानसिक गुणों उनके जीवन, लोक रीतियाँ, कला, धर्म आदि की रूपरेखायें अभिव्यक्त होती है। विकृत मनोविज्ञान मानव की असामान्य अवस्थाओं तथा, विस्मृति, नींद, स्वप्न, दिवा स्वप्न, मूर्च्छा, सम्मोहन, सामान्य गलतियों, स्थायी, अस्थायी मनोविकृतियाँ, विकृत भय, विकृत विश्वास और मानसिक रोगों को मन के सामान्य नियमों से अवगत कराता है। मनोविश्लेषण का काम अतृप्त-दमितेच्छाओं का अचेतन से निकाल कर चेतन मन में ला देना मात्र होता है। वह अतृप्त-दमितेच्छाओं के स्पष्टीकरण के लिए खण्डन-मण्डन भी प्रस्तुत करता है। शारीरिक मनोविज्ञान मनोवृत्तियां और स्नायु वृत्तियों के सम्बन्धों का अनुशीलन करता है। प्रायः उन शारीरिक प्रक्रियाओं को यह स्पष्ट करता है जो मानसिक प्रक्रियाओं के साथ साथ अग्रसर होती है। मानसिक प्रक्रियाओं एवं अधिकतर संवेदनाओं और भौतिक उत्तेजनाओं के बीच परिमाणात्मक सम्बन्ध का अनुशीलन मनोभौतिक विज्ञान द्वारा होता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान की कई एक शाखायें अन्तर्निहित हैं। कानूनी मनोविज्ञान का सम्बन्ध अपराधियों, वकीलों, न्यायाधीशो और गवाहो आदि के मानसिक लक्षणों को ढूंढ़ना है। चिकित्सा मनोविज्ञान मे आत्म निर्देश, विश्राम चिकित्सा निर्देश, सम्मोहन, स्नायु-व्यतिक्रम, उन्माद, पुनः शिक्षण, स्वच्छ वार्तालाप एवं अन्य मानसिक रोगों की चिकित्सा मनोविश्लेषण पद्धति पर बतलायी गयी है।

मनोविज्ञान के महाकनय वृक्ष पर उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में जो तने और शाखायें फूटी थीं वह बीसवी शताब्दी में आकर अंकुरित ही नहीं प्रत्युत पूर्णतया पल्लवित और फलित हो उठीं। उनमें भर्तृहरि की परोपकार वृत्ति, भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै, के अनुसार परोपकार के भार से झुक गयी और उसने मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए तत्सम्बन्धी पोषक तत्त्वों की छानबीन की। मन जीवन-यान का चालक है यदि मन स्वस्थ है तो उसके द्वारा संचालन क्रिया भी स्वस्थ होगी और जीवन की गतिविधि सुचारु रूप से अपना प्रयाण कर सकेगी। अर्थात् हमारी क्रिया प्रतिक्रियायें ही हमें जीवन का मंगलमय उपहार भेंट करती हैं और इन्ही से जीवन विनाश के गर्त में सर्वदा के लिए लीन हो जाता है। क्योकि मन कोई वस्तु थोड़े ही है वह तो केवल भाव एवं अनुभूतियों का ही सच्चा सजीव आकार है, तभी हम उसे अनुभवात्मक क्रियाओं के आधार पर ज्ञात, अज्ञात, ज्ञाताज्ञात मन के नाम से तीन संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। अतः मन के विकृत होने पर जीवन का विकारग्रस्त होना स्वाभाविक है, क्योंकि विकृत क्रियायें ही विकृत मन की द्योतक है। इन विकृतियों का जन्म विभ्रम द्वारा होता है। यह विभ्रम हमारी मन चाही प्रकृत इच्छाओं के पूरे न होने पर पहले बाधक के प्रति प्रतिक्रिया करता हुआ क्रोध का भयावह रूप धारण

करता है और क्रोध के उबाल की दमन वृत्ति ही उसमें मोहाशक्ति बन बैठती है। मोहाशक्ति ा आन्तरिक विप्लव विभ्रम को आविर्भूत करता है। विभ्रम की चकाचौंध में स्मृति शिथिल पड़ जाती हैं। स्मृति के अभाव में अनवधानता एवं शिथिलता आते ही बुद्धि का नाश सम्भव है ही और बुद्धिनाशात् प्रणश्यति जीवन-यान के चालक मन के द्वारा विनाश की ओर प्रवृत्त करने का सूचक सूत्र गीता में भी प्रतिपादित है। इस प्रकार जीवन का अस्तित्व मन पर निर्भर है। मनोविज्ञान मन के क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति है। तभी तो मनोविज्ञान की अतिव्यापक अन्तिम परिभाषा जीवन की व्याख्या मानी जाती है। इसी भाँति साहित्य भी जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह जीवन के पोषक तत्त्वों को हमें ढूँढ़ ढूढ़ कर लाता है जिसमें अकल्याणमय विकृतियाँ हमारे जीवन से दूर भाग जाये और हम सत्यं शिवं सुन्दरं को अपने जीवन में पूर्णतया पा सकें।

भारतीय कला और प्रवृत्ति सर्वत्र समन्वयात्मक है। भक्ति के ज्ञान, कर्म, उपासना और साहित्य के सत्यं, शिवं, सुन्दरं ये एक दूसरे के पूरक हैं। डा० गुलाबराय के मतानुसार सत्यं, शिवं, सुन्दरं का सम्बन्ध क्रमशः ज्ञान (नोइंग) भावना (फीलिंग) और संकल्प (विलिंग) नाम की मनोवृत्तियो तथा ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग से है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं, विज्ञान, धर्म काव्य का परिचायक सूत्र भी है।[1]

मनोविज्ञान विधायक (पोजिटिव साइन्स) विज्ञान है। नियामक विज्ञान (नोरमेटिव साइंस) इसका सारभूत अंग है। इनमें तर्क, नीति और सौंदर्य शास्त्र आते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रम से सत्य, शिव सुन्दर, जीवन के आदर्शों (आइडिअल्स) या प्रतिमानो (स्टैन्डर्ड) से है। मनोविज्ञान साहित्य की भांति इन तर्क (सत्यं) नीति (शिवं) सौन्दर्य (सुन्दरम्) जीवन के तीनो आदर्शों को आत्मसात् किये हुए हैं।

मनोविज्ञान का क्षेत्र अतिव्यापक है, वह ज्ञान, संकल्प, वेदना मानसिक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित है, जबकि नियामक विज्ञान में (तर्क में ज्ञान, नीति में संकल्प और सौंदर्य में वेदना या अनुभूति) केवल एक एक ही मनोवृत्ति या उनके केवल प्रकार ही मिल जाते है। इस भांति साहित्य और मनोविज्ञान दोनों ही व्यापक है जो सत्यं (ट्रूथ) शिवं (गुड) सुन्दरं (बीयुटी) को अन्तर्निहित किये हुए हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य के सत्यं, शिवं, सुन्दरं मनोविज्ञान की मनोवृत्तियों के ही परिवर्तित रूप हैं। मनोविज्ञान का संकल्प (वीलिंग) सीधा सौदर्य से सम्बन्धित है, जिसकी उत्पत्ति ही फ्राइड के अभुक्त काम-प्रेरणा वाले कला सिद्धान्त से हुई है।

साहित्य और मनोविज्ञान का अति निकट का सम्बन्ध है। किन्तु साहित्य का मूल स्रोत मनोविज्ञान कहाँ से मानता है, इससे भी अवगत होना जरूरी है। हीगेल

१—सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाबराय पृ० ९५

विकास की क्रिया का आधार भाव मानता है। हीगेल के मतानुसार भाव के तर्क, प्रकृति और मन तीन खण्ड है। मन अथवा चित्त के भी तीन भाग उसने किये हैं। भाव प्रधान (सब्जेक्टिव) वस्तु प्रधान (ओब्जेक्टिव) और परम (अब्सल्यूट)। इस परम (अब्सल्यूट) के ही अन्तर्गत कला का स्थान हीगेल ने स्वीकृत किया है। हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को निम्न तालिका से सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है:—
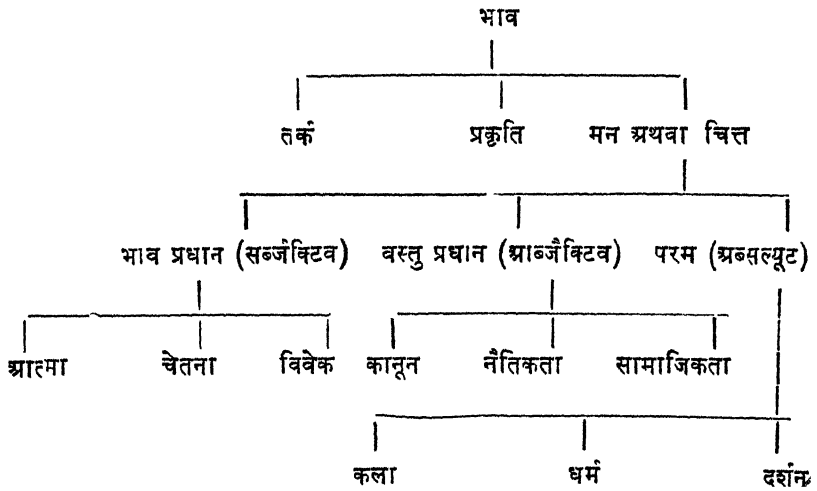
किं बहुना, हीगेल कला को परम मन के विकास जिसमें भाव अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है, एक चरण मानकर उसे उच्च स्थान देता है। कला इस प्रकार अधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है।[1] कला कृतियाँ परम भाव को अपने से बाहर विकास की द्योतक हैं। मनोवैज्ञानिकों का भी यही मत है।

मनःशास्त्रियों के सिद्धान्त से— कला का सम्बन्ध मन के निचले स्तर से है, क्योंकि इसका आधार न तो संवेदना (सेनसेशन) है, न स्मृति (मेमोरी) न प्रत्यक्षीकरण (परसेप्शन) और न विचार विनिमय। यही कारण है कि जब तक मनोविज्ञान का अध्ययन ज्ञात मन तक सीमित था, कला मनोविज्ञान का विषय न थी। अज्ञात मन के अन्वेषण के साथ मानव जाति की गूढ़तम क्रिया, चेष्टाओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रारम्भ हुआ, मनोविश्लेषण की दृष्टि से अज्ञात मन में संचित

१—इन्ट्रोडक्शन टु हीगेल्स फिलोसफी आव फाइन आर्ट—पृ० ४८-४९

Art is "Simply a mode of revealing to consciousness and bringing to utterance the divine nature, the deepest interests of humanity, and the most comprehensive truth of the mind."

भावना ग्रन्थियाँ पड़ती हैं। ज्ञात मन का संघर्ष चेतना के सतह पर होने के कारण उसके समाधान की कुछ न कुछ युक्ति हम बुद्धि बल द्वारा निकाल लेते है इससे हमारे मन में कोई भावना ग्रन्थि नही पड़ती, यदि कोई उलझन पड़ी तो वह अज्ञात मन का भाग बन जाती है।

जब इन भावना ग्रन्थियो की उत्पत्ति इच्छाओं के प्रकृत रूप रहने पर होती है, तब प्राय: मनुष्य मानसिक रोग की शरण लेता है। और जब भावना ग्रन्थियों की उत्पत्ति वृत्तियों के उन्नयन के पश्चात् होती है, तब अधिकतर कला का सृजन होता है। इस प्रकार कुछ परिस्थितियों में अज्ञात मन की इच्छाओ का संघर्ष मनुष्य को कलाकार बनाता है और कुछ परिस्थितियों में असंतोषी तथा विक्षिप्त। यह व्यक्ति विशेष की मन:स्थिति और स्वभाव पर निर्भर है।

मनोविश्लेषण के अनुसार यह निर्विवाद है कि हर एक व्यक्ति में अज्ञात-मन की ही इच्छायें कलाकार की कल्पना का आधार होती है। किसी भी परिस्थिति में चेतन इच्छायें उत्तेजक नहीं हो सकतीं। जब कभी उचित अवसर मिलता है, अज्ञात मन में संचित-इच्छायें कला के रूप में प्रस्फुटित होती है। कलाकार का काम अपने भावलोक में रमण करना है। अज्ञात मन की इच्छाओं से आक्रान्त होकर वह अपनी भावनाओं से खेलता है।[1]

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि कलात्मक रचना का मनोविश्लेषण से अभूतपूर्व सम्बन्ध है। मनोविश्लेषण हमें बतलाता है कि कलात्मक प्रोत्साहन अज्ञात मन के गहन स्तरो से सृजित होती है। दूसरे शब्दो मे कला इन गहन स्तरों में प्रसुप्त अतृप्त दमितेच्छाओं की प्रतिमाओं को जागृत करने एवं उनकी विषमताओ को सुलझाने का एक अत्यन्त विलक्षण ढंग है। मनोविश्लेषण के प्रवर्तक डा० सिगमण्ड फ्राइड ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए साहित्य का ही सहारा पकड़ा है।

साहित्य और मनोविज्ञान का अविच्छेद्य सम्बन्ध हमें फ्राइड द्वारा अनुमोदित कुछ साहित्यिक संदर्भों से इस प्रकार मिलता है। स्वयं फ्राइड ने अपने मनोविश्लेषण में ऐसे अनेको प्रसंग उद्धृत किये हैं जो साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। गलतियों के मनोविज्ञान में वह लिखते हैं—बहुत बार कोई कवि बोलने की गलती या किसी दूसरी गलती का, कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रयोग करता है। इस तथ्य से ही यह सिद्ध होता है कि वह यह समझता है कि गलती, उदाहरण के लिए बोलने की गलती का कुछ अर्थ होता है, क्योंकि वह जान बूझकर ऐसी गलती करता है। यदि

१—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० १८२, १८३।

बोलने की गलतियों के बारे में हम भाषा तत्ववेत्ताओं और मनश्चिकित्सकों की अपेक्षा कवियों से कुछ अधिक सीख सकें तो आश्चर्य न करना चाहिए।

इस तरह की गलती का उदाहरण शिलर के वालेन स्टाइन (पिक्कोलोमिनी अंक १, दृश्य ५) में आता है। इससे भी अधिक प्रभावोत्पादक उदाहरण 'ओटो रैंक' ने शेक्सपियर में से निकाला था, बोलने की एक गलती शेक्सपियर के (मर्चेन्ट आफ वेनिस) अंक ३ दृश्य २ में आती है। यह गलती प्रकट काव्यमय भावना और इस कौशल का प्रयोग करने के शानदार तरीके की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। "लाटरी से पहले भी मैं तुम्हारी थी और तुम से प्यार करती थी।" यहाँ कवि ने मनोवैज्ञानिक अनुभूति को, अत्यधिक सुन्दरता के साथ, उसकी गलती में, उसके मुँह से कहलवा दिया है और इस कलापूर्ण युक्ति द्वारा उसने प्रेमी की असह्य अनिश्चितता को भी शान्त कर दिया है।[1]

इसके अतिरिक्त फ्राइड ने इडिप्स ग्रन्थि का साहित्य से अति प्राचीन और घनिष्ट सम्बन्ध सिद्ध किया है। उसका कहना है -"इडिप्स ग्रन्थि ने साहित्य-सृजन को बहुत ही अधिक प्रभावित किया है। ओटोरैंक ने एक बहुत मूल्यवान गवेषण कार्य में यह दिखलाया है कि सब युगों के नाटक लेखकों ने अपनी सामग्री मुख्यतः इडिप्स तथा निषिद्ध संभोग ग्रन्थि और उसके परिणमनों एवं छिपे हुये रूपों से ली है। यह कह देना भी उचित होगा कि मनोविश्लेषण के समय से बहुत पहले इडिप्स ग्रन्थि के दोनों दण्डनीय अपराध असंयत निसर्गवृत्ति की सच्ची अभिव्यक्तियाँ माने जाते थे। ए साइक्लोपीडिया—लेखक डिडरो की प्रतियों में आपको यह संवाद (ल नेव्यू द रामो) में मिलेगा।[2] अतः यह निर्विवाद है कि साहित्य और मनोविज्ञान का उदय मानव जीवन की प्रेरणाओं के अध्ययन के लिए ही हुआ है। इस सादृश्य को डा० गुलाबराय के शब्दों मे इस प्रकार रख सकते हैं—

"जीवन की मूल प्रेरणायें ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं, जो वृत्तियाँ जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं, वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं। जीवन का मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में विचार उपनिषद् काल से चला आ रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा अर्थात् पुत्र की चाह, धन की चाह और लोक अर्थात् यश की चाह मानी है। यूरोप के मनोविश्लेषण शास्त्र (साइको-एनालिसिस) का भी उदय इन्हीं प्रेरणाओं के अध्ययन के लिए हुआ।"[3] फ्राइड, एडलर, युंग नवीन मनोवैज्ञानिकों के क्रम से पुत्रैषणा को काम-भावना

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड (हि० सं०) पृ० सं० २१, २२, २३
२— ,, ,, ,, ३००
३—सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाबराय पृ० ६९, ७०

(सैक्स इन्सटिन्कट) वित्तैषणा को स्वत्व भावना (इगो इन्सटिन्कट) और लोकैषणा को समाज भावना कहा है। ये भावनाएं जीवन के विकास होने के साथ साथ जटिल होती हैं और धीरे-धीरे स्थाई भाव अथवा मानसिक ग्रन्थियो के रूप में परिवर्तित हो जाती है। मानव की मानसिक शक्ति इनमें भी बंटी रहती है। मनुष्य के सामान्य जीवन में उसकी मानसिक शक्ति का व्यय इन्हीं भावनाओ से निर्मित मार्ग में होता है। जन सामान्य की विपुल शक्ति, जीविकोपार्जन, सन्तान प्रजनन तथा पालन पोषण के साथ अवशेष शक्ति सामाजिक कार्य मे व्यय होती है। यदि मानव अपना जीवन प्राकृतिक रूप मे चलावे तो जीवन में विषमता का कोई प्रश्न ही न रहे, क्योंकि उसकी भावनाओं की प्रबलता की तृप्ति में बाधा न आने के कारण जटिल मानसिक ग्रन्थियों का प्रादुर्भाव न होगा। इसकी प्रतिक्रिया मे मनोग्रन्थि निर्माण एवं अन्तर्द्वन्द्व होना अनिवार्य ही है।

साख्य मे काम भावना तमोगुणी, स्वत्व भावना रजोगुणी और समाज भावना सतोगुणी है। सत्, रज, तम, में द्वन्द्व होता रहता है। बस यही द्वन्द्व मनोग्रन्थियों का जन्मदाता है, और साहित्य में इन्हीं दमितेच्छाओं का परिशोधन होता है। स्नायु-व्यतिक्रम को उदात्तीकरण द्वारा शोधन की गति मिलती है तथा साहित्य-तरंगिणी की तरंगे अज्ञात मन से फूट पड़ती है।

साहित्य में मानव मन की स्वाभाविक चरित्र सृष्टि—साहित्य में भाव ही सर्वोपरि हैं। मानव में भाव, विचार और कल्पनायें बड़ी विलक्षण होती हैं। डा० श्याम सुन्दरदास ने मानव की इन्हीं कल्पनाओं, भावों तथा विचारों के व्यक्त स्वरूप को ही साहित्य की सज्ञा दी है।[1] साहित्य मे विलक्षणता एवं विविध रूपता के जो दर्शन होते है, उसमे मानव मन की ही स्वाभाविक चरित्र सृष्टि विचित्रता एवं अनेकरूपता के साथ सर्जित होती है। कृतिकार साहित्यिक कला को जो जन्म देता है वह बुद्धि, कल्पना और रागात्मकता पर आधारित है। डा० श्यामसुन्दर दास का कहना है कि मनोविज्ञान में बुद्धि को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। मानसिक कार्यों में इसकी प्रधानता रहती है। हमारे यहाँ इसे अन्त:करण की निश्चयात्मिका वृत्ति माना हैं। इसे हम मन की चेतन शक्ति भी कह सकते हैं। जब हमारा मन बुद्धि द्वारा किसी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसके सम्वन्ध में अनेक प्रकार के भाव हमारे मन में अभिव्यक्त होते हैं।[2]

अभिव्यक्ति के उद्देश्य को मानने वाले क्रोचे और पाणिनि कला और भाषा की अभिव्यक्ति को रूप समझते है। पाणिनि के अनुसार पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा

१—**साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दर दास पृ० सं० २४८**

२— ,, ,, २५२, २५३

सब बातों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है और जब मन कामाग्नि को उकसाता है तब कामाग्नि वायु को प्रेरित करती है, तदनन्तर वह वायु छाती में प्रवेश करके मन्द स्वर उत्पन्न करती है। यहाँ अभिव्यंजना का स्रोत मन की इच्छा द्वारा उकसायी हुई कामाग्नि है। इसी प्रकार साहित्य सर्जन में भी मन संकल्पात्मक है और बुद्धि का निर्णय पाकर उत्साह का उत्पादक है जिससे रचना सम्भव होती है।

नवीन मनोविज्ञान कल्पना से चेतन मन का वह प्रयास समझता है जिसके द्वारा वह चेतनोन्मुख मन से उन प्रतिमाओं को निकाल कर अपने स्तर पर लेजाता है जो उसमें दबी पड़ी रहती है। मन की यही क्रियाशीलता जो उसकी संकल्पात्मक वृत्ति के निरोध से निष्पन्न होती है कल्पनात्मक है।[1]

काव्य का रागात्मक तत्व जिसे मनोवेग नाम से पुकारा जाता है, प्रायः वे मनोवेग मानसिक जीवन के प्रमुख अंग बनकर उसी में लीन रहते है। मन मे उठी अकिंचन से अकिंचन क्षणिक तरंग भावों के बिना अपना अस्तित्व ही नहीं रखती। जब हम यह सोचते हैं कि भावों की अभिव्यक्ति की विधि और उनकी संख्या क्या है तो भावों से पहले मन की ओर दृष्टिपात करना अपेक्षित हो जाता है, क्योंकि भावों का सम्बन्ध सीधा मन से ही है। "मन अन्तरात्मा की एक कार्य-कारिणी शक्ति है। अतएव भाव इसी कार्य-कारिणी शक्ति के एक विकार मात्र है।" ये भाव तीन प्रकार के होते हैं—

(१) इन्द्रिय जनित।

(२) प्रज्ञानात्मक।

(३) गुणात्मक।

हमारे शरीर के किसी भाग में कैसा भी विकार क्यों न पैदा हो वह झटिति ही मन को ज्ञात हो जाता है। शरीर की आवश्यकतानुसार उसका संवाद मन तुरन्त ग्राह्य कर उसको पूरा करने के लिये प्रयत्नशील होता है और पूर्ण हो जाने पर आनन्दानुभव तथा अपूर्ण पर दुःख महसूस करता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस भाव को इन्द्रियजनित भाव से सम्बोधित किया है। प्रज्ञानात्मक भाव इस भाव की परिपुष्टि करते हैं। मानव विचारों के लक्ष्य की पूर्ति वाले भाव गुणात्मक होते हैं। इन भावों से मानव मन प्रभावित होता है और भावों के व्यापकत्व द्वारा मन में अनुभूतियों के पुंज के पुंज समा जाते हैं जो संवेगाविष्ट होकर साहित्य में अनुभूति के होते ही मन की स्वाभाविक चरित्र सृष्टि कर डालते हैं।

१—पाश्चात्य साहित्यालोचन—लीलाधर गुप्त पृ० सं० ६२ और ५७

२—साहित्यालोचन—डा० श्याम सुन्दरदास पृ० सं० २५७

उक्त सत्य को दृष्टि में रखते हुये हम साहित्य और मनोविज्ञान का सादृश्य संक्षेप में परिभाषा, मूल प्रेरणा, उद्देश्य और उदात्तभावना को आधार मानकर यहां प्रस्तुत करते हैं :—

(१) **साहित्य और मनोविज्ञान की परिभाषा में समानता**—साहित्य मानव जीवन की अभिव्यक्ति और उनके भावों एवं विचारों का व्यक्त रूप है। मनोविज्ञान भी मानव जीवन का पर्यवेक्षण करता हुआ तत्सम्बन्धी भावों एवं विचारों के अव्यक्त रूप को व्यक्त करता है।

(२) **साहित्य की मूल प्रेरणा से मनोविज्ञाना कसन्निध्य** – सौंदर्यानुभूति के आनन्द का उच्छलन, आत्म-प्रदर्शन और अनुकरण प्रवृत्ति ही साहित्य की मूल-प्रेरणा है। मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार अतृप्त-दमित वासनाओं का साहित्य में मार्गान्तरीकरण ही सौंदर्यानुभूति का प्रस्फुटन है। आत्म-प्रदर्शन में एडलरीय आत्म स्थापनका प्रकारान्तर है, और उसकी अनुकरण प्रवृत्ति फ्राइडियन आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति से मेल खाती है।

(३) **साहित्य और मनोविज्ञान का उद्देश्य**—साहित्य का उद्देश्य मानसिक वृत्तियों को संगठित कर उनमें सामंजस्य स्थापित करना या समाज की विषमताओं के प्रतिक्रिया रूप मानव-मन का अनुभूति के कुछ क्षणों में अपनी दबी-घुटी इच्छाओं को अभिव्यक्त करना मात्र है। मानसिक वृत्तियों का यह सामंजस्य, मनोविज्ञान के इड्, ईगो और सुपरईगो में साम्य स्थापित कर मानसिक संतुलन बनाना है। साहित्य में दबी घुटी इच्छाओं की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता, फ्राइड के अचेतन इच्छाओं का चेतन पर लाकर मानसिक संतुलन बनाने के समान है।

(४) **साहित्य और मनोविज्ञान का उदात्त रूप**—साहित्य मानव की मनोवृत्तियों में समरसता का प्रयत्न उपस्थित कर मनोवेगों को उच्छ्वसित करता है। रागों की यह परिष्कृति, फ्राइडियन विकृत मन की इसी परिशोधन विधि के समान है, जिसमें अतृप्त-दमितेच्छाओं को उन्नयन की ओर मोड़ दिया जाता है।

इस प्रकार साहित्य और मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन दोनों की परिभाषा, मूल प्रेरणा, उद्देश्य और उदात्त भावों के अन्तर्गत समाहित है। हमारे इस मत का प्रतिपादन पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं द्वारा भी इस प्रकार होता है :—

डा० श्याम सुन्दरदास साहित्य में भाव या मनोवेग को ही सब कुछ मानते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनायें भी बड़ी विचित्र और अनोखी हुआ करती हैं। साहित्य मनुष्य के इन्हीं विचित्र भावों, विचारों तथा कल्पनाओं का व्यक्त स्वरूप है।[१]

१—साहित्यालोचन-डा० श्यामसुन्दरदास पृ० २४८

डॉ० गुलाबराय का भी मत यही है। उनके मत में साहित्य जीवन से भिन्न नहीं है, वरन् वह उसका ही मुखरित रूप है, वह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम तरंग है। मानव जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की आत्म कथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है।[1]

इसी प्रकार डा० नगेन्द्र जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भांति साहित्य को भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति मानते हैं।[2]

फ्राइड ने मन में अनुभूति, विचार, इच्छा, अचेतना विचार और अचेतन इच्छायें बतलायी है।[3] मनोविज्ञान मन का विज्ञान है। मानव जीवन मन और शरीर का योग है। मनोविज्ञान का कार्य क्षेत्र मानसिक वृत्तियों अथवा प्रक्रियाओं, व्यवहार में उन प्रक्रियाओं की अभिव्यक्तियाँ, एवं उनकी सहचारी शारीरिक प्रक्रियाओं और उनकी वाह्य उत्तेजनाओं पर परिलक्षित है। निदान, मनोविज्ञान साहित्य की तरह अनुभूति, अचेतना विचार और इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। वह मानव-जीवन की मानसिक शारीरिक एवं वाह्य उत्तेजनाओ की अभिव्यक्तियाँ भी साहित्य की भांति प्रस्तुत करता है।

हीगेल ने मानव के जन्मजात सौंदर्य प्रेम को, उसकी आत्मप्रदर्शन और अनुकरण प्रवृत्ति को साहित्य की मूल प्रेरणा माना है।[4]

डा० यदुनाथ सिन्हा के शब्दों में मनोविज्ञान प्रायः मनुष्यों की सामूहिक मानसिक वृत्तियों के समझने के उद्देश्य को लेकर उनकी परम्पराओं, रीति-रिवाजों, पुराणों, दन्त कथाओं, धर्म और लोक गीतों, भाषा और साहित्य का अध्ययन करता है। ये सामूहिक मन के वाह्य प्रकाशन हैं।[5] हीगेल का साहित्य को प्रस्फुटित करने के लिए सौदर्यानुभूति, आत्म-प्रदर्शन और अनुकरण प्रवृत्ति आदि से प्रेरणा लेना-अतृप्त दमित-काम की अभिव्यक्ति एवं आत्म-स्थापना के मानसिक प्रक्रम द्वारा बाह्य प्रकाशन के समान ही विदित होता है। साहित्य के वाह्य प्रकाशन से साहित्यकार अन्य व्यक्तियों की कल्पनाओं में तादात्म्य करके प्रशंसा का पात्र होता है।

क्रोचे अभिव्यक्ति की अनिवार्यता को साहित्य का मूल कारण बतलाता है। उसका कथन है कि मानव मन में जगत् के नाना पदार्थों के प्रतिक्रिया रूप अनेक छाया

१—सिद्धान्त और अध्ययन-डा० गुलाबराय-पृ० ६६-७०

२—विचार और अनुभूति-डा० नगेन्द्र-पृ० १७ और ११

३—ए जनरल इन्ट्रोडक्शन टू साइकोनेलसिस-फ्राइड (हि० सं०) पृ० ७-८

४—विचार और अनुभूति-डा० नगेन्द्र-पृ० ६

५—मनोविज्ञान-डा० यदुनाथ सिन्हा-पृ० ७

चित्र घूमते रहते हैं, अनुभूति के कुछ विशेष क्षणों में उनको अभिव्यक्त करना स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य हो जाता है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्यता काव्य या कला की जननी है। साहित्य को सर्जन की आवश्यकता मानने वाला सिद्धान्त इसी मूल सिद्धान्त की एक शाखा मात्र है।[1]

इसी प्रकार रिचर्डस साहित्य का उद्देश्य मन की वृत्तियों को संगठित कर उनमें सामंजस्य स्थापित करना बतलाता है।[2]

वुडवर्थ के अनुसार सभी अभिव्यक्तियाँ सक्रिय व्यापार हैं और सभी मनोवृत्तियाँ मानसिक धर्म हैं। प्राणी मात्र के जीवन पर आधारित रहने के कारण अनुभूतियाँ भी सक्रिय व्यापार है।[3] इन्हीं अभिव्यक्तियों द्वारा साहित्य के माध्यम से साहित्यकार मनोवृत्तियों का स्पष्टीकरण करता है जिससे उसका स्वास्थ्य बना रहे और मानसिक संतुलन बना रहने के कारण उसका एवं जन-समुदाय का भला हो।

आचार्य शुक्ल के मत में साहित्य का उदात्त रूप है—रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करना, हमारे मनोवेगों को उच्छ्वसित करते हुए हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देना। मन को रमाते हुए स्वभाव संशोधन तथा चरित्र संशोधन करना। यह बात रागों के परिष्कार में आ जाती हैं।[4]

रिचर्ड्स की धारणायें इससे बहुत भिन्न नहीं है उनके मत में किसी वस्तु की मानव-भावना और इच्छा के परितोष की शक्ति ही उसके मूल्य की कसौटी है। इस परितोष के लिए आवश्यक है, मनोवृत्तियों की उन्नति, जो मनुष्य के जीवन का सतत प्रयत्न रहा है।

जीवन में समरसता लाने का प्रयत्न ही मानव जीवन का शाश्वत कर्तव्य है। यह अन्विति (समरसता का प्रयत्न) अनजाने अवचेतन या अचेतन अवस्था में होती रहती है—प्रायः दूसरों के प्रभाववश, और इस प्रभाव का प्रमुख साधन है—कला और साहित्य।[5]

मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के जीवन का उत्थान उसकी मनोवृत्तियों के ऊर्ध्वगमन में है और विनाश प्रतिगमन में। साहित्य में मनोवेगों को परिष्कृत कर

१—विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र—पृ० ७
२—प्रिंसीपल आव् लिट्रेरी क्रिटिसिज्म—रिचर्डस पृ० ४६
३—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा (हि० सं०)—पृ० सं० ६
४—विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र—पृ० ८८
५—विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र—पृ० ८६

उच्छ्वसित करना ऊर्ध्वग ही है। इड् और ईगो का सामंजस्य ही समरसता का प्रयत्न है। इस समरसता के उपरान्त ही दमितेच्छायें उदात्त-भावों में परिवर्तित होती होती हैं जिससे मानव जीवन का पर्युत्थान होता है।

निदान, साहित्य का जीवन से सम्बन्ध है, एक क्रिया रूप से, दूसरा प्रतिक्रिया रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है, सृष्टि है। प्रतिक्रिया रूप में वह उसका निर्माता और पोषक है। जीवन की मूल भावना है-आत्म रक्षण, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है। आत्म रक्षण के उपायों में सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है, अतः क्रिया रूप में साहित्य आत्म रक्षण अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का संचित कोश बन जाती है तब प्रतिक्रिया रूप में मानव-जीवन का पोषण और निर्माण करती है।[1] निष्कर्षतः साहित्य जीवन के निकट है। डा० देवराज उपाध्याय साहित्य की भाँति मनोविज्ञान का भी जीवन से अविच्छेद्य सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। उनके मत में-मनोविज्ञान अन्तिम विश्लेषण में जीवन शब्द का पर्यायवाची हो जाता है, क्योंकि जिसे हम जीवन कहते हैं वह अधिकांश रूप से हमारे मनोजगत् की सूक्ष्मता की वस्तु है।[2]

कि बहुना, साहित्य के जिन प्रकाण्ड पण्डितों मापदण्ड पहले उद्धृत है, वे हीगेल, क्रोचे, रिचर्ड्स, आचार्य शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० नगेन्द्र और डा० गुलाबराय हैं। इन साहित्यिकों के उक्त सिद्धान्त फ्राइड, एडलर और युंग के कला सम्बन्धी विचारों से ओत-प्रोत हैं। हीगेल की सौन्दर्य सम्बन्धी काव्य की मूल प्रेरणा फ्राइड की कला सम्बन्धी अमुक्त-काम-प्रेरणा के अनुरूप है। क्रोचे की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता, युंग की रचनात्मक वृत्ति ही कला सर्जना की प्रेरणा वाले सिद्धान्त से तादात्म्य किये हुए है। डा० नगेन्द्र का आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मरक्षण का मत युंग के जीवनेच्छा से सम्बन्धित है सभी उन्होने साहित्य को आत्म रक्षण या जीवन का एक सार्थक प्रयत्न माना है।

रिचर्ड्स के अनुसार जीवन में समरसता लाने का प्रयत्न जो कि अनजाने में अचेतन स्तर पर स्वभावतः होता रहता है, जिसका प्रमुख साधन साहित्य है, वह इड् और ईगो की प्रतिक्रिया का समीकरण मात्र है। साहित्य में समरसता का समावेश मनोविज्ञान के मानसिक संतुलन बनाने के समान है।

आचार्य शुक्ल का मनोवेगों को उच्छ्वसित करते हुए जीवन में नया जीवन डालना फ्राइडियन उदात्तीकरण के अनुरूप है।

१—विचार और अनुभूति डॉ० नगेन्द्र—पृ० १७ और ११

२—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय पृ० ५

युंगीय जीवनेच्छा की व्यापकता के समान, डा० गुलाबराय का साहित्य और जीवन का अविकल सम्बन्ध, प्रतीत होता है।

हीगेल का साहित्य द्वारा आत्म-प्रदर्शन और डा० श्यामसुन्दर दास का मनुष्य के विचित्र भावों, विचारों तथा कल्पनाओं का व्यक्त स्वरूप एडलरीय अभावग्रस्तता या क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया का द्योतक है।

यों तो इन सभी विद्वानों की मान्यतायें नवीन मनोविज्ञान के प्रणेताओं से कुछ न कुछ सादृश्य रखती ही हैं, परन्तु भारतीय साहित्य-मर्मज्ञों के साहित्य सम्बन्धी विचार अन्त में युंग पर ही आकर घुल-मिल जाते हैं। क्योंकि उनका कला सिद्धान्त फ्राइड के अतृप्त-काम एडलर के हीनत्व भाव और स्वयं की रचनात्मक-वृत्ति से कला सर्जन की प्रेरणा को समेट कर सबमें सामंजस्य स्थापित करने में सफल हुआ है। भारतीय साहित्य भी इसी सामंजस्य का सर्जन-मात्र है।

संक्षेप में फ्राइड ने मन के अन्तराल में जो कुछ रखा है। वह डा० श्याम-सुन्दर दास और डा० गुलाबराय के साहित्य सिद्धान्त में भी स्वभाव से स्थानापन्न है। वुडवर्थ द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान के कार्य क्षेत्र और अध्ययन की सामग्री साहित्य में भी बिना प्रयास के स्वाभाविक रूप में प्राप्त हो सकती है। मनोविज्ञान सम्बन्धी मानवीय व्यापार, मनोवेग, मानसिक क्रियायें, अनुभूतियाँ आदि सभी साहित्य की पृष्ठभूमि के एक सारगर्भित पहलू हैं। निष्कर्षतः साहित्य और मनोविज्ञान का अभिन्न सम्बन्ध है। मनःशास्त्रियों को भी यह मत स्वीकार है। इसी आधार पर (अरनेस्ट आर० ग्रूव्ज) ग्रूव्ज और (फिलिस ब्लैंचर्ड) लैंब्चर्ड ने साहित्य और मनोविज्ञान में तादात्म्य दिखाते हुए लिखा है कि साहित्य के द्वारा हम अपनी वांछित एवं अवांछित कामनाओं की तृप्ति हेतु विरेचन पद्धति का सुअवसर उपलब्ध करते हैं। आधुनिक दाम्पत्य जीवन की प्रेम कहानियों को पढ़ कर हम अपनी दमितेच्छाओं की पहेली बुझाने में समर्थ होते हैं। साहित्य के साधारणीकरण के आधार पर हम वास्तविक जगत से हटकर साहित्यिक संसार में मनोविज्ञान के तादात्म्यीकरण (आइडेन्टीफिकेशन) की भाँति प्रेमी, प्रेमिका, माता पिता, वीरांगना, त्यागी तपस्वी आदि सभी कुछ बनने में समर्थ होते हैं। इस तादात्म्य में हमें जीवन में आने वाली सामाजिक तथा अन्य विषमतायें और भयावह बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता। प्रायः उनसे हम विमुक्त होकर किंचित् काल के लिए उस ही उत्कृष्ट आनन्द की अनुभूति कर लेते हैं। जिसकी कि वास्तविक जगत् में अनुभूति कर पाते, किन्तु बड़े बलिदान के उपरान्त।[1]

फ्राइड का कला विवेचन— फ्राइड, एडलर और युंग ने मनोवैज्ञानिक-दृष्टि

1—Introduction to mental Hygiene—By Ernest R. Groves and phyllis Blemchard pp. 344.

से कला या साहित्य का उद्भव और उद्देश्य उपस्थित किया है। तत्सम्बन्धी मान्यताओं को सक्षेप मे हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यहाँ यह अवेक्षणीय है कि इन मनः-शास्त्रियों ने साहित्य को कला के अन्तर्गत माना है। अतः विवेचन में कला शब्द का प्रयोग हमने साहित्य के लिए ही किया है।

कला या साहित्य के सर्जन में फ्राइड का प्रमुख सूत्र, अभुक्तकाम की प्रेरणा है। उसके मतानुसार काव्य और स्वप्न का एक ही स्रोत है। अज्ञात मन में पड़ी अभुक्त-काम-वासना जैसे स्वप्न में मनोरम छाया-चित्रों को अद्भुत ढंग से सर्जित करती है, वही अतृप्त-काम-वासना काव्य में भाव-चित्रों की प्रजनन शक्ति है। जब हमारी वासना को सामाजिक वर्जनाओं के कारण प्रत्यक्ष जीवन में तृप्ति उपलब्ध नहीं हो पाती, तब वह अज्ञात मन मे जाकर भावना ग्रंथि का रूप बना लेती है, और ज्ञात मन की जागरूकता के अभाव में वह अपने को तृप्त करने के लिए लाला-यित हो उठती है। यह अवस्था स्वप्न की अचेतनावस्था या काव्य-सर्जन की चेतनो-न्मुखी तन्मयता की अवस्था कही जाती है। फ्राइड का कथन है कि—

"प्रत्येक व्यक्ति मानव समुदाय में जन्म लेकर आम जनता की भलाई के लिए अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सुखों का त्याग करता है और इस तरह सभ्यता का निर्माण सदा आगे बढ़ता जाता है। इस काम में आने वाली सबसे महत्व की वस्तु मनुष्य स्वभाव की वे शक्तियाँ हैं जिन्हें हम यौन-शक्तियाँ या काम आवेग कहते हैं। ये शक्तियाँ इस तरह ऊँचाई की ओर उठ जाती हैं अर्थात् उनकी कार्य शक्ति या ऊर्जा अपने यौन उद्देश्य से हटकर दूसरे उद्देश्यों की ओर मुड़ जाती है। इतना ही नही इन काम आवेगों ने मनुष्य के मन को संस्कृति कला और समाज के क्षेत्रो में, ऊँची से ऊँची उन्नति करने में कीमती मदद की है।[1]

काम वासना के दमन के दो परिणाम निकलते है। उसकी शक्ति का उच्चतम कार्यो में प्रकाशन अथवा उसकी विकृत रूप में अभिव्यक्ति। काम-वासना शक्ति का उच्चतम कार्यों की ओर उन्मुख होना उर्ध्वगमन (शोध) और विकृत प्रकाशन का प्रतिगमन पुकारा जाता है। मानवता का विकास इस उर्ध्वगमन या उदात्तीकरण में तथा उसका सर्वनाश प्रतिगमन में निहित होता है।

साहित्य में काम वासना के मार्गान्तरीकरण का उत्कृष्ट स्पष्टीकरण टेन्सले के शब्दों में इस प्रकार है—

मानव के जीवन की मार्मिक और घातक घटनाओं का मूल कारण काम वासना का दमन करना ही है। यदि मानव की कामुकी प्रवृति की तृप्ति के सामान्य पथ में किसी प्रकार की बाधायें उपस्थित न हों तो अन्तर्द्वन्द्व का प्रश्न ही नहीं उठता

१—ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइकोनेलसिस—फ्राइड पृ० सं० ८

जो बहुधा उत्पन्न होता है। किन्तु इसी वासना की अपार शक्ति के अवरोध से मानव के संवेगात्मक जीवन में उत्कर्ष के दर्शन हुए हैं, और इसी कामेच्छा की शक्ति से समाज संस्कृति और सभ्यता फली-फूली है।

काम वासना के दमन से जहाँ एक ओर काम की तृप्ति करने वाला कलुषित साहित्य, हास, परिहास की बातें एवं ऐसे साहित्य का सर्जन हुआ है जो जन-साधारण में प्रचलित है और जिनके अध्ययन से परोक्ष रूप में अदृष्ट कामेच्छा की तृप्ति होती है, वहाँ दूसरी ओर काम-वासना के दमन के फलस्वरूप अनैसर्गिक आनन्द, महान् दुःख, वेदना की अनुभूति, विभिन्न प्रकार की मानसिक वेदनायें और विलक्षण प्रयासों की उत्तेजना, मनोज्ञ हृदयग्राही संगीत, तादात्म्य से परिपूर्ण साहित्य, शिल्प, कला आदि का सर्जन पाया गया है।[1] साहित्य के उद्भव को सुस्पष्ट करने के लिए फ्राइड रचनात्मक कृतियों को मन के तीन स्तरों से सम्बन्धित करते हैं। कला या साहित्य की मूलोत्पत्ति फ्राइड के अहं सिद्धान्त से सिद्ध होती है। इदं (इड) और अज्ञात मन तथा अहं (ईगो) और ज्ञात मन में करीब-करीब साम्य होते हुए भी हम उन्हें परस्पर तद्रूप नहीं कह सकते। इदं ऐन्द्रिक वासना तृप्ति सिद्धान्त से शासित है।

नैतिक मन अव्यक्त रूप में मानव की क्रियाओं की आलोचना बहुधा नैतिकता के आधार पर किया करता है। परिणाम यह होता है कि अहं में एक अव्यक्त अपराध-भाव जागृत हो उठता है और अहं अपनी अक्षुण्णता बनाने के लिए इस भाव का दमन कर बैठता है। मन का यह भाग अन्तःकरण का पर्याय समझा जाता है। इदं का परिष्कार अहं और अहं का परिष्कार आदर्श अहंकार होता है। अहंकारादर्श के फलस्वरूप अन्तरात्मा (Consciounce) का बोध होता है। इस भाँति अहं और अहंकारादर्श का भी द्वन्द्व हो जाता है। अहं तो तथ्य सिद्धान्त से आगे नहीं बढ़ता। पर अहं का आदर्श तथ्य को ही कसौटी न मानकर आदर्श की कल्पना करता है।

बालक समर्थ होने पर संसार के यथार्थ रूप को समझने लगता है और उसका इदं अहंकार से विकसित हो जाता है। अहं नैतिकता, संस्कृति, धर्म और सभ्यता के नियमानुसार इदं की अनियन्त्रित और आदिम प्रवृत्तियों का अवरोध कर उसकी अवांछनीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के स्रोत में दृढ़ बांध लगा डालता है।

फ्राइड के मतानुसार इदं और अहं का यह संघर्ष ही स्नायु-व्यतिक्रम (Neurosis) के रोग का कारण होता है। और प्रत्येक कलात्मक रचना स्नायु-व्यतिक्रम

1—New psychoogy—Tansley pp. 266
(The immensely——music, literature and plastic art)

की शोध है। स्नायु व्यक्तिक्रम किसी व्यक्ति को तभी होता है जब वह अपने और समाज के मध्य संघर्ष से उत्पन्न हुई विषमताओं एवं कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकता।

फ्राइड की स्थापना के अनुसार हम अपनी सभ्यता की मांगों के कारण अपना जीवन यापन कुण्ठाओं और वर्जनाओं के निरन्तर दबाव में करते हैं। वास्तविकता को इदं अथवा अवचेतन की माँगों के विपरीत पाकर हम बहुधा एक काल्पनिक लोक की सृष्टि करते हैं जिसमें हमारे वास्तविक जगत की क्षतियों की पूर्ति हो जाती है। जो व्यक्ति अपनी इन कल्पनाओं को प्रयत्न और परिश्रम द्वारा वास्तविकता में परिणत कर लेता है, वह जीवन का संघर्ष का सफल योद्धा सिद्ध हो जाता है। दूसरी ओर असफल व्यक्ति अपनी कल्पना के जगत् ही में आश्रय खोजता रहता है। इस प्रकार असफल व्यक्ति के पास यदि रचनात्मक शक्ति (Creative talent) है तो वह अपनी कल्पनाओं को कलाकृति के रूप में एक नयी वास्तविकता में ढाल देता है।[1]

इस भाँति कलाकार उदात्तीकरण द्वारा वास्तविकता के आनन्द में परिणत हो जाता है। ऐसा करने से वह स्नायुव्यतिक्रम (न्यूरोसिस) से अपनी सुरक्षा कर लेता है। स्नायु व्यतिक्रम के रोगी की तरह कलाकार अन्तर्मुखी व्यक्ति है वह कल्पना के संसार द्वारा वास्तविक संसार की झाँकी कैसे करता है, इसे फ्राइड ने इस प्रकार समझाया है:—

"कलाकार अन्य व्यक्तियों के अज्ञात मन में पड़ी हुई दमितेच्छाओं की तृप्ति का पन्थ उनकी कल्पनाओं में अन्वेषण करके उनके द्वारा धन्यवाद और प्रशस्ति के पाने का अधिकारी हो जाता है। इस शोध क्रिया द्वारा अपनी कल्पना से सम्मान, श्रद्धा और रमणी का दुलार आदि सभी उपलब्ध कर लेता है, जिसको वह केवल अपनी कल्पना मात्र में ही बसाये हुये था।"[2]

संक्षिप्त रूप में सांसारिक आदर्शपूर्ण वास्तविकता जिसे हेय समझती है एवं निकृष्ट जानकर वर्जित करने को बाध्य करती है, कला मार्गान्तरीकरण द्वारा उसकी पूर्ति करने में सुगमता के साथ अग्रसर होती है।

फ्राइड के कला विवेचन से प्रेरित भारतीय विद्वानों ने साहित्य और मनोविज्ञान सम्बन्धी जो मान्यतायें प्रस्तुत की हैं वे निम्न प्रकार से है। डा० नगेन्द्र के अनुसार —"स्वस्थ रूप में काम का उपभोग न कर जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है, और अस्वस्थ रूप में काम अभुक्त रहकर

१—इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइकोएनालिसिस—सिगमंड फ्राइड पृ० सं० ३१५ (सातवीं आवृत्ति)

२— ,, ,, ,, ,, ३१५

साहित्य के मूलवर्ती भाव चित्रों की सृष्टि करता है। साहित्य शास्त्र का हीगेल वाला सिद्धान्त जो सौंदर्य प्रेम को काव्य की मूल प्रेरणा स्वीकृत करता है इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है।"[१]

डा० गुलाबराय इर्द में पड़ी हुई दमितेच्छाओं के निष्कासन मार्गों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"इन निकास के मार्गों में मुख्य हैं—स्वप्न, दैनिक भूलें और हंसी मजाक। कला और काव्य भी इन्हीं निकास के मार्गों में हैं। किन्तु ये अधिक परिष्कृत और परिमार्जित हैं। साहित्य और कविता में वासना का पर्युत्थान (Sublimation) हो जाता है। जैसा निराश प्रेम का देश प्रेम में पर्युत्थान हो जाता है। वैसे ही ईश्वर प्रेम या प्रकृति प्रेम के रूप में वह साहित्य में आ जाता है।"[२]

डा० रवीन्द्र सहाय का कथन है कि फ्राइड के अनुसार कला मानव की आदि प्रवृत्तियों को एक ऐसा मोड़ दे देती है जहाँ उनका बाह्य जगत् से कोई संघर्ष नहीं रहता। कला मानव की उन मूल प्रवृत्तियों का उन्नयन अथवा श्रेष्ठीकरण (Sublimation) है जो समाज द्वारा वर्जित है। समाज अवचेतन की दमितेच्छाओं को उनके मौलिक रूप में किसी स्थिति में स्वीकार नही कर सकता। अतः उनमें अभिव्यक्ति के लिए रूप परिवर्तन आवश्यक है। फ्राइड के अनुसार कला ऐसे रूप परिवर्त्तन अथवा श्रेष्ठीकरण का ही एक अंग है।[३]"

मैकडूगल के अनुसार भी साहित्य हमारी किसी भी विकृति की सहज प्रेरणा का उदात्त स्वरूप है जिसको फ्राइड ने भी स्वीकार किया है।

फ्राइड के मत में साहित्य ओडिपस-ग्रन्थि की शक्तियों के निर्गम का प्रतिनिधि भाव है अर्थात् असफल-काम-वासना का उदात्त निर्गम है। इसी को आधार मान कर फ्राइड ने स्वैरवादी स्वातंत्र्य का समर्थन करते हुए एक स्थल पर कहा है कि सब प्रकार की दबी हुई वासनाओं, निषेधों और तृप्तियों को निकाल डालो, कुछ भी मन में न रक्खो जो कुछ भी मन में हो खुलकर कहो, नहीं तो तुम्हारी कला झूठी हो जायेगी।[४] अतृप्त-दमित-वासनाओं के अभिव्यक्ति-करण की यह विधा साहित्य और मनोविज्ञान के दोनों मनीषियों को मान्य है।

१—विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र पृ० सं० ८

२—सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाबराय पृ० सं० ७०

३—पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव—डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा—पृ० सं० ११४ सन् १९६०

४—समीक्षा शास्त्र आचार्य सीताराम चतुर्वेदी पृ० सं० २१४-१५ और पृ० १२६६

फ्राइड की कला सम्बन्धी स्थापनाओं का निष्कर्ष—(१) कला हमारी उन्नत-काम-शक्ति (Sublimated libido) के जल से सिंचा हुआ पौधा है। या यों कहिए कि कला में सदैव अज्ञात मन की उन्नयन की कार्य-पद्धति विशेष सक्रिय रहती है।

(२) कलाकार में पहले ही जब तक काम-वृत्ति की अपेक्षा वृतियों एवं भावनाओं का उन्नयन नहीं किया रहता है, वह कलाकार नहीं रह सकता। उन्नयन की कार्य-पद्धति कला के लिए विशेष महत्व की है। यह क्रिया स्वतः चलती रहती है, इसकी चेतना हमें नहीं होती। पर इस प्रक्रम से हमारी प्रकृत इच्छायें परिष्कृत एवं परिमार्जित हो जाती हैं। तभी कला हमारे जीवन और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होती है, क्योंकि कला एक ओर हमारी अतृप्त मूल प्रवृत्तियों का समाधान करती है और दूसरी ओर जीवन को पूर्ण बनाने की स्वाभाविक इच्छा को पूरी करती है।

(३) अज्ञात मन में उठे भूचाल, तूफान और व्यथा वेदनायें ही कलाकार की कल्पना के मूलाधार होते है। किन्तु इस अन्तःसंघर्ष के जन्मदाता अहं, इदं और नैतिक अहं ही हैं।

(४) कलात्मक कृति अपनी रूप व्यवस्था और अपना ऐक्य अहंकार से पाती हैं, क्योंकि अहं ही इदं की प्रेरणाओं की आलोचना करता है और अपने मानदण्डों के अनुसार उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकृत करता है, तभी तो फ्राइड ने अहंकार को तथ्य सिद्धान्त का साक्षात्कार कहा है। इसी सिद्धान्त के आधार पर ही हम कला को अहं के समाजीकरण का अस्त्र कहते है।

(५) कलात्मक कृति अपने नैतिक और सामाजिक उद्देश्य आदर्शाहम् से पाती है, क्योंकि आदर्शाहं ही आध्यात्मिक आकांक्षाओं, नैतिक और सामाजिक आदर्शों का प्रजनन करता है। इन्हीं आकांक्षाओं और आदर्शों के प्रकाश में आदर्शाहंकार कृति की आलोचना करता है।

(६) हमारी दमितेच्छाओं के प्रतीक बनकर जिस प्रकार स्वप्न आते हैं, उसी भाँति हमारी अतृप्तेच्छायें नग्न रूप में न आकर प्रतीकों द्वारा कला या साहित्य में व्यक्त होती हैं।

एडलर की कला सम्बन्धी मान्यतायें—एडलर के मतानुसार कला उच्चता के भावों से सम्पन्न अन्तर्जात प्रवृत्ति की शोधिता है। व्यक्तित्व का नियमित विकास न होने पर हीन भाव का आधिपत्य स्वाभाविक है। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए व्यक्ति में उच्चता के भाव जागृत हो उठते हैं। उच्चता का यह भाव सामाजिक मानदण्डों से दमित होने के कारण अज्ञान मन में स्थानापन्न हो जाता है। सामान्य जन समुदाय समाज की विषय परिस्थितियों से कारण उच्चता के भाव से

प्रेरित क्रियायें प्रत्यक्ष रूप में नहीं कर पाता। किन्तु कलाकार आत्मोत्कृष्टता की अभिव्यक्ति अत्यन्त गम्भीरता के साथ करता है। "स्नायुव्यतिक्रमी अपनी कल्पनाओं को कलाकार जैसा रूप देने में असफल रहता है और विक्षिप्त हो जाता है।"[1]

डा० पद्मा अग्रवाल के शब्दों में एडलर की कला सम्बन्धी मान्यता कायिक दोषों के निवारण का साधन है। आरम्भ में यह कायिक दोष हीनत्व ग्रन्थि बनाता है। पर आत्म स्थापन के इच्छा-बल से प्रेरित होने पर वह अपनी कमी को पूरा करने की चेष्टा करता है। फलतः ऐसी दशा में कला की सर्जना होती है। इस प्रकार कला दोष युक्त अंगों की पूरक क्रिया कही जा सकती है।[2]

डा० नगेन्द्र ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है। उनके शब्दों में एडलर साहित्य के मूल-कीटाणु क्षतिपूर्ति की कामनाओं में खोजता है। उसके अनुसार समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है जो हमें जीवन में अप्राप्त है, उसी को हम कल्पना में खोजते हैं। जीवन की क्षणिकता, जीवन के अशिव और उसकी कुरूपताओं से हार मानकर ही तो मानव ने सत्य, शिव, सुन्दर की कल्पना की थी। वास्तव में हमारा आदर्श हमारी हीनता का ही तो प्रतिक्रिया रूप है। जीवन में त्रिविध दुःख की अनिवार्यता ही ब्रह्मानन्द कल्पना की जननी है। सामयिक जीवन में गौ, ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गौ-ब्राह्मण-प्रतिपाल, दुष्ट-दलन राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष जीवन में सौंदर्य उपभोग से वंचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौन्दर्य के चित्र आँके। पलायन का चिर परिचित सिद्धान्त इसी का एक प्रस्फुटन है।[3]

डा० गुलाबराय ने कबीर, जायसी का कवि बनने का श्रेय इसी हीनता ग्रन्थि को दिया है।[4] हिन्दी के महाकवि सूर, तुलसी और भूषण भी इसी हीनत्व कुण्ठा की क्षतिपूर्ति के द्वारा ही उत्कृष्ट कवि बन पाये हैं।

युंग का कला सम्बन्धी सिद्धान्त—युंग की रचनात्मक प्रक्रिया में फ्राइड और एडलर की कला पद्धति का समावेश है। युंग के अनुसार मन की अन्तर्व्यावृत्ति दो विरोधी वृत्तियाँ है। एक विशेष आन्तरिक क्रियाशीलता इन दोनों में साम्य स्थापित कराती है। इसी ही क्रियाशीलता को युंग ने सक्रिय कल्पना नाम से पुकारा है। यही सक्रिय कल्पना क्रिया में सर्वदा सन्निहित रहती है और यही कल्पना अर्वाचीन समस्याओं का सुलझाव और अनागत योजनाओं की पथ-प्रदर्शिका है। सक्रिय कल्पना अचेतन और चेतन

१—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर गुप्त पृ० ६८
२—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० १६०
३—विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र पृ० सं० ८-९
४—सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाबराय—पृ० सं० ७०, ७१

तत्वों के संश्लेषण को ऐसा रूप दे देती है जो भावों और रूप सौष्ठव के कारण मानव-मात्र को रुचिकर हो। इस कलात्मकता के कारण सक्रिय कल्पना में कलात्मक मनोसामर्थ्य का गुण है। इस भांति जब दोनों वृत्तियाँ मिलान खा जाती हैं, तब वे कला का सर्जन करती है।

युंग के मतानुसार समष्टि अचेतन मन में सर्जना का बीज स्थानापन्न होता है और इसी बीज के अंकुर कला रूप मे अंकुरित होते हैं। अज्ञात समष्टि मन कला का केन्द्र है। इसमें जो प्रतिमायें अथवा स्मृतियाँ वास करती हैं, वे प्रमुखतया कला के ही विषय एवं भावों से सम्पन्न होती हैं। जिस कलाकार का समष्टि अचेतन मन से तादात्म्य स्थापित हो जाता है वह उच्चकोटि का कलाकार होता है।

युंग के शब्दों में विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान कला के रहस्य को तब तक नहीं जान सकता जब तक वह चिकित्सक बुद्धि से मुक्त नहीं होता, क्योंकि कला मानसिक रोग नही है। जैसे पौधे के निर्माण में मिट्टी का स्थान है वैसे ही कला की रचना में मानव के व्यक्तिगत लौकिक अनुभव नगण्य ही है, क्योंकि कला सामयिक और संकीर्ण व्यक्तिगत भावों से उठकर अनन्त के स्वतन्त्र वातावरण मे विचरण करती है।[1]

निष्कर्षतः कला की सृष्टि मानव के दबे आवेगों के प्रकाशन से होती है और मानसिक रोग भी दबे आवेगो के परिणाम हैं। परन्तु जहाँ कला उन आवेगों का परिष्कृत रूप है, वहाँ मानसिक रोग उनका विकृत रूप है।

युंग ने कला को दो प्रकारों में विभाजित किया है—

१—चेतन और

२—अचेतन मन से प्रेरित।

चेतन मन की प्रेरक कला में कला पक्ष की प्रधानता और तत्कालीन देश काल की परिस्थितियाँ ध्यान में रहती हैं। अचेतन मन की प्रेरक कला में भाव, भाषा और शैली की अनिवर्चनीय विलक्षणता होती है।[2]

युंग के व्यक्तित्व विवेचन के अनुसार भावात्मक व्यक्तित्व का कलाकार काव्य में अमौलिक शास्त्रीय रचयिता कहलाता है। भावात्मक अन्तर्मुखी कलाकार काव्य में आत्माभिव्यंजना करने वाला होता है। ऐसी प्रकृति का कलाकार विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न स्वच्छन्दतावादी लेखक सिद्ध होता है। संवेदनात्मक बहिर्मुखी भोग, सुख का इच्छुक, कामुक, उच्छृङ्खल इच्छाओं का पोषक होता है। संवेदनात्मक अन्तर्मुखी काव्यकला, कला, संगीतप्रिय कलाकार होता है। यह आनन्दप्रिय और आनन्दो-

---

1—Contributions to analytic pshchology—Jung pp. 233, 234
2—Contributions to analytic psychology—Jung page 239

पभोगी होता है। अन्तर व बोधात्मक बहिर्मुखी कलाकार उच्चकोटि का कवि होता है। अन्तर व बोधात्मक अन्तर्मुखी कलाकार स्वच्छन्द, विलक्षण तर्कहीन कृतिकार सिद्ध होता है।[1]

डा० गुलाबराय के मत में युंग की कला सम्बन्धी धारणा भारतीय दृष्टि-कोण के अधिक निकट आती है।[2] क्योंकि युंग की जीवन सम्बन्धी मूल प्रेरणा जीवनेच्छा है, जिसमें पुत्र, वित्त और लोकैषणायें जीवन इच्छा की शाखायें हैं, भारतीय साहित्य भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक सद्प्रयास है। अतः इन दोनों का लक्ष्य प्रायः एक है।

हिन्दी साहित्य और मनोविज्ञान—हिन्दी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में यौन-मनोविज्ञान केन्द्र बिन्दु बनकर रहा है। नारी के प्रति विरक्ति एवं आशक्ति ये दो काम प्रवृत्ति की विरोधी भावनायें आदिकाल में साथ साथ चली हैं। वीरगाथा और सिद्धों के साहित्य में कामाशक्ति एवं नाथ सम्प्रदाय के साहित्य में काम विरक्ति पायी जाती है। भक्ति काल में विरक्ति के आधारभूत यही काम उन्नयन की ओर मोड़ खा गया है। रीतिकाल में काम का प्रकृत रूप सामने आता है, उसमें अव्यवस्थित इड् की पूर्ण तृप्ति परिलक्षित होती है।

हिन्दी साहित्य के इन कालों के सम्बन्ध में हमारे इस कथन का समर्थन डा० शैलकुमारी के मत में भी मिलता है। उनकी स्थापना है कि विरक्ति और विलास-जनित नारी भावना का बीज हमें आदिकालीन काव्य में मिल जाता है। काम के दमन से नारी के प्रति विरक्ति की भावना और अस्वस्थ प्रबलता से भोग की भावना का जन्म होता है। भक्ति काल और रीतिकाल में हम क्रमशः इन दोनों का विकास देखते हैं।[3] फलतः हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही मनोविज्ञान की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है। परन्तु यहाँ यह अवेक्षणीय है कि डा० देवराज उपाध्याय ने हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के प्रारम्भ के सम्बन्ध में अपना कुछ भिन्न मत प्रकट किया है। उनका कथन है कि यों तो साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का पुट रहता ही है परन्तु हिन्दी में भक्ति काल के प्रारम्भ से हम मनोवैज्ञानिकता की झलक स्पष्ट पाते हैं। सूर और तुलसी के काव्य में अनेकों स्थल हैं जहाँ मनोवैज्ञानिकता का निर्देशन और चमत्कार इतना स्पष्ट है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि वे जीवन के गहनतम अनुभव और निरी-क्षण के आधार पर उसी भूमि पर पहुँच गये थे जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान अथवा

1—Psychiatry for everyman—J. A. C. Brown pp. 96, 97 (Newyork 1947)

२—सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाबराय—पृ० सं० ७१, ७२

३—आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना—डा० शैलकुमारी—पृ० सं० ५, ६

उससे प्रभावित साहित्य पहुँचता है ।[१]

डा० देवराज उपाध्याय के इस कथन से हम पूर्णतया सहमत है कि सूर और तुलसी ने अपने साहित्य मे मनोविज्ञान को प्रश्रय दिया है, किन्तु जहाँ वे भक्तिकाल के केवल प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य मे मनोवैज्ञानिकता स्पष्टतया बतलाते है, अर्थात् भक्तिकाल से पूर्व मनोविज्ञान की धारा स्पष्ट नहीं मानते, वहाँ हमारा मत उनसे भिन्न है । हमारे मत में मनोवैज्ञानिकता हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे भी सुस्पष्ट थी, क्योंकि हिन्दी साहित्य के आदिकाल की रचनाओं में समाये हुए अहंवाद और तत्कालीन वर्णित युद्ध का परिणाम या कारण विवाह, ये दोनों उपक्रम क्रमशः मनोविज्ञान के अहं और काम प्रवृत्ति के परिचायक हैं । वीर गाथाओं की रचनाओं के अतिरिक्त सूर और तुलसी से पूर्व विद्यापति ने काम प्रवृत्ति की विभिन्न उपपत्तियों का निर्देशन जो अपनी शृंगारिक-रचनाओं में किया है, वह मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार सूर और तुलसी से किसी प्रकार हीन सिद्ध नहीं होता ।

वीर गाथा काल में अहं और कामप्रवृत्ति का समन्वय—हिन्दी साहित्य के आदिकाल में फ्राइडियन अहं और काम प्रवृत्ति (सैक्स) का सुन्दर समवन्य हुआ है । वीर-गाथाओं का युग योरुप के सामन्तवाद के अनुरूप है । योरुपीय मध्ययुगीन सामन्तवाद के अहं की भाँति वीरगाथाओं के युग में भी अहं का विकास पराकाष्ठा पर पहुंच गया है । वहाँ इड् और अहं में सन्धि प्रतीत होती है । ऐसा विदित होता है कि जैसे वहाँ नैतिकाहं का आधिपत्य इड् और ईगो को लेशमात्र भी मान्य नहीं, तभी तो अहंकार से भरे वीरत्व की ओट में इड् अपनी तृप्ति करता हुआ पाया जाता है, और नैतिकाहं की एक नहीं चलती दीखती ।

इस मनोवृत्ति का प्रमाण हमें, "वीर की सुन्दरी के अधिकारी है" वीरगाथा काल के इस सिद्धान्त वाक्य मे मिलता है । इस युग में युद्ध का परिणाम या कारण, पूर्णतया विवाह पर ही अवलम्बित है । अतः विवाह के फलस्वरूप सैक्स, और युद्ध के बावजूद अहं की अवतारणा इन रचनाओं में सुस्पष्ट है ।

हमारे इस कथन का प्रतिपादन डा० नगेन्द्र द्वारा भी हो जाता है । उनके मतानुसार भी इस युग में अहंवाद का जन्म हुआ है, जो सामन्तवाद का मानसिक पक्ष था । उस अहंवाद की दो मूल प्रवृतियां थीं—अधिकार और आत्माभिमान । काम के क्षेत्र में प्रवेश पाकर इन्ही दोनों प्रवृतियों में नारी ने वीर गाथाओं के शौर्याश्रित शृंगार को जन्म दिया । तभी इस युग के काव्यों में वर्णित युद्ध और विवाहों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है । उस समय का विवाह या तो युद्ध का परिणाम

१—**आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय** पृ० सं० ३३०

बना है अथवा कारण ।[1] इसी कारण वीर गाथा काल की रचनाओं में नारी-सौन्दर्य का वर्णन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है । इस सौन्दर्य चित्रण में यौन मनोविज्ञान का उच्च स्थान है । इसके लिए पृथ्वीराज रासो में वर्णित पद्मावती का सौन्दर्य चित्रण दर्शनीय है—

पदमनीय रूप पदमावतीय मनहुँ काम कामिनि रचिय,
मनहुँ काम कामानि रचिय रचिय रूप की रास
पसु पंक्षी सब मोहनी सुरनर मुनिवर पास ॥[2]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वीरगाथा काल के अन्तर्गत अहकार और कामप्रवृति का समन्वय हमें "खुम्माण रासो" के इस छप्पय में मिलता है—

षत्री मौड पुमाण मानकर मूँछ मरोड़े ।
जणणी वह जाइयो जोध जोरै मम जोड़ें ॥
मूछाल मल्ल मन चितवें निहचें बात निरबहें ।
अवतार दृग अबला तणे मन चितो मन में रहें ॥[3]

इस छप्पय से प्रतीत होता है कि वीरगाथा काल की रचनाओं में अहंकार से प्रेरित क्षत्रियो के मूंछों पर ताव देने और अपनी आन-बान पर मर मिटने के साथ साथ काम-वश अबला के शरीर को आँखों में अवतरित कर मन में रमा लेना भी सुनिश्चित था ।

यह तो रही इस युग की नारी के प्रति कामाशक्ति, जिसमें अनियन्त्रित इड् का प्राबल्य है । अब नारी के प्रति विरक्ति पक्ष को लीजिए—वीर काव्य के साथ सिद्धों और नाथों की आध्यात्मिकता भी चलती रही है । वज्रयान के अनुयायी बौद्धों में नारी के प्रति विरक्ति विधायक नियमों में प्रत्यावर्तन हुआ और मन्त्रयान के मार्ग से यम नियमादि का उल्लंघन करके उनमें कामावेग का चरम विकास हो गया । वज्रयान पन्थी सिद्धों में योग नाम-मात्र का रह गया और काम प्रवृत्ति का ज्वार प्रबल हो उठा । फलतः यहाँ भी इड् की अनियन्त्रितता का नैतिकाहं पर अधिकार हो गया ।

वज्रयान की प्रतिक्रिया-स्वरूप नाथ पन्थियों ने योग-सिद्धि के लिए स्त्री को आवश्यक उपादान ही नहीं प्रत्युत परीक्षा का साधन बतलाया । गोरखनाथ के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ योग की क्रियाओं में निपुणता प्राप्त कर अपनी सिद्धि की पूर्णता के

१—रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० ८६ (उत्तरार्द्ध)

२—हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दर दास पृ० ९९

३— „ „ „ पृ० ९३

प्रदर्शन के उद्देश्य से सिंघल की पद्मनी स्त्रियों के बीच गये पर पूरे न उतरे। इस सिद्धि को गोरखनाथ ने पूरा करके दिखलाया।[1] सारांश यह है कि वीर गाथा काल में जहाँ एक ओर काम-प्रवृति का अबाध प्रवाह था, वहाँ काम के मार्गान्तरीकरण की विधा भी हिन्दी साहित्य के आदिकाल में प्रयुक्त थी। अतः वहाँ कामाशक्ति और विरक्ति दोनों का पूर्ण निर्वाह था।

इसके अतिरिक्त विद्यापति ने इस युग में काम प्रवृत्ति का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित किया है वहाँ भी मानवीय मनोविज्ञान के दर्शन होते है। उनकी रचनाओं में यौन स्फीति, तृप्तकाम, यौन विच्युति, कामात्मक दिवास्वप्न आदि के प्रमाण पाये जाते हैं। इसी कामावेग से उत्प्रेरित उनकी कृतियो में दोहरा व्यक्तित्व मानसिक द्वन्द्वश्वयता, आन्तरिक द्वन्द्व से उन्माद, सहबोधावस्था और हेत्वारोपण एवं तादात्म्यीकरण की मनोवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं।[2]

१—हिन्दी साहित्य— डा० श्यामसुन्दर दास पृ० १२७

२—यौनि स्फीति— निबिबन्धन हरि किये कर दूर।
हेरने कओन सुख बुझ न बिचारि॥
—पद सं० ८३ पृ० १४७

तृप्त काम—आजु विपरित धनि देखऊ तोय।
—पद सं० ८९

कनक कुम्भ जनि मगनहु मेल॥
—पृ० सं० १५९

योन विच्युति—हम न जाएब तुअ पासे, जाएब ओघट घाटे कन्हैया।

कामात्मक दिवास्वप्न— कतदिन पिय मोर पूछ्ब बात, कबहु पयोधर''''
—प्रेम प्रसंग से

दोहरा व्यक्तित्व और सहदोधावस्था—
अनुखन माधव माधव सुमिरत। —पद सं० २१७
राधा सयं जब पुनतहिं माधव माधव सय जब राधा॥

मानसिक द्वन्द्व—नहि बहि नयनक नीर, मुरछि पड़े तरु तीर।
—विरह वर्णन से

उन्माद व्याधि—अनिल अनल सम '' चांद सताबहु सविता जानि।
(वही)

हेत्वारोपण—ए सखि इ सखि न बोल मन्द।
विरस वचन बाढ़े दु:ख द्वन्द॥ कुण्डल सरुल
—सखि संभाषण से

तादात्म्यीकरण—रसमति रमनि रतन धनि राहि। —रास रसिक
—पृ० सं० ३२९ पद १८५

भक्तिकाल में काम का उन्नयन—वीर गाथाओं की परम्परा के उपरान्त हिन्दू शौर्य के पराजित एवं नैराश्यपूर्ण अवसाद में से भक्ति की धारा फूट पड़ी। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इहलौकिक जीवन में असफलता मिलने के ही कारण हमारा मानसिक प्रक्रम अध्यात्मवाद या अप्रत्यक्ष प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। अतः मानव से पराजय प्राप्तकर सहृदयो की मानसिक-वृत्तियां अदृष्ट शक्ति की ओर झुकीं।

भक्तिकाल का शृङ्गार पारलौकिक है अर्थात् उस शृङ्गार का आलम्बन मानव के स्थान पर ईश्वर है, किन्तु मनोविज्ञान द्वारा दोनो प्रेम फ्राइड के लिबिडो से ही सिद्ध किये जा सकते हैं।

मनोविज्ञान में अपार्थिव शृङ्गार एक मिश्र भाव है, उसमें ऐन्द्रियकता के साथ बौद्धिकता का भी तत्व स्थायी रूप से वर्तमान रहता है। इसी बौद्धिक तत्व के कारण फ्राइड धर्म अथवा भक्ति को शृङ्गार का उन्नयन (सबलीमेशन) कहलाता है। वास्तव में ऐन्द्रिय प्रवृत्ति को स्थूल शरीर धारी व्यक्ति से हटाकर एक सूक्ष्म भाव अथवा अमूर्त आदर्श की ओर प्रेरित करना ही तो उन्नयन की क्रिया है।

भक्ति काल का अपार्थिव प्रेम भारतीय दर्शन की दृष्टि से आत्मा का परमात्मा की ओर सहज उन्मुखी भाव है। यह भाव शुद्ध अथवा आध्यात्मिक है। इसमें प्रेम की ओर सभी विशेषतायें विद्यमान है, परन्तु काम नहीं है।

मनस्तत्व की दृष्टि से यह पार्थिवरति का ही उन्नयन है और वह उन्नयन रति में यत्किंचित् बौद्धिक विश्वास का मिश्रण होने से सम्भव होता है।[1] इस कामोन्नयन का उदाहरण तुलसीदास के "नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय संग लागे.....। राम चरण अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।[2]" इस पद में पाया जाता है। यहाँ काम का उन्नयन राम के चरणों में भक्ति की ओर उन्मुख होने वाले भाव में हैं।

मनस्तत्ववेत्ता डा० पद्मा अग्रवाल की भक्तिकालीन कवियों के सम्बन्ध में यह मनोवैज्ञानिक मान्यता है कि प्रकृति प्रेम में रंगे कवियो के काव्य में, सूरदास की कृष्णभक्ति में, विह्वल गोपियों के भावोन्मेष में, सूफी कवियों के ज्ञानगीतों में तथा मीरा के भजन भाव में दमन की हुई काम प्रवृत्ति की ही अभिव्यंजना होती है।[1] यह अभिव्यंजना अतृप्त-दमित-कामेक्षाओ का उदास रूप होती है, न कि प्रतिगमन वाली प्रवृत्ति।

किं बहुना, जायसी, सूर, तुलसी, मीराबाई आदि कवियों के काव्य में अनेकों

१—रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १७८

२—विनय पत्रिका- तुलसीदास, पद संख्या ८२

३—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० १८४

स्थल ऐसे उपलब्ध होते हैं जहाँ पर मानवीय मनोविज्ञान का निदर्शन इतना हृदयस्पर्शी हुआ है कि उन्हें देखकर ऐसा विदित होता है कि वे मानव जीवन के अनुभव और पर्यवेक्षण के आधार पर उसी स्थल पर पहुँच गये थे जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान की उपपत्तियाँ पहुंच चुकी है।

मन्थरा की मानसिक नियतिवादिता, कैकेयी की परस्पर-विरोधी-भाव-प्रवणता में हम अचेतन मन के असामान्य कार्य एवं दमितेच्छाओं के विस्फोटात्मक रूप के ही तो दर्शन करते हैं। सूर की गोपियों के भावोन्मेष में काम प्रवृत्ति का ही पर्युत्थान है। जायसी की पद्मावती जहाँ भी ईश्वर का प्रतीक बनकर उपस्थित है वहाँ काम के उदात्तरूप की ही कवि ने अवतारणा की है। मीरा के पदों में कृष्ण के प्रति आसक्ति काम प्रवृत्ति का ऊर्ध्वगमन है।

भक्त कवियों का व्यक्तित्व और मनोविज्ञान—भक्तिकाल की शाखाओं के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व मनोवैज्ञानिक माप दण्ड से रहस्य पूर्ण है। हम उनके व्यक्तित्व के आधार पर उनकी कृतियों के आदि स्रोत को नवीन मनोविज्ञान की कसौटी पर रख कर समझ सकते हैं। कबीर का जन्म विधवा से होने के कारण एवं जुलाहेपन की हीन-भावना से आन्दोलित होकर एड-लरीय क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य रचना में परिणत हो गया है। आत्महीनता ग्रन्थि की सांकेतिक चेष्टायें उनके "तू ब्राह्मण में काशी का जुलाहा" में स्पष्ट है।

जायसी के व्यक्तित्व में एडलर की कायिक दोष वाली पद्धति के दर्शन होते है। उनकी भौंडी सूरत ने उन्हें महाकवि बना दिया। उनका अहंभाव अपनी कुरूपता के क्षतिपूर्तिरूपी गर्व से फूला नहीं समाया और उनकी हीनत्व कुण्ठा चीत्कार कर उठी—

'चाँद जैस जग विधि औतारा।
दीन कलंक, कीन्ह उजियारा॥

अक्षिहीन सूरदास अंग भंग के कारण हीन भाव से ग्रसित हुए, और उस क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया ने उन्हें महाकवि बना दिया।

तुलसीदास के व्यक्तित्व में कामोन्नयन की गतिविधि पायी जाती है। वे अपनी धर्मपत्नी के "अस्थि चर्म मय देह मम" की चेतना से स्त्री के प्रति विरक्त हो उठे। उनके दमित-काम की अभिव्यंजना ही उनकी रचनाओं में प्रस्फुटित हुई है।

रीतिकाल में अनियन्त्रित इड् का प्राबल्य—

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्तियुग के कामदमन की प्रतिक्रिया रीतिकालीन अतिकाम था। रीतिकाल की नारी-भावना भक्तिकाल के यौन नियमों की कठोरता

के विरुद्ध विद्रोह थी।[१] जहाँ भक्तिकाल में विरक्ति का प्राबल्य रहा वहाँ रीतिकाल में भोग की भावना को बल मिला। साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना के आधारभूत कवियों ने कामशास्त्र की सूक्ष्म समीक्षा की ओर अपनी कलुषित वासनाओं को स्थानान्तरित करने के लिए राधकृष्ण को आधार बना लिया। कामप्रवृति की विभिन्न उपतत्तियां स्वत: ही कवियों की अन्तश्चेतना से वह निकली, जिनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—उदाहरणार्थ—बिहारी के दोहों में यौन-विकृत, यौन स्फीति और कामात्मक द्वन्द्व आदि काम-प्रवृत्ति की उपपत्तियां स्वभावत: मिल जाती हैं। यौन विकृति से उत्प्रेरित राधा कृष्ण अपनी वेष-भूषा बदल डालते हैं। राधा कृष्ण के वस्त्र पहिन लेती है और कृष्ण राधा के। काम तृप्ति के समय भी यह विकृति बनी रहती है।[२] इसी प्रकार यौन स्फीति में राधा का चमकना, लपकना, हँसना, सिसकना और कृष्ण का राधा के अंग प्रत्यंगों का मसकना और झपट झपट कर राधा से लिपट जाना आदि बाह्य शारीरिक चेष्टायें सुस्पष्ट हैं।[३] कामात्मक द्वन्द्व में भूल से कृष्ण पलक पर प्रेयसि के पान की पीक, अधरों पर उसके आँखों का अंजन और संभोग के समय आतुरतावश प्रेमिका के पैर का महावार मस्तक पर ज्यो का त्यों लगा हुआ छोड़ देते है।[४] कामात्मक अतिवाद (फेटिसवाद) मनोवृत्ति के कारण वह अपनी प्रिया के इन चिन्हों को नहीं मिठाना चाहते। इसी प्रकार के उदाहरण मतिराम और देवकी रचनाओं में भी मिलते है।

आधुनिक काल में अतृप्त-दमित-काम और मनोविकृतियां —

भारतेन्दु काल के साहित्य में उन्नसवीं शताब्दी की आशा निराशा, विषाद एवं क्षोभ, स्वप्न और कल्पना मुखरित हो उठी है, वहाँ यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य है। फलत: जहाँ यथार्थवादिता स्पष्ट है वहाँ मनोविज्ञान के भी दर्शन स्वभावत: हो जाते है। द्विवेदी युग के साहित्य में राष्ट्रीय एवं जातिय जागृति प्रतिविम्बित है। इस काल में अतीत चित्रण के साथ-साथ जनता की मनोभावना भी अभिव्यक्त हुई है। मनोभावना के आधार पर वहाँ मानवीय-मनोविज्ञान भी स्वत: समाविष्ट है। हरिऔध के प्रिय प्रवास और मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में मानवीय मनोविज्ञान की यही हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। मनस्तत्व की दृष्टि से जयशंकर

१—आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना—डा० शैलकुमारी पृ० १०

२—राधा हरि, हरि राधिका मनि आये संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहन सुरति हूँ लेत। दो० सं० ३४३

३—चमक तमक हांसी सिसक, मसक झपट लपटानि। दो० सं० ३३८

४—पलक पीक, अंजन अधर, दीये महावर भाल॥ दो० सं० ३८३

प्रसाद की कामायनी का स्थान सर्वोच्च है ही। आधुनिक काव्यधारा में प्रस्फुटित हुई कुछ प्रवृत्तियों का भी सान्निध्य मनोविज्ञान से परिलक्षित होता है। छायावादी कवि बाह्य पदार्थों के वर्णन विश्लेषण मे प्रवृत्त न होकर अपनी आन्तरिक अनुभूतियों में अधिक संलग्न प्रतीत होते हैं। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का कारण कवि का विश्वास है कि बाह्ययार्थ की अपेक्षा अन्तस् प्रवृत्तियों के आग्रह से उसका अभ्यन्तर-बाह्य रूपों के बीच छिपी हुई-उस परम वास्तविकता की उपस्थिति का अनुभव कर सकेगा। अपने विश्वास को अन्तर्मुखी बनाने पर ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण मान लेने तथा बाह्य की अपेक्षा उसके भीतर छिपी सत्ता को प्रधान समझने के कारण छायावादी काव्य के बीच प्रतीकवाद का समावेश हुआ है।[1] प्रतीक पद्धति मनोविज्ञान के सन्निकट है। कामायनी के प्रतीकवाद की आधारशिला मनोविज्ञान ही है। इसके अतिरिक्त भी छायावादी कवि कभी स्त्री का मनोविश्लेषण करके उसके फ्राइडादि से अनुमोदित अवगुणों से घृणा करने लगता है। कभी छायावादी गीतों में फ्राइड के स्वप्नों का मनोविश्लेषण करने में तत्पर होता है, किन्तु मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों द्वारा उसकी रचनाओं में पाया जाता है।[2]

इस भाँति छायावादी युग आत्माभिव्यक्ति प्रधान है। उसमें निराशावादी मनोवृत्ति के विभिन्न रूप-दुःखवाद, नियतिवाद, मिथ्यावाद और आत्मवादी गीतों में निहित दार्शनिक निराशावाद आदि नाम से पुकारे जाते है। डा० शम्भुनाथ पाण्डेय के अनुसार छायावादी काव्य के निराशावाद की व्याख्या फ्राइड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर की जा सकती है। आधुनिक युग में पाश्चात्य मनोविज्ञान ने साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया है। छायावादी युग के काव्य को यदि पाश्चात्य मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा जाय तो उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ अतृप्त-वासना का प्रतिफलन प्रतीत होगी। अतृप्त-वासना हृदय में दुःखात्मक-अनुभूतियों-क्षोभ, उद्वेग, असंतोष, विषाद आदि-को जन्म देती हैं। मनुष्य जब अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों का जीवन मे परितोष नहीं कर पाता तब भावुक और कल्पनाशील बन जाता है। उसकी अतृप्त वासना विभिन्न रूप धारण करके व्यक्त होने लगती हैं।[3] छायावादी युग की निराशावादी भावनाओं का मार्गान्तरीकरण कला रूप में डा०

१—आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत-डा० केसरी नारायण शुक्ल पृ० १७०, ७१

२—आधुनिक काव्य में नारी भावना-डा० शैलकुमारी पृ० २२१

३—आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद-डा० शम्भूनाथ पाण्डेय पृ० सं० १६१ और १५७

राधाकृष्णन् की भावरेचन पद्धति के अनुरूप सिद्ध होता है। उनका इस सम्बन्ध में मत है कि संसार भर के लोग, जिनका मानस रोगग्रस्त, जीवन की शक्ति क्षीण और स्नायु दुर्बल होते है, अपनी व्यथा का उपचार कला, ज्ञान और नैतिकता के द्वारा उपलब्ध शांति, मोक्ष तथा निर्वाण में पाते हैं या फिर उक्त उपायों से सुख संतोष न मिलने पर मदिरा, मस्ती और विक्षिप्तता की शरण लेते है।[१] तात्पर्य यह है कि जीवन में निराशावादी मानसिक अवस्थिति सहसा उत्पन्न नहीं हो जाती, क्योंकि अतृप्त दमितेच्छायें जब अपनी तृप्ति नहीं कर पातीं, तब उस अतृप्ति से उत्पन्न मानसिक वैषम्य को संतुलित करने के अन्य उपाय मनुष्य की अन्तश्चेतना प्रस्तुत करती है। इस प्रकार की रेचन विधि का सम्बन्ध काव्य और कला से अति निकट होता है। छायावादी कवियों में यही भावरेचन स्वाभाविक मिलता है।

छायावादी कवियों की अहंवादी मनोवैज्ञानिक शैली भी उनकी रचनाओं को मनोविज्ञान के निकट पहुँचाने में सहायक सिद्ध हुई हैं। छायावादी युग के इन विशेष तथ्य का निर्देश 'निराला जी' की निम्नलिखित पंक्तियों में सन्निहित है—

मैंने "मैं" शैली अपनाई, देख दुखी एक निज भाई।
दुःख की छाया पड़ी हृदय में मेरे, झट उमड़ वेदना आई॥

इस अहंभावना (ईगोज्मि) का उल्लेख निराला जी ने अपनी 'अनामिका' कृति में किया है। यह अहंवादी मनोवैज्ञानिक शैली केवल निराला जी ने ही नहीं अपनायी प्रत्युत ये''''में''''शैली समस्त छायावादी काव्य की विशेषता बन गयी।''''मैं''''शैली ने''''मैं''''की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता की मांग की। कवि स्वच्छन्दतावादी बने। उन्होंने स्वतंत्रता की घोषणा की। वे अपने हृदयोद्गारों की व्यंजना के लिए अपने को पूर्ण रीति से स्वतन्त्र मानने लगे, चाहे उनकी भावना प्रचलित और प्रतिष्ठित जन रुचि के अनुकूल हो या प्रतिकूल। अपने हृदय और अपनी भावना तथा रुचि की सीमा को छोड़कर वे और किसी प्रकार का बन्धन मानने को तैयार न थे।[२] इस प्रकार छायावाद के बीच में पले हुए स्वच्छन्दतावाद में इड् के अनियन्त्रित, अव्यवस्थित एवं स्वच्छन्द प्रकृत-काम का निदर्शन हुआ। सामाजिक अहं की वहाँ एक न चली, नैतिकाहं का प्रतिरोध इन रचनाओं में नगण्य ही रहा। इड् की इस उन्मुक्तता एवं अहं और नैतिकाहं की अवहेलना का वर्णन प्रगतिवादी कविताओं में और भी प्रखर हो उठा।

1—The sickly minded and the suffering of the reduced vitality and weak nerves of the world over try to heal their sickness by either seeking repose and calm deliverance and nirvan through art.
—Indian philosophy—Dr. S. Radhak rishanan page 277 vol.1

२—आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत-डा० केसरी नारायण शुक्ल पृ० १७८

इस सम्बन्ध में यहाँ यह अवेक्षणीय है कि मनोविज्ञान और साहित्य के पर्यालोचन में मानव की आदिम अवस्था तथा आदिम अन्तर्वृ ति (प्रिमिटिव इन्सटिक्ट) का उल्लेख अपेक्षित है। मनोविज्ञान की भाँति साहित्य का सम्बन्ध मानवीय मनोविकारों एवं मनोवेगों के साथ निर्धारित है। अतएव प्रगतिवादी पूर्ववर्ती साहित्य में भी फ्राइडियन काम प्रवृत्ति का प्रकाशन यत्र-तत्र पाया जाता है। साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति संयत और असंयत, दोनों ही रूपों में होती आयी थी। जिस साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति असंयत रूप में थी, उसे अश्लील (प्रोफेन्ड) कहते हैं। जिस साहित्य में यौनवृत्ति का प्रतिपादन मर्यादित रूप में होता है, उसमें पुरुष और नारी का रतिभाव प्रेम के धरातल पर स्थायित्व प्राप्त करता है। शोपेनहावर ने तो यहाँ तक कहा कि सच्चे साहित्य के लिए प्रेम भाव का वर्णन ही अपेक्षित है, क्योंकि इससे मानव हृदय का परिष्कार होता है। मान्यताओं और बर्जनाओं अर्थात् विधि-निषेधों के बीच अभिव्यक्त होने वाली यौन वृत्ति का प्रच्छन्न उद्‌घाटन ही अश्लील साहित्य का विषय हो सकता है। ऐसा साहित्य पाठकों को विलासप्रिय नहीं बनाता। फलतः प्रगतिवादी साहित्य में काम-प्रवृत्ति का प्रकाशन काम की परिष्कृति के लिए है, क्योंकि फ्राइड के अनुसार मनुष्य का प्रत्येक आचरण यौनवृत्ति द्वारा अनुशासित है। अतएव साहित्य में वर्णित किसी पात्र के मनोविकारों के मूल उत्स का पता लगाने के लिए उसके व्यवहारों का विश्लेषण होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी से प्रगतिवादी साहित्य में यौनवृत्ति की अभिव्यक्ति विलासप्रियता से भिन्न है।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वहाँ अप्तृत-दमित-काम का भावरेचन प्रस्तुत है। तात्पर्य यह है कि आदि काल में ही साहित्य का मनस्तत्व के साथ अभिन्न संबंध स्थापित हो चुका था। साहित्य पहले आदर्शवाद से यथार्थवाद के क्षेत्र में आया, और धीरे-धीरे वह प्रगतिवाद के मार्ग पर चलने का अभ्यस्त हुआ। आधुनिक युग में साहित्य प्रगतिवाद के निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंच गया है। उसमे फ्राइड के अनुसार यौनवृत्ति के उद्‌घाटन का निर्देश मिलता है। फ्राइड ने स्वप्न पूर्ति के फलस्वरूप अचेतन मन द्वारा साहित्य का प्रणयन बतलाया है। प्रगतिवादी साहित्य में भी प्रकृत काम से परिपूर्ण अचेतन मन का विश्लेषण पाया जाता है।

मनोवैज्ञानिको ने जब से विक्षिप्त मन का विश्लेषण आरम्भ किया, तब से यौन वृत्ति के किंचित् विपरीत (इनवर्टेड) तथा परिवर्तित (पर्वर्टेड) रूपों की ओर जनसाधारण का ध्यान गया। इनमें स्वरति (ओटो सैक्स), समरति (होमो सैक्स), आत्म पीड़नरति (मेसोचिज्म) परपीड़न रति (सेडिज्म) अन्यरति (ओएरिज्म) तथा

१—छायावाद और प्रगतिवाद—ले० कपिलदेव सिंह पृ० १७३, १७४

२— ,, ,, १७६

वस्तुरति (फेटिशिज्म) आदि मुख्य हैं। पन्त जी की कविता में अंग एवं उक्त वस्तु रति का चित्रण सुन्दर हुआ है—

शरमाती झट-वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।
चोली से उभर उभर कसमस, खिचते संग युग रसभरे कलश ।।[१]

पन्त जी के अतिरिक्त आरसी प्रसाद, नरेन्द्र और अंचल की क्रमशः नयी दिशा, प्रभात फेरी और अपराजिता कृतियों मे यौनवृत्ति के प्रकाशनार्थं यौन विकृति, यौन विच्युति और यौन-वर्जनाओं के प्ररूप पाये जाते हैं। काव्य के अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' भगवती प्रसाद बाजपेयी के 'दो बहनें' और राधिका रमण प्रसाद सिंह के 'संस्कार' नामक उपन्यासों में यौन-वृत्ति सम्बन्धी विश्लेषण मिलता है।

फ्राइड के मनोविश्लेषवाद का प्रभाव आधुनिक गल्प और आलोचना साहित्य पर पर्याप्तरूपेण पड़ा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के उपन्यास, कहानी, नाटक और काव्य में पात्रों की मनोदशाओं के सूक्ष्म चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। अवदमित वासनाओं के विविध विस्फोट विविध रूपता के साथ वर्णित किये जाते हैं। कलाकार मन की उलझी ग्रन्थियों को सुलझाने में बेतरह परेशान दीखता है। अहं और काम-भावना के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण प्रमुख स्थान पाने लगा है।

फ्राइड ने विकृत आत्मरति के दो रूप माने हैं, परपीड़न-सुख (सैडिज्म) और आत्म-पीड़न, सुख (मैसोचिज्म)। प्रेमी और प्रेमिका दूसरे को कष्ट पहुंचाकर या अपने ही को कष्ट देकर संतुष्टि का अनुभव करते हैं। इलाचन्द जोशी के संन्यासी में हम प्रेम के इन रूपों का दर्शन पा सकते हैं। जैनेन्द्र की 'कल्याणी' अपने पति से पिटने पर कहती है कि वह मुझे प्यार करते है। स्वस्थ और संतुलित मन में ग्रन्थियों का अभाव रहने से विकृत मनों का विश्लेषण करना ही शायद आधुनिक कलाकारों का ध्येय प्रतीत होता है।

घृणा और प्रेम, अहं और जगत्, एवं पाप और पुण्य के अन्तर्द्वन्द्वों का सूक्ष्मतापूर्ण अभिव्यंजन होने लगा है। कहानियों में आत्महीनता के उदाहरण खूब मिलते हैं। कामायनी और कुरुक्षेत्र में प्रेम, घृणा और स्वार्थ भावना का काव्यात्मक विश्लेषण हमें उपलब्ध है। मनोविज्ञान के चक्कर में फंसकर हमारा साहित्य एकांगी, संकुचित और जीवन के स्वस्थ कर्म कलापों से शून्य होता जा रहा है।[२]

किं अधिकम्, पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षो में फ्राइड, एडलर और युंग द्वारा विकसित मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविश्लेषण एवं अन्य आचार्यो द्वारा प्रतिपादित

१—आधुनिक कवि-पन्त (ग्राम युवती) पृ० ८७

२—छायावाद और प्रगतिवाद-(लेख) ले० प्रो० शिवबालक राय पृ० १९४, ९५ संपादक प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

मनोवैज्ञानिक विचार धाराओं ने मानव जीवन, फलतः साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। इन विचार धाराओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा और पड़ रहा है—कुछ प्रत्यक्ष और बहुत कुछ अप्रत्यक्ष रूप में।[1]

निदान, हिन्दी साहित्य का वीर गाथा काल काम प्रवृत्ति का स्वच्छन्द रूप एवं काम के मार्गान्तरीकरण दोनों प्रकारों से समाविष्ट रहा है। भक्ति काल में काम प्रवृत्ति के दमित भावों की अभिव्यंजना उदात्त भावों से ही सन्निहित रही है। रीति-काल में मानवीय मनोविज्ञान के अनियन्त्रित इड् की महत्ता का निर्देशन हुआ है। रीतिकाल का तृप्तकाम आधुनिक काल में अतृप्त होकर दमित होना स्वाभाविक ही था, अतएव इस काल में अतृप्त-दमित-कामेच्छाओं का उन्नयन न हो कर आन्तरिक द्वन्द्व ही बना रहा। परिणाम स्वरूप विभिन्न मनोग्रन्थियों, कुण्ठाओं और मनोग्रस्तता की अवतारणा काव्य, कथा साहित्य और नाटकों में स्वभावतः समाहित होगयीं।

उदाहरणार्थ आगे दो प्रकरणों में क्रमशः काव्य और कथा साहित्य के अन्तर्गत समाग्री हुयी मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों का अनुशीलन संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत है। और नाटक साहित्य का विस्तृत मनोवैज्ञानिक अध्ययन उतरार्द्ध में रखा जावेगा।

हिन्दी काव्य और मनोविज्ञान—ग्रूव्ज (Groves) और ब्लैंचर्ड (Blanchard) ने काव्य का मनोविज्ञान से सान्निध्य प्रकट करते हुए लिखा है कि काव्य द्वारा हम अपनी भावावस्थाओं को शब्दों में प्रस्तुत करने के लिए तत्पर होते है। कविता के अन्तर्गत आत्म अभिनय का प्रदर्शन करके अपनी भावनाओं की संतृप्ति पाने में संतोष की अनुभूति करते हैं।

काव्य में संवेग और भाव भाषा द्वारा अभिव्यक्त होकर मनोवैज्ञानिक संतुष्टि प्रदान करते हैं। कवि अपने भावों, कामनाओं या वासनाओं का निराकरण अथवा रेचन कविता करके कर सकता है।[2] इस मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन एवं आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का मानवीय मनोविज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। नवीन मनोविज्ञान की उपपत्तियां हमारे आधुनिक काव्य में परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप में प्रचुरता से उपलब्ध होती हैं, परन्तु मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर प्राचीन काल के कवियों ने आधुनिक मनोविज्ञान की बहुत कुछ उपपत्तियाँ अपनी कविताओं में प्रयुक्त की हैं, जिन पर आज का मनोवैज्ञानिक अपनी स्थापना कायम करता है।

१—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान-डा० देवराज उपाध्याय-डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा लिखित (प्राक्कथन से) पृ० सं० ६

2—Introduction to mental Hygiene--Evnest R. Groves and Blanchard-PP. 356

प्रस्तुत प्रकरण में हिन्दी की आधुनिक काव्य-धारा में मनोविज्ञान की इसी मर्मस्पर्शी लहर का निर्देशन संक्षिप्त रूप में कुछ कवियों की काव्य-कृतियों से उदाहरण देकर यहाँ किया जाता है।

आधुनिक काल में रत्नाकर जी ने उद्धव शतक में फ्राइडियन स्थानान्तरण का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। कृष्ण मुरझाये हुए कमल को बहता हुआ देख कर राधा के उदास और अर्द्ध विकसित मुख की स्मृति द्वारा स्थानान्तरण मनो-वृत्ति से आक्रान्त हो उठे। इस अभावानुभूति से ग्रस्त होकर वे आवेश जड़ता की अनुभूति मे निमग्न हो गये और संवेगाविष्ट होकर हत-संज्ञ हो गये।

मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार मनोग्रन्थि के खुलने के पश्चात् ही मनो-ग्रस्तता का शोध सम्भव होता है। शोध का अर्थ आत्मतुष्टि ही है। संवेग के विरेचन के लिए जिस दुःख की अनुभूति को हम विस्मृत किये रहते हैं उसे ही स्मृति पटल पर लाना होता है।

बेसुध कृष्ण को दो घड़ी बीत चुकी है, पर चेत नहीं हो रहा है। वहाँ मनो-विश्लेषण का काम पिंजड़े में बन्द पड़ा हुआ तोता करता है, और अकस्मात् वह राधा-राधा की टेर लगा देता है, जिसको सुनकर कृष्ण झटिति ही सचेत होकर बैठ जाते है।[1]

मनोविश्लेषण पद्धति का भी आधार यही है—अज्ञात मन में पड़ी अतृप्त-दमि-तेच्छाओं को चेतन के सामने उपस्थित करना मनोग्रस्तता का निवारण है। कृष्ण के अज्ञात मन में राधा की सुनहली स्मृति तथा तत्सम्बन्धी अतृप्त-दमित-कामेच्छायें दबी पड़ी थीं। कमल राधा के मुख का स्थानान्तरण सिद्ध हुआ और संवेगाविष्ट अभावानुभूति ने कृष्ण को आक्रान्त करके अचेत बना दिया। तोता की राधा राधा नाम की टेर ने उस दमित-भाव को चेतना पर पहुँचा कर कृष्ण को सजग कर दियो। मनोग्रन्थि के विरेचन का इतना सुन्दर निदर्शन अन्यत्र हिन्दी काव्य में दुर्लभ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उद्धव शतक में अनेकों मनोवैज्ञानिक उदाहरण और मिलते है जिनको यहाँ देना सम्भव नहीं।

हिन्दी के आधुनिक काल की काव्यधारा में मनोविज्ञान के मानदण्डों की दृष्टि से कामायनी महाकाव्य का स्थान सर्वोच्च है। इस सम्बन्ध में आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने काव्य में मनोविज्ञान के सामंजस्य की अद्भुत शैली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है:—

अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रवृत्ति का विश्लेषण कर 'प्रसाद'

१—उद्धव शतक—ले० रत्नाकर, कवित्त १

जी ने कामायनी काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते है। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दीयों के बाद हुआ।[1]

प्रसाद स्वयं श्रद्धा और मनु की इस कथा को मानव के मनोविज्ञान का इतिहास सिद्ध करते हैं। उनका कथन है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाध्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।

पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि प्रसाद का मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन और उसके सिद्धान्तों के द्वारा इस महाकाव्य की रचना हुई है। डा० सक्सेना इस कथन को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

"कामायनी में चिन्तित एवं व्यथित मन को भावनाओं, प्रवृत्तियो, मनोवृत्तियों आदि के विभिन्न क्षेत्रों में पर्यटन करते हुए अन्त में जो आनन्द लोक तक पहुंचाया है और इस यात्रा में मन के क्रमिक विकास का जो रूप अंकित किया है, वह भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से उपयुक्त एवं न्यायसंगत है। उसमें मानव मनोविज्ञान के आधार पर ही व्यावहारिक रूप से मन के क्रमिक विकास का उल्लेख हुआ है। इतना अवश्य है कि प्रसाद जी ने मनोविज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन करके यह महाकाव्य नहीं लिखा। इसलिए हम प्रत्येक पहलू से इसे मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। परन्तु फिर भी उनके अधिकांश वर्णन मनोवैज्ञानिक विकास के द्योतक है।"[3]

प्रसाद जी की कामायनी मे काव्यगत मनोवैज्ञानिक तत्व के मूल में मानव के अन्तः और वाह्य दोनों के सामंजस्य का सुविकसित निर्वाह है। हमारे अन्तस् का ही प्रतिबिम्ब वाह्य जगत् में क्रियान्वित होता है। प्रसाद की ऐतिहासिक घटनायें मानव के मनोवैज्ञानिक भावों की अन्तः और वाह्य क्रिया नहीं तो और क्या है। वे समझते हैं कि घटना और पात्र मनोविज्ञान के सांचे में ही ढलकर अमरता के संदेश

१—हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी – ले० नन्द दुलारे बाजपेयी पृ० १२४, १२५

२—कामायनी-प्रसाद (आमुख)—पृ० ४ भारती भण्डार लीडर प्रेस इलाहाबाद अष्टम सं० २०१०।

३—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, पृ०३७२-७३

वाहक हो सकते है, तभी तो मानसिक प्रक्रम के समक्ष ऐतिहासिक तथ्यान्वेषण में तिथिक्रम, घटनाक्रम और पात्रों की ऐतिहासिक कर्त्तव्य परायणता का परिचय देने मात्र से ही उन्हें संतुष्टि नहीं होती। उनकी मानसिक घटना एवं पात्र में आत्मा की सच्ची अनुभूति पायी जाती है, जिसके मनोवैज्ञानिक आधार पर मानवता चिर स्थायी बन सके।

प्रसाद ने मनोविज्ञान की कसौटी पर खरे उतरने वाले मनु, श्रद्धा सम्बन्धी उन्हीं वृत्तों, चरित्रों को चित्रित किया है जो मानव-मात्र के अन्तः और बाह्य-जगत् के लिए सृष्टि के अन्त तक उपयोगी है। श्रद्धा जैसी सदाचारिणी से मनु जैसे कामुक स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले मनुष्यों का उद्धार किस युग मे नहीं हुआ। वर्तमान युग मे तो इसके प्रमाण शतधा हो सकते है।

प्रसाद ने व्यष्टि के साथ साथ समष्टिगत मनोविज्ञान का भी दिग्दर्शन कामायनी में कराया है। इस समाजगत मनोविज्ञान की झांकी सारस्वत प्रदेश की श्रीवृद्धि के उपरान्त हम अराजकता के रूप में पाते है। जब समाज का नेता अपने बनाये नियमो का ही उल्लंघन करे तब प्रजा में अराजकता का आना स्वाभाविक ही है।

प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण की कसौटी मनोविज्ञान है। वे ऐतिहासिक पात्रों में ऐतिहासिकता की उतनी खोज नहीं करते जितनी मनोविज्ञान की। कवि के नाटककार होने के कारण कामायनी में भी अभिनयात्मक शैली स्वतः अधिक मात्रा में आ गई है, जिससे पात्रो में वास्तविकता, तथा सजीवता अधिक मात्रा में मिलती है। प्रसाद जी ने कामायनी मे पात्रो में अन्तर्पक्ष पर बहिर्पक्ष की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया है, इसीलिए पात्रों के स्वागत कथन बहुत लम्बे हो गये हैं। परन्तु उन स्थलों पर भावावेश की अधिकता दिखाकर कवि ने उनको मनोविज्ञानतः यथार्थ बना दिया है।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईगो को वाह्यजगत् के नियमों का पालन करने के साथ ही साथ इड् की भी आज्ञा का पालन करना होता है। इस दशा में वह किसका बन कर रहे-सामाजिक बन्धनों का या इड् की स्वच्छन्द प्रकृत कामेच्छाओं का। ईगो की यह द्विविधा उसे क्रोधित बना देती है।

ईगो का प्रतीक मनु भी उसी द्विविधा में है कि इडा (इड्) मुझे अपना अस्त्र बनाकर रखे हुए है और जब मुझे वह पूर्णतया परतन्त्र बनाना चाहती है, क्योकि सर्वदा उसने मेरे अधिकारो में बाधा ही उपस्थित की है।[2]

१—कामायनी अनुशीलन-रामलाल सिंह-पृ० सं० ६६, ६८ और ६९

२—कामायनी-जयशंकर प्रसाद, संघर्ष पृ० १६०

ऐसी स्थिति में मनु (ईगो) द्वारा इडा (इड्) की शासन पद्धति को चैलेन्ज करना पड़ता है और वह इडा से कहता है कि यह दासता अब मुझसे सहन नहीं हो सकती, क्योंकि सामाजिक नियमों की अवहेलना उसको इसी इड़ा (इड्) के अनियन्त्रित शासन की बागडोर सम्हालने के कारण करनी पड़ी है।[१]

उधर मनु (ईगो) की ऐसी बातें सुनकर अपनी इच्छा के प्रतिकूल चलने वाले मनु के विपरीत इडा (इड्) में वास करने वाली प्रकृत इच्छायें प्रतिक्रिया कर उठतीं हैं—

हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख।

× × ×

और इडा पर यह क्या अत्याचार किया है।

× × ×

आज बन्दिनी मेरी रानी इडा यहाँ है।[२]

ऐसी स्थिति मे द्वन्द्व होना अनिवार्य था और द्वन्द्व हुआ। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इड् और ईगो के संघर्ष का पर्यवसान सुपरईगो के निर्णय पर ही निर्भर है। कामायनी में भी मनु (ईगो) और इडा (इड्) का नियमन आदर्श और नैतिकता के बल पर श्रद्धा (सुपरईगो) करती हुई पाग्री जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनी की मनोवैज्ञानिक रूपकात्मकता अपने ढंग की अपूर्व है। कामायनी की रूपकात्मक व्यंजना मन की ग्रन्थियों को सुलझाती हुई अन्त में मानसिक संतुलन बनाकर आनन्द की प्राप्ति का साधन बतलाती है। इस भाँति कामायनी जैसा रस और मनोविज्ञान का यह अभूतपूर्व समन्वय हिन्दी काव्य में अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता।

महाकवि हरिऔध के महाकाव्य प्रिय-प्रवास में दूत परम्परा का मनोवैज्ञानिक वर्णन पाया जाता है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने मेघदूत काव्य में अतृप्त दमित-कामेच्छाओं का मार्गान्तरीकरण करके कला के मूल में अभुक्त-काम-प्रेरणा वाले फ्राइड के सूत्र को पहले ही निरूपित कर दिया था। हमारे इस कथन का समर्थन डा० पद्मा अग्रवाल द्वारा भी इस प्रकार मिलता है:—

"संस्कृत साहित्य में कालिदास का मेघदूत मानव की काम-वासना-कल्पनाओं (सेक्स फेन्टिसी) का ही द्योतक है। यह एक काल्पनिक शब्द चित्र है जिसमें कल्पना का विषय है प्रेमिका का विरह।[३]

२—कामायनी-जयशंकर प्रसाद-संघर्ष पृ० १६८

१— ,, ,, ,, पृ० १६६

३—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० सं० १८४

हरिऔध ने राधिका नायिका को दबी छिपी कामशक्ति को पवन के समक्ष अभिव्यक्त कराया है। पवन को सन्देश देते हुए राधिका ने कहा है कि तुम्हारे द्वारा केलि-विलास करते हुए भ्रमर और भ्रमरी का आनन्द भंग न हो।[1] इस जोड़े की तद्रूपता की तुलना राधिका ने कृष्ण और अपने संगम के तादात्म्यीकरण से की है, जिसमें स्थानान्तरण की भी झलक विदित होती है। अतीतानुभूति की स्मृति मे एक पीले पत्ते को श्याम के समक्ष उड़ा के पहुँचाने का सन्देश भी कृष्ण की अभावानुभूति को जागृत करने से सम्बन्धित है जिससे प्रति-स्थापना मानसिक प्रक्रम की अभिव्यक्ति होती है।

इसके अतिरिक्त कामचौर्य मनोवृत्ति का उदाहरण हरिऔध द्वारा इस संदर्भ में अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़ा है। राधा पवन से कहती है कि हे पवन! तू प्रियतम के शरीर पर से झड़े हुए चन्दन आदि के कणों को लुक छिप कर धीरे धीरे वहन करके मेरे समीप उड़ा लाना या प्रिय कंठ से लिपटी हुई सुन्दर पुष्पों की माला का कोई पुष्प ही अपहरण करके ला देना या सुगन्धित पुष्प एवं कस्तूरी की सी गन्ध वाली कृष्ण की वास ही उड़ा लाना जो मेरे अनमने, ऊबे हुए दु:खी चित्त में शान्तिधारा बहा डाले। अन्त में राधा मांग करती है कि यदि उपर्युक्त पदार्थ अपहरण करके लाने में तू असमर्थ हो तो तू केवल प्राणप्रिय के चरणों को स्पर्श करके चली आना जिससे मैं तुझी को हृदय से लगा कर जीवन प्राप्त कर लूँ।[2]

राधा की उक्त समस्त मांग स्पर्शानुभूतिशीलता से सम्बन्धित है। इन सब पदार्थों का प्रिय के पास से अपहरण करके लाना हैवलाक् ऐलिस के काम-चौर्य के अन्तर्गत आ जाता है। इन स्पर्श सम्बन्धी अनुभूतियों से काम का जागृत होना स्वाभाविक है। इस मानसिक उपक्रम से केवल उत्तेजना ही प्राप्त नहीं होती अपितु पूर्ण यौन तृप्ति भी यौन मनोविज्ञान के अनुसार होती है जिससे समागम का प्रश्न ही नहीं रहता। इसी कारण हरिऔध की राधा बार बार इन पदार्थों के स्पर्श मात्र को जीने का आधार सिद्ध करती है।

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य साकेत में उर्मिला, कैकेयी, भरत और माण्डवी में मनोग्रन्थियाँ मिलती हैं। फ्राइड के मतानुसार कला हमारी उन्नत-काम-शक्ति (सबलिमेटेड लिबिडो) के जल से सिंचा हुआ पौधा है। मनोविश्लेषण की दृष्टि से कला का मुख्य प्रयोजन एक ओर हमारी अतृप्त-मूल-प्रवृत्तियों का समाधान करना और दूसरी ओर जीवन को पूर्ण बनाने की स्वाभाविक इच्छा को पूरा करना

१—प्रिय प्रवास-हरिऔध-षष्ठ सर्ग का ४२ वां पद्य

२— ,, ,, ,, पद्य सं० ७७ से ८२

है ।[1] तभी मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार कला के द्वारा मानसिक रोग का निवारण किया जाता है । डा० युंग ने प्राय: अपने रोगियों को आत्म प्रकाशन के लिए कला का काम देना ही उपयुक्त माना है ।

"गुप्त जी की उर्मिला भी स्वयं अपने मन बहलाव के कारण चित्रकला का काम लेती है, क्योंकि वह कामात्मक दिवास्वप्नों द्वारा मनोग्रस्त है । उसके चित्र की प्रत्येक भाव-भंगिमा फ्राइड के काम-प्रतीकों को इस प्रकार अभिव्यस्त करती है ।

चित्र में एक नाले का दृश्य है जिसके किनारे उसके जेठ और जीजी खड़े हैं, और प्रिय लक्ष्मण उनके पैर में लगे काँटे को निकाल रहे हैं । अथवा प्रियतम लक्ष्मण लता को नीचे झुकाये हुए खड़े है ।[2]

यहाँ नाले के जल में घुसकर थाह लेना, काँटे को निकालना और लता को पकड कर झुकाना सभी फ्राइड के कामात्मक प्रतीक हैं ।

डा० होमरलेन, ए० एस० नील, लार्ड लिटन अपने आपके प्रति घृणा को ही मानसिक कुण्ठा का कारण बतलाते है । श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी आत्मभर्त्सना का निषेध है ।[3] किसी कारण बस स्नायु व्यतिक्रमी अपने आप को घृणा करने लगता है, और इस घृणा की मनोवृत्ति को वह पीछे दूसरों पर आरोपित करता है । उसका विश्वास हो जाता है कि उसके आस पास के सभी लोग उससे घृणा करते हैं । जैसे जैसे उसमें दूसरों के प्रति घृणा करने की मनोवृत्ति बढ़ती जाती है, उसी प्रकार अपने आपको भी घृणा करने की मनोवृत्ति उसमें बढ़ती जाती है । इसका परिणाम ही मानसिक रोग होता है ।

माँ कैकेयी के प्रति भरत का घृणा संवेग इसी मनोग्रन्थि पर आधृत है:—

"खर मंगा, वाहन वही अनुरूप,
देख लें सब है यही वह भूप ।"

माण्डवी और भरत के संवाद में भी वे दोनों आत्मभर्त्सना से अनुप्रेरित प्रतीत होते है ।[4] वे दोनों अपने आस पास घृणा के वातावरण की कल्पना करते हैं । इसी कारण उनमें मानसिक-कुण्ठा आत्मभर्त्सना के कारण बनी हुई है ।

सुमित्रानन्दन पन्त ने पाश्चात्य प्रभाव को स्वयं स्वीकार किया है । उन्होंने उन्नीसवी सदी के अंग्रेजी कवियो और कवीन्द्र के पूर्व पश्चिम मेल का प्रभाव अपनी

१—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल पृ० १८५–८६

२—साकेत—मैथिलीशरण गुप्त—पृ० सं० २००

३—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—अध्याय ६ श्लोक सं० ५–६

४ – साकेत – मैथिलीशरण गुप्त—एकादश सर्ग—पृ० २७१

रचनाओं में बतलाते हुए लिखा है—

"मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक (अनकोनशस-कोनशस प्रोसेस) है तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्र-तत्र उपयोग भी किया है और उसे अपने विकास का अंग बताने की चेष्टा की है।[1]"

एक दूसरे स्थल पर पन्त ने अध्यात्म और भौतिक दर्शन की स्पष्ट छाया भी अपनी कृतियों में स्वीकृत की है। उनका कथन है:—

फ्राइड जैसे अन्तर्तम के मनोवैज्ञानिक 'इड्' के विश्लेषण में सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते है। वहाँ अवचेतन (अनकोनशस) पर, विवेक का नियन्त्रण न होने के कारण, वे भ्रान्ति पैदा होने का भय बताते हैं। भारतीय तत्व द्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलता पूर्वक पहुँचकर तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य वाह्यतः, सत्य की प्रतिष्ठा कर सके है। मैं अध्यात्म और भौतिक दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ।[2]

उक्त उद्धरण पन्त की रचनाओ पर मनोविज्ञान के अप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रभाव की पुष्टि करते है। उनके उपचेतन ने पाश्चात्य कवियों की निधियों का उपयोग भी किया है तथा फ्राइड के अहं सिद्धान्त का भी उनमें साक्षात्कार है, तभी तो उन्होंने 'इड्' की बात को साधिकार अभिव्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त फ्राइड के कला के मूल में काम-उन्नयन (सबलीमेशन) वाले सिद्धान्त का भी उन्होंने जिक्र किया है। उनका कहना है:—

"अभाव पीड़ित जनसमूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओं का सात्विक विकास (सबलीमेशन) किया जा सकता है।[3]"

पन्त जी अकेले फ्राइड से ही प्रभावित नहीं उन पर फ्राइड की अपेक्षा युंग की अमिट छाप अधिक विद्यमान है। युंग ने कला को बहिर्व्यावृत्ति तथा अन्तर्व्यावृत्ति के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है। पन्त ने अपने आधुनिक कवि के पर्यालोचन में निजी कृतियों की समीक्षा वहिर्मुखी (एक्सट्रोवर्ट) और (इन्ट्रोवर्ट) अन्तुर्मुखी स्वभाव के आधार पर की है। युंग का कथन है:—

चेतन मन की कृति में केवल विचारों की प्रधानता होती है। इस लक्ष्य से संपादित कला कुछ विशेष देश काल में अत्यधिक सम्मानित होकर परिस्थिति के

१—आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पन्त (पर्यालोचन) पृ० सं० १६

२—आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पन्त—(पर्यालोचन) पृ० सं० ३०

३— ,, ,, पृ० सं० ३७-३८

समाप्त होते ही उसके साथ ही विलीन हो जाती है। ऐसी कला में कलाकार अपने अनुभव को जानते हुए बुद्धि के द्वारा काम में लाता है। समिष्ट अज्ञात मन से सर्जित कला में मानव की व्यक्तिगत बुद्धि विचार अनैसर्गिक शक्ति के हाथों बिक जाती है। ऐसे कलाकार की कृतियों में भाव, भाषा और शैली की अनिवर्चनीय विलक्षणता उपलब्ध होती है। कलाकार के भाव अपरोक्ष अनुभूति से आते हैं।[1] पन्त इसको अपनी कृतियों के सम्बन्ध में इस प्रकार लागू करते हैं:—

सत्य के दोनों रूप है, शराबी शराब पीता है, यह सत्य है, उसे शराब नहीं पीनी चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविकता (फैक्च्यूयल) रूप है, दूसरा परिणाम का सम्बन्ध रखनेवाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है, वह मेरा संस्कार है, आत्म विकास (सबलीमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बर्हिमुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अन्तर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) स्वभाव। क्योंकि दूसरा कारण रूप अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है।[2]

अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सुमित्रानन्दन पन्त पर मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव है। उनका 'रजत शिखर' काव्य रूपक भी इसका प्रमाण है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक संतुलन ही जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह तभी सम्भव है जब इड् और ईगो में अभिन्नता हो। तात्पर्य यह है कि अन्तर्जगत् (अज्ञात-मन) वहिर्जगत् (सामाजिक अहं) का समझौता ही मानव जीवन के लिए श्रेय एवं प्रेय है। इसी मनोवैज्ञानिक स्थापना का प्रयोग पन्त जी ने—

'अन्तर्जग ही बहिर्जगत
बन जावे वीणापाणि।[3]'

इत्यादि पंक्तियों में किया है। वह अन्तर्जग (अज्ञात-मन) बहिर्जगत् (सामाजिक अहं) में सामंजस्य की याचना वीणापाणि से करते हुए पाये जाते हैं।

आधुनिक काव्य धारा में स्वरति (ओटो सैक्स) समरति (होमोसैक्स); आत्मपीड़न रति (मैसोचिज्म), पर पीड़न रति (सैडिज्म) अन्य रति (वोएरिज्म), वस्तुरति (फेटिशिज्म) आदि यौन विच्युतियाँ हिन्दी की प्रगतिवादी कविताओं में पायी जाती हैं जिनमें से कुछ यौन विकृतियों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं:—

1—Contributions to analytic psychology--Jung Pp. 239.

२—आधुनिक कवि पन्त—(पर्यालोचन) पृ० सं० १२

३— ,, ,, ,, ३३

स्वरति तथा समरति—वह हमारा मित्र है।
माता, पिता, पत्नी, सुहृद् पीछे रहे हैं छूट
ज्वलत् तारक सा,
वही तो आत्मा का मित्र है।
मेरे हृदय का चित्र है।[1]

वस्तुरति—सेज सुनहली।
कसे हुये बन्धन में चूड़ी का झर जाना
निकल गयी सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने मात्र रहा सुहाग भरा यह टुकड़ा।[2]

आत्मपीड़न रति—आओ मेरे आगे बैठो।
जैसे बैठीं होती काली काली नागिन, दो जिह्वा वाली,
मेरी आखों पर, गालों पर अपनी जलती सांसे छोड़ो।-[3]

मृत्युरति (नेक्रोफिलिज्म) यह महीन मलमल की सारी।
उसके नीचे नरम गुलाबी चोली से ये कसे हुये
पीनोन्नत स्तन, यह कुंकुम अक्षत से चर्चित माथा,
यह तन, किसी सुहागिन की अर्थी पर
बड़ी बड़ी चीलो के मानो तीक्ष्ण चक्षु से बसे हुये।[4]

उक्त वस्तु रति का चित्रण गिरिजाकुमार माथुर द्वारा हुआ है। आत्मपीड़न रति (मर्षकाम) की कामविकृति आरसी प्रसाद सिंह की नयी दिशा में, और मृत्यु रति, प्रभाकर माचवे के कापालिक शीर्षक में अत्युत्तम ढंग में बन पड़ी है। प्रगतिवादी कविताओं के अतिरिक्त छायावादी कविताओं में भी यौन-संगठन एवं यौन विच्युति के उदाहरण पाये जाते है।

डा० भगवानदास के मतानुसार सब मनोवेग आकर्षण या विकर्षण के रूप होते हैं। आकर्षण प्रेम और विकर्षण घृणा का रूप है।[5] अज्ञेय ने 'चिंता' की भूमिका में इस मानसिक अवस्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले या

१—छायावाद और प्रगतिवाद—सम्पादक देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ० १८१
२— ,, ,, ,, १८१
३— ,, ,, ,, १७७-७८
४—छायावाद और प्रगतिवाद—संपादक देवेन्द्रनाथ शर्मा १८२
5—Science of the emotions—Dr. Bhagawan Dass Ch. IV pp. 59-60

विकर्षण का, अथवा आकर्षण, विकर्षण का विभिन्न प्रवृत्तिओं के संतुलन द्वारा एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले जिसमें वाह्य रूप से कोई गति प्रेरणा नहीं है, किन्तु किसी न किसी प्रकार आंतरिक खिचाव बना रहना अनिवार्य है। नाटकीय भाषा में हम इसे पुरुष और स्त्री का चिरंतन संघर्ष कह सकते हैं।[१]

अज्ञेय की चिंता कृति में समाहित कविताओं के अन्तर्गत नारी सम्बन्धी उक्त तीनों उद्भावनायें स्वभावतः प्रस्फुटित हुई है। अचेतन मन के सामान्य कार्य ध्याना-कर्षण का उदाहरण अज्ञेय जी की रचना में इस प्रकार मिलता है—

दूर रहने की हृदय में ठानती क्या हो।
तुम पुरुष की वासना को जानती क्या हो।

अचेतन मन का असामान्य कार्य विकर्षण घृणा मनोवेग है ही। अज्ञेय जी ने इस विकर्षण का प्रयोग यौन विच्युति और कामात्मक प्रतीकवाद के एक अंग, सादवाद के अन्तर्गत, रचनाओं में किया है।

हैवलाक् एलिस के अनुसार सादवाद वह यौन भावना है जो भावना के केन्द्र व्यक्ति को कष्ट पहुँचाने की इच्छा से संयुक्त होता है, वह कष्ट चाहे शारीरिक हो या नैतिक।[२] इसी उपपत्ति की सिद्धि अज्ञेय जी की इस रचना से की जा सकती है —

मत हँसो नारी, मुझे अपना वशीकृत जान।
तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान॥[३]

स्त्री पुरुष के कर्षण की तीसरी मानसिक अवस्थिति आकर्षण विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों द्वारा उद्भूत आन्तरिक खिचाव है। अज्ञेय जी की रचनाओं में हम इस मनोवृत्ति का उदाहरण यौन मनोविज्ञान के आत्म प्रेमवाद की उपपत्ति के समान पाते है।

हैवलाक् एलिस आत्म प्रेमवाद की आत्म मैथुन का चरम और सर्वोच्च विक-सित रूप मानते हैं।[४] अज्ञेय जी के शब्दों में वह इस प्रकार है—

तेरी विरह जलन के पीछे सोयी थी जो मेरी छाया,
आड़ उसी की लेकर मैंने अपना आप भुलाया।
अपने से अपना था, प्रणय मिलन,
किया था किसका मैंने चुम्बन॥[५]

१—चिन्ता—अज्ञेय (भूमिका) पृ० सं० ५
२—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस (हि० सं०) पृ० सं० १९०
३—चिन्ता—(विश्वप्रिया) अज्ञेय पृ० सं० ४७ और ३४
४—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक एलिस (हि० सं०) पृ० सं० १३०
५—चिन्ता-विश्वप्रिया अज्ञेय—पृ० सं० ५१, ४०

नारी के प्रति नर का यहाँ इतना तादात्म्य कवि ने किया है कि उसे यौन-स्फीति के एक मात्र आधार चुम्बन का भी इतना ज्ञान नहीं कि वह किससे लिया था। वह अपनी छाया में ही सुध-बुध बिसार कर प्रणय का स्वांग रचने लगा।

आरसी प्रसाद सिंह की रचनाओं में भी यौन-मनोविज्ञान का विकर्षण विकृत रूप में उपस्थित हुआ है। कवि के इस विकर्षण में उसका अहं और भयावह हो उठा है, वह अपनी दमित-कामेच्छाओं का फ्राइडियन आरोपण घृणा के विकृत रूप में प्रस्तुत करते हुए कहता है—

इतना कौन प्यार का प्यासा तुमसे प्यार माँगता कौन।[1]

o o o o

किसने कहा कि सुन्दरि, करता हूँ मैं प्यार ?
किसने कहा कि हम दोनों में गोपनीय व्यवहार ??
तुम सुन्दर हो मैंने जाना, आकर्षण है यह भी माना,
लेकिन तुमसे प्रेम और मैं, करूँ ? असत्य, असम्भव ना, ना ॥[2]

विकर्षण के अतिरिक्त यहाँ कवि के अहं और इड् के संघर्ष का परिणाम आकर्षण और विकर्षण में लक्षित हुआ है। कवि अपने हीन भाव (Inferiority Complex) को महत् भाव (Superiority Complex) में परिवर्तित करने का इच्छुक है। इस मानसिक-प्रक्रम में यौन-विच्युति जन्य परिपीड़न (Sadism) को प्रश्रय मिला है। यहाँ परपीड़न का एक आधार निष्फलता (Frustration) विदित होता है। यह निराशा यौन वर्जना के फलस्वरूप काम की अतृप्ति में परिलक्षित होती है। मानसिक संतुलन शिथिल होने पर प्राय: यह निष्फलता आक्रमण (Aggression) का रूप ले लेती है। यहाँ क्रोध संवेग द्वारा आक्रमण मनोवृत्ति का प्रयोग कवि द्वारा इस प्रकार हुआ है—

क्या न इतना भी तुझे मेरे लिये अवकाश ?
क्या बुझा सकती न मेरी एक छोटी प्यास ॥[3]

यथार्थ में यहाँ कवि घृणा में आरोप का पुट लगाकर क्रोध संवेग से अपनी काम-पिपासा को शान्त करने का अभिलाषी है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की रचनाओं में भी अचेतन मन के सामान्य कार्य यौनेत्पीड़न, यौनस्फीति, स्पर्शानुभूति और प्रेम कला के लक्षण विद्यमान हैं।

१—नई दिशा—आरसीप्रसाद सिंह पृ० सं ६३
२— ,, ,, ५
३— ,, ,, १८, १९

हैवलाक् एलिस के मत में छिटके लहराते केस या (जूड़े अथवा चोटी में गुँथे) यौन प्रतीक हो सकते हैं। आँखों के बाद स्त्रियों के केशों के प्रति यौन आकर्षण सबसे अधिक होता है।[1]

यौन आकर्षण के लिए कवि की दृष्टि नारी की वेणी में उलझती दीखती है—

ज्यों मद्यप मदिरा को लख हो जाते हैं मतवाले।
वैसे आज सरस वेणी पर पागल हूँ मैं बाले॥[2]

यौन आकर्षण की प्रतिकृति वेणी पर रीझता-रीझता कवि नारी की प्रेम कला, यौन स्फीति और प्राक्क्रीड़ा के स्वप्नों मे निमग्न हो जाता है।

हरवर्ट स्पेन्सर प्रेम को काम का शारीरिक आवेग, सौन्दर्य भावना, लगावट और प्रशंसा भाव आदि में मानते हैं। मोटे तौर पर काम और मित्रता का समन्वय ही प्रेम कहा जा सकता है।[3] यह समन्वय इस पद में देखिए—

कल कल की कल से, पर में न आज जाने दूँगी।
मोह रही कैसे मादकता आज तुम्हें हर लूँगी॥

कवि की रचनाओं में यौन आकर्षण और प्रेम कला के अतिरिक्त स्पर्शानुभूति और यौन स्फीति के लक्षण इस प्रकार मिलते हैं—

भ्रमित मृगी सी भटक रही मैं तृषा दग्ध चाहों में,
अब तो कसलो धृष्ट मुझे, अपनी गोरी बाहों में।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंचल जी की रचनाओं में यौन संगठन का सुन्दर निदर्शन हुआ है। किं बहुना, छायावादी कवियों में जीवन से पलायन करके कल्पना के जगत् का निर्माण करने की जो भावना है वह उनकी अतृप्त वासनाओं की क्षतिपूर्ति का ही परिणाम है। कवि स्वयं चाहे अपनी अधीरता का कारण न जान सके किन्तु एक मनोवैज्ञानिक उसकी मानसिक व्याधि का अनुमान लगा सकता है।[5] कवि नरेन्द्र 'खोया खोया मन रहता है, सोया सा सूना संसार'[6] लिखकर किसी मनोग्रन्थि का ही तो प्रतिपादन करते हैं। इसमें काम-कुण्ठाओं के द्वारा

१—यौन—मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस पृ० सं० १७०-७१
२—मधूलिका—अंचल (वेणी) पृ० सं० १९
३—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस पृ० सं० ३०६ और ३०९
४—मधूलिका—अंचल (किरणबाला) पृ० सं० ९४
५—आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय पृ० १६०
६—प्रवासी के गीत—नरेन्द्र—गीत सं० (दिसम्बर १९३८) पृ० ६५

उत्पन्न उदासीनता की अभिव्यक्ति क्षतिपूर्ति के मानसिक प्रश्रम से हुई है। महादेवी वर्मा ने इस क्षतिपूर्ति के स्थान पर उन्नयन को अपनाया है। क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त मनोग्रस्तता की परिष्कृति उदात्तीकरण द्वारा अत्युतम मानी गयी है। डा० शम्भुनाथ पाण्डेय ने भी इस उन्नयन वाली पद्धति का उत्कृष्ट प्रयोग महादेवी वर्मा की छायावादी रचनाओं में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा में काव्य, चित्रकला और संगीत की जो उज्ज्वल प्रतिभा है, व्यक्तिगत वेदना को समष्टिगत करुणा में परिवर्तित करने की जो भावना है और चिर वियुक्ता आत्मा को (ससीम व्यक्ति को) निस्सीम प्रियतम में लय कर देने की जो व्याकुलता है, उसमें हम परिष्कार का भव्य रूप देख सकते हैं।[1]

छायावादी गीतों की रचना अर्द्धसुषुप्त अवस्था में ज्ञात होती है। स्वप्न जैसी विस्मृत, अर्द्ध-विस्मृत अभिव्यक्ति इन रचनाओं का श्रेष्ठ-उदाहरण प्रस्तुत करती है। महादेवी वर्मा इस मानसिक अवस्थिति का अपनी रचनाओं पर विशेष प्रभाव पाती हैं तभी उनका कथन है कि—

मैं अपने ही बेसुधपन में,
लिखती हूँ, कुछ, कुछ लिख जाती।[2]

अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि छायावादी कवियों के गीतों में अतृप्त-वासनाओं और विषम-काम-ग्रन्थियों का अहं निसर्ग वृत्तियों से आन्तरिक द्वन्द्व मानसिक साम्य के लिए प्रचुर मात्रा में हुआ है।

कथा-साहित्य और मनोविज्ञान—हिन्दी साहित्य में काव्य के अतिरिक्त कथा-साहित्य में भी मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट है। ग्रूज्ज और ब्लैंचर्ड का कथन है कि उपन्यासों में आधुनिक किशोर एकाकी प्रेमालाप की कहानियों को खोजता है, जिनको पढ़ने से वह अपनी अतृप्त जिज्ञासा की तृप्ति कर सकता है। लड़के लड़कियाँ ऐसे उपन्यासों को जिनमें प्रेम की कहानियाँ चित्रित की गयी हैं उनको अनवरत ध्यान से पढ़ते जाते हैं और कहानियों में कथित पात्रों के साथ तादात्म्यीकरण करते हुए वास्तविक प्रेमालाप का आनन्द लूट लेते हैं।

वस्तुतः मानव जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या जितनी स्पष्टतया उपन्यास द्वारा की जा सकी है, उतनी नाटक के द्वारा नहीं हो सकी है। इब्सन तथा टाल्सटाय के सदृश ही प्रखर बुद्धि वाले विद्वानों के ही लिए सम्भव हो सका है कि वे अपनी विलक्षण नाट्यकारी की कला के द्वारा सम्पूर्ण मानसिक जीवन का प्रदर्शन नाटक के द्वारा कर सके। अन्यथा साधारण नाटककारों के लिए दुरुह अवश्य है। मानव

१—आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय पृ० १६१

२—यामा—महादेवी वर्मा पृ० १५६

को पाला। वे पुत्र समर्थ होने पर माँ से अलग हो गये। कदाचित् वही स्त्री पर्यटन के लिए विदेश निकली। वहाँ उसे एक सौम्य युवक से भेंट हुई। इसकी उम्र उसके प्यारे पुत्र के ही बराबर ही थी। स्त्री युवक की हथेलियों और उसके जूआ खेलने के हस्तकौशल पर मुग्ध होकर उसकी ओर खिंच गयी। युवक जूआ में सब रुपया हार गया। उसे निराश जाता देख स्त्री का जी भर आया। पर युवक के लिए वह स्त्री केवल कामुकी मात्र ही थी। इसे सिद्ध करने में वह तनिक भी न हिचकिचाया बल्कि उसके साथ सब कुछ कर बैठा। स्त्री को इसमे अपार प्यार और तृप्ति का अनुभव हुआ। जाते समय स्त्री ने उस युवक को प्रचुर धनराशि दी और उससे जूआ न खेलने के लिए शपथ ले ली। किन्तु दूसरे दिन उस स्त्री ने युवक को पुनः उसी व्यसन मे अनुरक्त पाया। उससे इस दुर्व्यसन त्यागने की प्रार्थना स्त्री ने फिर की। इस प्रार्थना पर वह क्रोधित होकर स्त्री से लिया हुआ सब रुपया उसके ऊपर फेंककर आत्महत्या कर बैठा।"

यहाँ पर युवक में जूआ की आदत, उस स्त्री के साथ सहवास, स्त्री में उसके प्रति सुधार भावना, युवक का आत्म हत्या पर उतारू हो जाना, एक मनोवैज्ञानिक कौतूहल बना डालते हैं। इस कहानी में फ्राइड की मातृ प्रणय ग्रन्थि की प्रमुखता है। स्त्री युवक को पुत्र रूप में अज्ञात मन से देख रही है और उसे अपने पति की स्मृति में स्थानापन्न भी मानती है। यह दोनों क्रियायें फ्राइड की इडिपस ग्रन्थि से आक्रान्त हैं। जूआ किशोरावस्था की हस्तमैथुन प्रक्रिया का रूपान्तर है। और उसकी आत्म हत्या मनोग्रस्तता का ज्वलन्त उदाहरण है।

इसी मातृ-प्रणय ग्रन्थि का प्रमाण हमें हिन्दी में यत्र-तत्र मिलता है। इसी इडिपस-ग्रन्थि के चमत्कार हमें 'अश्क' जी के उपन्यास 'सितारों के खेल, में पाये जाते हैं। लता ने अपने चाहने वाले बंसीलाल को सर्वदा डाट-फटकार के सिवाय प्यार का नाम तक भी उसे नहीं सुनाया। वह प्रेम की भीख मांगता मांगता एक दिन ऊपर से गिरकर अपने अंग प्रत्यंग को पूर्णतया भंग कर बैठा। लता ने उसे बचाने के लिए अब कोई कसर न उठा रखी। बंसीलाल की मुखाकृति बिल्कुल बिगड़ गई, टांग और बाहें टूट गयीं। वह चेतना से विहीन केवल मांस का लोथड़ा मात्र ही अवशेष था। परन्तु अपने प्रेमी पर लता ने अपना सर्वस्व बलिदान करने की ठानी। इसी बीच में तुरंत मानसिक प्रक्रम फिर बदला और लता ने बंसीलाल को जहर देकर मृत्यु का ग्रास बना डाला।

यहाँ पर लता ने असहाय बंसीलाल को अज्ञात मन से पुत्र सदृश मातृ-प्रणय दिया। और जब तक वह पिता के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने रहा तब तक लता बंसीलाल को ठुकराती रही, क्योंकि माँ या प्रत्येक व्यक्ति में एक विरोधी तत्व सर्वथा मिलते है। एक ओर माँ के वात्सल्य से सने हुए अंचल से लता ने बंसीलाल के अंग-

भंग को ढका और दूसरी ओर जब उसने पति के मार्ग में उसे बाधक पाया अर्थात् डा० अमृतराय के पति बनने की स्थिति में जब उसे रुकावट के रूप में देखा तो उस बाधा का प्रतिकार बंसीलाल को जहर देकर किया गया।

यद्यपि प्रेमचन्द्र जी ने इलाचन्द्र जोशी आदि कथाकारों की भाँति मनोवैज्ञानिक सूत्रों का निर्वाह पग पग पर नही पाया जा सकता, पुनरपि उनके कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवाह स्वाभाविक रूप में मिलता है। यथा नाम तथा गुण के अनुसार जरा उनकी 'आत्म संगीत' कहानी की ध्वनि को ध्यान से सुनिये, जिसमें ज्ञात और अज्ञात मन के संघर्ष की प्रारम्भ से लेकर अन्त तक चर्चा है।

ज्ञात और अज्ञात मन का संघर्ष ही अन्तर्द्वन्द्व होता है। जब यह आन्तरिक द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो मनुष्य सोते सोते अनजाने में चारपायी से उठकर अपनी अतृप्तेच्छाओ की पूर्ति के लिए अर्द्धसुपुप्तावस्था में बहुत दूर तक जाकर तुरन्त वापिस चला आता है। 'आत्म संगीत' कहानी की कथावस्तु इसी अन्तर्द्वन्द्व की पराकाष्ठा पर आश्रित है, जिसमे सोना, अर्द्धसुपुप्तावस्था मे घंटो पैदल चलकर सचेत न होना, मनोविक्षिप्तता के ही प्रक्रम में, अन्त में तादात्म्य स्थापित करना, इत्यादि मानसिक घटनाओं के अतिरिक्त पूरी कहानी मानसिक-द्वन्द्व दश्यता पर आधृत प्रतीत होती है। रानी मनोरमा में इस मानसिक द्वन्द्व का भव्य निदर्शन हुआ है। रानी मनोरमा दिन भर के दान व्रत के उपरान्त मीठी नींद में सो गयी, स्वप्न में मनोहर ध्वनि को सुनकर वह राजमहल के बाहर निकल आयी। वह घंटों चलती रही। मार्ग में नदी ने उसका गतिरोध किया।[1]

मनोरमा की ये बाह्य चेष्टायें मनोवैज्ञानिक सांकेतिक चेष्टाओं से भिन्न नहीं। इसी अन्तर्द्वन्द्व में तन्मयता एवं विक्षिप्तता के भी लक्षण उसमें मिलते है। विक्षिप्तता में आत्मविस्मृति होती है और उसकी अन्तिम सीढ़ी तादात्म्यीकरण ही है। वही मनोवैज्ञानिक तथ्य कथाकार के शब्दों में उद्भासित है :—

"मनोरमा एक विक्षिप्त अवस्था मे माँझी के निकट जाकर उसके पैरो में गिर पड़ी। उसके रोमांच हो आया वह मस्त होकर झूमने लगी। उस पर एक आत्म-विस्मृति का भावावेश छा गया।[2]"

यहाँ मनोविक्षिप्तता में आत्म विस्मृति तदुपरान्त तादात्म्यीकरण का आभास मानसिक प्रक्रम का द्योतक है। मानसिक द्वन्द्व के बल पर मनोविज्ञान और आत्मतल्लीनता से भारतीय दर्शन का सामंजस्य सुन्दर शैली में स्थापित किया गया है।

कथा साहित्य में नाटक की मनोवैज्ञानिकता वर्त्तमानता का जितना सत्कार है

१— अग्नि समाधि—मुन्शी प्रेम चन्द पृ० २५९

२— „ „ २६५

उससे भी कहीं अधिक नाटक के प्राणतत्व से पले हुए संघर्ष की मनोवैज्ञानिकता का महत्व है। वैसे भी संघर्ष मौलिक रूप में नाट्यकला का शब्द है। इसमें दो विरोधी भाव एवं विचारों के कारण मानसिक संकल्प, विकल्प, द्वन्द्व, उद्योग, उत्पीड़न, अन्तर्मन्थन, असमंजस आदि की परस्पर विरोधी भाव सेना बलवती होती है। इसमें दो पक्ष एक दूसरे से टकराते हैं। मानसिक संघर्ष का चित्रण ऐसे रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे ऐसा विदित होता है कि जिस मनुष्य में संघर्ष का चित्रण किया जारहा है वह इसलिए नही है कि कोई विरोधी परिस्थिति एवं घटना उसको प्रेरणा दे रही है जिसके अभाव में इसका आविर्भाव सम्भव न था, बल्कि आन्तरिक लाचारी से वह संघर्ष स्वाभाविक भी हो सकता है।

नाटककार होने के नाते प्रसाद जी की कहानियों में इन दो प्रकार के नाटकीय संघर्षों की झाँकी हमें स्वाभाविक रूप में दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' कहानियों के पात्रों का विश्लेषण संक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :—

पुरस्कार की मधूलिका कुमार से प्यार भी करती है और घृणा भी। मधूलिका जहाँ राजकुमार को प्राणदण्ड दिलाने के लिए उत्सुक है वहाँ स्वयं भी पुरस्कार रूप में फाँसी के तख्ते पर झूलने को उतावली हो उठती है।

यही आलोड़न विलोड़न चम्पा के अन्तर्तम मे है। वह बुद्धगुप्त के प्रति जितनी उदार करुणार्द्र और प्रणयातुर है, उतनी ही कठोर भी। पितृहन्ता के रूप में देखकर कठोरता, रौद्रता और प्रतिहिंसा की सजीवता का विरोधाभास बुद्धगुप्त के प्रति उसमें आ झांकता है। विरोधी भावों की आंधी उसमें जोर पकड़े हुए है, उसी से उत्तेजित होकर वह कहती है :—

"मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ, अंधेर है जल-दस्यु ? मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।[1]"

मधूलिका का आन्तरिक द्वन्द्व स्वदेश प्रेम एवं प्रकृत प्रेम पर अवलम्बित है। आकाश दीप की चम्पा का अज्ञात मन पितृहन्ता के लिए प्रतिहिंसा के भाव छिपाये हुए हैं, लेकिन उसका इड उस पर पूर्णतया आसक्त है जिससे आन्तरिक द्वन्द्व एक लाचारी के कारण उपस्थित हुआ है।

आधुनिक मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव हम विष्णु प्रभाकर की भी कृतियों में पाते हैं। नाटकों के अतिरिक्त कहानियों में भी उन्होंने मनोवैज्ञानिक पृष्ठिभूमि का आधार बनाया है। उदाहरणार्थ नाग फांस शीर्षक कहानी को ही देखिये:—

"वृद्धा माँ कुछ पगली और अर्द्धविक्षिप्ता है। इसका कारण उसके सभी पुत्रों

१—आकाश दीप—जयशंकर प्रसाद पृ० सं० १९

का उससे दूर रहना है। केवल एक पुत्र है, जो अभी सुकुमार और कालिज का विद्यार्थी है। वह एक मास से मलेरिया ज्वर से पीड़ित है। एक से एक उत्तम औषधि का प्रयोग किया जाता है किन्तु सब निष्फल। कभी कभी कुछ लाभ होता है परन्तु वह फिर वैसा ही हो जाता है। डाक्टर उसके रोग को दूर करने के सभी साधन शक्ति अनुसार जुटाता है पर उसे कुछ ज्ञान ही नहीं हो पाता कि इस औषधि की असफलता का क्या कारण है? डाक्टर को दवा न देने की शंका होती है और इसके निवारणार्थ वह छिप कर सब क्रिया देखता है। वृद्धा दवा देने उठती है किन्तु अनजाने में उसे फेंक कर शुद्ध पानी ही लड़के को देती है। यह सब मानसिक प्रक्रिया उसमें इल्लती (Compulsive neurotic) के समान होती है।

यहाँ माँ के अज्ञात मन में फ्राइड के नियतिवाद का आधिपत्य है। वह बच्चे के स्वास्थ्य को इसलिए नहीं चाहती कि वह भी उसे त्याग कर दूर हो जायेगा पर उसका चेतन मन बच्चे के स्वास्थ्य के लिए निरन्तर व्यग्र और चिन्ताग्रस्त है। यह धारणा वृद्धा के अज्ञात मन में पूर्व ही नियत हो चुकी है। नियतिवाद में अभीष्ट साधकता की ही प्राथमिकता होती है। यह मनोवृत्ति चेतन के मार्ग में बाधक होकर घटना के क्रम में अप्रत्याशित मोड़ दे डालती है। यही यहाँ हुआ है कि वृद्धा बच्चे के स्वास्थ्य के लिए छटपटा रही है पर नियतिवादिता की विवशता उसे औषधि नहीं देने देती। यहाँ पर फ्राइड का कथन अक्षरशः संघटित होता है—कि तुम अपने स्वयं के भी स्वामी नही हो, बल्कि तुम्हें, जो कुछ तुम्हारे अपने मन में अचेतन रूप से चल रहा है, उसके बारे में भी बहुत ही कम जानकारी से सन्तुष्ट रहना होगा।[1] इसी अचेतन मन से अनुप्रेरित फूलो जैसे स्वभाव वाले मानव की कोमलता और सुशीलता में हम व्यवहार के समय पर काँटों की सी चुभन और कसक पा सकते है, और देखने में कर्कश स्वभाव से विनम्रता एवं विनय पाते हैं। यह प्रक्रिया अचेतन मन के असामान्य कार्यों का सांकेतिक रूप है जिसके आधार पर मनोवैज्ञानिक कथाकार इलाचन्द जोशी ने अपने एक कहानी संग्रह का नाम "कटीले फूल, लजीले, कांटे" रखा है। इस संग्रह की प्रत्येक कहानी के पात्र इसी मानसिक प्रक्रम से आक्रान्त है।

जोशी जी की 'क्रय-विक्रय' कहानी के मालिनी और राजेन्द्र पात्रों में यही मानसिक द्वन्द्व है। राजेन्द्र मालिनी के सामने विवाह के समय फूल-सा कोमल स्वभाव ही लेकर उपस्थित हुआ था, किन्तु व्यवहार में आते ही कांटा बन गया। मालिनी लजीले अर्थात् मुड़े हुए कांटे की भाँति पहिले तो अपना स्वभाव प्रकट नही कर सकी, पर अन्त में उसका यह रूप स्वपीड़क परितोर्ष मनोवृत्ति मे फूट पड़ा।

मालिनी की इच्छायें सद्गृहिणी बनने एवं पतिव्रत धर्म पालन करके पुनीत

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड पृ० सं० २५३

जीवन बिताने की थीं। धन-लोलुप राजेन्द्र ने अपने काम विकृति के आहत-तृतीय-पक्ष वश मालिनी को पर-पुरुष-अंकशायिनी बनाना चाहा, वह रोई पीटी और कई ऐसे पुरुषों से अपने पातिव्रत की सुरक्षा की, परन्तु अन्त में उसे विवश होकर कम्पनी बाग के एकान्त में आत्म समर्पण करना पड़ा। यह उसकी स्वपीड़क परितोप मनोवृत्ति का प्रक्रम था। तभी वह कहती है—'अपने हीन स्वार्थ के लिए तुमने मुझे वेश्या बनाकर छोड़ा है। इन दस वर्षों के भीतर मेरी बाहरी आत्मा ने राग-रंग से भरा मुक्त जीवन बिताया है, संदेह नहीं, पर मेरे भीतर दबी नारी की आत्मा ने जल जल कर श्मशान बनाते हुए तुम्हें अभिशाप दिया है।[1]" यह कह कर राजेन्द्र के निषेध करते हुए भी स्वपीड़क परितोष की चरम सीमा से प्रेरित होकर वह सुरेन्द्रनाथ के साथ चली जाती है जो राजेन्द्र के आहत तृतीय पक्ष के बिल्कुल प्रतिकूल है।

फ्राइड के व्यापक अर्थ में लिबिडो केवल प्रौढ़ कामुकता नहीं अपितु सभी प्रकार का प्रेम है चाहे वह प्रेम माता-पिता, भाई-बहिन आदि किसी से क्यों न हो। भाई-बहिन के इस फ्रायडियन प्रेम का मानसिक विश्लेषण 'किडनेप्ड' कहानी की नायिका सम्मोहिनी में अत्युत्तम ढंग से जोशी ने अभिव्यंजित किया है :—"जीवन मे मैंने कोई भाई अपनी माँ की कोख से नहीं पाया, फल यह हुआ कि बचपन में अपने साथ की दूसरी लड़कियों को अपने भाइयों पर स्नेह बरसाते देखकर मेरी यह सहज आकांक्षा मचल कर रह जाती थी। मैं अपनी सहेलियों के छोटे-छोटे प्यारे-प्यारे भाइयों पर अपने हृदय में उथला हुआ सारा स्नेह उड़ेल देने के लिए सब समय विकल रहती थी, पर अपने भीतर के किसी संकोच के कारण ऐसा करने से रह जाती थी। जब मैं बड़ी हुई तो अपने उस विकृत संकोच पर मैंने ऐसी जबरदस्ती विजय पायी कि मेरा निस्संकोच भाव दूसरी चरम और अस्वाभाविक स्थिति पर पहुंच गया। मैं अपने से या कुछ बड़े किसी भी सुन्दर और सुशील लड़के को देखती तो उसे अपने भाई की तरह प्यार करने के लिए अधीर हो उठती। जब मैं सयानी हो गई और स्त्री-पुरुष का प्रेम सम्बन्ध के दूसरे रूप का ज्ञान हो गया तो भी मेरे हृदय में प्रेम का वही रूप, भाई-बहिन के पारस्परिक स्नेह का भावी ही, घर किये रहा। निश्चय ही मेरे स्वभाव की एक विचित्रता थी।—मैं जो तुम्हें बलपूर्वक अपने साथ बम्बई भगा ले गयी, वह भी मेरे अतृप्त भ्रातृ-प्रेम की प्रतिक्रिया ही थी। उसके बाद गोपीनाथ से जब मेरा परिचय हुआ तो उसके प्रति भी मेरे मन में तुम्हारी ही तरह स्नेह भावना जाग उठी। उस भूल का निराकरण उस आत्म हत्या से हुआ। इसलिए जब अन्तिम व्यक्ति—विवाह का प्रस्ताव कर बैठा तो मैंने केवल इस डर से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि कहीं

१—कंटीले फूल, लजीले कांटे – इलाचन्द्र जोशी पृ० सं० ७०

वह भी कोई आत्मघाती काण्ड न कर बैठे।[१]" सम्मोहिनी का मातृ प्रेम इस सीमा तक पहुंच चुका कि अन्त में उस मातृ-प्रेम का हेत्वारोपण करके वह तीसरे व्यक्ति से प्रेम सम्बन्ध जुटा तो बैठी, फिर भी उसमें अधिकतर भ्रातृ प्रेम की ही गन्ध आती रही। फलस्वरूप पूर्ण पति प्रेम को न पाकर उसका पति उसे छोड़ कर भाग गया।

जोशी जी की 'सरदार' कहानी में हीनत्व-कुण्ठा है। डाका डालना, वेश्या-प्रवृत्ति आदि आत्महीनता के ही द्योतक एडलर ने बतलाये है। हीनत्व भावों ने 'सरदार' को डाकू बना दिया है। ये हीन भाव उसे शोषक अपर्णा कुमारी के पिता द्वारा प्राप्त हुए है। सरदार का डाका डालना केवल शोषितों को सहायता पहुँचाने तक ही सीमित है। सरदार ने मानसिक संतुलन बनाने के लिए आत्महीनता ग्रन्थि को शोषकों के द्वारा शोषित समाज के पर्युत्थान में, क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया में परिवर्तित किया है। वह अपर्णा के पिता से प्रतिशोध चाहता है, तभी अपर्णा को अपने गिरोह के बीच पकड़वाकर बुलाता है, परन्तु अपर्णा के लिए उसकी नसीहत केवल प्रायश्चित तक ही सीमित रहती है, और अपर्णा छोड़ दी जाती है।

इसी भाँति 'डाक्टर की फीस' नामक कहानी की नायिका जमुना भी इस ही आत्महीनता के कारण वेश्यावृत्ति अपना बैठी है ताकि मानव-समाज को अपने रूप से आकर्षित करके अधिकाधिक ऐसे ही ठुकरा सके जैसे उसे अपमानित किया गया है। जमुना के स्वप्न में फ्राइड की प्रतीक पद्धति का निर्वाह हुआ है। स्वप्न में वह और उसकी बच्ची अकूल समुद्र में बहते हुए मगरों के जबड़ों से बचना चाहती है किन्तु उसके छटपटाने में उसकी बच्ची हाथ से छूट जाती है।[२]' यहाँ फ्राइड के अनुसार मगर मृत्यु के प्रतीक है। अपनी बच्ची को मृत्यु की दाढ़ों से बचाने के प्रयत्न जारी है, किंतु निष्फल, यह आदेशात्मक स्वप्न है, क्योंकि लड़की की मृत्यु हो ही जाती है।

जोशी जी की दूसरी कहानी 'प्लैनचेट' में फ्राइडियन विस्तारण (सैकेन्डरी एलोबोरेशन) के अनुसार स्वप्न का कथानक लघु है किन्तु वह विस्तृत रूप में देखा गया है। लालाशंकर लाल को अपनी पत्नी ब्रजेश्वरी के मरने के बाद जो उसके सम्बन्ध में स्वप्न दीखा है वह पूर्णतया विस्तारण-स्वप्न पद्धति का उत्कृष्ट नमूना है।

स्वप्न में ब्रजेश्वरी ने बतलाया है कि उसकी मृत्यु का कारण अतृप्त इच्छाओं को दमित कर बैठता है तभी अज्ञात मन में वह इच्छायें अपना अज्ञात वास कर बैठती हैं। इसीलिये ब्रजेश्वरी में अन्तर्द्वन्द्व का विप्लव इन शब्दों में उठ खड़ा होता है।

१—कंटीले फूल, लजीले कांटे—इलाचन्द्र जोशी—पृ० सं० १०२, १०३

२—कंटीले फूल लजीले काँटे—इलाचन्द्र जोशी—पृ० सं० २०-२१

"आरम्भ में मैंने अपने मन की इस अवस्था को एक साधारण-सी बात समझकर उसे कोई महत्व ही नहीं देना चाहा पर धीरे-धीरे मेरे अनजान में या जान में—इस बात को लेकर मेरा मन अस्थिर होता चला गया और एक अनौखी बेचैनी मेरे भीतर समा गयी जो एक क्षण के लिए भी मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहती थी। मेरी भक्ति-भावना एक दूसरे ही मनोभाव के रूप मे बदल गयी। जब में कीर्तन के समय या घर पर एकान्त ध्यानावस्था के क्षणों में कृष्ण का ध्यान करने लगती तो उनकी सांवरी सलौनी छबि मेरे मन की आँखों के आगे राधा मोहन शर्मा के रूप में बदल जाती। मै इस भाव को भयंकर पाप समझकर कितना ही छटपटाती, अपने चचल मन के साथ भयकर लड़ाई लड़ती, पर मेरे सब प्रयास निष्फल जाते। राधा मोहन शर्मा किस प्रकार मेरे मन से हटते ही न थे। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं इस तरह पागल हो जाऊंगी।"[1] स्वप्न में ब्रजेश्वरी ने अपनी समस्त मानसिक हलचल और अतृप्त कामेच्छा का वर्णन विस्तार से कह सुनाया है। एक दिन कीर्तन से लौटते समय जब वह तांगे से गिरती गिरती राधा मोहन शर्मा द्वारा सम्हाल ली जाती है तो उसकी आत्मा ने तूफानी ताल से हिलोरें लेना प्रारम्भ कर दिया। घर पहुंचने पर उसके हृदय के आस-पास अनौखी फड़फड़ाहट होने लगी और बीच बीच में पसलियों में तीखी पीड़ा। यही मानसिक पीड़ा रोगी बनी और दो वर्ष बाद उसे मृत्यु शैय्या पर सोना पड़ा। इतना पढ़ते ही वकील साहब की नीद उचट गयी। उन्होंने ब्रजेश्वरी के स्वप्न पर विचार किया। यदि डाक्टरी इलाज की अपेक्षा मनोग्रस्तता का निवारण कर दिया जाता तो जीवन सुरक्षित था। पर इस मानसिक पीड़ा को समझने के लिए उनके पास समय न था। वकील उसी चिन्ता मे डूब गये।

जोशी जी की 'रुक्मा' कहानी में रुक्मा का प्रतिगामी स्वप्न अपने अन्दर अधैर्य और चिन्ता स्वप्न के कुछ अंशों को भी संजोये हुये है। रुक्मा को उसके पति कमलापति ने यद्यपि सब साधन आकर्षण हेतु जुटा दिये, किन्तु वह अपने साथी तिलोकसिंह को न भूली। जब कमलापति की आर्थिक स्थिति खराब हो गई और अपनी धूर्तता एवं लम्पटता के आधारभूत रुक्मा को बहुत सताने लगा तो उसने पड़े पड़े यही प्रतिगामी स्वप्न देखा जिसमें अधैर्य और चिन्ता का भी अंश था। उसे अपना पुराना साथी त्रिलोकसिंह मिला और रुक्मा के पूछने पर उसने बतलाया कि अभी तेरी शादी नहीं हुई। हमारी तुम्हारी शादी साथ साथ ही होगी। किवाड़ों की आहट के साथ उसका यह स्वप्न भंग हो गया।[2] और वह उसी नरकलोक में सिसकी भरने लगी।

१—कँटीले फूल लजीले कांटे — इलाचन्द्र जोशी पृ० सं० ३१—३२

२—कँटीले फूल लजीले कांटे —इलाचन्द्र जोशी—पृ० ४६ से ४८ तक

फ्राइड की आकुंचन स्वप्न पद्धति के अनुसार 'रेल की रात' कहानी में स्वप्न का संक्षिप्त रूप है, पर उनकी व्याख्या का आकार विस्तृत है। विश्वविजयिनी के सम्बन्ध में महेन्द्र इसी स्वप्न को देखता है।[1] स्वप्न में विश्वविजयिनी की हाव-भावमय क्रियायें स्पष्ट न होकर केवल एक रंगीन-रेखा-रूप में परिणत हुई हैं। अत-एव यह आकुंचन स्वप्न है। आँखों का एकात्म होकर अन्त में विभक्त हो जाना वियोग के चिन्हों की ओर संकेत है जो स्वयं महेन्द्र विश्वविजयिनी को चाहते हुए भी पीछे नहीं देख पाया

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'पर्दे की रानी' है। नायिका में विकृतियों का ऐसा घटाटोप है कि एक विकृति दूसरी विकृति से इस भांति संश्लिष्ट है जिससे किसी भी विकृति का पूर्ण आभास न मिलकर केवल विरोधाभास ही हाथ लगता है।

यद्यपि पूरा उपन्यास निरंजना की अज्ञात-प्रतिहिंसा-मनोवृत्ति से ओतप्रोत है। परन्तु उसमे स्थानान्तरण और एलेक्ट्रा ग्रन्थि का भी पुट मिलता है और अन्त में उदात्तीकरण भी आ झांका है।

अज्ञात प्रतिहिंसा की विनाश प्रवृत्ति निरंजना में जन्मजात नही वरन् वह जीवन की कुछ विशेष परिस्थितियो और समाज के उत्पीड़न द्वारा जागृत हुई हैं। जब इन्द्रमोहन के पिता मनमोहन निरंजना के रक्षक बन जाते है और हठात उनमें निरंजना के प्रति वेश्या की पुत्री समझकर अज्ञात मे कौमार्य खंडित करने की काम विकृत्ति घर कर जाती है तभी उद्दाम-काम-पिपासा की लौ इन्द्र मोहन मे अनजाने या जाने मे निरंजना द्वारा जलायी जाती है और वह अतृप्त-काम-वासना की शीतल आँच में जीवन-भर तड़पता रहता है। यह प्रतिहिंसा की विनाश प्रवृति निरंजना में यहाँ तक बढ़ जाती है कि इन्द्रमोहन स्वपीड़क परितो मनोवृत्ति का आश्रय ले बैठता है। यहाँ तककि वह अपनी विजय इसी में समझता है कि निरंजना के प्रेम के लिए उसी के सामने रेल के इन्जन से कूट मरता है।

निरंजना में स्थानान्तरण और ऐलेक्ट्रा ग्रन्थिका प्रस्फुटन शीला के प्रति अटूट स्नेह एवं अज्ञात में प्रतिहिंसक भाव के आते ही दीखने लगता है। निरंजना की मां वेश्या थी, उसने उसके पिता को छला था। इस छलना की प्रतिक्रिया निरंजना के अज्ञात में पढ़ी थी। उसके पिता को खूनी बनने के लिए बाध्य करने वाली वैश्या माता के विरुद्ध विद्रोह की भावना के अंकुरित होते ही निरंजना ने स्नेहशील शीला पर अपनी माँ को स्थानन्तरित कर डाला। यह सब पितृ-प्रणय ग्रन्थि के ही कारण हुआ। अत: शीला के प्रति अज्ञात प्रतिहिंसा के परिणामस्वरूप निरंजना हत्याकारिणी सिद्ध होती है और उसमें स्थानान्तरण एवं एलेक्ट्रा ग्रन्थि स्वाभाविक आ जाती है।

१— ,, ,, पृ० सं० १३१

इस विनाश सूचक प्रतिहिंसा प्रवृति के अतिरिक्त 'पर्दे की रानी' में अहं (ईगो) का प्रबल आवेग है। इस उपन्यास में यह अहंभाव व्यष्टिगत है, क्योंकि समष्टिगत अहंभाव अतिवृहत् और व्यापक होता है। साम्राज्यवादी, पूँजीवादी राष्ट्रों में यही अहंभाव पाया जाता है। जब एक राष्ट्र अपने को दूसरे राष्ट्र से अन्यायपूर्ण अपमानित और धर्षित महसूस करता है तब समष्टिगत अहंभाव का जन्म होता है। आज समाज में अहंभाव का प्राबल्य है।

"पर्दे की रानी" का अहंभाव भस्मासुरीय अहंवादी मनोवृत्ति का प्रतीक ज्ञात होता है। निरंजना और इन्द्रमोहन दोनों ही इस अहभाव की पराकाष्टा के निदर्शन ज्ञात होते है। पहले तो इस विकृति अहंवाद का आखेट निरंजना होती है।

उसका अह उभय भ्रष्ट है, क्योंकि वह उच्च शिक्षा संस्कृति से आन्दोलित होकर जन सामान्य के सुख दुःख मय अनुभूतियों से दूर है। इसी विकृति के कारण उसे अपनी अनुभूतियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण ज्ञात होती है। और वह सोचती है कि मेरी अनुभूति जन-साधारण से कही श्रेयस्कर है। दूसरी ओर अपने आपको वेश्या एवं खूनी पिता की पुत्री समझ कर निरंजना स्वय को हेय एवं सामान्यजन समूह से निम्न समझती है। उसमे इसी विकृत-अहंवाद का विरोधाभास नजर आता है, क्योंकि वह वेश्या माँ और खूनी पिता की पुत्री अन्तर्मन में सोचे हुए है। अतः समाज से प्रतिशोध लेने की उत्कट इच्छा उसके चरम-विकास-प्राप्त अहंभाव की नीव पर आधारित है।

इन्द्रमोहन भी इसी अहंवाद की मनोवृत्ति से प्रताड़ित है। उसके अन्तर्मन में यह कूट-कूट कर भावना दबी पड़ी है कि जिस स्त्री ने काम ज्वाला को प्रज्वलित कर उसे शान्त न कराके और होली जलादी है उस पर विजय अवश्य प्राप्त करनी है। शीला से विवाह करने का कारण भी इन्द्रमोहन यही बतलाता है जिससे निरंजना उसे स्वच्छन्दवाद न समझ कर अपना ले। उसकी यह विनाशमयी अहंवादी मनोवृति चरमसीमा का उल्लंघन कर जाती है और उसकी पूर्ति के लिए वह अपने जीवन की बाजी भी लगा देता है।

निरंजना का अहंभाव और इन्द्रमोहन के प्रति प्रतिशोध भावना का एक भयंकर द्वन्द्व गुरु जी के शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त होता है: —

"इन्द्रमोहन जी को इस कदर ढीठ बनने का प्रोत्साहन तुम्हीं ने जानकर या अनजान में दिया। तुम्हारा प्रत्येक रंग और प्रत्येक ढंग उस चरम स्थिति को निकट से निकटतर लाने के लिए सिद्ध हुआ, पर जब वह चरम अवसर एकदम सिर पर आकर सवार हो गया तो उसके मुक्त होने के लिए जितना तुम छटपटायीं उतना शायद उस स्थिति में कोई दूसरी स्त्री नहीं छटपटाती — ऐसा मेरा विश्वास है। तुम्हारी प्रकृति के भीतर एक अत्यन्त भयंकर विरोधाभास वर्तमान है, नीरा।"

निरंजना इसे स्वीकृत करती हुई कहती है—

"इसीलिये तो मुझे अपने पागल होने का डर है, गुरू जी! केवल एक ही नहीं—मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान है, मुझे ऐसा लगता है। कभी-कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र-विचित्र संस्कारों के स्तर एक के ऊपर एक—इस सिलसिले से जमे हुये है, और उनमें से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वो से मेल नहीं खाते। उन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल स्वभाव भयंकर भाव से दबा पड़ा है। मेरी वह मूल प्रकृति कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारे छोड़ती है और कभी स्निग्ध शीतल जल धारा बरसाती है। पर मैं न पहले का कारण जानती हूँ, न दूसरे का। मैं अपने भीतर के विचित्र संस्कारों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक कठपुतली मात्र हूँ। न अपने जीवन का कोई विशेष लक्ष्य मुझे दिखाई देता है, और न अपने अस्तित्व की कोई उपयोगिता ही मेरी समझ में आती है। मै स्वयं अपने लिए एक पहेली हूँ, गुरू जी।[1]"

'पर्दे की रानी' उपन्यास जैसा कि नाम से स्पष्ट है स्वयं ही मनोविश्लेषण की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस तथ्य को शीला ने निरंजना के समक्ष रखते हुए कहा है—"तुम्हारा नाम होस्टल की लड़कियो ने जो 'पर्दे की रानी रखा, वह रूपक के अर्थ में मुझे अत्यन्त सार्थक जान पड़ता है। बाहर से तुम्हारे समान बेपर्दा स्त्री संसार में शायद ही कोई दूसरी मिले, पर भीतर से—अपने अन्तर्जगत् में—तुमने अपने को चारों ओर ऐसे गहन पर्दों से घेर रक्खा है कि कोई बड़े गौर से उसके भीतर झाँकने की चेष्टा करें तो भी तनिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।[2]

अज्ञेय के 'शेखर—एक जीवनी' में बाल मनोविज्ञान, पारिवारिक ग्रन्थि और मानसिक नियतिवाद के उपक्रम पाये जाते है।

शेखर में बाल मनोविज्ञानी। द्वारा निरीक्षित फ्रिटिज् बालक से समानता रखता है। जैसे फ्रिटिज् ईश्वर की व्यापकता के प्रश्न करता है वैसे ही शेखर भी। शेखर अपनी बहिन सरस्वती से पूछता है—

शेखर—सब शरीर भी ईश्वर बनाता है।
सरस्वती—हाँ।
शेखर—सब कुछ ईश्वर कर सकता है।
सरस्वती—हाँ।[3]

१—पर्दे की रानी इलाचन्द जोशी—पृ० ६६–१०० चतुर्थ संस्करण संवत् २०१५
२— ,, ,, पृ० १५३ ,, ,,
३—शेखर एक जीवनी—अज्ञेय—पृ० सं० ६० द्वितीय संस्करण १६४६

उसकी पारिवारिक ग्रन्थि के सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय का कथन उल्लेखनीय है—

"फ्राइड ने पारिवारिक रोमान्स का जो चित्र उपस्थित किया है, पिता का पुत्री के प्रति, भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति, यौन-भाव का आकर्षण होना, माता-पिता के यौन प्रणय व्यापार को देख लेने की बालक में उत्सुकता होनी और उसे देख लेने मे सफल होना, इनकी मानसिक प्रतिक्रिया इत्यादि का सुन्दर और कलात्मक दर्शन शेखर से बढ़कर और कहाँ पाया जाता है।"[१]

बहिन को छूकर शेखर कहता है—"कितनी अच्छी लगती हो तुम, और बहिन भी उसे समझती है। वह फिर हँसती है और बहुत क्षीण सी लज्जा से अधिक सुन्दर हो उठती है।[२] 'कोठरी की बात' में सुशील, शेखर का ही लघु किन्तु भिन्न व्यक्तित्व है। इन दोनों में अज्ञेय जी ने मानसिक नियतिवाद का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह सुशील पात्र 'कोठरी की बात' नामक कहानी में दोहरा व्यक्तित्व धारण किये हुये है। शेखर में बहुव्यक्तित्व का घटा-टोप है। इस भाँति शेखर—एक जीवनी का नियतिवाद शेखर तक सीमित न रह कर सुशील में भी जा पहुँचा है।

डा० उपाध्याय की दृष्टि में अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कथाकार है। उनका मत है कि जैनेन्द्र ने भी अपनी कहानियो में मनोविज्ञान को अपनाया है पर उनकी दार्शनिक प्रवृत्ति पर्याप्त दूर तक उन्हें अभिभूत किये हुये हैं, इलाचन्द्र में अवश्य मनो-वज्ञानिक आग्रह बढ़ा हुआ है पर उनकी कथा शैली वही पुरानी है। पर अज्ञेय जी वर्ण्य वस्तु और उसके विन्यास में विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं।[३]

अज्ञेय जी की अलिखित कहानी में आरोपण ऊर्ध्वगमन और फ्राइडियन स्वप्न पद्धति का प्रयोग पाया जाता है। स्वयं पात्र इन उपपत्तियों को स्पष्ट करता हुआ मिलता है:—

पता नहीं क्यो मैं चौक कर उठ बैठा। मैंने जाना, मैं वह सब पढ़ नहीं रहा था, वह स्वप्न में ही मेरी कल्पना दौड़ रही थी, वह मेरे जागृत विचारों का एक प्रोक्षेपण (प्रोजेक्शन) मात्र था।[४]

'पहाड़ी जीवन' नामक कहानी में भी कथाकार ने स्वयं मनोवैज्ञानिक उप-पत्तियों का निदर्शन पूर्ण सफलता से किया है। इसमें शिशुकालीन मातृप्रणय ग्रन्थि

१—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डा० देवराज उपाध्याय पृ० सं० १६७

२—शेखर एक जीवनी—अज्ञेय पृ० सं० ८७

३—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज पृ० सं१ २१०

४—परम्परा—अज्ञेय पृ० २३ द्वि० सं० १९४६

का पर्यवेक्षण समुचित रूप में किया है:—

एक स्थल पर कथाकार कहता है— गिरीश का चेतन मन उस स्त्री की बात पर विचार कर रहा था और स्वल्प चेतन में (सबकान्शस) निश्चय कर रहा था कि करुणा को पत्र लिखना है। बच्चा जब माँ को मांगता है और पाता है केवल एक स्त्री जो किसी दूसरे की पत्नी है, तब उसकी आत्मा दूसरे रास्ते में पड़कर वह कमी पूरी करना या छिपाना चाहती है संगीत द्वारा, शारीरिक परिश्रम द्वारा, आत्म-पीड़न द्वारा और सबसे बढ़कर दिवास्वप्नों द्वारा।[1] किमधिकम् अज्ञेय जी के उपन्यास और कहानियाँ दोनों परोक्ष और अपरोक्ष रूप में मनोविज्ञान से पूर्णतया अनुप्राणित हैं।

डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में जैनेन्द्र पर फ्राइड का वैसा प्रभाव नहीं है जैसा अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी पर है। जैनेन्द्र के उपन्यासों को फ्राइडियन नहीं कह सकते हैं। यदि कहना ही है तो उन्हें गेस्टाल्टवादी उपन्यासकार कहेंगे।[2] 'त्याग-पत्र' उपन्यास की मृणाल, सुनीता, उपन्यास की सुनीता और हरिप्रसन्न, परख उपन्यास की कट्टो नायिका में गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान की पूर्ण झलक है। कट्टो और बिहारी का यह संकल्प कि हम एक होगे। एक प्राण दो तन होंगे। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा। इत्यादि स्वोक्ति में गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का पूर्णतया निर्वाह हुआ है।

गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से जैनेन्द्र की 'तत्सत्' कहानी अत्युत्तम है। इस कहानी में खण्ड के पूर्व सम्पूर्ण के अस्तित्व का समर्थन संपूर्णवादी मनोविज्ञान की पद्धति पर किया गया है। कहानी का सन्देश बड़े पीछे है, वन पहिले है, अन्य चीजें नहीं है। सम्पूर्ण आकृति पूर्व है तथा खण्ड पीछे हैं। यही गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का सिद्धान्त है।

सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान के अतिरिक्त जैनेन्द्र की कहानियाँ फ्राइडवाद और बाल मनोविज्ञान से भी अनुप्रेरित हैं। निस्तार, ध्रुवयात्रा, परिवर्तन, उर्वशी, प्रतिभा, रत्नप्रभा, वीट्सि में अतृप्तदमित-कामेच्छा का अप्रतिभ प्रभाव है। जय-सन्धि की कहानी में बाल मनोविज्ञान है। 'पाजेब' के चोर में भी बालक के मनोविज्ञान का धीमा आलोक पाया जाता है।

उपन्यासों में मृणाल, कल्याणी, मोहिनी और अनिता आदि पात्र अहं और इड् के घात-प्रतिघातों से भयंकर आन्तरिक द्वन्द्व की अवतारणा कर बैठे हैं। जैनेन्द्र की 'बिल्ली का बच्चा' कहानी में फ्राइडियन-स्थानान्तरण है। 'शरबती' में अपने

१— ,, ,, १३१ ,,

२— आ० हि० कथा साहित्य और मनोविज्ञान— डा० उपाध्याय— पृ० १२०

भाई का स्थानान्तरण बिल्ली के बच्चे में हुआ है। 'एक रात' नामक कहानी का जयराज न्यूरोटिक है। जयराज मेज पर आ बैठा और होल्डर से ब्लाटिंग पैड पर लिखा। लिखा कहें कि खींचा, यह होल्डर से, निब से नहीं ब्लाटिंग पैड पर, कागज पर नहीं लिखा नहीं खींचा।[1] एक मनोविश्लेषण पद्धति में विक्षिप्त व्यक्ति की खींची गयी टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें एवं अनर्गल वाक्यों से उपचार का आन्तरिक स्वास्थ्य बनाया जाता है-वही पद्धति यहाँ अपनायी है।

निदान, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आधुनिक मनोविज्ञान को ज्ञात या अज्ञात रूप मे अपने व्यक्तित्व मे समाहित करने वाले औपन्यासिकों में स्थापत्य कला की गुरू गम्भीरता, उच्चता, उदारता और भव्यता लुप्त हो गयी है। उनमें नाटकीय प्रभाव (ड्रामटिक इफेक्ट) गीतिमयता (लीरिसिज्म) है, वे प्रबन्ध-काव्य के मुक्तक गीतियों के अधिक समीप है। जैनेन्द्र और अज्ञेय को हम गीति औपन्यासिक (लीरिक नावलिस्ट) कह सकते है।[2]

तात्पर्य यह है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता (नरेशन) की अपेक्षा नाटकीयता (ड्रामाटिसेशन) की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है, क्योकि नाटकीयता का अनुकरण करके उनकी घटनाओं का संयोजन कुछ ऐसी शैली पर आधृत होता है जिससे वे स्वयं स्फूर्त एवं प्रवहमान प्रतीत होती है और उनमें अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान हो जाती है।

इस भाँति मनोवैज्ञानिक उपन्यास बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होते है। उनमें पात्रों की मूलप्रेरणा का निर्देशन होता है। उसका सम्बन्ध वक्ता और श्रोता के स्थान पर अभिनेता और दर्शक पर अवलम्बित होता है। जिस प्रकार दर्शक नाटककार की ओर न देकर अभिनेता के अभिनय कौशल और उसके सहारे मूल वृत्तियों का ही अवलोकन करता है, उसी प्रकार पाठक भी उपन्यास में पात्रों की मानसिक अभिवृत्तियों का पर्यवेक्षण करता है। इससे यह स्पस्ट है कि नाटकों का मनोविज्ञान से अतिनिकट का सम्बन्ध है, क्योंकि नाटकों की मनोवैज्ञानिकता को अपनाकर उपन्यास मनोग्राही बनता जा रहा है।

उपन्यास की अपेक्षा नाटक का मनोविज्ञान से अतिनिकट का सम्बन्ध— आज के उपन्यास ने नाटक के समकत्रय वाले सिद्धान्त का किंचित् परिवर्तित रूप ही अपना रखा है। वह नाट्य कला के उपयोगी अंग-प्रत्यंगों को अपने अनुकूल बनाकर अपने सीमित क्षेत्र को विस्तृत करने में अनुरक्त है।

नाटक की कला प्रत्यक्ष है, क्योकि नाटक में समस्त घटनायें दर्शकों की दृष्टि

१—**एक रात—जैनेन्द्र—पृ० १८ (द्वितीय संस्करण) सरस्वती प्रेस**

२—**आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोवैज्ञानिक—डा० देवराज उपाध्याय पृ० ३४०**

के आगे रंगमंच पर पात्रों द्वारा साक्षात् रूप में अभिनीत होती है। दर्शक अभिनेता के हाव-भाव उसकी सांकेतिक चेष्टायें एवं शारीरिक बाह्य क्रियाओं को अपने नेत्रों से आमने-सामने देखता है जिससे उसे मानवीय मनोविज्ञान की एक झलक पाकर राहत ही नहीं मिलती अपितु अन्तदर्शन द्वारा उसको एक गूढ़ अनुभूति के साथ तादात्म्य करने का अवसर भी उपलब्ध होता है। आंखों के साथ-साथ श्रवणेन्द्रिय भी अभिनेताओं का वार्तालाप सुनने में तल्लीन हो जाती हैं। पात्रों के कथोपकथनों में प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति हो उठती है। नाटक की यही गतिविधि मनोविज्ञान की दृष्टि से जीवन के अति निकट ला खड़ा करती है।

निष्कर्षत: नाटक में मानव के अन्ततंम को अपील करने की जो क्षमता प्राप्त है वह उपन्यास में नहीं है। उपन्यास को साथ देने वाली बुद्धि हो सकती है, पर मानव भावनायें नाटकों के समर्थन में जुटी रहती है, यह सब नाटकीय वर्तमानता के ही कारण होता है। इस प्रकार नाटकों में नाटकीय वर्तमानता की सजीवता मनोविज्ञान के अति निकट सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त नाट्य साहित्य में मनोवैज्ञानिक परंपरा भी स्वाभाविक रूप में मिल जाती है। आधुनिक हिन्दी नाटकों की प्रवृत्तियों पर मानवीय मनोविज्ञान की इस स्वाभाविक परम्परा के साथ साथ प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में नवीन मनोविज्ञान का प्रभाव भी स्पष्टतया प्रतीत होता है। अतएव यहाँ आधुनिक हिन्दी नाटकों की प्रवृत्तियों एवं नाट्य साहित्य में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक परम्परा का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव दिखाना अपेक्षित है।

इसी दृष्टि से आगे वाले प्रकरणों में क्रमश: आधुनिक हिन्दी नाटकों की प्रवृत्तियों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध और नाट्य साहित्य में निहित मनोवैज्ञानिक परम्परा का परोक्ष या अपरोक्ष रूप में हिन्दी नाटकों पर प्रभाव प्रस्तुत है।

—o:o—

दूसरा अध्याय

आधुनिक हिन्दी नाटकों की प्रवृत्तियों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध

और पौरस्त्य एवं पाश्चात्य नाट्य साहित्य में निहित मनोवैज्ञानिक परम्परा का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव

आधुनिक हिन्दी नाटकों की प्रवृत्तियों और उनका मनोविज्ञान से सम्बन्ध—भारतेन्दु काल के नाटक आदर्शवादी, सुधारवादी, राष्ट्रवादी, स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी हैं। भारतेन्दु-युग के अन्त में बंगला नाटककार द्विजेन्द्रलालराय के माध्यम से शेक्सपियर की स्वच्छन्दता और भावुकता हिन्दी नाटकों में आना प्रारम्भ हो गयी थी। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रसाद के नाटकों में दार्शनिक प्रवृत्ति, भावुकता आन्तरिक-द्वन्द्व, करुणा, रोमानी प्रवृत्ति और स्वगत भाषणों का बाहुल्य रहा। यद्यपि प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक रहा है, लेकिन उनका चरित्र चित्रण पाश्चात्य शैली पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में प्रसाद के नाटकों में रस और मनोविज्ञान का अपूर्व समन्वय है। इस मत का समर्थन डा० ओझा द्वारा भी हुआ है। डा० दशरथ ओझा ने भारतेन्दु और प्रसाद की प्रवृत्तिगत नाट्यशैलियों के सम्बन्ध में लिखा है कि भारतेन्दु युग में भारतीय और यूरोपीय नाट्यशैलियाँ पृथक्-पृथक् धाराओं में प्रवाहित हो रही थीं, प्रसाद जी ने उनका एकीकरण कर दिया। उनकी प्रतिभा से पश्चिम का मनोवैज्ञानिक चरित्र विकास और अन्तर्द्वन्द्व भरत नाट्यशास्त्र के रस प्रवाह में सम्मिलित हो गया।[1] पर मनोविज्ञान और रस की यह धारा प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों में अक्षुण्ण न रह सकी। पश्चिम की रोमांस और भावुकता की प्रतिक्रिया का प्रभाव इस काल के नाटकों पर पड़ा, और पश्चिम के इब्सन और शा मिश्र जी के पथ-प्रदर्शक बने। रस पद्धति शिथिल होती गई मनो-विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उत्कर्षता की ओर प्रवृत्त हुई। डा० वेदपाल खन्ना ने भी इस मत का प्रतिपादन करते हुए आधुनिक हिन्दी नाटक के इस काल (१९३३-१९४८) को अत्यधिक सुविकसित और सुसमृद्ध बतलाया है। उनकी मान्यता है कि इस काल

१—हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० सं० ५४५

में प्राचीन नाट्य कला का प्रभाव शनैः शनैः कम और इसके विपरीत पाश्चात्य विचार धारा और नाट्य विधान का प्रभुत्व बढ़ने लगा। इस काल के नाटक फ्राइड, एडलर, युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इब्सन, शा, टाल्स्टाय, चेखव आदि नाटककारों की नाट्य कला के प्रभाव से लिखे गये। पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित होकर आधुनिक हिन्दी नाटकों में भी यथार्थवादी प्रवृत्ति बल पकड़ गयी। और इब्सन, शा, ओनील हिन्दी के यथार्थवादी नाटककारों के अनुकरणीय बन गये।[1]

डा० दशरथ ओझा भी इस कथन से सहमत हैं। उनके कथनानुसार भी इस काल के नाटककारों ने फ्राइड और मार्क्स से प्रेरणा प्राप्त की है। उनके पथ-प्रदर्शक कालिदास और भवभूति की अपेक्षा इब्सन और शा हुए हैं।[2]

इन मान्यताओं से स्पष्ट है कि इस काल के यथार्थवादी नाटकों में रस की हेयता और मनोविज्ञान की उपपत्तियों की ओर झुकाव शाश्वत बनता ही रहा, क्योंकि मनोविश्लेषकों द्वारा शिक्षित समुदाय को नव जागृति मिली। जिसकी पुष्टि डा० सोमनाथ गुप्त द्वारा भी हो जाती है। वे आधुनिक हिन्दी नाटकों के इस उत्कर्ष का आधार मनोवैज्ञानिक खोजों को ही मानते हैं। उनकी स्थापना है कि मनोवैज्ञानिक खोजों ने मनुष्य के मस्तिष्क, उसकी विचार धारा और भावों के समझने में बहुत सहायता पहुँचायी है। फ्राइड के सिद्धान्तों ने शिक्षित-वर्ग में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।[3]

परिणामतः प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों की यह प्रमुख यथार्थवादी प्रवृत्ति है जो मनोविज्ञान से अनुप्राणित रही है, किन्तु आलोच्य-विषय के अनुसार केवल यही एक ऐसी प्रवृत्ति नहीं जिसका सम्पर्क मनोविज्ञान से रहा हो। इसके अतिरिक्त कतिपय और भी प्रवृत्तियाँ है जिनका सान्निध्य परोक्ष या अपरोक्ष रूप में मनोविज्ञान से हो जाता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों की उन प्रवृत्तियों का वर्गीकरण इस क्षेत्र के लब्ध-प्रतिष्ठत विद्वानों ने इस प्रकार किया है।—

"प्रायः विषयवस्तु को दृष्टि में रखते हुए इस काल के नाटककारों ने अपने नाटकों की प्रवृत्तियों को मुख पृष्ठों पर अंकित करके स्वयं ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है। फलतः नाटककारों द्वारा निर्धारित ये प्रवृत्तियाँ विषयवस्तु के आधार पर

१—हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन—डा० वेदपाल खन्ना पृ० २०४ और २०६

२—हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० ५२३

३—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त पृ० २२९

निश्चित हैं। किन्तु डा० नगेन्द्र ने उन प्रवृत्तियों को विषयगत की अपेक्षा नाटकों के प्रमुख उद्देश्य के मापदण्ड से मापा है, क्योंकि इस पद्धति द्वारा आंतरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण सम्भव है।

परंतु प्रतिपाद्य विषयानुसार यहाँ पर यह अवेक्षणीय है कि विषयवस्तु के आधार पर जिन नाटकों की प्रवृत्तियाँ नाटककारों द्वारा अभिव्यक्त हैं अथवा विषयगत उनका सम्बंध तत्सम्बंधी प्रवृत्तियों से हो जाता है, वे भी इस आलोच्यकाल की वस्तु हैं, क्योंकि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों उनमें भी प्रचुर मात्रा मे पायी जाती है। परिणाम-स्वरूप हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी नाटकों की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने की दो विधायें हैं:—

१—विषयगत और

२—उद्देश्यगत।

इन्हीं विषय और उद्देश्य के अनुसार प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति दो मार्गो का अनुसरण किये हुए है। लेकिन हमारा यह विषय नही। हमारे लिए मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को धारण करने के बावजूद ये दोनों पद्धतियाँ ग्राह्य हैं। इस सम्बंध में यह भी कहना अपेक्षित है कि विषय वस्तु प्रवृत्तिगत नाटकों का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन हम इस प्रकरण में नहीं करेंगे। यह प्रसंगानुसार आगे के अध्यायों में मनोवैज्ञानिक मापदण्डों के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकेगा। यहाँ केवल उद्देश्य गत प्रवृत्तियों के मानदण्ड और तत्सम्बंधी नाटको का मनोविज्ञान से सम्बंध मात्र बतलाना है।

डा० नगेन्द्र ने उद्देश्य के अनुसार प्रवृत्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है।

उनकी दृष्टि में सांस्कृतिक चेतना, नैतिक-चेतना और समस्या नाटकों की यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ प्रमुख है।[1] प्रवृत्तिगत यह वर्गीकरण इस प्रकार है:—

१—सांस्कृतिक-चेतना प्रधान नाटक भारतीय संस्कृति के संन्देशवाहक हैं।

२– नैतिक चेतना प्रधान नाटक राष्ट्रीय और पौराणिक नैतिक चेतना से समन्वित है।

३– समस्या प्रधान नाटको में व्यक्तिगत सैक्स एवं सामाजिक और राजनीतिक प्रवृत्ति वाले नाटक आते हैं।

डा० सोमनाथ गुप्त द्वारा प्रतिपादित आधुनिक हिन्दी नाटकों का प्रवृत्तिगत विवेचन ऐतिहासिक और समस्या प्रधान दो धाराओं में मिलता है। अन्य नाट्य-कृतियों का उल्लेख उन्होंने प्रसादोत्तर नाटक साहित्य के विकास मे राम धारा,

---

१—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र पृ० १९

कृष्ण धारा, पौराणिक धारा, प्रेम प्रधान और प्रतीक धाराओं के रूप में किया है।[1]

उनकी इस स्थापना के अनुसार आधुनिक हिन्दी नाटकों में जो प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—ऐतिहासिक नाटक

२—पौराणिक नाटक

३—समस्या नाटक और

४—प्रतीकात्मक नाटक।

विषय वस्तु के अनुसार उनकी उक्त प्रवृत्तिगत धारायें इस वर्गीकरण की धाराओं में स्वतः ही अन्तर्भूत प्रतीत होती हैं।

डा० दशरथ ओझा का इस काल के नाटकों का वर्गीकरण प्रवृत्ति और शैली का समन्वित आधार लेकर बना है। उनके इस वर्गीकरण में हमें ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक और समस्या नाटको की प्रवृत्तियां मिलती है। शेष वर्गीकरण-नाट्यशैली, नृत नाट्य, भाव-नाट्य, गीति-नाट्य, एकांकी, स्वोक्ति नाटक और रेडियो रूपक के रूप में है।[2] प्रतिपाद्य विषयानुसार हमें उनकी इन चार प्रवृत्तियों को ही आलोच्य बनाना होगा।

उक्त तीनों प्रवृत्तिगत वर्गीकरणों में डा० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरण सर्वोपरि प्रतीत होता है, क्योंकि उनकी सांस्कृतिक-चेतना मे ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों धारायें सन्निहित है। नैतिक-चेतना में राष्ट्रीय और पौराणिक नाटक समाविष्ट है और समस्या नाटकों की यथार्थवादी प्रवृत्ति में सामाजिक, राजनीतिक और प्रतीकात्मक प्रवृत्ति अन्तर्निहित है।

इस प्रकार डा० गुप्त और डा० ओझा द्वारा निर्णीत कोई भी प्रवृत्ति ऐसी अवशिष्ट नज़र नहीं आती जो डा० नगेन्द्र के प्रवृत्तिगत वर्गीकरण में न घुल-मिल गई हो। अतः हम उन्हीं के वर्गीकरण से सहमत हैं। तदनुसार यहाँ पर हम उनके द्वारा निर्धारित प्रवृत्तियों और उन प्रवृत्तियों में समाविष्ट नाटकों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

संस्कृति प्रधान नाटकों में मनोविज्ञान के लिए उपयुक्त स्थान है। ऐसे नाटकों का कलेवर असन्तोष से भरपूर है। सन्तोष ही इड़ और ईगो का आन्तरिक-द्वन्द्व है। डा० नगेन्द्र ने सांस्कृति चेतना में इस अन्तर्द्वन्द्व का रूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है।

"सांस्कृतिक-चेतना का विश्लेषण करने पर हमें उसके मूल में आज के जीवन

१—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त—पृ० २३०, ३३, ४१

२—हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० ४३३ और ५२२

की प्रबल भावना मिलती है—वर्तमान के प्रति असन्तोष। वर्तमान के प्रति असन्तोष के राजनीतिक और सामाजिक कारण है। या व्यक्ति और देशकाल अथवा अन्तस् और बाह्य का असामंजस्य ही हमारे असन्तोष का मूल कारण है। वर्तमान से असन्तुष्ट व्यक्ति अपनी प्राण शक्ति के अनुसार दो मे से एक मार्ग ग्रहण करता है। वह या तो वर्तमान की विषमताओं को नष्ट भ्रष्ट कर भविष्य के निर्माण मे प्रयत्नवान् होता है। अथवा वर्तमान से हार मानकर उसको त्यागने या भूलने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार एक रोमान्टिक दृष्टिकोण लेकर इन नाटकों में पूर्ण पुरातन की ओर आवर्तन किया है। इन नाटकों की सांस्कृतिक चेतना सौ फीसदी छायावाद युग की भावना है, स्वभावतः इसमें एक ओर पलायन वृत्ति और दूसरी ओर जीवन के सूक्ष्मतत्वों का प्राधान्य है।[1]

संस्कृति प्रधान प्रवृत्ति के नाटकों में अन्तर्बाहि के द्वन्द्व से उद्भूत असन्तोष और मनोवृत्तियों में असामंजस्य की झलक है। यही इड् और ईगो के आन्तरिक द्वन्द्व की परिधि है। दूसरे इस प्रमुख प्रवृत्ति के नाटकों में पुरातन की ओर आवर्त्तन है। जीवन में असफल व्यक्ति ही आवर्त्तन कर बैठता है। तीसरे इस प्रवृत्ति के नाटकों में पलायन वृत्ति के साथ-साथ छायावाद की ओर स्पष्ट झुकाव ज्ञात होता है। छायावाद को अतृप्त दमितेच्छाओं का आभास-मात्र कहा जाता है। जीवन के सूक्ष्मतत्वों की प्रधानता के कारण और उक्त माप-दण्डों के आधार पर इस प्रवृत्ति के नाटक मनोविज्ञान से सम्पर्क बनाये हुए हैं।

उदाहरणार्थ कुछ नाटकों का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है:—

संस्कृति प्रधान नाटकों में बेचन शर्मा उग्र का ईसा, सेठ गोविन्ददास का हर्ष, चन्द्रगुप्त का अशोक और रेवा और सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य पर्व' उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ इस प्रकार हैं।

'ईसा' में अहं का प्रवाह है। ईसा अतिमानवता की ओर अग्रसर है, अतः उसमें युगीन समष्टि-अचेतन मन की सफल अभिव्यक्ति हुई है। अति मानव होने के कारण ईसा में आन्तरिक द्वन्द्व का अभाव पाया जाता है। इस नाटक में उग्र जी ने दो ऐसे पात्रों की अवतारणा अवश्य की है जिनमें मानवीय मनोविज्ञान की परछाई दीखती है। ये पात्र ऐलाजर और शावेल है। इनके संवादो मे मनोविज्ञान की झलक देखने को मिलती है।

सेठ गोविन्ददास जी का 'हर्ष' मनोविज्ञान की दृष्टि में ईसा से अधिक सफल है। 'हर्ष' का माधवगुप्त फ्राइड सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हुआ पाया जाता है।

१—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र—पृ० सं० २३, २४

"मेरी मानसिक अवस्थिति की कल्पना प्रयत्न करने पर भी आप नहीं कर सकते। राजपुत्र ! मैं अपने प्रति सन्देह देखता हूँ।"[1] यही सन्देह फ्राइड को व्यक्तिमात्र पर है। कोई व्यक्ति अपने आप से स्वयं परिचित नहीं, ऐसी उसकी मान्यता है।[2] 'हर्ष' की 'राज्यश्री' विभ्रम, सहबोधावस्था और भावरेचन की पद्धति का अनुसरण करती हुई पायी जाती हैं। विभ्रम में उसे चारों ओर अनल ही अनल दृष्टिगोचर होती है। मूर्च्छित दशा में मृतक पति का प्रत्यक्षीकरण इसी विभ्रम की चरम परिणति है।[3] इसी विभ्रम में सहबोधावस्था का पुट मिलता है। वह अलका को अपने पास न होते हुए भी सर्वदा समीप ही समझती है, उसका अलका से कथन है कि अनेक बार मुझे ऐसा भास होता था कि तुम मेरे संग ही हो और मैं जो कुछ कहना चाहती, तुम्हीं को सम्बोधन कर कहती थी।[4] विभ्रम के अन्तर्गत राज्यश्री के गाने भाव-रेचन की विधा को प्रस्तुत करते हैं। राज्यश्री के शब्दों में उन्माद के समय इन्हीं गानो से उसे शान्ति मिलती है।[5] संस्कृति प्रधान प्रवृत्ति वाले नाटक का पर्यवसान प्रत्यावर्तन में है। 'हर्ष' में यही आवर्तन की मनोवृति अन्त मे बन गई है। वह युद्ध से विमुख होकर प्रतिगमन कर बैठा है, तभी हेत्वारोपण की शरण लेकर वह माधवगुप्त से कह उठता है :—"मेरे युद्ध त्याग देने पर भी तुम लोगों ने युद्ध किया, इन विद्रोहियों के हृदय परिवर्तन की प्रतिक्षा नहीं की।[6] यही नवीन मनोविज्ञान की उपचार विधा है। मनोविकृतियों की परिष्कृति ही अपराध ग्रन्थि की उत्कृष्ट विधि है।

चन्द्रगुप्त के 'अशोक' में भी मनोविज्ञान के आधार पर हृदय परिवर्तन की माँग है। एक ओर अशोक में पाशविक वृत्ति से संयोजित इड़ का आधि-पत्य है। दूसरी ओर नैतिकाहं का प्राबल्य है। इस नाटक में अशोक, शीला और चण्डगिरि का व्यक्तित्व दोहरा है। शीला में 'स्वपीड़क-परितोष' द्वारा अशोक से प्रतिशोध लेना अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन पड़ा है। चण्डगिरि के राक्षस शरीर में करुणा का स्रोत भीतर ही भीतर आप्लावित है। अतः उसमें इड् और अहं के द्वन्द्व की सुन्दर अवतारणा हुई है। जैसा कि संस्कृति प्रधान नाटकों में हुआ है, हर्ष की भाँति अशोक में भी प्रत्यावर्तन के चिह्न वर्तमान है। शीला के आत्मिक बलिदान से

१—हर्ष-सेठ गोविन्ददास—पृ० सं० १३
२—ए जनरल इंट्रोडक्शन टु साइकोनेलसिस—फ्राइड पृ० २५३
३—हर्ष-सेठ गोविन्ददास—पृ० सं० २८, २९
४—,, ,, ,, ५४
५—,, ,, ,, ५४
६—,, ,, ,, १६२

वह प्रतिगमन कर बैठता है । हर्ष और अशोक में जीवन के प्रति असन्तोष भी समान है जो उन्हें मानवीय मनोविज्ञान के अति निकट पहुँचा देता है ।

'रेवा' के यशोवर्मा में परस्पर विरोधी भाव प्रवणता है । उसमें एक ओर पाशविक प्रवृत्ति इड़ से तादात्म्य किए हुए, दूसरी ओर 'नैतिकाहं, जिससे आन्तरिक द्वन्द्व अनिवार्य हुआ है । सियारामशरण का 'पुण्य पर्व' संस्कृति प्रधान प्रतीक नाटक है । उसमें प्रतीकीकरण के लक्षण विद्यमान है । इसमें बोधिसत्व सुतसोम और नरखादक ब्रह्मदत सत् और असत् के प्रतीक हैं । मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार सुपर ईगो और इड् देवता और राक्षस अर्थात् सत् और असत् के प्रतिरूप है। यहाँ सुपर ईगो (देवता) की राक्षस इड् पर विजय का भव्य निदर्शन हुआ है ।

नैतिकता प्रधान नाटक राष्ट्रीय और पौराणिक दो प्रकार के है । नैतिकता इन नाटकों की प्रमुख प्रवृत्ति है । सूपर इगो की वृति भी नैतिकता ही है । नैतिकाहं (सूपरइगो) अपने आदर्श की स्थापना अहं से कराने पर जोर देता है । इसके लिए अहं को इड़ के प्रबल आवेग से टक्कर लेनी पड़ती है । सामाजिक अहं से प्रताड़ित जब इड़ की अतृप्त दमित इच्छायें अचेतन मन की सामग्री बन जाती है तब अचेतन मन को आरोपण, हेत्वारोपण, उदात्तीकरण आदि असामान्य मानसिक प्रक्रमों का आश्रय लेना पड़ता है । यही अचेतन मन की असामान्य कार्य-विधियाँ इन नाटको में यत्र-तत्र उद्भासित हैं । फलतः नैतिकता प्रधान प्रवृत्ति और उससे उत्प्रेरित नाटकों का सान्निध्य मनोविज्ञान से है । उक्त कथन की पुष्टि के लिए इस वर्ग के कुछ नाटको में आयी हुई मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ यहाँ प्रस्तुत है ।

राष्ट्रीय नैतिक प्रधान प्रवृत्तिगत नाटकों मे अश्क जी का 'जय-पराजय' और आचार्य चतुरसेन का 'अजितसिंह' दोनों नाटक ऐसे है जिनमें अचेतन-मन की कार्य-विधियाँ सुस्पष्ट हैं ।

'जय-पराजय' में चंड, रणमल, राघव, लक्षसिंह हंसाबाई, भारमली और तारा के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण पर विशेष जोर दिया गया है । अन्य पात्र तो इन पात्रों की मनोगुत्थियों को उलझाने या सुलझाने में संलग्न हैं । चंड ने काम-वासना की स्वच्छन्दता को रोक कर उदात्तीकरण द्वारा समाज, राष्ट्र और संस्कृति को अथक बल प्रदान किया है । राघव ने काम प्रवृत्ति को पूरा बांध तो नहीं दिया किन्तु पुनरपि उसमें भी किंचिदंश में ऊर्ध्वगमन पाया जाता है । रणमल मानसिक विकृतियों का आगार है । हंसा लक्षसिंह के अव्यवस्थित इड् का शिकार बनी है । फलतः हीनत्व कुण्ठा के कारण उसमें प्रतिशोध-ग्रन्थि बल पकड़ गयी है । .भारमली का पौराणिक नैतिकता प्रधान नाटकों में उदयशंकर भट्ट का 'सगर-विजय' नाटक उल्लेखनीय है । इस नाटक में घात-प्रतिघात, प्रतिशोध, आत्महत्या आदि

अज्ञात मन के असामान्य कार्य है। 'सगर-विजय' की छोटी रानी 'बर्हि' की प्रतिशोध ग्रन्थि इतनी प्रबल है कि वह बड़ी रानी विशालाक्षी के द्वारा राजा के शत्रु एवं आततायी का वध करने पर भी उसे क्षमा नहीं कर पाती। राजा की मृत्यु के उपरान्त भी उसमें सौतिया-डाह की प्रतिहिंसा ज्यों की त्यों विद्यमान रहती है।

'बर्हि' की जब 'पर पीड़क परितोष' की मनोवृत्ति सफल नहीं हो पाती तो वह उसका स्थानान्तरण' 'स्वपीड़क परितोष' में कर डालता है। तदनुसार प्रतिशोध का आवर्तन उसको आत्म हत्या के लिए प्रेरित कर डालता है। बर्हि का नदी में कूदकर आत्म हत्या करना और विशालाक्षी के प्रति घात सभी अचेतन मन की असामान्य कार्यों वाली पद्धति में आते है। निदान, इस वर्ग के ऐसे नाटक जिनमें अचेतन मन के असामान्य मानसिक प्रक्रम पाये जाते है, वे नाटकों की नैतिक-प्रधान प्रवृत्ति को मनोविज्ञान के अति निकट पहुँचाने में सहायक होते है। राघव से अटूट प्रेम एवं प्रतिशोध-ग्रन्थि से आक्रान्त होकर रणमल देशद्रोही का हत्यारा बना है। तारा में नारी-मनोविज्ञान उत्कृष्ट है। अचेतन मन की असामान्य कार्यविधियों का प्रादुर्भाव लक्षसिंह की साँकेतिक चेष्टा में इस प्रकार अभिव्यक्त है:—

लक्षसिंह—युवराज के लिए लाये हो न। मैंने तो पहले ही कहा था कि हमारे लिए अब नारियल कौन लायेगा।

ब्राह्मण—हां, युवराज के लिए।

युवराज—किन्तु मुझे स्वीकार नहीं। हंसाबाई मेरी मात हो चुकीं।

लक्षसिंह—पागल हो गये हो क्या।

युवराज—मैं पागल नहीं पिताजी। आपने जिस नारी के लिए अपनी इच्छा प्रकट की, उसे मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ।

लक्षसिंह—इच्छा ? मैंने।

युवराज—आपने कहा जो—'हम बूढ़ों के लिए अब नारियल कौन लायेगा।[1]

इस प्रकार मनोविकारग्रस्त होकर लक्षसिंह हंसा बाई को चाहता हुआ भी नहीं चाहता और युवराज उसे न चाहने के कारण हेतु प्रस्तुत करता है अतः उसके संवाद को हेत्वारोपण से बल मिला है। दोनों में अचेतन मन के असामान्य मानसिक प्रक्रम हैं।

इसी भांति चतुरसेन के 'अजितसिंह' की रज़िया और अजितसिंह में अपार प्रेम है। इन दोनों का विवाह सामाजिक बन्धन के कारण मन माना नहीं होता, अजितसिंह रज़िया से मिलने के कारण कई बार मुसलमान बादशाह से संधि कर चुका है। वह अपनी सन्धि का हेतु राजनीतिक बतलाता है लेकिन उसका अचेतन मन हेत्वारोपण

१—जय पराजय—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० ५०, ५१

द्वारा रज़िया के समीप पहुँचाता रहा है। रज़िया में अचेतन मन की असामान्य कार्यविधि से पिगमैलियनवाद की झलक आ जाती है। इन दोनों की आसक्ति में अचेतन मन का वह मानसिक-प्रक्रम है जिसमें आत्म प्रवंचना ही हाथ लगती है।

आधुनिक नाटकों में तीसरी प्रवृत्ति समस्या प्रधान है। इसमें व्यक्ति की समस्या और राजनीतिक समस्यायें हैं। यह प्रवृत्ति यथार्थवादिता से प्रेरित है। इड् और सामाजिक अहं का द्वन्द्व इसकी आधार शिला है। अहं से प्रताड़ित इड् की अतृप्त-दमितेच्छा अचेतन मन का निर्माण कर डालती है। प्रतिक्रिया स्वरूप मनोविकृतियों का साम्राज्य हो जाता है। यही मनोग्रस्तता इस यथार्थवादी समस्या से मेल खाती है। अतः मनोग्रस्तता से छुटकारा पाने के लिए इसने मनोविश्लेषण-पद्धति को आत्मसात् कर लिया है। इस कथन का हमें डा० दशरथ ओझा के मत से समर्थन मिलता है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि आज के समस्या नाटकों में भावुकता के स्थान पर मनोविश्लेषण की प्रधानता रहती है। अर्थात् इन ना-कों के पात्र अपने साथियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। किसी प्रकार की भावुकता के प्रवाह में बहते नहीं। इन नाटकों पर भारतेन्दु-युग से अधिक पश्चिम के आधुनिक-युग का प्रभाव पड़ता प्रतीत होता है।[1]

डा० महेन्द्र के शब्दों में भी इन नाटकों में रस की अपेक्षा मनोविज्ञान की प्रधानता है।[2] वस्तुतः इन नाटकों में प्रमुख समस्या सैक्स की है। सैक्स है क्या ? फ्राइड के अनुसार सैक्स को हम स्थूलतः प्रेम और यश अथवा काम और यश समझते हैं। मनुष्य वही है जो उसका सैक्स है।[3] वस्तुतः यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। क्याकि सैक्स मानव का व्यक्तिगत प्रश्न है। इसमें मूल प्रवृत्तिगत निर्बन्ध संगम की अभिलाषा का वास है। सामाजिक समझौता की अवहेलना के कारण उसे विवाह की व्यवस्था के दृढ़ बन्धन से रोकने का उद्योग किया जाता है। यही प्रकृत-काम फ्राइड के इड् का मूल मंत्र है। इसी इड् के प्रतिकूल जब ईगो असामाजिक आचरण के कारण इस पर प्रतिबंध लगाता है तब उसकी वासना का दमन हो जाता है और अज्ञात मन में पहुँचते ही आन्तरिक-संघर्ष की नींव जम जाती है। इसी मानसिक-द्वन्द्व-वश्यता में सैक्स समस्या का प्रादुर्भाव होता है। सैक्स की मनोकामना का प्रतिद्वन्द्वी विवाह है। मैक्स क्रिश्चियन के सिद्धान्त से विवाह दो ऐसे व्यक्तियों का स्वतंत्रतापूर्वक एकत्रीकरण है, जो एक दूसरे से मेल खाते हैं। जिससे वे प्रेम की विविध अभिव्यक्तियों को एक अनियंत्रित क्षेत्र के अन्दर स्वच्छन्द-

१—हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० सं० ५२२
२—हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार—डा० रामचरण महेन्द्र पृ० २६
३—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस पृ० १६

तापूर्वक काम में ला सकें।[१] 'एक्सनर' ने विवाह को एक सिद्धि नाम से पुकारा है। उस सिद्धि की अप्राप्ति ही सैक्स समस्या का मूल कारण है।[१] इस सिद्धि को बहुत कम व्यक्ति हल कर पाते हैं। इस ही आधार को लेकर सन् १६०८ में फ्राइड ने घोषणा की थी कि अधिकांश विवाहों के भाग्य में आत्मिक निराशा और शारीरिक वंचना ही लिखी होती है।[3] इसी काम प्रवृत्ति से आन्दोलित नाटकों में मिश्र जी के 'राक्षस का मंदिर' मुक्ति का रहस्य, सन्यासी, सिन्दूर की होली, राजयोग और आधी-रात नाटक अग्रगण्य है। भट्ट जी का 'कमला' पृथ्वीनाथ शर्मा का 'दुविधा' और 'अपराधी' हरिकृष्ण प्रेमी का 'छाया' नाटक भी फ्राइडियन सैक्स समस्या की आत्म प्रवंचना से मुक्त नहीं पाये जाते। इन नाटकों में व्यक्ति की समस्या सैक्स के अतिरिक्त अन्य मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ भी सुगमता से मिल जाती हैं। कामप्रवृत्ति वाले उक्त नाटकों के प्रमुख पात्रों मे सैक्स का निर्बन्ध प्रवाह इस प्रकार है—

"राक्षस का मन्दिर" की अश्करी वीर ललिता काम प्रवृति से प्रेरित है तथा रामलाल, अश्करी और रघुनाथ मुनीश्वर के इड् से पराभूत है। "मुक्ति का रहस्य" में काम प्रवृति के दोनों रूप है। उमाशंकर में काम की परिष्कृति है जबकि आशादेवी और त्रिभुवननाथ में काम की विकृति है। 'संन्यासी" की किरणमयी मुरलीधर को चाहती है किन्तु उसका विवाह दीनानाथ के साथ होता है। मालती विश्वकान्त को प्यार करती है परन्तु उसका विवाह रमाशंकर से होता है "मोती" उमानाथ की अवैध सन्तान है जिससे यौन विकृति नाटक में सुस्पष्ट है। पूरा नाटक यौन-वर्जना की अवतारणा मात्र है। "सिन्दूर की होली" मे काम प्रवृति के अन्तर्गत मनोग्रस्तता, उन्माद और विभ्रम स्वतः ही आ गये है। मनोरमा और चन्द्रकला विवाह की अपेक्षा प्रेम को मान्यता देती हुई पायी जाती है। मनोजशंकर और मुरारीलाल में भी काम का आवेग पाया जाता है। "आधी रात" नाटक स्वच्छन्द काम प्रवृति से सम्बन्धित पात्रों के भरा पड़ा है। "मायावती" में यह प्रवृत्ति प्रमुख है, उसके प्रेमी काम की तृप्ति के लिए एक दूसरे को गोली का निशाना बनाते है। प्रकाश विवाहित होने पर भी मायावती को इसलिए चाहता है कि वह स्वच्छन्द काम प्रवृति वाली है। राघव शरण को भी मायावती की मनोवृति पसन्द है। इन नाटकों में मिश्र जी ने मनोविश्लेषण की शैली सफलता से अपनायी है।[२]

उदयशंकर भट्ट के "कमला" नाटक में इसी सैक्स समस्या का प्रवाह है। कमला का विवाह काम की अवहेलना करके वृद्ध देवनारायण के साथ संपन्न होता है। अतृत दमित काम के बाबजूद उसमें मनोविकृति घर कर जाती है। देवनारायण

१—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र पृ० सं० ६३

२—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र पृ० सं० ६३

की मैथुनिक शीतलता का आरोपण कमला पर संदेह द्वारा होता है। देवनारायण इस आरोपणवश "शशि" को कमला का पुत्र मान बैठता है। नाटक का पर्यवसान काम-प्रवृत्ति के कारण दुःखमय होता है। कमला स्वपीड़क परितोष मनोवृति से प्रताड़ित होकर आत्म हत्या कर बैठती है। उनके मत्स्यगन्धा, राधा, अम्बा और विश्वामित्र भाव-नाट्यों में भी काम प्रवृत्ति है।

पृथ्वीनाथ शर्मा के "दुविधा,' नाटक की "सुधा" में अनियन्त्रित काम का प्रबल उद्वेग है। वह विनय से प्रेम करती है और केशव से भी किन्तु उसके इड् की अवस्थिति उसे दुविधा में डाल देती है। शर्मा जी का "अपराधी" सफल मनोवैज्ञानिक नाटक है। नाटक में अपराध की समस्या का चित्रण मनोवैज्ञानिक समाधान द्वारा किया गया है। मातादीन चोर इसलिए बना है कि उसमे सामाजिक वैषम्य के द्वारा "प्रबल मनोवेग के अभाव की मनोग्रन्थि बन गयी है। अशोक कुमार यहाँ सफल मनोविश्लेषक का काम करता है। वह इस चोरी को मातादीन का अपराध न बतलाकर सामाजिक परिस्थितियों को इसका दोषी ठहराता है, इस कारण उसे छोड़ देता है। फलस्वरूप मातादीन अपने किये की क्षमा मांगता है। किन्तु इन दोनों पुरुषों की प्रेरक शक्ति लीला, रेणु और आया नारियां ही है।

हरिकृष्ण प्रेमी 'छाया' नाटक का 'प्रकाश' काम प्रवृत्ति से आक्रान्त है, वह कभी 'माया' और कभी ज्योत्स्ना से छिप छिप कर प्रेम करने लगता है। मानो 'छाया' से उसे तृप्ति नही होती। नाटक में काम प्रवृत्ति के निरोध द्वारा 'प्रबल मनो-वेग का अभाव' 'नियतिवाद, आत्महीनता' और आरोपण आदि अचेतन मन की असामान्य कार्य विधियाँ पायी जाती हैं।

बेचन शर्मा उग्र के 'चुम्बन' में काम विकृति है। उनके 'अवारा' में श्रीपुर के जमीदार 'राजाराम' में प्रकृत काम से उत्प्रेरित इड् का आधिपत्य है।

सामाजिक और राजनीतिक समस्या नाटकों में सेठ गोविन्द दास और उपेन्द्र नाथ अश्क के नाटक उल्लेखनीय हैं। सेठ जी के नाटकों में सैक्स चेतना अत्यन्त मर्यादित है।[1] सेठ जी का विकास फ्राइडियन प्रतीक पद्धति से मिलता हुआ नाटक है। उपेन्द्र नाथ अश्क ने 'स्वर्ग की झलक' नाटक में सैक्स समस्या का उपचार प्रस्तुत किया है। 'रघु' रक्षा को इसलिए नही चाहता कि वह स्वर्ग की झलक नही रखती। जब वह अपने साथी 'अशोक' और राजेन्द्र की पत्नियो का नाज-नखरा देखता तो उसे सीधी-सादी 'रक्षा' की ओर ही मुड़ना पड़ता है।

अन्ततोगत्वा, सैक्स की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त समस्या नाटकों की प्रवृत्ति

१—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र पृ० सं० ७५

का मनोविज्ञान से सान्निध्य इसलिए भी हो जाता है कि उनकी प्रवृत्ति यथार्थवादी है। यथार्थवाद और मनोविज्ञान का अविकल सम्बन्ध है। इसका समर्थन डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में हमें मिलता है। उनका कथन है कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह मनोवैज्ञानिकता यथार्थवाद का विशिष्ट रूप है। हम साहित्य में अधिक से अधिक जीवन की सचाई और अनुरूपता देखना चाहते है। मनोवैज्ञानिकता की प्रवृत्ति यथार्थवाद् के प्रति अनुराग या भक्ति का ही एक रूप है, यह भक्ति अन्तर्मुखी भले ही हो।[1] फलतः यथार्थवादी समस्या नाटकों की प्रवृत्ति आधुनिक नाटकों में मिलने के कारण उनका मनोविज्ञान से अतिनिकट का सम्बन्ध है।

नाटकों के उद्देश्य के आधार पर निर्णीत समस्या-प्रवृत्ति और विषयवस्तु को दृष्टि में रखनेवाले नाट्ककारों द्वारा नाटकों के मुख पृष्ठों पर अंकित समस्या-प्रवृत्ति दोनों में ही फ्राइडियन काम-प्रवृत्ति (सैक्स) का अभेद्य तथा अविरल प्रवाह है। दूसरे शब्दों में मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ जितनी इन यथार्थवादी समस्या नाटकों में सुस्पष्ट हैं उतनी अन्य प्रवृत्ति वाले नाटकों में उपलब्ध नही हो पातीं। इस कथन की पुष्टि आलोच्य-काल के नाटको के विश्लेषण द्वारा उत्तरार्द्ध के अध्यायों में सतर्क और पुष्ट प्रमाण सहित प्रस्तुत होगी।

यहाँ केवल यह दृष्टव्य है कि इस समस्या-प्रवृत्ति के उपरांत पश्चिम के नाटकों में कुछ वादों का समावेश हुआ-ये विशेषतया मनोविश्लेषणवाद से अनुप्राणित रहे है। इसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप जिस प्रकार पाश्चात्य नाटककारों ने इब्सन और शा के उपरान्त इन अतियथार्थवादी, प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी और मनोविश्लेषणवादी विभिन्न वादों की प्रवृत्तियो को अपनाया, वैसे ही ओनील, स्ट्रिन्डवर्ग, मैतरलिंक, चेखव, पिरैन्डलो आदि नाटककारों का अनुसरण करके आधुनिक हिन्दी नाटककारों ने मनोवैज्ञानिक शैली वाली इन वादों की प्रवृतियों को अंगीकार किया है, जिसका विशद विवेचन आगे वाले प्रकरण में होगा।

तात्पर्य यह है कि आज हिन्दी का कोई भी नाटककार ऐसा नहीं है जिस पर मनोविज्ञान की प्रतिच्छाया न पड़ी हो। हमारे इस मत का समर्थन प्रभाकर माचवे के इस कथन में हो जाता है कि आधुनिक साहित्य में विद्रूप, वीभत्स और विकृत रूपों का निरूपण एक समस्या बन गयी है। आज मनोविकृति पूर्ण चरित्रों का चित्रण, यौन तथा अन्य मनोविकारों से ग्रस्त मानवों के संज्ञा-प्रवाह का यथातथ्य-वर्णन, कुण्ठा और त्रास, मनोदौर्बल्य और हताश तथा आत्महन्तामयी खीझ का

१—**आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय पृ० ३३२, ३३**

वर्णन बराबर बढ़ता जा रहा है।[1] इसी के अनुरूप पश्चिमी अन्य वादों के प्राणतत्व मनोविश्लेषणवाद प्रेरित होकर प्रसादोत्तर-युग के प्रमुख नाटककार मनोविज्ञान रचनाओं में संलग्न हैं।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी नाटकों की सांस्कृतिक नैतिक और समस्या प्रधान प्रवृत्तियों के अन्तर्भूत ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, प्रेमात्मक एवं प्रतीकात्मक नाटकों का सम्बन्ध परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप में मनोविज्ञान से है। और आज पाश्चात्य मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से अनुप्राणित होकर भी नाटकों की रचना हो रही है।

पौरस्त्य एवं पाश्चात्य नाटकों में मनोवैज्ञानिक परम्परा का रूप और उसका हिन्दी नाटकों पर प्रभाव

★

ऋग्वेद के संवादों में अभुक्त काम की प्रेरणा और जीवनेच्छा—भरत मुनि के मतानुसार नाट्यवेद का निर्माण ऋग्वेद के संवाद, यजुर्वेद के अभिनय, सामवेद के संगीत और अथर्व-वेद के रस तत्वों से हैं।[2] वैदिक साहित्य के नाट्य साहित्य में ये कथोपकथन यम, यमी, पुरूरवा, उर्वशी नेम-भार्गव व इन्द्र, अगस्त्य व लोपामुद्रा सरमा-पणिस, विश्वामित्र व नदियों में पाये जाते है। इन सभी संवादों में अभुक्त काम की प्रेरणा और जीवनेच्छा के प्रबल मनोवेग स्वभाव से मिलते हैं।

यमी का यम से,[3] घोषा का अश्विनी कुमार से,[4] भावयव्य राजर्षि की रानी का भावयव्य से,[5] रतिदान की इच्छा करना प्रकृत-अतृप्त कामेच्छाओं के संवादों

१—संतुलन–प्रभाकर माचवे–चौथा अध्याय (आधुनिक साहित्य और मनोविकृति) पृ० सं० ३५

२—जग्राह पाठ्यमृग वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदात् अभिनयात्, रसानाथर्वणादपि॥
—भरत मुनि नाट्य शास्त्र १, १७

३—बतोवतासि यमनैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्य किलत्वं कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥ पृ० सं० ७, ६, ८

४—कुहस्विदोषा कुहव स्तो रश्विना-कुहाभिपित्वं कुरुतः कुहाषतुः॥
को वा शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥
कृ० सं० ७, ८, १८

५—उपोप में परामृश मा में दभ्राणि मन्यथा।
सर्वाहमस्मि रोमशा मा मे दभ्राणि मन्यथा॥
—ऋग्वेद सं० २, १, ११

का प्रतीक ही कहा जायेगा। इसके साथ ही साथ विश्वामित्र और नदियों[1] आदि के संवादों में जीवनेच्छा की प्रबलता वा आवेग है। इन संवादों में मानव-मात्र की नैसर्गिक प्रवृत्तिगत मनोग्रन्थियों का सामंजस्य है।

इससे स्पष्ट है कि नाटकों के तत्वों की आधार शिला पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। उसमें आये हुए संवाद, अभिनयात्मक बाह्य-चेष्टायें मनोविज्ञान की सारभूत सामग्री प्रस्तुत करते है। वैसे जीवन स्वयं एक नाटक है, जिसका अभिनय अन्तर्बहि दोनों रूपों में मानव करता रहा है, कर रहा है और आगे भी करता रहेगा। मनोविज्ञान का अन्तिम विश्लेषण भी जीवन शब्द का ही पर्यायवाची हो जाता है, क्योंकि जिसे हम जीवन कहते हैं, वह अधिकांश रूप से हमारे मनोजगत् की सूक्ष्मता की ही वस्तु है।[2] अतः नाटक और मनोविज्ञान का उद्गम एक है।

संस्कृत नाटकों में स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक परम्परा—जीवन के हर क्षेत्र, हर व्यापार, हर परिस्थिति में नाटक के तत्व है। सुख, दुःख, क्रोध, हर्ष, विनोद, भय आदि की स्थिति में मनुष्य की जो दशा होती है, उसके स्वभाव का जो अंश प्रकट होता है, नाटक में वही अभिनय का आधार है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधारभूत संस्कृत नाटकों में मनुष्य का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण पाया जाता है। संस्कृत नाटकों में इस यथार्थवाद की महत्ता को लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उनका मत है कि यूरोप के नाटकों में जिस यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रण का काल इब्सन से आरम्भ होता है, यूनानी और शेक्सपियर की पद्धति के अतिरंजित और अस्वाभाविक नाटकों के विरुद्ध जब प्रतिक्रिया की लहर चलती है, मनोविज्ञान और सामाजिक समस्याओं का आधार जब लिया जाता है और इस युग के सभी नाटककार "शा" आदि जिसकी उपज है, वह यथार्थवाद सदैव से संस्कृक नाटकों में एक क्रम और विस्तार में दिखाई पड़ता है। मनुष्य चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण, परिस्थिति विशेष में उसके व्यापार, संवाद, चेष्टा, मुद्रा आदि का स्वाभाविक चित्रण ही यथातथ्य-

---

१—**विश्वामित्र नदी प्रतिब्रूते—**

रमध्वं मे वचसि सोम्याय कृतावरी रूप मुहूर्त मेवैः।
प्रसिन्धुमच्छाबृहती मनीषा वस्यु रह्वे कुशिकस्य सूनुः॥

—ऋ० सं० ३, २, १२

पद्यः प्रत्यूचुः—

इन्द्रो अस्मान् अरदद्वज्र बाहु रयाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवो नयत्सविता सुपाणितस्यवयं प्रसवे याम उर्वी॥

—यास्ककृत—निरुक्तम् अ० २ पा० खं० २६

२—**आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज पृ० सं० ५**

वाद कहा जायेगा। इस दृष्टि में संस्कृत नाटक बराबर खरे उतरेंगे। संक्षेप में मानवीय चेतना, उसकी विधि और व्यापार के नाना रूप, त्रिगुणात्मिका सृष्टि के विविध कर्म उसके अवचेतन को वासना आधुनिक मनोविज्ञान में जो कुछ जाना और समझा जा रहा है वह सब भरत के नाट्य-शास्त्र में बीज रूप से, पर शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति में आ गया है।[१]

संस्कृत नाटकों में अप्रत्यक्ष सामाजिक दशा—संस्कृत साहित्य के नाटक नामक रूपकों में सामाजिक दशा अप्रत्यक्ष रूप से चित्रित की गयी है और "प्रकरण" नामक रूपकों में प्रत्यक्ष पद्धति पर उसका वर्णन किया गया है। शूद्रक का "मृच्छकटिक" इस दृष्टि से उच्च कोटि का सामाजिक रूपक है। कालिदास के पूर्व समाज की दशा पर इस नाटक से सबसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मृच्छकटिक में युग-वृत्तिगत मनोवैज्ञानिक परम्परा—शूद्रक के समय निरंकुश शासन था। स्वेच्छाचारिता, राज्यकर्मचारियों के आतंक से भयभीत जनता, कुल-वधुओं की अपेक्षा, वेश्याओं का सत्कार, बहु-विवाह प्रथा, अनुचित पत्नियों को रखना और सामन्तवाद के समस्त दोष शूद्रक के युग में दिखाई पड़ते हैं।[२] मृच्छकटिक का चारुदत्त काम प्रवृत्ति से आक्रान्त है। वेश्या वसन्तसेना से आसक्ति उसकी यौन विच्युति का कारण मात्र है। नाटक के शकारपात्र पर अनियन्त्रित इड् का पूर्णतया आधिपत्य है। ब्राह्मण चारुदत्त और शर्विलिक में प्रत्यावर्तन है। इस नाटक से प्रतीत होता है कि तत्कालीन प्रवृत्तियाँ मानसिक कुण्ठाओं की जन्मदात्री थीं। लोक में बढ़ती हुई अनाचारता, दमन, मनोविकारग्रस्त असाधारणता, दमनोत्पन्न अनेक विवशतायें व्यक्ति मात्र में बनी हुई थीं।

स्वप्नवासवदत्तम् में मनोवैज्ञानिक स्वप्न-शैली—भास का स्वप्नवासवदत्तम् नाटक आज के स्वप्न शैलीगत मनोवैज्ञानिक नाटकों का पथ-प्रदर्शक है। जिस मनोवैज्ञानिक स्वप्न शैली के नाटक को भास इतने वर्ष पूर्व लिखकर रख गये उसे आज पाश्चात्य नाटककार स्टि्ण्डवर्ग और मेतरलिंक की शैली कहा जाता है।

जैसा कि स्वयं नाटक के नाम से प्रकट होता है कि वासवदत्ता के प्रति उदयन की आसक्ति दमित रूप में स्वप्न के द्वारा अभिव्यक्त होती है। जिस वासवदत्ता को वह इड् के वशीभूत होकर अपहृत कर लाया था और स्वयं वासवदत्ता भी प्रकृत-काम की तृप्ति के लिए उसके समक्ष पूर्ण समर्पण कर चुकी थी। वह यौगन्धरायण मन्त्री की दूरदर्शिता के कारण जलकर भस्म होने का बहाना करके उदयन की दृष्टि से

१—**दशाश्वमेघ लक्ष्मीनारायण मिश्र—(सूत्रधार से) पृ० सं० ७ और १३, १४**

२—**साहित्य सन्देश—अन्त: प्रान्तीय नाटकांक—संस्कृत नाटकों में सामाजिकता जौलाई—अगस्त १९५५ वर्ष १७ अङ्क १२ पृ० सं० ५५**

ओझल कर दी जाती है। उदयन को पूर्ण विश्वास ही नहीं वरन् उसके आभूषणों को अग्नि में देखकर दृढ़ निश्चय हो जाता है कि वासवदत्ता मर चुकी है। उसकी अतृप्तेच्छा स्वप्न में आ झाँकती है। स्वप्न में वह अपनी पूर्व प्रेमिका का संकेत भी वासवदत्ता से करता हुआ दिखलाया गया है। जिस समय वह स्वप्न में बड़बड़ा रहा था, परिस्थिति-वश वासवदत्ता वहाँ उपस्थिति थी जो उसके स्वप्न में चलते हुए कथोपकथन को स्वयं साथ साथ पूरा करती जा रही थी। स्वप्न की यह फ्राइडियन प्रतीक पद्धति का प्रकारान्तर है। स्वप्न भंग के उपरान्त वासवदत्ता प्रत्यक्ष में दौड़ती हुई उदयन को नजर आती है। उसकी मनोग्रस्तता यही से निराकरण की ओर अग्रसर हुई है और बार बार वह उससे मिलने के लिए उतावला हो उठता है। अपनी दूसरी रानी पद्मावती के सामने धरोहर रूप वासवदत्ता की उपस्थिति से भास ने उदयन की दमित-कुण्ठा को बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति से उपचार करके उन्मूलित कर डाला है। जिस मनोग्रन्थि से ग्रसित व्यक्ति का मानसिक उपचार आज कोई भी पाश्चात्य नाटककार नहीं कर पा रहा वह महान् नाटककार भास ने अपने स्वप्नवासवदत्तम् में किया है।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में काम-प्रवृत्ति (सेक्स)—गुप्त वंश के स्थिर राज्य शासन में जन्म लेने के कारण कालिदास के नाटकों में उस प्रेम की चर्चा ने जोर पकड़ा जिसकी पूर्व परम्परा यम-यमी संवादों में वैदिक युग में दिखायी पड़ती है और जिसका प्रारम्भ 'भास' के स्वप्न वासवदत्तम् में बहुत पहले हो चुका था।[१] जैसे यम-यमी संवादों में प्रकृत-काम का नग्न-नृत्य है, वही इड् की अनियमितता उदयन और वासवदत्ता में पायी गई है। भेद केवल इतना है कि यमी में निषिद्ध प्रेम की इच्छा या फ्राइडियन इडिपस ग्रन्थि का जोर था, और वासवदत्ता इड् की संतुष्टि के लिए सामाजिक अहं के अनुशासन की अवहेलना करके उदयन के साथ भाग निकलती है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में शकुन्तला के इड् और अहं में सन्धि हो गई है। अतः वासवदत्ता की भाँति भागने की अपेक्षा वहीं दुष्यन्त को वह आत्म समर्पण कर बैठती है। शकुन्तला और दुष्यन्त में यह प्रकृत-काम की बलवती प्रेरणा है। शकुन्तला की अंगुली से अंगूठी का जल में निकलना, प्रेम में बाधा होने का मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसकी पुष्टि डा० होमरलेन की उस मनोविकृति वाली लेडी से होती है, जो अपनी अंगूठी की सांकेतिक-चेष्टा से जिसे वह होमरलेन के सामने बार बार उतारती और चढ़ाती थी तथा बाह्य रूप में पति से अपार प्यार करती हुई पति को तलाक दे बैठी है। शकुन्तला का अज्ञात-मन, दुष्यन्त द्वारा अवहेलना के प्रतिशोध में वह अंगूठी पानी में निकलवा बैठा है। चाहे प्रत्यक्ष में वह दुष्यन्त को चाहती थी।

१—साहित्य सन्देश (वही अङ्क) पृ० ५५

'उत्तररामचरित' में मानसिक नियतिवाद (डिटरमिनिज्म)— भवभूति के उत्तर-राम-चरित नाटक में भी समाजगत विशेषताओं के साथ-साथ मनोविज्ञान का पक्ष प्रबल है। भवभूति के राम पात्र में अपनी सीता का परित्याग फ्राइडियन नियति-वाद (डिटरमिनिज्म) से परिपूरित है। जब से सीता रावण के यहाँ रही थी तभी से मनोग्रस्तता-वश राम के अव्यक्त मन में सीता के प्रति घृणा के भाव अन्तर्निहित थे। वह नियतिवाद की मनोग्रन्थि समाजगत-हेतु की अवधारणा करके हठात् फूट निकली, और हेत्वारोपण (रेशनालाइजेशन) का सहारा लेकर गर्भिणी सीता को वनवास दे डालते है।

किमधिकम्, संस्कृत नाटकों से ऐसे मनोवैज्ञानिक उदाहरण और भी प्रस्तुत किये जा सकते है किन्तु इससे अनावश्यक विस्तार होगा। केवल हम इन मनोवैज्ञानिक अवतरणों से यह स्पष्ट करना चाहते है कि यह मनोवैज्ञानिक नाटकों की परम्परा पौरस्त्य नाटको मे अविच्छिन्न गति से धारावाहिक रूप में मिलती है, जिसका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पड़ा है। आधुनिक हिन्दी नाटककार चाहे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नाटकों की चकाचौंध में वास्तविकता को भुला दें, किन्तु यह मनोवैज्ञानिक परम्परा संस्कृत नाटकों से अब तक हिन्दी में भी अक्षुण्ण चली आ रही है।

संस्कृत नाटकों की मनोवैज्ञानिक परम्परा का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव— यद्यपि आधुनिक हिन्दी नाटककारों ने अधिकांश में अपने आपको पाश्चात्य नाटककारों और विचारको का ऋणी मान रखा है, लेकिन मिश्र जी का मत उससे भिन्न है। उनका कथन है कि यूरोप के संसर्ग के कारण हमारी ऊपरी वेशभूषा में जिस प्रकार कुछ परिवर्तन आया है, उतना ही ऊपरी प्रभाव मेरे नाटको में पश्चिम का पड़ा है। ऊपरी आकार-प्रकार, भाषा, संवाद, व्यंग्य आदि पर अवश्य ही थोड़ा प्रभाव इब्सन और उसके बाद के नाटककारों का मेरे नाटकों पर पड़ा है। पर भीतरी भाव लोक उसका भारतीय है, जो कालिदास और भास की परम्परा में है।[१] भारतीय मनो-वैज्ञानिक परम्परा के अनुसार डा० महेन्द्र ने मिश्र जी की मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं का विवेचन करते हुए लिखा है कि मिश्र जी द्वारा प्रतिपादित सैक्स समस्या पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों पर कुछ आलोचक मानते है, पर मिश्र जी के मत में फ्राइड से बहुत पहले वात्स्यायन ने रति भाव को बतला दिया था। रसराज के रूप में संस्कृत के समूचे साहित्य में शृङ्गार का वर्णन यहाँ तक कि महाकवि कालिदास द्वारा शंकर पार्वती की रतिक्रीड़ा का चित्रण फ्राइड को कुछ ऐसी स्थिति में नहीं छोड़ता जो हमारे देश के किसी मौलिक साहित्यकार का सम्बल बन सके।[२]

१—भक्ति का रहस्य—मिश्र पृ० सं० २५, २६ (भूमिका से)
२—हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास— डा० महेन्द्र पृ० सं० १६५, १६६

मिश्र जी अपने नाटकों में भीतरी भाव लोक कालिदास और भास की परम्परा में मानते हैं और बाह्य प्रभाव पश्चिम का उन्होंने अपने नाटकों पर स्वीकार किया है।

डा० महेन्द्र के अनुसार मिश्रजी की सैक्स समस्या पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों पर कुछ आलोचक मानते हैं किन्तु मिश्र जी फ्राइड की अपेक्षा इसका श्रेय वात्स्यायन को देते हैं। इन दोनों मतों से सुस्पष्ट है कि मिश्र जी पर भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों की मनोवैज्ञानिक परम्परा का प्रभाव पड़ा है।

भारतीय परम्परा में सर्वश्रेष्ठ नाटक, "वत्सराज" है। वत्सराज की कथावस्तु संस्कृत के महान् नाटककार भास के "स्वप्नवासवदत्तम्" के अनुरूप है। यद्यपि मिश्र जी के दशाश्वमेध, वैशाली में वसन्त और वितस्ता की लहरें, नाटकों में भी प्राचीन भारतीय विषयवस्तु को आधार मानकर रचना हुई है किन्तु उनका चरित्र-चित्रण पश्चिम से प्रभावान्वित है। यद्यपि "वत्सराज" मे भी यह हुआ है, परन्तु वह नाटक अधिकतर भारतीय परम्परा पर ही आधृत है। उसका मनोवैज्ञानिक विकास भास की स्वप्नशैली के अनुसार हुआ है। उनका "चक्रव्यूह" पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों मनोवैज्ञानिक परम्पराओं का समन्वित रूप है। उसकी कथावस्तु भारतीय एवं चरित्र विकास पाश्चात्य है।

उनके नाटकों पर स्पष्टतया जहाँ भारतीय परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित हैं, वहाँ कुछ नाटक यथा सिन्दूर की होली, सन्यासी और राजयोग बिल्कुल पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक परम्पराओं पर अवलम्बित हैं। इन नाटकों की सैक्स समस्या महर्षि वात्स्यायन की अपेक्षा फ्राइड की काम प्रवृत्ति से अनुप्राणित है। इन नाटकों के अतिरिक्त उनके नाटकों में भारतीय परम्परा किसी न किसी अंश में अन्य नाटककारों की अपेक्षा अधिक पायी जाती है।

मिश्र जी के शब्दों में तप और भोग का समन्वय भास और कालिदास के नाटकों में हमारी संस्कृति का मेरुदण्ड है।[1] इसी उदात्तीकृत तप और काम-प्रवृत्तिगत भोग की अवतारणा लक्ष्मीनारायण मिश्रजी के वत्सराज, दशाश्वमेध, वैशाली में वसन्त, गरुड़ध्वज, वितस्ता की लहरें और 'नारद की वीणा', नाटकों में हुई है। इन नाटकों में उदयन, वासवदत्ता, वीरसेन, कौमुदी, वीरभद्र, रोहित, रम्भा, विक्रमादित्य, कालिदास, पुरु और रोहिणी में काम का उदात्त रूप भारतीय संस्कृति के अनुसार विकसित हुआ है। भास ने उदयन के चरित्र में तप और भोग का समन्वित रूप देखा था। मिश्र जी ने भी बाह्य एवं आधुनिक साज-सज्जा के साथ उदयन की काम प्रवृत्तिगत एवं तत् सम्बन्धी घटनाओं का मनोवैज्ञानिक मानवीय और बौद्धिक

१—वत्सराज—मिश्र (विभूतिचिन्ता) पृ० सं० १०

रूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।[1] इसमें स्टिण्डवर्ग और मैंटरलिंक की स्वप्न शैली की परछाई तक नहीं दीखती, केवल भास की स्वप्नगत शैली का इसमे मानवीय स्वभावगत परम्परा का अनुकरण मात्र है, जिसमें तप और भोग, काम पर उदात्त भावना का लेप चढ़ाकर घुल-मिल गये है। दशाश्वमेघ का वीरसेन तो काम के उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) का सच्चा प्रतीक है, किन्तु नाटककार के शब्दों में इस नाटक का सम्बन्ध उसने संस्कृत नाटक के पुराने सिद्धान्तों के साथ जोड़ना चाहा है। यद्यपि इसका ऊपरी आकार आधुनिक है, पर भावलोक में भरत के सिद्धान्तों का अनुसरण इसमें हुआ है।[2] अतः वीरसेन का कामात्मक ऊर्ध्वगमन भारतीय दर्शन के आत्मसंयम वाली परम्परा में आता है। रुचि और कालभेद की दृष्टि से चाहे इस पर फ्राइड वाली कामशोधन की मान्यता का आवरण डाला जाये, लेकिन वह आवरण तो आवरण रहेगा, क्योंकि उसका जितना सम्बन्ध बाह्य होगा उतना आत्मगत नहीं।

मिश्र जी ने "वैशाली में बसन्त' नाटक के मार्ग दर्शन में लिखा है कि गरुड़-ध्वज, नारद की वीणा, वत्सराज, दशाश्वमेघ, वितस्ता की लहरें आदि सांस्कृतिक नाटकों की तरह इस नाटक में भी भारतीयता के प्रति, भारतीय जीवन दर्शन के प्रति परम्परा का आग्रह और अनुराग व्यक्त हुआ है।[3] वस्तुत: वैशाली में वसन्त का रोहित भारतीय दर्शन की सच्ची अभिव्यक्ति है। उसके पिता सेनापति वीरभद्र में तप और भोग के सामंजस्य से अम्बपाली के प्रति काम का अभूतपूर्व परिशोध हुआ है। वितस्ता की लहरें का केकय नरेश पुरु भारतीय आत्मा लेकर उपस्थिति हुआ है। उसने "अलिक सुन्दर" यवन शत्रु को युद्ध स्थल में हत्या करने की अपेक्षा स्वत: ही बचाया है। वह अपने पुत्र रुद्रदत्त या भद्रबाहु की प्रतिकृति अलिक सुन्दर मे देखता है। इसी कारण कालनेमि हाथी की सूंड से उसके प्राण बचाता है। यह अपने पुत्रों का स्थानान्तरण है जो मानवीय मनोविज्ञान के अति निकट है। इसमे फ्राइडियन ट्रान्सफरेंस मनोवृत्ति की अपेक्षा सांख्य की पुत्रेषणा का प्रकारान्तर है। संस्कृत नाटक हत्या से सर्वदा मुक्त रहे हैं। अतः पुरु का चरित्र संस्कृत नाटकों के चरित्रों से अनुप्रेरित है। गरुडध्वज के कालिदास और विक्रममित्र में भी इन्हीं चरित्रों से प्रेरणा मिली है। निदान पाश्चात्य नाट्य शैली की दृष्टि से मिश्र जी जैसा कि स्वयं स्वीकार करते है कि उनके नाटकों की आत्मा भारतीय है और वेशभूषा पाश्चात्य है, संस्कार और वातावरण अपना अमिट प्रभाव छोड़ते है। अतः उनके नाटकों पर जहाँ संस्कृत नाटकों का प्रभाव है वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पाश्चात्य नाटकों का भी प्रभाव

१— ,, ,, ,, ,, ११

२— ३—दशाश्वमेघ—मिश्र—(सूत्रधार) पृ० १७

३—वैशाली में बसन्त—मित्र (मार्गदर्शन)—पृ० सं० १२-१३

है। यही धारणा उनके सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य मनोविज्ञान के विषय में की जा सकती है।

पाश्चात्य नाटकों में मनोवैज्ञानिक परम्परा :—पाश्चात्य नाटक साहित्य में मनोवैज्ञानिक परम्परा का रूप सर्वप्रथम ग्रीक दुःखान्त नाटकों में उपलब्ध होता है। यद्यपि ग्रीक के दुःखान्त नाटककारों मे "एचीलस" सोफोक्लीज, और यूरोपिडीज का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु मनोवैज्ञानिक नाट्य-परम्परा की धारा का समुद्भव सोफोक्लीज और यूरोपिडीज की दुःखान्त नाट्य कृतियों में ही पाया जाता है। इसका समर्थन हमें स्वयं फ्राइड द्वारा मिल जाता है। फ्राइड ने "लिबिडो या राग का परिवर्धन और यौन सगठन" शीर्षक में इन दोनों नाटककारों का उल्लेख किया है।[1]

पाश्चात्य नाटककारों में सोफोक्लीज के दुःखान्त नाटक मनोवैज्ञानिक परम्परा की प्रथम कड़ी हैं, क्योंकि कही कही ये नवीन मनोविज्ञान के प्रणेता फ्राइड के पथ-प्रदर्शक बने है। फ्राइड ने अपनी अति प्रसिद्ध स्थापना ओडिपस-ग्रन्थि की संपुष्टि सोफोक्लीज के दुःखान्त नाटक से ही की है। इस सम्बन्ध में स्वयं फ्राइड ने कहा कि सोफोक्लीज ने ओडिपस कहानी से जो दुःखान्त नाटक बनाया है, वह मर्मस्पर्शी है।[2] इस यूनानी कवि की रचना में ओडिपस के कार्य का, जो बहुत पहले किया जा चुका था क्रमशः उद्घाटन किया गया है, और पूछताछ के प्रसंग को बड़ी कुशलता से लम्बा कर और उसे नये साक्ष्य से पुष्ट करके धीरे धीरे सामने रखा गया है, इस प्रकार यह कुछ कुछ मनोविश्लेषण के तरीके जैसा है। संवाद में भ्रम में पड़ी हुई माता-पत्नी जोकास्टा इस पूछताछ को जारी रखने का विरोध करती है। वह कहती है कि स्वप्नों में बहुत से लोगो ने अपनी माताओं से संभोग किया है, पर स्वप्नों का कोई महत्व नहीं है। हमारे लिए स्वप्नों का बहुत महत्व है, विशेष रूप से प्रारूपिक स्वप्नों का, जो बहुत से लोगो को आते है। हमें कुछ भी सन्देह नहीं कि माता-पत्नी जोकास्टा जिस स्वप्न की बात करती है, उसका पौराणिक आख्यान की भयंकर कहानी से गहरा सम्बन्ध है।[3] इस कहानी पर लिखा गया नाटक सामान्य दृष्टि से अनैतिक कहा

१—ए जनरल इन्ट्रोडक्शन टू साइकोनेलसिस—फ्राइड (हि० सं०)—पृ० २९४

२—ग्रीक पुराणों में राजा ओडिपस की कथा है। उसमें उस भविष्यवाणी का उल्लेख है कि ओडिपस अपने पिता को मारेगा और अपनी माता से विवाह करेगा। उसने उस भविष्यवाणी को झूठा सिद्ध करने का प्रयास किया, लेकिन जब उसे यह पता चला कि उसने अज्ञान में ये दोनों अपराध कर लिए हैं, तब दण्ड रूप में उसने अपने आपको अन्धा कर लिया।—फ्राइड—वही

३—ए जनरल इन्ट्रोडक्शन टु साइकोनेलसिस—फ्राइड (हि० सं०) पृ० २९४

जायेगा, लेकिन सोफोक्लीज के इस नाटक को दर्शकों ने बिना किसी आपत्ति के देखा। इससे स्पष्ट है कि दर्शकों में इसकी प्रतिक्रिया इसलिए नही हुई क्योकि उनमें यह ग्रन्थि जन्मजात थी।

सोफोक्लीज के उपरान्त रोम के दु:खान्त नाटकों में 'सेनेका' नामक नाटककार ने घात प्रतिघात, रक्तपात और निराशा का चरित्र-चित्रण अपने नाटको में किया है। शेक्सपीयर के दु:खान्त नाटकों में 'सेनेका' के कथानकों का ही अनुकरण आगे चलकर हुआ है। शेक्सपीयर ने इन्ही नाटकों में मनोविश्लेषण पद्धति के आधार पर ही प्रेतात्माओं और जादूगरनियों को पात्र बनाया है। हैमलेट के पिता की आत्मा प्रेतात्मा एवं बांको और सीजर की प्रेतात्मा इसका प्रमाण है। मनोविज्ञान के सूत्रों के अनुसार आत्मभर्त्सना की पराकाष्ठा पर पहुंचने वाला व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण प्राणोत्सर्ग करने को उद्यत होता है। शेक्सपीयर के निम्न पात्रो की आत्म हत्या मनोवैज्ञानिक आधार पर ही अवलम्बित है :—

"हैमलेट आत्महत्या के पहले अपनी कमजोरी और अपने चाचा के छल को भली भाँति समझ लेता है। ओथेलो अपनी मृत्यु के पहले अपनी राक्षसी ईर्ष्या और डेस्डेमोना की देवी पवित्रता घोषित करता है। मैकबैथ अपनी घृणित महत्वाकांक्षा के लिए रक्तपात करके जीवन की नि:सारता बतलाता है और ब्रूटस अपनी आदर्शवाद की भूल में अपने मित्र सीज़र की हत्या कर अन्त में मिश्र की लोकप्रियता की बलिवेदी पर बलिदान हो जाता है।[1] कलाकार ने पात्रों के व्यक्तित्व की असाधारणता, उन्माद आन्तरिक द्वन्द्व और विभ्रम की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियो को अति सुन्दर ढंग में प्रस्तुत किया है। हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा केवल उसी को दीखती है, वह उसकी माता जर्ट्स को नही दिखलायी देती। मैकबैथ को मायावी जादूगरनियां दिखाई देती देती हैं, पर वह बांको को नहीं दिखलायी देतीं। मैकबैथ को बांको का प्रेत दिखलायी देता है, लेकिन लेडी मैकबैथ को वह नहीं दिखलायी देता। ये उन्माद और विभ्रम की चरम सीमा है, क्योकि प्रेतात्मायें है कुछ नही, वह केवल उन ही व्यक्तियों के मानसिक विभ्रम है जिनमें अपराध ग्रन्थि समायी हुई है। लेडी मैकबैथ का निद्रितावस्था में चलते फिरते और बार बार हाथों को धोते हुए दिखाना आन्तरिक द्वन्द्व की पराकाष्ठा है। हैमलेट और ओथेलो का प्रतिशोध, लियर का प्रमाद, रोमियो और जूलियट का काम सैक्स, मैकबैथ का मायावी जादूगरनियों को प्रत्यक्ष देखना और बातें करना ये मनोग्रस्तता तथा बहुव्यक्तित्व और सहबोधावस्था के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

शेक्सपीयर के नाटकों की मनोवैज्ञानिकता डा० एस० पी० खत्री के शब्दों में सुस्पष्ट है। उनकी स्थापना है कि इन अन्तर्द्वन्द्वी अथवा विश्लेषक अथवा मनोविज्ञानी नाटकों की महत्ता साहित्य में सर्वदा रहेगी। उदाहरण के लिए एक ही पात्र में स्नेह

१—नाटक की परख—डा० एस० पी० खत्री पृ० सं० ४०

और क्रूरता, दया और प्रतिशोध, अकर्मण्यता और वीरता, लालसा और हत्या का अन्तर्द्वन्द्व नाटककार प्रदर्शित कर सकता है, अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयर के नाटक इसी वर्ग के हैं। इस शैली में लिखे गये नाटकों का उद्देश्य मानव हृदय की गहराइयों को नापना है। काल तथा परिस्थिति के आवर्त्त में पड़कर मनुष्य का हृदय किस तरह परिवर्तित हो जाता है, किस प्रकार वह स्वभावतः अपने ही बनाये हुये जाल में फंसकर अपने जीवन का अन्त करता है, किस प्रकार उसके मानसिक अवगुणों का सहारा ढूंढ कर परिस्थितियाँ उसको विनाश की राह पर लाकर डाल देती है, इन सबका लेखा हमें मनोविज्ञानी अथवा अन्तर्द्वन्द्वी नाटकों मे मिलेगा।[1]

शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों में मानसिक द्वन्द्व-बहुलता—शेक्सपीयर ने देशकाल की अन्ध विश्वासपूर्ण रुचि, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और नाटकीय रोचकता के लिए प्रेतात्माओं तथा जादूगरनियों को भी पात्र रूप में रखा है। जैसे हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा, बांको की प्रेतात्मा, सीजर की प्रेतात्मा और मैकबैथ के साथ संवाद करने वाली जादूगरनियां पात्र रूप मे प्रयुक्त हुई है।

शेक्सपीयर के दुःखान्तकियों में ऐतिहासिक पात्रों की जीवन गाथा की मनोवैज्ञानिक विशेष घटनायें ही नाटकीय रूप मे दिखायी गयी हैं। हैमलेट का प्रतिशोध और आथेलो का प्रतिशोध दोनो ही एडलर की क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया तथा प्रतिशोध ग्रन्थि से अनुप्राणित हैं। लियर का प्रमाद अन्तर्द्वन्द्व की चरम सीमा पर पहुंच चुका है।

शेक्सपीयर के नाटकों मे हैमलेट की ओफीलिया हैमलेट को हताश करती है। लेडी मैकबैथ, मैकबैथ को उत्तेजित करती है। आथेलो की डेसडेमोना अपनी देवी सरलता तथा विश्वास से आथेलो को ईर्ष्यालु बनाती है और लियर की पुत्रियाँ लियर को पागल कर देती हैं। ये सब पात्र परस्पर मानसिक नियतिवाद से अनुप्रेरित होकर घात-प्रतिघात का आश्रय लेते हैं। तभी इन सब में मनोग्रस्तता आद्योपान्त सन्निहित रही है :—

शेक्सपीयर के मनोवैज्ञानिक नाटकों का सक्षेप में पर्यालोचन निम्न प्रकार से है:—

मैकबैथ मे लेडी मैकबैथ और स्वयं मैकबैथ मे आन्तरिक द्वन्द्व और विभ्रम की पराकाष्ठा है :—

मैकबैथ—मेरे हाथों से इन दागों को तो समुद्र का सारा पानी भी नहीं मिटा सकेगा। ओ चला जा, अपने इन खून से भीगे बालों को मेरी तरफ न हिला। वह देखो। वह रहा, क्या है यह। कौन है तू ? तू भी बांको की प्रेतात्माओं से मिलता हुआ है।[2]

लेडी मैकबैथ के आन्तरिक द्वन्द्व की चरम परिणति निद्रावस्था में उठकर सांकेतिक चेष्टाओं में अति सुन्दर बन पड़ी है।

१—डा० एस० पी० खत्री—नाटक की परख पृ० १८५-८६
२—मैकबैथ—शेक्सपीयर—पृ० सं० ४३, ७२, ६०

लेडी मैकबैथ—यहाँ अभी एक दाग रह गया। अभी तक भी खून की बदबू यहाँ से नहीं मिटी है।

डाक्टर—क्या कर रही है वे इस समय ? वे देखो किस तरह से अपने हाथों को रगड़ रही हैं।

दासी—यह तो उनकी हमेशा की आदत है कि मानो वे अपने हाथ धो रही है। पन्द्रह मिनट से तो मैं उन्हें यही करता देख रही हूँ [१]

हैमलेट में प्रतिशोध ग्रन्थि प्रबल है। परन्तु यह ग्रन्थि मातृ-प्रणय ग्रन्थि के बावजूद निर्बल है।

हैमलेट—ओ ओफीलिया। मुझमें ऐसे भी दोष है जिन्हें सुनकर मेरी माँ भी मुझसे घृणा करने लगेगी। उसका सम्मान उनके कारण पूरी तरह नष्ट हो सकता है। मैं बहुत अभिमानी हूँ। प्रतिशोध की भावना मुझमें कूट-कूट कर भरी है।[२]

हैमलेट प्रतिगमन या निषिद्ध प्रेम की इच्छा के कारण अपने चाचा से बदला नहीं ले पाता। प्रत्यावर्तन के वशीभूत होकर ओफीलिया से अपनी शादी तक करने के लिए निषेध करता है।[३] वह विपर्यस्त होकर अपना प्यार ओफीलिया पर केन्द्रित कर डालता है।[४] सम्राट् क्लाडियस में अपराध ग्रन्थि है। वह अपने भाई के रक्त में रंगे हुए हाथों को विभ्रम की दृष्टि से देखता है और दाग मिटाने की ईश्वर से प्रार्थना करता है। [५] हैमलेट का प्रतिशोध मातृ-प्रणय ग्रन्थि के कारण हेत्वारोपण का सहारा लेता है :—

हैमलेट—ओ मेरी तलवार। मत वार करो। मैं तुझे छोड़कर दूसरा अवसर दूंगा। वह उस समय जब यह किसी पराई स्त्री के साथ व्यभिचार कर रहा होगा।[६] वास्तव में वह हत्या करना चाहता ही नहीं क्योंकि उसे अपनी माँ को तनिक भी दुःख नहीं देना अतः इस हेत्वारोपण से प्रतिशोध को शान्त करता है।

सम्राट् लियर की कौर्डेलिया में एलेक्ट्रा-ग्रन्थि स्पष्ट है :—

कौर्डेलिया—इन दोनों से अधिक मैं पिताजी को चाहती हूँ.......। पिताजी मैं आपको अपने हृदय का सारा प्रेम देने के लिए अपनी बहिनों की तरह शादी नहीं

१—**मैकबैथ—शेक्सपीयर—पृ० सं० ११३-१४-१५**
२—**हैमलेट—शेक्सपीयर पृ० सं० ८७**
३— ,, ,, ८९
४— ,, ,, ९५
५— ,, ,, ११६
६—**हैमलेट—शेक्सपीयर—पृ० सं० ११९**

जाती है। तभी वह स्व आक्रमण प्रेरणावेग वश अपनी हत्या कर डालता है।[1]

मोलियर के नाटकों में काम प्रवृत्ति एवं इड् की अनियन्त्रितता—फ्रांस के नाटककार मोलियर के नाटक 'ली बार्जिस, गनील हार्मे, (बनिया चला नवाब की चाल) में काम प्रवृत्ति का अबाध प्रवाह है। काम की उत्प्रेरणा से 'दूरदे' संगीत एवं नृत्य कला को वृद्धावस्था में सीखने का अभिलाषी हो उठा है। उसकी पुत्री 'ल्यूसील' सेक्स की स्वच्छन्दता के कारण जरदे से निर्वाचित 'वयोल्त' के साथ विवाह नहीं करती वरन् अपने पूर्व प्रेमी के साथ विवाह करती है।

मोलियर के 'ली मेरेज फोर्से' (नाक मे दम) में भी यही काम प्रवृत्ति पायी जाती है। इसमे स्त्री के अनियन्त्रित इड् पर प्रकाश डाला गया है। पुरुष की मैथुनिक शीतलता ने उसके इड् को स्वच्छन्दता की ओर मोड़ दिया है। फलतः वह अपनी अतृप्तदमित-कामेच्छा की तुष्टि हेतु अन्य व्यक्ति से संगम करने को तत्पर होती है।

'जार्ज डैनडीन आर द वैफुल्ड हसबैंड' में स्त्री के इड् का निर्बन्ध उपक्रम पाया जाता है। उसका सामाजिक अहं अपने इड् से पूर्णतया पराजित हो चुका है। वह पति के घर मे ही अपने प्रेमी से बिना किसी हिचक के संगम करती पायी जाती है।

इस प्रकार मोलियर के नाटकों मे मनोवैज्ञानिक परम्परा के आधारभूत काम प्रवृत्ति का अच्छा निर्वाह हुआ है।

यथार्थवादी इब्सन के नाटकों में मनोवैज्ञानिक-धारा— इब्सन के "घोस्ट्स" नाटक मे मनोवैज्ञानिक परम्परा का निखरा रूप मिलता है। विवाह प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी है, क्योंकि वैवाहिक जीवन में प्रेम रूढ़िबद्ध कर्त्तव्य के निबाहने के कारण प्रेम नही रहता। यही नाटक का सदेश है। इब्सन ने अपने इस काम-मूलक परिपक्व विचार को नाटक की विषयवस्तु बनाया है। श्रीमती एलविंग की कर्त्तव्य की रूढ़िबद्धता ने अपने और पति के बीच एक भयंकर खायी खोद डाली है। उनका आदर्शाहं पराकाष्ठा पर है। उसी के प्रतिफल मे श्रीमती एलविंग का पति व्यभिचारी एवं शराबी बन गया है। ऐसी स्थिति मे वह स्वयं अपने पुराने मित्र मि० मेण्डर्स से प्रेम की भीख माँगती है। किन्तु मि० मेण्डर्स में आत्म संयम है। उसका नैतिकाहं एलविंग को उसके पति के साथ जीवन बिताने को कहता है। दुराचारी पति से एलविग के गर्भ से पुत्र जन्म होता है। वह अपने इस पुत्र औसवल्ड को फ्रांस इसलिए भेज देती है कि पिता का दुराचार उसमें न आ जाय। लेकिन औसवल्ड आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत मैथुनिक मानसिक ग्रस्तता से अस्वस्थ हो जाता है। औसवल्ड को आत्म ग्लानि और पश्चाताप के दुःख से बचाने के लिए नाटककार ने श्रीमती एलविंग से मनोविश्लेषण-पद्धति के

१— " " १५९

द्वारा उपचार-विधि रखवायी है। वह अपने पति के व्यभिचार का रहस्य खोलती है। पुनः कुछ दिन पश्चात् औसवल्ड भयानक अभुक्त काम से उत्पीड़ित हो उठता है। उसकी मनोविक्षप्तता का यह अन्तिम चरण है। नाटककार ने यहाँ श्रीमती एलविंग से औसवल्ड की जेब से जहर की पुड़िया निकलवाकर एक विलक्षण मानसिक प्रक्रम दिखलाया है। वह पुत्र के नाते उसे मारना नहीं चाहती लेकिन पति के दुराचारों से तादात्म्य होने के कारण उसे ज़हर भी देना चाहती है। उसमें प्रेतात्माओं का विभ्रम भी पाया जाता है। वह प्रेतात्मा उसके दुराचारी पति की ही है।

नाटक मे श्रीमती एलविंग के परिवार का मनोवैज्ञानिक चित्रण इब्सन ने प्रस्तुत किया है, जिसमें कर्त्तव्य और नैतिक आदर्शों के अन्धानुकरण के कारण जीवन अभिशाप बन गया है। श्रीमती एलविंग के संवादों मे अपने नैतिकाहं और पति के प्रकृत काम तथा स्वपुत्र औसवल्ड में आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति सुस्पष्ट है।

श्रीमती एलविंग—तुम्हारे पिताजी को अपने अन्दर के उस जीवन के आनन्द को व्यक्त करने का कोई साधन न मिल सका और मैं भी उनके घर मे किसी प्रकार का सुख चैन न ला सकी।

औसवल्ड—तुम भी नहीं ला सकीं, माँ ?

श्रीमती एलविंग—मुझे कर्त्तव्य तथा अन्य ऐसी ही वस्तुओ के विषय में, जिनमें मैं इतने दिनों तक विश्वास करती रही, शिक्षा दी गई थी, मुझे प्रत्येक वस्तु कर्त्तव्य द्वारा ही चालित होती हुई दिखलाई पड़ती थी—मेरे कर्त्तव्य और उनके कर्त्तव्य। और मुझे भय है, औसवल्ड, कि मैंने तुम्हारे दुःखी पिता के मकान को उसके लिए असहनीय बना दिया।[1]

श्रीमती एलविंग के आदर्शाहं ने ही अपने पति के प्रकृत-काम को स्वच्छन्दता दी। उसका इड् उन्मुक्त केलि विलास की ओर प्रवृत्त हुआ। किन्तु श्रीमती एलविंग के नैतिकाहं की दृढ़ग्रन्थि उसके जीवनान्तक बनी रही। मिस्टर मेण्डर्स से उसका यह कथन है कि जब उसने रेजीना और औसवल्ड को देखा तो उसे प्रेतात्माओं का भान हुआ। यह विभ्रम की चरम परिणति है। इसी संवाद में वह माता-पिता के उत्तराधिकार से मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्धी बातों की चर्चा करती है। जिसमें औसविल्ड के आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति का फ्राइडियन तथ्य प्राप्त होता है। और मैथुनिक ग्रस्तता की मनोग्रन्थि भी इसी उत्तराधिकार द्वारा भयंकरता लायी है।

इब्सन का 'ए डाल्स हाउस' (गुड़िया का घर) नोरा के नारी मनोविज्ञान से परिपूरित है। नाटक की कथावस्तु सैक्स से सम्बन्धित है। नोरा का विवाह निर्धन हैल्मर से होता है। आर्थिक दशा शोचनीय होने के बावजूद हैल्मर में हीन-भाव आ

१—इब्सेन की नाट्यकला—हरीश रायजादा पृ० २५-२६

जाता है और रोगग्रस्त भी वह हो जाता है। दुराचारी क्रागस्टेड से नोरा अपना सम्पर्क इसलिए बढ़ाती है कि वह अपने रोगी पति से स्वास्थ्य लाभ के लिए जलवायु बदलने को कुछ रुपया दे दे। क्रागस्टेड अपने अनियन्त्रित इड् की प्रेरणा से नोरा को रुपये दे देता है और इड् की संतुष्टि भी साथ साथ करता है। हैल्मर से यह सब छिपाया जाता है। अपनी पत्नी के घृणित काम से हैल्मर के अहं को बड़ी ठेस पहुँचती है। हैल्मर की नियुक्ति उस ही बैंक के मैनेजर पर होती है, जहाँ क्रागस्टेड कर्मचारी था। इसे देखकर उसमें प्रतिशोध-ग्रन्थि जाग उठी है और नोरा के बहुत अनुनय विनय पर भी वह क्रागस्टेड को पदच्युत कर देता है। यह उसकी प्रतिशोध ग्रन्थि का परिणाम है, जहाँ नोरा मे इड् की परितृप्ति का हेत्वारोपण है, वहाँ नारीत्व का अहं भी।

वह अपना अपमान सहन नही कर पाती और अपने हेत्वारोपण के दबाव से स्वतन्त्र जीवन बिताने के लिए अग्रसर होती है।

"दी पिलर्स आफ सोसाइटी" का कास्तर्न बनिक अपने अव्यवस्थिति इड् का शिकार है। उसके एक नहीं तीन प्रेमिका हैं। पहले उसकी कामुकी प्रवृत्ति "लोना" को वश में करती है। संपत्ति के हेत्वारोपण से वह कुछ काल बाद 'लोना' को छोड़ कर उसकी बहिन बेली के साथ विवाह कर लेता है। इसी बीच में एक अभिनेत्री आ जाती है। उसका प्रकृत काम उसकी ओर मुड़ जाता है। अभिनेत्री के साथ वह मौके पर पकड़ा जाता है। लोना को त्यागकर बेली से विवाह का कारण बेली की वह संपत्ति बतलाता है। लेकिन है यह हेत्वारोपण, क्योंकि बेली से पहिले भी वह विवाह कर सकता था। अभिनेत्री की ओर भी झुकाव यही पुष्टि करता है।

यथार्थवादी शॉ के नाटकों मे काम प्रवृत्ति, आरोपण और भूलों का मनोविज्ञान—बनार्ड शा के "आर्म्स एण्ड द मैन" नाटक का प्राणतत्व सैक्स है। यद्यपि उसका बाह्य कलेवर युद्ध की भयंकरताओं से भिरा हुआ है, लेकिन उसका पर्यवसान फ्राइड की काम प्रवृत्ति सेक्स मे है। राहिना और सरजियस दोनों में अगाध प्रेम है। उन दोनों का दृढ़ निश्चय है कि जीवन में उन्हें विवाह-सूत्र में बंधना है। पर यह निश्चय केवल इड् की संतुष्टि मात्र है, क्योंकि सरजियस का सच्चा प्यार लूका नामक युवती से है और राहिना का आत्मसमर्पण स्विस आफीसर ब्लंचली को हो चुका है। शा ने सरजियस और राहिना के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण में फ्राइडियन आरोपण (प्रोजेक्शन) का हृदयस्पर्शी मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया है।

राहिना की माँ कैथराइन उसकी शादी सरजियस से इसलिए चाहती है कि वह युद्ध में विजय प्राप्त कर एक ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति बन गया है। किन्तु राहिना उस पर लूका से प्रेम करने का आरोप लगा कर अपने मन चाहे ब्लंचली को विवाह के उपयुक्त बतलाती है। सरजियस भी चाहते हैं कि वह कोई ऐसा बहाना पाये जिससे

राहिना उसके मार्ग से हट जाये, यह उसके अचेतन मन की प्रेरणा है। लूका के "ईर्ष्या के भ्रम" से सरजियस के अचेतन मन को बल मिलता है। वह राहिना का सच्चा प्यार ब्लंचली से सिद्ध करती है। जब सरजियस के समक्ष राहिना ब्लंचली को अपना चित्र अपने पिता मेजर के कोट की जेब से निकाल कर देती है तो उसे आरोप करने का अवसर प्राप्त होता है। शॉ ने इन प्रेमी प्रेमिकाओं द्वारा आरोपण की पारस्परिक प्रवंचना की विलक्षण विधा से उनके सामाजिक अहं की सुरक्षा की है। वैसे ये दोनों प्रेमी आपस में प्रेम ही चाहते थे, विवाह नहीं।

सैक्स का यही प्रवाह शॉ के "मैन एण्ड सुपरमैन" में पाया जाता है। परन्तु नाटक में प्रेम के निमित्त विवाह की उपयोगिता नगण्य सिद्ध की है। नायिका "एन" के "टैनर" और "आक्टेवियस" दो प्रेमी हैं। लेकिन उनसे प्रेम करने के अतिरिक्त वह विवाह की सोचती तक नहीं। आक्टेवियस के विवाह प्रस्ताव पर उसका उत्तर प्रेम और विवाह के लिए सारगर्भित है। उसका कथन है कि आक्टेवियस मैं तुम्हारी प्रेम पात्री हूँ। तुम मेरी इस प्रेम के खातिर ही पूजा करते हो। मै चाहती हूँ कि सदैव तुम मुझको अपनी आराध्यदेवी ही मानो, लेकिन यह तभी सम्भव है जब तुम मुझे प्रेमिका की दृष्टि से ही देखते रहो। विवाह के उपरान्त यह अराधना न रहेगी। बताओ ? यह मैं कैसे सहन कर पाऊँगी। इससे विवाह के स्थान पर प्रेम ही करते रहो"। यहाँ भी शॉ ने प्रेम और विवाह की भिन्नता प्रकट करते हुए प्रकृत काम की उन्मुक्त उड़ान पर जोर दिया है। शॉ का कैनडिडा नाटक भी इसी वर्ग की उत्कृष्ट कृति है।

शॉ के "सीजर एण्ड क्लियोपाट्रा" की मनोवैज्ञानिकता इस बात से ही ज्ञात हो जाती है कि स्वयं फ्राइड ने अपनी गलतियों के मनोवैज्ञानिक तथ्य के शीर्षक का निरूपण इस ही नाटक के उदाहरण द्वारा पुष्ट किया है। इस नाटक के अन्तिम दृश्य में जाते समय सीजर के मन में यह भावना घूम रही है कि वह और कुछ करना चाहता था जिसे इस समय वह भूल गया है। अन्त में उसे याद आ जाता है कि वह क्लियोपाट्रा से अलविदा कहना चाहता था। सीजर ने यह व्यवस्था की थी कि क्लियो-पाट्रा उसके पीछे-पीछे रोम आ जाये और वह सीजर की हत्या होने के समय अपने बच्चे के साथ वहीं रह रही थी। हत्या के बाद वह शहर से भाग गयी।[1] सीजर की इस भूल में अज्ञात मन के द्वन्द्व का प्रकारान्तर है, जिसे शा ने बड़े ही कौशल से अभिव्यक्त किया है।

टालसटाय के पात्रों में मैथुनिकशीलता, यौन विच्युति और स्वआक्रमण प्रेरणा वेग—रूसी नाटककार टालसटाय के नाटक 'द लिविंग कार्प्स आर रिडेक्शन

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड (हि० सं०) पृ० सं० ३६–३७

की कथावस्तु काम-प्रवृति पर आधारित है। नाटक के नायक 'फीडिया' में मैथुनिक शीलता है। यौन विच्युति के कारण उसकी धर्म पत्नी 'लिसा' अपनी अतृप्त वासना को तृप्त करने के लिए अपना एक दूसरा प्रेमी ढूँढ लेती है। 'फीडिया' का अहं इसे सहन नहीं कर पाता। वह मनोग्रसित होकर अपने मानसिक संतुलन की सुरक्षा के लिए सर्व प्रथम ऐसी बाह्य सांकेतिक चेष्टा करता है जिससे उसके अज्ञात मन का सहसा स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। वह नदी के किनारे अपना कोट रखकर सबकी आँखों से ओझल हो जाता है। उसे मरा हुआ समझकर एक दूसरी लाश को नदी में पाकर उसकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी जाती है। इस वातावरण से 'लिसा' के इड् को पूर्ण संतुष्टि मिलती है। किन्तु सामाजिक अहं से प्रताड़ित फीड़िया अपनी पत्नी लिसा की दुश्चरित्रता की रिपोर्ट मजिस्ट्रेट को करता है। उसकी पत्नी लिसा और उसका प्रेमी पकड़े जाते है। किन्तु फीडिया हीन भाव से उत्पीड़ित हो उठता है। जब वह 'लिसा' की स्वैरिणी मनोवृत्ति को किसी भी प्रकार से नहीं बदल पाता और उसके प्रेमी से प्रतिशोध लेने में भी अपने को असमर्थ पाता है तो 'स्वपीड़क परितोष' से पीड़ित होकर वह अपनी आत्म-हत्या कर लेता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्व-आक्रमण-प्रेरणा-वेग का मानसिक प्रक्रम उसके कोट उतार कर नदी में मरने वाले संकेत से पहले ही स्पष्ट हो चुका था।

यूरोपीय नाटकों के विभिन्न वादों में मनोवैज्ञानिक परम्परा—आधुनिक युग में अहंवादिता के प्रसार के फलस्वरूप प्रकृतवाद (नेचुरैलिज्म) तथ्यातिरेकवाद (सुररियलिज्म) मनोविश्लेषणवाद (साइकोनेलिज्म), अभिव्यंजनावाद (इक्सप्रेस-निज्म) आदि की अवतारणा पाश्चात्य नाटकों में हुई है। इनमें से अधिकांशवाद मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर ही फले-फूले हैं।

प्रकृत वाद के नाटकों में निषिद्ध प्रेम, समाजगत मनोविकृतियाँ, आत्म हत्या अपराध, अपहरण और बर्बरता को प्रधानता मिली है। सण्डरमैन, ओनील, पिरेण्डेलो चेखोव ने इसी के आधार पर जीवन की विकृतियो का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

तथ्यातिरेकवादियों ने मानसिक भावों को अव्यवस्थित बतलाया है। तत्स-म्बन्धी नाटककारों ने मनोविश्लेषण ढंग पर मातृ-प्रणय, एलेक्ट्रा, आत्म रति ग्रन्थि एवं बहुव्यक्तित्व (मल्टीपुलपरसनालिटी) को नाटकों में प्रदर्शित किया है। यह वाद युंग के समष्टि-अचेतन (कलेक्टिव अनकान्शस) से मिलता-जुलता है।

इसकी पुष्टि में रस के नाटककार 'एवरेनाव' की यह स्थापना पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है कि व्यक्ति का अहं केवल अच्छे या बुरे विचारों से ओत-प्रोत नहीं होता वरन् उसमें अनेक परस्पर विरोधी भाव प्रवणता के बावजूद बहुव्यक्तित्व को बल मिलता है, और व्यक्ति में अपने अहं को भुलाकर दूसरे व्यक्ति की सहबोधावस्था

का अनुभव करना, इसी भिन्न व्यक्तित्व से सम्बन्धित है।[1] क्योंकि परस्पर विरोधी भाव प्रवणता और सहबोधावस्था की फाइडियन उपपत्तियों का भी यही मापदण्ड है। पिरेण्डेलो इस श्रेणी के सर्वोच्च नाटककार है।

मनोविश्लेषणवाद और अभिव्यंजनावाद दोनों फ्राइड,एडलर और युंग की मनोविश्लेषण पद्धति से अनुप्रेरित है। युगेन ओनील, पिरेन्डेलो की नाट्य कृतियां इन वादों से आन्दोलित है।

इब्सन और शा के उपरान्त चेखव, युगेन, ओनील, पिरेन्डेलो, स्ट्रिन्डवर्ग, मैटरलिंक और आस्करवाइल्ड नाटककारो ने पश्चिम मे मनोवैज्ञानिक परम्परा को सुदृढ किया है।

चेखव के नाटक 'द सीगल, में अनियन्त्रित इड् का आधिपत्य— रूसी नाटककार चेखव का द सीगल नाटक मनोवैज्ञानिक परम्परा की उत्कृष्ट शृङ्खला है। संस्कृत के कवि भर्तृहरि के अनुरूप इसकी विषय वस्तु उस श्लोक से साम्य स्थापित किये हुये है जिसमे राजा का प्रेम रानी से, रानी का सईस से, सईस का वेश्या से और वेश्या का राजा से दिखलाया गया है। केवल द सीगल नाटक के पात्रों में इससे इतनी भिन्नता है कि उसका कोई भी पात्र इतना आत्म संयमी नही जितना राजा है इसके सब पात्रों पर इड् का भूत सवार है। 'आर्कदीना' अभिनेत्री 'त्रिगोरिन' लेखक पर आसक्त है पर त्रिगोरिन नवीन अभिनेत्री नीना पर डोरे डाले बैठा है, जबकि नीना उसे न चाहकर, "त्रेपलेव" को चाहती है। त्रेपलेव की अजीब दशा है। वह नीना को इतना नही चाहता जितना अपनी मां आर्कदीना को चाहता है। त्रेपलेव को जितना नीना चाहती है उससे कही अधिक माता का उसके प्रति प्यार है। माता पर मैद्वीद्वैको मास्टर के मन का लगाव है। पर त्रेपलेव उसे प्यार की दृष्टि से तनिक भी नही देखता। इस प्रकार सभी पात्रों मे अपने अपने इड् की अनियन्त्रित शासकता का वास है। कोई भी पात्र ऐसा नहीं जिसमें मानसिक कुण्ठा न बन पायी हो।

चेखव के इन सभी पात्रो का केन्द्रबिन्दु फ्राइडियन काम प्रवृति (सेक्स) है। इसी प्रवृति से प्रभावित होकर इन पात्रों में इडिपस-ग्रन्थि, हीनत्व कुण्ठा,तादात्म्यीकरण, कामात्मक दिवास्वप्न, स्व-आक्रमण-प्रेरणा-वेग भाव-रेचन, आदि मानसिक प्रक्रम का

१—वर्ल्ड ड्रामा—ए निकल पृ० ७१८

२—यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
इत्थं कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक्तांच, तंच, मदनंच, इमांच, मांच ॥
नीतिशतकम्—भर्तृहरि श्लोक सं० ४

आवेग है। जिसके उदाहरण इन पात्रों के संवादों में सुगमता से प्राप्त हैं।

आर्कदीना का त्रिगोरिन से पति पत्नी जैसा प्रेम है किन्तु इडिपस ग्रन्थि वश त्रेपलेव उसे सहन नहीं कर सकता वह सर्वदा उसे द्वन्द्व के लिये ललकारता है। उसके संवाद प्रतिगमन से परिपूरित हैं:-

त्रेपलेव – अम्मा के बिना में रह नहीं सकता—उनकी पगध्वनि तक बड़ी प्यारी है मैं बहुत खुश हूँ। अम्मा ,मेरे हृदय में तुम्हारे लिये वैसा ही प्यार,मधुर और सच्चा प्यार उमड़ता रहा जैसे बचपन में उमड़ता रहता था।

आर्कदीना—मुझसे यह सब भद्दी बातें करने में तुम्हें मजा आता है।

त्रेपलेव— (उसके हाथ चूम कर) अच्छा अम्मा।

आर्कदीना—उनसे भी मेल कर लो। अब तो तुम द्वन्द्व नहीं चाहते न।[1] यह त्रिपलेव के मातृ प्रणाय ग्रन्थि, और निषिद्ध प्रेम की इच्छा के साथ फ्राइडियन प्रतिगमन का सुन्दर उदाहरण है। आर्कदीना चाहती है कि त्रिगोरिन सर्वदा उसका ही अभिन्न हृदय बना रहे। किन्तु नीना से उसका प्यार अधिक है। वह उसी के कामात्मक दिवास्वप्न में तन्मय है।

त्रिगोरिन—(आर्कदीना से) कभी-कभी लोग सोते हुये बोलते रहते है मुझे भी ठीक वैसा ही लग रहा है। मैं बातें तुमसे कर रहा हूँ लेकिन जैसे सो रहा हूँ- उन मीठे मधुर सपनों ने मुझे बाँध लिया है—मुझे मुक्त कर दो।[2]

आर्कदीना में इसी से मानसिक कुण्ठा है। वह अपनी इस कमजोरी का तादात्म्य शेक्सपियर के हेमलेट से कर बैठी है।

त्रेपलेव—मेरी मां एक मनोवैज्ञानिक कुण्ठा है।

आर्कदीना—(हैमलेट में से बोलती है) ओः हैमलेट, अब और मत बोल, तू मेरी निगाहों को मेरी अपनी ही आत्मा में, उसे परखने के लिए मोड़े दे रहा है, और उस आत्मा में मुझे ऐसे काले-काले दाग और धब्बे दिखाई दे रहे हैं जिनकी छाप शायद कभी नहीं मिटेगी।[3] यही फ्राइडियन तादात्म्यीकरण है।

त्रिगोरिन में आत्महीनता उच्च कोटि की है वह आत्म भर्त्सना करता है। उसे अपने पर तनिक विश्वास नहीं।

त्रिगोरिन—मुझे अपने आपसे ही छुट्टी नहीं है। और लगता रहता है जैसे मैं खुद ही अपने जीवन को खाये जा रहा हूँ।

१—चेखव के तीन नाटक—राजेन्द्र यादव (अनु) हिं० सं० पृ० २०, ६८, ६९ और ७१

२—चेखव के तीन नाटक—राजेन्द्र यादव (अनु० हिं० सं०) पृ० ७२

३— ,, ,, ,, १७ और २६

नीना—"आप खुद अपने आप से चाहे जितने असंतुष्ट हों, लेकिन दूसरों के लिये महान और पूज्य हैं ही।" यह इडलरीय हीन भावना त्रिगोरिन में सुन्दर बन पड़ी है। माशा के प्यार को त्रेपलेव द्वारा ठुकराये जाने के कारण उसमें स्व—आक्रमण प्रेरणावेग की मनोग्रन्थि प्रबल है और अपने पिता का स्थानान्तरण वह दोर्न डाक्टर में देखती है।[1]

माशा – (दोर्न से)बापू से मुझे विशेष प्रेम नहीं है लेकिन आपके लिये मन में बड़ी श्रद्धा है। पता नहीं कैसे यह मेरे दिल में जम गया है कि मेरे हृदय के बहुत ही निकट हैं—मुझे बचाइये, नहीं तो मैं कुछ पागल पना कर डालूँगी—मैं अपनी जिन्दगी के साथ कोई खिलवाड़ कर डालूँगी—अपना सत्यानाशकर लूँगी—अब मुझसे सहा नहीं जाता।

दोर्न—यह सब क्या है। किससे तुम्हें बचा लूँ।

माशा—किसी को भी तो नहीं पता मैं कितनी दुःखी हूँ—मैं त्रेपलेव से प्यार करती हूँ।

दोर्न—सब लोग कितने पागल हो गये हैं—कैसे पागल,प्यार का कितना ढेर लग गया है।[2] नीना हंसिनी है। वह हंसिनी का प्रतीक त्रिगोरिन, त्रेपलेव दोनों को चाहती है पर त्रेपलेव ने उसे गाली दीं, घृणा की उसके पत्र, चित्र फाड़े फिर भी अन्तस् में उसके प्रति प्यार भी था। इन सभी पात्रों में मनोविकृति है वे बातें करते करते रो पड़ते है। त्रेपलेव द्वारा लिखित नाटक भी भावरेचन के लिये आर्कदीना के शब्दों में विकृत मानसिक स्थित की नुमाइश है।[3]

अभिव्यंजनावादी नाटककार पिरेंडलो में मनोवैज्ञानिक परम्परा का उत्कृष्ट रूप—अभिव्यंजनावादी नाटककार, पिरैंडेलो का सिक्स करैक्टर्स इन सर्च आफ ऐन आथर मनोवैज्ञानिक परम्परा का उत्कृष्ट नाटक है ' पिरैंडेलो स्वयं बहुव्यक्तित्व का पक्षपाती है। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको एकाकी समझता है किन्तु यह कोरी विडम्बना है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में बहु-व्यक्तित्व का बाहुल्य होता है। "निकल" के मतानुसार व्यक्ति के जीवन की विकृतियों को उसने मन के अन्तर्बहि

१—वही ,, ,, ,, ५३ और ५६

२—चेखव के तीन नाटक—राजेन्द्र यादव (अनु० हि० सं०) पृ० ३८

३— ,, ,, ,, ३०

दोनों प्रकारों से अभिव्यक्त किया है।[1] उसके पात्र नकली चेहरे पहने आते हैं, परन्तु ये नकली चेहरे सच्चे चेहरों से कहीं अधिक सच्चे और प्रभावशाली हैं।[2] इस नाटक में जैसा कि उसके नाम से विदित होता है, रंगमंच पर एक ही व्यक्ति के छः चरित्र सामने आते हैं। इन छः चरित्रों में बहुव्यक्तित्व का स्पष्ट प्रभाव दीखता है, जिसमें आन्तरिक द्वन्द्व के फलस्वरूप सह-बोधावस्था, परस्पर-विरोधी-भाव-प्रवणता, स्वपीड़क, परितोष, विषकुम्भं, पयोमुखं, प्रतिशोध और जीवन मरण प्रवृत्तिगत शोषण की मनोवृत्ति पायी जाती है। एक चरित्र में मन के विभिन्न स्तरों का इतना स्पष्ट चित्रण अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है।

मनोविश्लेषणवादी नाटककार युगेन ओनील के नाटकों में अतृप्त-काम एवं हीनत्व कुण्ठा—'युगेन ओ नील' पर मनोविश्लेषण पद्धति का गहरा प्रभाव है। अभिव्यंजनवादी शैली का वह उच्च नाटककार है। नवीन मनोविज्ञान की प्रतिच्छाया उसके बहुत पात्रों में उपलब्ध होती है। उसके इस श्रेणी के प्रमुख नाटक 'बियांड द हौराइजन 'और' 'द हेयरी ऐप' हैं। ये नाटक अभुक्त-काम की प्रेरणा, यौन-विच्युति के दुष्परिणाम, हीनत्व कुण्ठा, स्वआक्रमण-प्रेरणावेग मनोवृति की उत्तेजना से आत्म-हत्या से परिपूर्ण है ।

'द हेयरी अप' अभिव्यंजना पद्धति पर अवलम्बित है। उसमें व्यक्ति प्रकृति के समक्ष अपना मानसिक संतुलन खोता हुआ दृष्टिगोचर होता है ।

सण्डरमैन के नाटकों में निषिद्ध प्रेम की इच्छा—स्वाभाविकतावादी नाटककार जर्मनी के सण्डरमैन के नाटक निषिद्ध प्रेम से ओत-प्रोत हैं। 'द वेल आफ कण्टेण्ट' में एक हैडमास्टर के निषिद्ध प्रेम की इच्छा का मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटक में मिलता है। दूसरे नाटक 'द बैटिल आफ बटर फलाइज' मे एक विधवा के प्रेम का आन्तरिक द्वन्द्व है। इस वर्ग के जर्मन हाप्टस्मैन नाटककार की कृतियाँ 'बिफोर सन राइज' और 'द वीवर्स' है। दूसरे नाटक में जुलाहों का अन्तस्संघर्ष है। प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों पर इन नाटकों की छाया मिलती है।

1—Each one of us believes himself to be one,
but that is false assumption
Each one of us so many,
as many as are all the potentialities of being, that are in us—
world-Drama—A Nicoll pp .713

२—आलोचना—नाटक विशेषांक—जौलाई १९५६—लेख पश्चिमी नाटक इब्सन और शा के पश्चात्—ले० डा० राम रतन भटनागर।

स्टिण्ड वर्ग के फ्राइडियन-स्वप्न-शैलीगत एवं काम प्रवृत्यात्मक नाटक—स्ट्रिण्डवर्ग की स्वप्न शैली और काम प्रवृत्ति गत नाटक इसी परम्परा में आते हैं। जैसे फ्राइड वैवाहिक जीवन में कम सफलता पाते है, उसी प्रकार स्ट्रिण्ड वर्ग विवाह में स्वयं विश्वास नही करते। उनकी उक्ति है कि स्त्री-पुरुष के रात-दिन अधिकार और कर्त्तव्य के द्वंद्व जीवन को जीवन नहीं छोड़ते। अतः विवाह न करना कहीं अच्छा है, क्योंकि स्त्री पुरुष वैवाहिक जीवन में कैंची की दो धारों के समान हैं जो कभी पृथक् नहीं हो सकते और सदैव ही दो विरोधी तत्वों से टकराकर बीच में पड़ने वाले को काटने के लिए तत्पर होते है।[1]

स्वप्न शैली में स्ट्रिण्ड वर्ग का 'दी अण्डर स्टार्म' नाटक है। वैवाहिक जीवन की असफलता के नाटक 'दी डान्स आफ डैथ', 'क्रेडिटर्स' 'दी लिंक' आदि प्रमुख नाटक हैं।

स्ट्रिन्डवर्ग ने पुरुष की अपेक्षा स्त्री को कहीं अधिक प्रभावशाली बतलाया है। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्त्री का प्रत्येक दशा में ऋणी बनकर रहता है।[2] स्ट्रिन्डवर्ग के "क्रेडिटर्स" नाटक की जूली या थेका इसी के प्रतिरूप है। उपेन्द्रनाथ अश्क की अंजो दीदी स्ट्रिन्डवर्ग के नारी पात्रों की भाँति पुरुष पर जीवन पर्यन्त नियन्त्रण करती रही। श्रीपत स्वयं स्ट्रिन्डवर्ग के विवाह सिद्धान्त का अनुयायी है।

मेटरलिंक के नाटकों में युंगीय समष्टि अचेतन—मैटरलिंक का काव्य नाटक "सिस्टर वियट्रिस" और "मग्दालिनी" एक ऐतिहासिक नाटक इस दिशा में उल्लेखनीय है। काव्य नाटक में आत्म विषयक चर्चा होने के बावजूद दर्शन की छाया स्पष्ट है। इसमें कहीं कहीं नवीन मनोविज्ञान की भी झलक है। युंगीय समष्टि व्यष्टि अचेतन का प्रतिविम्ब सा दीखता है।

"मग्दालिनी" नाटक की मग्दालिनी गैलीलियन स्त्री है। उसका प्रेमी बेरस हैं। निराशा जीवन की अभावग्रस्तता उसे अखर उठती है। और युंगीय समष्टि अचेतन की प्रेरणा से अदृष्ट शक्ति में विश्वास कर बैठती है। उसका पूरा जीवन इसी अभाव से अपूर्ण रहा है।

आस्कर वाइल्ड के नाटकों में यौन-विकृति—आस्कर वाइल्ड का "द डचेस आफ पादुआ" इसी परम्परा का पूरक है। यह नाटक यौन विकृति का नग्न चित्र लेकर उपस्थित हुआ है। राजा के राज्य में रहने वाला राजदूत "गाइडो" रानी को

1—Aspects of modern drama, Chandler page 131

2—The nature of women according to Strindberg is such that man must be always her creditor. pp. 205

—Aspects of modern drama, Cnandler. pp. 205.

अपने प्रेम में फंसा लेता है। रानी की यौन-बुभूक्षा इड् के प्राबल्य से राजा की हत्या करवा डालती है। जब गाइडो कारावास में बन्द कर दिया जाता है तो स्वयं रानी आत्म-हत्या करके मर जाती है। समस्त नाटक यौन विकृति के चुम्बन, आलिंगन प्रेम से भरपूर है। अनियन्त्रित इड् का इतना खुला रूप स्यात् ही कहीं मिले जिसमें यौन तृप्ति के लिए पर हत्या और आत्म-हत्या तक कर दी जायें। उग्र जी के चुम्बन और आवारा पर इसी नाटक का प्रभाव है।

संक्षिप्त रूप में पाश्चात्य नाटकों की इस मनोवैज्ञानिक परम्परा के अनुशीलन के आधार पर यह निर्भ्रान्ति निष्कर्ष निकलता है कि यह धारा सोफोक्लीज की फ्राइडियन इडिपस ग्रन्थि से निःसृत हुई है, तदनुसार यूरोपिडीज के यथार्थवादी नाटकों में इसका पूर्णतया निर्वाह हुआ है। ग्रीक के उपरान्त रोम के नाटककार "सेनेका" ने अपने नाटकों में अविरल गति से उसको प्रवाहित किया है। शेक्सपीयर के नाटकों में सेनेका का अविकल रूप इस परम्परा को सुविकसित करता हुआ पाया जाता है। वही घात-प्रतिघात, हत्या, आत्म-हत्या, प्रतिशोध ग्रन्थि और विभ्रम दोनों नाटककारों के कथानकों में मानसिक प्रक्रम बनकर आये हैं। तत्पश्चात् फ्रांस के मोलियर ने अपने नाटकों में इस धारा का निर्वाह सैक्स एवं इड् की अनियन्त्रितता के रूप में किया है। यथार्थवादी नाटककार इब्सन और शा के नाटकों में आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत मैथुनिक-मानसिक ग्रस्तता, अतृप्त काम, हेत्वारोपण, आरोपण, भूलों का मनोविज्ञान आदि उपपत्तियाँ उसी परम्परा का निखरा रूप है। रूसी नाटककार टाल्सटाय के पात्रों में जो मैथुनिक शीतलता, यौन विच्युति और स्व आक्रमण प्रेरणावेग पाया जाता है, वह इसी धारा के प्रतिरूप हैं।

यूरोपीय नाटकों के आधुनिक वादों में मनोवैज्ञानिक परम्परा का पूर्ण स्वस्थ रूप सामने आता है। इसका प्रधान कारण नवीन मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव है। चेखव के नाटकों में अनियन्त्रित इड्, पिरैंडेलो के पात्रों में बहुव्यक्तित्व, ओ-नील में हीन भाव तथा अतृप्त काम और सन्डर मैन के नाटकों में निषिद्ध-प्रेम की इच्छा, स्ट्रिन्डवर्ग और मैतरलिंक की स्वप्नशैली इसी प्रभाव से अनुप्राणित हैं। इन वादों के अधिकांश नाटककार फ्राइड के मनोविश्लेषणवाद के ऋणी हैं। लेकिन जिस प्रकार आधुनिक यूरोपीय नाटककार फ्राइड के ऋणी हैं, उसी प्रकार अपनी स्थापनाओं की पुष्टि के लिए सोफोक्लीज, यूरोपिडीज, शेक्सपीयर, इब्सन और बर्नार्डशा की नाट्य कृतियों से उदाहरण लेने के बावजूद फ्राइड इन प्राचीन नाटककारों के ऋण से मुक्त नहीं हैं, क्योंकि उसकी मान्यताओं के कुछ स्थल इन्हीं नाटककारों के कथोपकथनो से परिपक्व हो पाये हैं।

पाश्चात्य नाटकों की मनोवैज्ञानिक परम्परा का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव— सोफोक्लीज के द्वारा प्रस्तुत मातृ-प्रणय-ग्रन्थि का परिपुष्ट प्रमाण अन्यत्र दुर्लभ है।

परन्तु यह मनोवैज्ञानिक उपपत्ति स्वतः ही मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर प्रस्फुटित हुई है। हिन्दी नाटकों में भी मनोविज्ञान की कुछ ऐसी ही उपपत्तियाँ स्वाभाविक रूप में परिचालित हुई हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के आदान-प्रदान से भी हिन्दी नाटककारों ने अपनी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक परम्परा को सन्निहित किया है। फलतः पाश्चात्य नाट्य धारा का यह प्रभाव हिन्दी नाटकों पर दो विधाओं द्वारा पड़ता हुआ पाया जाता है:—

१—मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर स्वाभाविक प्रभाव।

२—पाश्चात्य नाट्य साहित्य के आदान-प्रदान द्वारा प्रभाव।

स्वभावगत मानवीय मनोविज्ञान से समन्वित नाट्य कृतियाँ भी नवीन मनोविज्ञान की उपपत्तियों से मेल खाती हैं। आधुनिक काल के मनोविज्ञानों ने ऐसी ही रचनाओं से अपने मत की पुष्टि की है। उदाहरणार्थ—सोफोक्लीज और शेक्सपीयर के नाट्य-संवादों से नवीन मनोविज्ञान के प्रणेता फ्राइड ने अपनी मान्यताओं को सतर्क पुष्ट किया है।

हिन्दी नाटकों में भी ऐसी रचनायें स्वभावतः पायी जाती है। उदयशंकर भट्ट का 'प्रथम विवाह' एकांकी सोफोक्लीज की प्रयुक्त इडिपस ग्रन्थि का ही सुविकसित रूप है। 'प्रथम विवाह की नायिका 'काद्रवेयी' सोफोक्लीज की नायिका जोकास्टा 'से निषिद्ध संभोग, में दो कदम और आगे है। वह अपने मध्यम पुत्र काद्रवेय के साथ किये हुए संभोग को छिपाती नहीं वरन् साफ-साफ कह डालती है। किन्तु जोकास्टा माता-पत्नी का यह निषिद्ध संभोग उसके अज्ञात मन द्वारा छिपाया जाता है।

पाश्चात्य नाट्य साहित्य के आदान-प्रदान से इस मनोवैज्ञानिक परम्परा का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव हमें शेक्सपीयर के नाटकों द्वारा सर्व-प्रथम दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटकों का हिन्दी अनुवाद इस पद्धति का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। मोलियर, इब्सन, बर्नार्डशा और चेखव आदि द्वारा लिखित नाटकों के भी हिन्दी में अनुवाद इस मार्ग प्रदर्शन के प्रतिपादक है। अनुवादों के अतिरिक्त इन नाटकों का पठन-पाठन भी इस परम्परा को ग्राह्य करने में सहायक सिद्ध हुआ है।

शेक्सपीयर के नाटकों का प्रभाव भारतेन्दु युग के नाटककारों पर कहीं-कहीं पड़ना प्रारम्भ हुआ था। शेक्सपीयर की मनोवैज्ञानिक शैली एवं चरित्र वैचित्र्य की प्रेरणा हिन्दी नाटककारों ने बंगला नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम द्वारा प्राप्त की है। द्विजेन्द्र लाल राय पर शेक्सपीयर का अमिट प्रभाव है। उसी का अनुकरण यहाँ पर जयशंकर प्रसाद द्वारा हुआ है। हिन्दी नाटकों पर परिलक्षित इस माध्यम की मनोवैज्ञानिक शैली से परिचित होना अपेक्षित है। फलतः द्विजेन्द्रलाल राय के मनोवैज्ञानिक नाटकों का संक्षेप में विश्लेषण करके जयशंकर प्रसाद पर शेक्सपीयर का द्विजेन्द्रलाल राय द्वारा प्रभाव यहाँ प्रस्तुत है।

द्विजेन्द्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहां' और 'नूरजहां' नाटक शैक्सपीयर के मनोवैज्ञानिक वर्ग में जाते हैं। 'उस पार' के भोलानाथ और भगवानदास पात्रों से मानसिक कुण्ठाओं का प्राचुर्य और मनोग्रन्थियों से अनुप्रेरित घात प्रतिघात का विलक्षण प्रसार है। भोलानाथ में अपनी पोती सरस्वती की हत्या सुनकर शैक्सपीयर के हैमलेट का सा विभ्रम हो जाता हैं। उसे ऐसा ज्ञात होता है जैसे हैमलेट के पिता की तरह सरस्वती की आत्मा भी 'उस पार' बुला रही है।

शेक्सपीयर के किंगलियर की तरह शाहजहां में मानसिक द्वन्द्ववश्यता और परस्पर विरोधी भावों के घात प्रतिघात मिलते है। डंकन की हत्या के उपरान्त ब्रूटस के मन में जो विभ्रम की लहर उठी है वह औरंगजेब मे दारा की हत्या के पश्चात् भयंकर तूफान सी उठ खड़ी हुई है।

औरंगजेब में विभ्रम मानसिक नियतिवाद और हेत्वारोपण दिलदार के कथोपकथनों में मिलता है—

औरंगजेब—यह दारा की मौत की सजा का हुक्मनामा है। यह काजी का फैसला है। मेरा क़ुसूर क्या है ? मैं लेकिन, नही, क्यों—यह फैसला। फैसले को क्यों रद करूँ ? यह फैसला है।

दिलदार—फैसला। जहांपनाह, काजी लोग जब दारा के लिए मौत का हुक्म दे रहे थे, उस वक्त वे जहाँपनाह के खुश चेहरे का ख्याल कर रहे थे। जहाँपनाह सोच रहे हैं कि मैंने दुनियाँ को खूब चमका दिया। दुनियाँ जानेगी कि फैसले का जाल रच कर आपने दारा का खून किया है।

औरंगजेब—सच है जिहन खां, मैं अपनी बेइज्जती और अपने ऊपर जुर्म सह सकता हूँ, लेकिन दीने इस्लाम की तौहीन नहीं सह सकता।[1]

औरंगजेब हेत्वारोपण से दारा को कत्ल कराने का इच्छुक है तभी वह इसे काजी का फैसला बतलाता है। दिलदार के समझाने पर उसे रहम आता है किन्तु नियतिवाद के आवेग से पुनः वह इस फैसले को इस्लाम की तौहीन समझता है। अतः हेत्वारोपण की उसे फिर ओट लेनी पड़ती है। और भाइयों के खून का दोष काजियों पर थोपता है।

औरंगजेब की इस हत्या का विभ्रम आन्तरिक द्वन्द्व की महानता प्रकट करता है, वह कहता है 'कौन जिम्मेदार है। मैं ? यह फैसला है। कैसी आवाज है ? नहीं हवाई आहट है। रात को नींद नहीं आती। वह क्या-फिर वही दारा का कटा हुआ सिर। शुजा

१—शाहजहाँ—द्विजेन्द्रलाल राय—हिं० सं० पृ० सं० ९८, ९९ और १०१

की खून तर लाश। मुराद का धड़।[२] यही विभ्रम दारा की मृत्यु पर शाहजहाँ मे है।

जहाँ०—अब्बाजान फिर पागलों की तरह बक रहे हैं।

शाहजहाँ—खून ? खून ? वह खून निकल रहा है। तमाम फर्श भींग गया देखूँ (दौड़ कर दारा के कल्पित रुधिर को अपने दोनों हाथों में मल कर) अभी तक गर्म है, धुआं उठ रहा है।[१] इस भांति शाहजहाँ और औरंगजेब में मानसिक कुण्ठायें तो हैं किन्तु नूरजहाँ जैसी अचेतन मन का असामान्य कार्य विधियां वहां नहीं हैं।

द्विजेन्द्रलाल राय की नाट्य कृतियों में मनोविज्ञान की अप्रत्यक्ष रूप से झलक हम नूरजहाँ में पाते है। नाटककार ने इस नाटक में मानव के अन्तर्तम मे आसीन मूलगत प्रवृत्तियों को ही चुन-चुन कर पकड़ने का भरसक प्रयास किया है। ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण घटना चक्र के ऊपर भी मानव की मूलगत प्रवृत्तियो का जमघट सा लगा हुआ दृष्टि में आता है। समस्त घटनाओं की सार्थकता के सम्बन्ध में ऐसा परिज्ञान होता है कि वे अपने जन्म देने वाली मूल प्रवृत्तियों के स्वरूप को पहिचानने में सहायक सिद्ध हुई है।

नूरजहाँ के व्यक्तित्व में शैतानी विध्वंसकारी प्रवृत्ति का भयंकर रूप केवल विषम लिंगी पुरुष मात्र को ही अपनी ओर आकर्षित कर उसे विनाश के गर्त में ढकेल देने तक ही सीमित नहीं है वरन् वह कृतघ्न, पापात्मा, रेवा के त्याग बलिदान को भुलाकर उसके पूर्ण विनाश का कारण भी स्वयं होती है। लेडी मैक्बैथ की भाँति नूरजहाँ के सभी काम निद्रा—विचरण—ग्रस्त आदमी के कार्य की भाँति हो रहे है। देवत्व भावों से भरा हुआ उसका सौम्य और बलिष्ठ प्रियतम शेर अफगन उसकी विध्वंसक—प्रवृत्ति का संकेत पाकर ही जानबूझ कर काल के गाल में जा बैठा था। इतने पर भी उसके प्रति उसके हृदय में प्रेम का उद्रेक चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका है। उसमें विरोधाभासों ने घर बना रक्खा है। उसके मन के मूल केन्द्र में विचित्र-विचित्र संस्कारों के परत के परत जमे हुए ज्ञात होते है, पर वह एक दूसरे के विरोधी ही है। आन्तरिक भयंकर प्रतिक्रिया की प्रबलता जब उसमें जोर पकड़ती है तब खूनी विध्वंसकारी प्रवृत्ति अपना मुँह फाड़े बाहर आ खड़ी होती है। जिसमें प्यार और दुत्कार दोनों एकात्मता में लीन दीखते है।

नूरजहाँ मे दलित ग्रन्थि की ही प्रमुखता है। उसमें एक ओर काम का अबाध प्रवाह दमित कर अनैच्छिक दिशा की ओर मोड़ दिया जाता है। उसकी

१—शाहजहाँ—द्विजेन्द्रलाल राय—हि० सं० पृ० सं० १२३
२— ,, ,, ,, ,, ११८

जहाँगीर के साथ संभोग की अतृप्तेच्छा स्वयं को और शेर अफगान को दोनों को छलती हुई छद्मवेष धारण करती है। नूरजहाँ की एकान्त में प्रस्फुटित विचार श्रृङ्खला अति मनोवैज्ञानिक है, वह कहती है 'उस चढ़ती जवानी की चचलता को मैंने दबा लिया था। मन को समझा दिया था कि वह बचपन का एक ख्याल है। तब मैने यह नहीं समझा था कि वह प्रवृत्ति उस समय केवल दब गयी थी, मरी नही थी। चिनगारी राख से ढकी हुई थी, बुझ नहीं गयी थी। अब वह चिनगारी नया ईंधन पाकर फिर धुँआ देने लगी है। भगवान् ने स्त्री के हृदय को इतना कमजोर बनाया है—इस प्रवृत्ति को क्या अब दबा नही सकती ?[1] "इसके अतिरिक्त फ्राइड की प्रमुख मूल प्रवृत्ति काम—वासना का अनुमोदन नूरजहाँ के चरित्र में कविवर वरदाचरण मित्र के शब्दों में मिल जाता है—

"नूरजहाँ के अपने मुँह से कहने पर भी, आत्म-प्रतारणा करने पर भी, यह बात सहज में आ जाती है कि उसने बदला लेने के लिए सम्राट से विवाह नहीं किया, उसके मन में क्षमता और गौरव की आकांक्षा के साथ-साथ भोग-लालसा ही गुप्त रूप से बलवती थी।"[2]

अपनी काम-वासना की दमित-ग्रन्थि को नूरजहाँ ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"हाय मेरे उदार स्वामी। इसी रूप ने तुम्हारी जान लेली। इस रूप ने या मेरे कठिन अकृतज्ञ हृदय ने। ईश्वर ? क्यों मैं उन्हें कभी प्यार नही कर सकी। उनसे बढ़कर प्यार करने का पात्र और कौन था। देवों के जैसा शरीर, सिंह के जैसा पराक्रम, माता के जैसा स्नेह, बच्चों के जैसा भोलापन था—तो भी तुम्हें प्यार नहीं कर सकी। ईश्वर जानते है—तुम्हें प्यार करने के लिये मैंने अपने हृदय के साथ कितना युद्ध किया है, तो भी प्यार नहीं कर सकी इसी से तुमने खीझकर अपनी खुशी से मौत को बुला लिया।

नूरजहाँ में पागलपन के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—

खदीजा—सम्राज्ञि पागल हो गयी है। वे एकान्त में टहलती है, हँसती हैं—आप ही आप बकती हैं। और एक आश्चर्य यह देखती हूँ कि वे बीच-बीच में मुट्ठी बाँधती हैं, बोलती है और एक टक उसी को ताका करती है।

आसफ—उसकी क्षमता चली गयी है। वह अब एक असीम शून्यता का अनुभव करती है।

१—नूरजहाँ—पृ० सं० ३६
२—नूरजहाँ—समालोचना पृ० सं० १३

नूरजहाँ—(आप ही आप बकती हुई) उः कैसी क्षमता थी ? कैसे उसे मिटा दिया ? खतम कर दिया । अब कुछ नहीं है (मुट्ठी बाँध कर फिर खोलती है) । यह देखो (सबको दिखाती है) ।

० ० ० ० ०

मेहरुन्निसा और नूरजहाँ दोनों मर गयीं । मैंने अपनी आँखो से उन्हें मरते देखा है । मेहरुन्निसा थी शेर खाँ की स्त्री और नूरजहाँ थी जहाँगीर की स्त्री । मेहरुन्निसा ने मारा शेरखाँ को और नूरजहाँ ने मारा जहाँगीर को । (मेघ गर्जन) वह सुनो जहाँगीर के कण्ठ का स्वर । कैसा है ? काहे से मारा ? रूप से ? रूप से—नहीं तो वे नहीं मरते । कोई भी न मरता ? मेहरुन्निसा भी मर गयी, नूरजहाँ भी मर गई ।

आसफ०—पागल पन भी एक सिलसिला है ।

नूरजहाँ—(मेघ गर्जन) शेरखाँ के गले की आवाज है । यह आँधी नहीं । यह शेरखाँ की झिड़क है । (दोनों मुट्ठी बाँधकर सामने दोनो हाथ बढ़ाकर बार-बार चमकती हुई बिजली की ओर एक टक देखती है ।[1]) बहुव्यक्तित्व, विभ्रम और सह-बोधावस्था के भयंकर विरोधाभासों से परिपूर्ण अन्तर्द्वन्द्व का यही परिणाम होता है । तीव्र लालसा का अवरोध अन्त मे यही प्रतिफल दिखाता है । फ्राइड ने पागलपन में एक क्रमबद्ध कहानी ही पायी है । वही क्रम नूरजहाँ में ज्यों का त्यों मिलता है । उसकी चेष्टायें, विक्षिप्तता की दशा में मुट्ठी बाँधकर बिजली की ओर तानना आदि प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध मनोग्रन्थि की अतृप्ति के ही प्रतिरूप है ।

निदान, शेक्सपीयर और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में विभ्रम, क्षतिपूर्ति, प्रतिशोध, उन्माद, प्रतिगमन, हीनत्वकुण्ठा, मानसिक नियतिवाद, आन्तरिक द्वन्द की पराकाष्ठा का सांकेतिक रूप, स्वे—आक्रमण, प्रेरणावेग आत्मभर्त्सना, इड् की प्रवंचना, बहु व्यक्तित्व, मनोविक्षिप्तता और हेत्वारोपण आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां मिलती हैं । जयशंकर प्रसाद की नाट्य कृतियों पर इन नाटककारों का प्रभाव परिलक्षित है । प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों की भांति और द्विजेन्द-लाल राय के नूरजहां के मानसिक द्वन्द्व के अनुरूप स्वगत भाषणों का बाहुल्य है । प्रसाद जी की अलका, विजया, कोमा, सुरमा और अनन्तदेवी द्विजेन्दलाल राय की नूरजहां की भांति विस्फोटात्मक मनोवृति द्वारा राज्यसत्ता में अपना हस्तक्षेप रखती हैं । प्रसाद जी की देवसेना और मल्लिका नारियां शेक्सपीयर की रोजेलिन्ड एवं डेस्डेमोना से मेल खाती हैं ।

१—**नूरजहां**—पृ० सं० १४५, ४७, ४८

प्रसाद जी के स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चाणक्य और भट्टार्क के व्यक्तित्व द्विजेन्द्र लाल राय के औरंगजेब और नूरजहाँ की ही भाँति दोहरे है। शेक्सपीयर के हैमलेट की सी मानसिक द्वन्द्ववश्यता स्कन्दगुप्त में मिलती है। अजातशत्रु और मैकवैथ में महत्वाकाँक्षा समान है। प्रसाद जी का भट्टार्क ओथेलो के इयागो से प्रेरित है। चाणक्य का मनोविश्लेषण नूरजहाँ नाटक के मनस्तत्व की प्रतिछाया है। इस प्रकार जयशंकर प्रसाद ने शेक्सपीयर के अन्त: प्रवृत्ति वाले पात्रो की अवतारणा की है। उनके 'प्रायश्चित' में अन्त: प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'जयचन्द्र' का आन्तरिक द्वन्द्व, संयोगिता का प्रेत—छाया दीखने वाला विभ्रम, मैकबैथ के अनुरूप है। प्रसाद के अजातशत्रु के स्वगत भाषण मैकवैथ की भाँति मनस्तत्व से प्रेरित है। 'स्कन्दगुप्त' के चरित्र में हैमलेट की सी हीनत्व कुण्ठा है। वह आत्म भर्त्सना करके एडलरीय हीन भावना से आतंकित दीखता है। 'चन्द्रगुप्त' 'हेमलेट' 'मैकवैथ की तरह स्नायु व्यतिक्रमी ज्ञात होता है। क्योकि वह मानवीय मनोविज्ञान के विशेषज्ञ चाणक्य से पग-पग पर संमोहित होता दृष्टिगोचर होता है। शेक्सपीयर द्वारा प्रचलित यह धारा अविरल गति से आगे भी प्रवाहित होती रही है। डा० राम कुमार वर्मा के एकांकी' 'औरंगजेब की आखिरी रात' में औरंगजेब पात्र पर मैकवैथ और लियर की मानसिक द्वन्द्ववश्यता और विभ्रम का प्रभाव सुस्पष्ट है।

प्रतापनारायण मिश्र के 'कलिकौतुक' रूपक और मोलियर के 'ली मैरेज फोर्स' एवं 'जार्ज डेनडीन आर द बैफुल्ड हसबैंड' की काम प्रवृत्ति में समानता पायी जाती है। 'कलिकौतुक' की स्यामा का स्वच्छन्द इड् अपने सामाजिक अहं पर आधिपत्य जमाकर 'रसिक बिहारी' के साथ इसी प्रकार संगम करके तृप्ति में संलग्न है जैसे मोलियर के उक्त दोनों नाटकों की नायिकायें अपने अनियन्त्रित इड् की तृप्ति के लिए पर पुरुष के साथ संगम में तत्पर हैं।

पश्चिम में शेक्सपीयर की भावुकता और स्वच्छन्दता के विपरीत इब्सन, शा, टाल्स्टाय और चेखव ने यथार्थवादी नाटकों को जन्म दिया, जिसमें यथातथ्य वाद के फलस्वरूप मानवीय मनोविज्ञान स्वभावत: आ झांका। हिन्दी मे मिश्र जी आदि नाटककारों पर इसका प्रभाव पड़े विना न रहा। इन यथार्थवादी नाटकों का बाह्य कलेवर चाहे जैसा रहा हो लेकिन उसका प्राणतत्व निश्चित ही मनोवैज्ञानिक परम्परा से अनुप्राणित रहा है। इसमें दो मत नहीं कि – इन भावुकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया वाले यथार्थवादी समस्या नाटकों में मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रबल है। इस सम्बन्ध में पुष्टि के लिए डा० नगेन्द्र और डा० श्रीपति की स्थापनायें उल्लेखनीय है—

डा० नगेन्द्र के मतानुसार—

(१) इस युग के जीवन की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या इन नाटकों में है।

(२) इनमें से अधिकांश नाटकों की मूल समस्या सैक्स ही है।

(३) इन नाटकों की शैली मनोविश्लेषण (साइको—एनालिसिस) की शैली है। इनके पात्र अपने या दूसरे के मनोभावों की तहों को खोलते हुए प्रतीत होते हैं।[1] डा० श्रीपति के शब्दों में—

(१) विवाह तथा आधुनिक समाज की यौन सम्बन्धी विकृतियां एवं असमानताओं का धुँआधार चित्रण इन नाटकों में है।

(२) इन नाटकों के चरित्रो का संघर्ष बाह्य न होकर आन्तरिक दिखाया गया है। अतः उनके चरित्र सरल न होकर जटिल मानसिक ग्रन्थियों से परिपूर्ण हैं। इन चरित्रों और उनकी परिस्थितियो का चित्रण सूक्ष्म और स्वाभाविक किया है।

(३) इन नाटकों में सामाजिक संघर्षो का चित्रण अधिक है। 'सन्डरमैन' के 'मेगडा' में कलाकार और सामाजिक परिस्थितियों के बीच वैसा ही संघर्ष है, जैसे हिन्दी में जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक में है।[2] इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी उक्त विद्वानो की मान्यताओं का समर्थन हमे सहज ही में प्राप्त हो जाता है। जिससे हमारे यथार्थवादी नाटकों में मनोवैज्ञानिक पक्ष की प्रबलता के मत का प्रतिपादन भी होता है। ऐसे नाटकों का पुष्ट प्रमाण पश्चिम में इब्सन और शा और हिन्दी में मिश्र जी की कृतियों में पाया जाता है। पश्चिम में शेक्सपीयर की भावुकता की प्रतिक्रिया इब्सन और शॉ द्वारा हुई है और हिन्दी में 'प्रसाद' की भावुकता का भी विरोध मिश्र जी द्वारा हुआ है। इन दोनों पक्षों में मनोवैज्ञानिक साम्य भी इस प्रकार मिलता है।

सेक्स समस्या के आधार पर 'इब्सन' ने लिखा है कि यदि तुम विवाह करना चाहते हो तो प्रेम में मत पड़ो और यदि प्रेम करना चाहते हो तो विवाह का नाम मत लो।[3] इसी यथार्थवाद की अनुरूपता मिश्र जी के 'संन्यासी' नाटक की 'मालती' है। मालती कहती है कि—

"विश्वकान्त प्रेम करने की चीज——विवाह करने की नहीं।"[4]

इसी भाँति जार्ज बर्नार्ड शॉ के 'मैन एण्ड सुपरमैन' के 'ओक्टेवियस' और 'टेनर' के संवाद मिश्र जी की 'सिन्दूर की होली' की 'मनोरमा' और चन्द्रकला से मेल खाते हैं। ओक्टेवियस के विवाह प्रस्ताव पर 'टेनर' अपने आपको उसकी प्रेम पात्री बतलाती है। उसका तर्क है कि मैं आपकी उपासिका हूँ। विवाह के प्रस्ताव पर

१—आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र—पृ० सं० ५४

२—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्री पति पृ० ३३ और ५५

३—वर्ल्ड ड्रामा - निकल पृ० ५२६

४—संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र पृ० १६६

'टेनर' अपने आपको उसकी प्रेम पात्री बतलाती है। उसका तर्क है कि मैं आपकी उपासिका हूँ। विवाह के पश्चात् तुम मेरी उपासना नहीं कर सकोगे। इससे प्रेम की हत्या होगी। अतः विवाह के स्थान पर प्रेम ही करते रहो। टेनर विवाह की विवशताओं को सहने के लिए तैयार नहीं, उसे ओक्टेवियस से प्रेम को सहने के लिए तैयार नहीं, उसे ओक्टेवियस से प्रेम ही करना है। यही कथन मिश्र जी की 'मनोरमा' का है। वह मनोजशंकर से कहती है—

"मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती, प्रेमी तो अवश्य बना लूँगी।"[१]

इसी प्रकार मिश्र जी की चन्द्रकला भी प्रेम की भूखी है, विवाह की नहीं।

"तुम जानती हो मैं किसे प्रेम करती हूँ—प्रेम दो चार से तो नहीं हो सकता—उसके साथ प्रेम की नहीं विनोद की बात हो सकती थी।[२] "इन संवादों में काम-प्रवृत्ति की स्वच्छन्दता स्पष्ट है। इस वर्ग के नाटकों का पर्यवसान अनियन्त्रित इड् की परितृप्ति के प्रयत्न में ही है। मिश्र जी के नाटकों पर शॉ का प्रभाव वही तक है जहाँ तक उनके पात्रों का मनोवैज्ञानिक पक्ष नष्ट नहीं होता तभी तो उनके विश्वकान्त, मुरलीधर, मालती आदि पात्र आन्तरिक द्वन्द्वो के मानवीय स्तर पर खड़े दिखाई पड़ते है। 'राक्षस के मन्दिर' का 'मुनीश्वर' इब्सन' के 'समाज के स्तम्भ' के बर्निक का लोना और बेली एवं मुनीश्वर का अश्करी ललिता से प्यार करना समान है।

इब्सन की प्रतीक पद्धति का भी आधुनिक हिन्दी नाटककारों पर प्रभाव पड़ा है। इब्सन का 'दी वाइल्ड डक' प्रतीक नाटक है। हेल्मर इकडल की अवैध पुत्री लङ्गडे जंगली बतख को प्यार करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उसके अभुक्त काम का स्थानान्तरण है। किन्तु जब उसको ज्ञात होता है कि उसकी मां' गिना "वेर्ले" के पिता की प्रेमिका थी और उसीसे वह पैदा हुई है, तब उसमें आत्महीनता प्रबल हो उठती है। जब उसके पालतू बतख का बलिदान 'वेर्ले' द्वारा प्रस्तावित होता है, तो 'हेडविग' स्वआक्रमण प्रेरणा वेग के वशीभूत होकर अपनी आत्म-हत्या इसलिए कर डालती है कि उसके निरीह प्रेम के प्रतीक को निरपराध कुचला जा रहा है। इन यथार्थवादी समस्याओं के अन्तर्गत सांकेतिक प्रतीक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हिन्दी नाटकों में प्रसादोत्तर युग से आया है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल का अन्धा कुआं, अश्क का चरवाहे, कैद और उड़ान, छटा बेटा नाटक, इसी वर्ग के नाटक हैं। इस प्रकार हिन्दी के सामाजिक समस्या नाटकों में फ्राइड, एडलर युंग की मनोविश्लेषण शैली से अनुप्राणित ओनील, इब्सन और स्ट्रिण्डवर्ग की सांकेतिक

१—सिन्दूर की होली—लक्ष्मी नारायण मिश्र पृ० ४९

२—सिन्दूर की होली—लक्ष्मीनारायण मिश्र पृ० ३९

प्रतीक शैली का प्रभाव सुस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में नाट्य रूपकों की प्रतीक परम्परा मैटरलिंक से भी आन्दोलित है। मैटरलिंक के 'द ब्लूवर्ड' का पन्त जी की ज्योत्स्ना पर स्पष्टतया प्रभाव परिलक्षित है। इन दोनों प्रतीक नाटकों में स्वप्निल वातावरण और आनन्द का प्रतीकीकरण समान हैं।

भुवनेश्वर प्रसाद और गणेश प्रसाद द्विवेदी के एकांकियों पर इब्सन और शा का प्रभाव है। यह प्रभाव काम प्रवृत्यात्मक है। भुवनेश्वर जी के 'श्यामा—एक वैवाहिक विडम्बना, एकांकी पर शा की कैण्डिडा की प्रतिच्छाया है। कारवां की भूमिका भी शा की मनोवैज्ञानिक सूक्तियो से अनुप्रेरित है। उनके रूढ़ियों के विरुद्ध चलने वाले पात्र इब्सन के 'पिलर्स आफ सोसाइटी' से उत्प्रेरित हैं। जगदीश चन्द्र माथुर के 'घोंसले' एकांकी में विवाह और प्रेम का वैषम्य होने के बावजूद शा की कैण्डिडा से उसकी समानता पायी जाती है।

यथार्थवादी वर्ग के रूसी नाटककार चेखव ने अपनी नाट्य कृतियों में यौन विच्युतियाँ और आन्तरिक संघर्षों को चित्रित किया है। उसके चरित्र परस्पर विरोधी भाव प्रवणता से युक्त बहुव्यक्तित्व वाले है।[1] 'द सीगल' के पात्रों की मनोवृत्तियाँ इन्हीं मानसिक अवस्थितियों से भरी पड़ी है। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'भंवर' एकांकी चेखव के इसी नाटक से आलोकित नजर आता है। 'द सीगल' नाटक मे आर्कदीना, त्रिगोरिन, लेखक को प्यार करती है। नीना उने न चाहकर त्रिपलेव को चाहती है। इसी के अनुरूप काम का स्वच्छन्द रूप 'भंवर' एकांकी के पात्रों में है। 'प्रतिभा' प्रो० नीलाभ को प्रेम करती है, लेकिन नीलाभ अपनी एक शिष्या से विवाह करके परित्यक्त भी हो जाता है। अतः वह प्रतिभा को नहीं चाहता। तदुपरान्त प्रतिभा अपने सहपाठी सुरेश को आत्म समर्पण करती है, परन्तु सुरेश उसे न चाहकर शकुन्तला के प्रेम में बंध चुका है। निष्कर्षतः दोनों नाटकों की समानता इड् के आधिपत्य में है।

टाल्स्टाय के 'द लिविंग कार्प्स आररिडेम्शन' के नायक 'फीडिया' की मैथुनिक शीतलता से अतृप्त होकर 'लिसा' दूसरा प्रेमी ढूंढती है। उसी तरह 'मैमूना' की 'आमना' भी क्रमशः साजिद, अरशद और माजिद को अपने इड् की तृप्ति के लिए प्रेमी बनाती है। परिणामतः हम कह सकते हैं कि चेखव और टाल्स्टाय के काम प्रवृत्यात्मक नाटकों से उपेन्द्र नाथ अश्क के भंवर और मैमूना एकांकी नाटक प्रभावान्वित हैं।

पश्चिम में इब्सन और बर्नार्ड शा के उपरान्त नाटकों में मनोवैज्ञानिक

१—स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म—जार्ज लूकाज पृ० १०२

उपपत्तियों का विकास फ्रांस में सात्रे, इटली में पिरैण्डेलो, अमेरिका में युगेन ओनील, रूप मे चेखव, स्वीडन में स्ट्रिण्डवर्ग और बेलजियम में मैतरलिक एवं आयरलैंड में आस्करवाइल्ड द्वारा हुआ है।

इनमें से अधिकांश नाटककारों ने असन्तुलित मन की भयंकरताओं तथा अर्द्ध-चेतन-मन की विभिन्न श्रेणियों का चित्रण अधिक किया है। निराशा, पीड़ा तथा घुटन नाटक का सर्वमान्य विषय हो गया है। चरित्रों का चित्रण संसार से न लेकर मनोविज्ञान की खोजो के आधार पर होने लगा है। अतः चरित्र फ्राइड, एडलर युंग की परिधि में घूमते दिखाई देते हैं। उनसे बचकर शायद कोई चरित्र मिले।[1]

आधुनिक हिन्दी नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से ही फ्राइड का प्रभाव पाया जाता है। "सिन्दूर की होली" नाटक में मिश्र जी ने मनोजशंकर के संवाद में फ्राइड के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन कराया है।

मनोजशंकर कहता है, "आप लोग प्रत्येक बीमारी की शारीरिक दवा करते हैं, और शरीर को ही उसका कारण समझते है, जो कि अधिकांश बीमारियाँ मानसिक विक्षोभ के कारण होती हैं।[2] "फ्राइड के अनुसार भी मनोग्रस्तता के बावजूद बहुत-सी शारीरिक बीमारियां होती हैं। मिश्र जी का उक्त सवाद पाश्चात्य नाटकों के मनोविश्लेषणवाद के अति निकट हैं। किन्तु उनका यह नाटक मनोविश्लेषणवादी-वर्ग की विधाओं से भिन्न है।

मनोविश्लेषणवाद फ्राइड, एडलर युंग की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को लेकर नाटकों में आया है। ज्ञाताज्ञात मन की सामान्य एवं असामान्य कार्य विधियाँ, मनोग्रस्तता, यौन विकृति, काम प्रवृत्ति, आत्महीनता ग्रन्थि आदि का पर्यवेक्षण इन नाटकों की विशेषता है। यूजीन ओनील', 'हेराल्डराविंसटीन' और 'रोनाल्ड जीन्स' के मनोवैज्ञानिक नाटक इस श्रेणी के हैं। डा० रामकुमार वर्मा का इनके सम्बन्ध में विचार है कि ये नाटककार मन्न के चतुर चितेरे अर्थात् (एक्सरे-फोटोग्राफर) कहे जा सकते हैं। क्योंकि इनका काम मानव की सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना को रंगमंच पर पात्रों द्वारा अभिनीत करके कौतूहल मात्र उत्पन्न करना है। अज्ञात्त भूत प्रेत की भांति अज्ञात-भाव रंगमंच पर पात्रों के रूप में अभिनय करते है। कभी कभी तो ऐसा भान होता है कि वह मन के अज्ञात—भाग को चाकू से तरांच कर स्टेज पर रख देंगे।[3] हिन्दी नाटकों में ऐसे मनोविश्लेषणवादी नाटककार नहीं है

१—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्रीपति पृ० २३७ और २४३
२—सिन्दूर की होली—मिश्र पृ० सं० ६४
३—रेशमी टाई—डा० वर्मा—पृ० १३, १४

और न उनका रंगमंच ही अज्ञात मन की विभिन्नता को दिखाने के लिए चरक की तरह होता है। डा० राम कुमार वर्मा ने इस सम्बन्ध में बेलजियम के मेतरलिंक की नाट्य कृतियों को उपयुक्त बतलाया है जिसकी प्रतिच्छाया पन्त की ज्योत्स्ना में है। हिन्दी में इस मनोविश्लेषणवाद को केवल स्वाभाविक रूप में अपनाया है। उक्त पाश्चात्य नाटककारों की अपेक्षा उनमें कुछ भिन्नता है।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों पर स्ट्रिण्डवर्ग, मैतरलिंक और युगेन ओनील का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित है। अश्क जी का 'छटा-बेटा' 'स्ट्रिण्डवर्ग के 'दी अन्डर स्टार्म' स्वप्न नाटक से मिलता-जुलता है। मैतरलिंक की स्वप्न शैली भी उनके 'छटा बेटा' नाटक में खरी उतरी है। इन नाटकों में फ्राइडियन स्वप्न सिद्धान्त का पूर्ण निर्वाह हुआ है। अश्क जी की अंजो दीदी स्ट्रिन्ड वर्ग के 'क्रेडिटर्स' की 'जूली' या 'थेका' की प्रतिकृति है। अजो दीदी की स्नायुव्यतिक्रम वाली सनक युगेन ओनील के 'ऐहवाल्डर मैन' की मिसेज मिलर से समानता रखती है। डा० लक्ष्मी नारायण लाल का 'अंधा कुआ' नाटक हाप्ट्स मैन के 'बीफोर सन् राइज' के क्रूज नामक गरीब पात्र और उसकी पत्नी 'हेलेन' जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत करता है। 'अंधा कुआ' का भगवती क्रूज से और सूका हेलेन से तादात्म्य किये हुये हैं।

गोविन्ददास के 'विकास' मे मैतरलिंक और स्ट्रिण्डवर्ग की स्वप्न शैली है। 'षट्दर्शन' मे मनोविश्लेषणात्मक अभिव्यंजनावादी पद्धति के दर्शन होते है। आस्कर वाइल्ड द्वारा लिखित 'द डचेस आफ पाटुआ' का राजदूत गाइडो और रानी की अतृप्त कामेच्छा बेचन शर्मा उग्र के 'चुम्बन' और 'आवारा' में पायी जाती है। डा० भारती के 'अन्धा युग' नाटक पर सात्र के 'लमोचे' का प्रतिबिम्ब है। जैसे लमोचे में अनैतिकता, बर्बरता, बीभत्स दृश्य जघन्य अपराध आदि का चित्रण है वैसी ही मनोवैज्ञानिक शैली के अनुसार 'अन्धा युग' पाया जाता है।

सेठ गोविन्ददास का एक पात्री एकांकी 'शाप और वर' ओनील और स्ट्रिण्ड वर्ग के मोनोड्रामा के अनुरूप मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ होकर उपस्थित हुआ है। जगदीशचन्द्र माथुर का 'मकड़ी जाला' स्वप्न शैलीगत है। किं बहुना, सोफोक्लीज शेक्सपियर, मोलियर, इब्सन, शा, चेखव, टाल्स्टाय, स्ट्रिण्ड वर्ग, मैतरलिंक, युगेन ओनील, पिरैडेलो, सण्डरमैन, सात्रे, हाप्ट्समैन, आस्कर वाइल्ड की नाट्य कृतियों में आयी हुई मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पाया जाता है। इस प्रभाव को उक्त प्रकरण मे सांकेतिक शैली द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। आगे के अध्यायों में इसी मनोवैज्ञानिक परम्परा से प्रभावित आधुनिक हिन्दी नाटकों में आई हुई उपपत्तियों का विशद् विवेचन किया जायेगा।

निष्कर्षतः—हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत नाट्य साहित्य में यह मनोवैज्ञानिक परम्परा यमी की अभुक्त कामेच्छा से प्रारम्भ होकर मृच्छकटिक, स्वप्न-

वासवदत्तम् अभिज्ञान शाकुन्तलम् और उत्तररामचरित्र नाटकों में यौनि विच्युति, अतृप्त काम, प्रत्यावर्तन, स्वप्न सिद्धान्त की प्रतीक पद्धति, मनोविकृति और मानसिक नियतिवाद को लेकर अनवरत गति से प्रवाहित होती रही है। हिन्दी में इसकी अवतारणा ब्रजभाषा नाटक करुणाभरण में सर्वप्रथम पायी जाती है। तत्पश्चात् भारतेन्दु काल और आधुनिक हिन्दी नाटकों में इस धारा का अथक प्रवाह मिश्र जी के 'वत्सराज' चक्र-व्यूह, दशाश्वमेघ, वैशाली में वसन्त, वितस्ता की लहरें, आदि नाटकों में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक परम्परा के साथ घुल मिल कर चला आ रहा है। आगे के नाटकों में इस धारा का रूप मानवीय मनोविज्ञान के स्वाभाविक प्रक्रम पर स्थित है, जो यत्र-तत्र हिन्दी नाटकों पर परिलक्षित है।

पाश्चात्य नाटकों में मनोवैज्ञानिक परम्परा सोफोक्लीज की मातृप्रणय ग्रन्थि से आरम्भ होकर यूरोपिडीज, सेनेका, शेक्सपीयर, मोलियर, इब्सन, शॉ, चेखव, टाल्सटाय, स्ट्रिन्ड वर्ग, मैतरलिंक, पिरेन्डेली, ओनील, सात्रे, हाप्ट्स मैन, सन्डरमैन, आस्करवाइल्ड द्वारा प्रतिपादित इडिपस ग्रन्थि, प्रतिशोध, विभ्रम, आन्तरिक द्वन्द्व, काम प्रवृत्ति, मनोग्रस्तता, अनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति, इड् का निर्बन्धन प्रवाह, आरोपण भूलों का मनोविज्ञान, यौन विच्युति, मैथुनिक शीतलता, स्व आक्रमण प्रेरणावेग, बहुव्यक्तित्व, परस्पर विरोधी भाव प्रवणता, सहबोधावस्था, हीनत्व कुण्ठा, स्वप्न की प्रतीकात्मक शैली, युंगीन समष्टि अचेतन आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ आधुनिक हिन्दी नाटकों में साहित्य के आदान-प्रदान द्वारा अवतरित हुई है।

———

चतुर्थ अध्याय

★

पूर्व प्रसाद एवं तत्कालीन नाटकों में मनोविज्ञान की स्थिति

पूर्व प्रसाद-युगीन हिन्दी के ब्रजभाषा नाटकों में मनोवैज्ञानिक स्थिति—मनः शास्त्र की उपपत्तियां आदि काल से पौरस्त्य एवं पाश्चात्य नाटककारों की नाट्य कृतियों में सूक्ष्म किन्तु अविरल गति से विद्यमान हैं। पाश्चात्य नाटककारों से पूर्व भारतीय नाट्य पद्धति के स्रोत वेदों में सन्निहित मनोवैज्ञानिक कथोपकथन और मानव-मन के पारंगत संस्कृत नाटककार भास, कालिदास, भवभूति की नाट्य कृतियों में ये मानवीय मनोविज्ञाम की उपपत्तियां स्वतः ही परिलक्षित हैं। इसी परम्परा का प्रकट रूप हिन्दी के ब्रजभाषा—नाटकों में शाश्वत प्रवहमान दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु-कालीन नाट्य साहित्य के तत्व विवेचन में डा० गोपी नाथ तिवारी के मनोविज्ञान शीर्षक में भी इसी मत का प्रतिपादन हुआ है। इस सम्बन्ध में उनकी स्थापना है कि मनोवैज्ञानिक नाटककार कथा के साथ पात्रों पर बहुत ध्यान देता है। पात्रों की सजीवता और स्वाभाविकता मनोवैज्ञानिक चित्रण पर निर्भर करती है। यदि नाटक-कार अपने पात्रों की सृष्टि मनोविज्ञान की आधार शिला पर कर सका है तो उसका चरित्र-चित्रण सफल है। पश्चिम में मनोवैज्ञानिक आलोचना को बड़ा महत्व दिया जाता है किन्तु पूर्व में मनोविज्ञान को ध्यान में नहीं रखा गया है, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत के नाटकों में भी पात्र, मनोविज्ञान की भूमि पर खड़े हैं। ब्रजभाषा नाटकों में भी पात्रों के चरित्रों में मनोविज्ञान भरा पड़ा है। 'करुणा-भरण' की 'राधा' और 'सत्यभामा' का चरित्र और 'उदय' के 'रामकरुणाकर' के राम का विलाप मनोवैज्ञानिक है। भारतेन्दु कालीन अधिकांश नाटककारों ने मनोविज्ञान की मिट्टी से पात्रों को गढ़ा है।[1] भारतेन्दु काल से पूर्व ब्रजभाषा के नाटक 'करुणा-भरण' में यह मानसिक प्रक्रम पूर्णतया उद्भासित है।

हिन्दी के ब्रजभाषा नाटक 'करुणाभरण' में मनोवैज्ञानिक परम्परा—पूर्व भारतेन्दु युग में कृष्ण जीवन लछिराम ने करुणाभरण (१६५७ ई०) नामक नाटक

१—भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी पृ० सं० २६०

लिखा। इसमें मनोविकृतियों के आधारभूत तत्व आन्तरिक द्वंद्व की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। नाटक के 'राधा' पात्र में अतृप्त-दमित कामवासना का प्रबल प्रवाह, अचेतन मन से सांकेतिक रूप में कृष्ण मिलन के समय सहसा प्रस्फुटित होता पाया जाता है। जब राधा को यह अकस्मात ज्ञात होता है कि कन्हैया भी कुरुक्षेत्र आये हैं, तब उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। संवेगाविष्ट कभी उसका शरीर स्वेद-विन्दुओं से लथपथ हो जाता है। कभी दिवास्वप्न में लीन कृष्ण मिलन का सुखद अनुभव करती है, कभी आत्मरति-वश अपने शरीर और पैरों पर विमुग्ध होती है और कभी मानसिक द्वंद्व-वश्यता से उद्विग्न, गम्भीर उच्छ्वासों का उसके शरीर में झमेला सा लग जाता है। परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति से वह कभी प्रसन्नचित्त एवं कभी खिन्न हो जाती है।[1]

राधा के मानसिक द्वन्द्व के अतिरिक्त अन्य ब्रजवनिताओं का भी आन्तरिक द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक है। प्रिय-मिलन को आतुरता और हड़बड़ाहट में गोपियाँ नेत्रों में महावर आंज लेती हैं और पैरों पर अञ्जन। इस मानसिक प्रक्रम में फ्राइडियन भूलों के मनोविज्ञान की झांकी गोपियों में स्वभावत: पाई गई है। सत्यभामा में राधा के प्रति फ्राइडियन ईर्ष्या के भ्रम की अवतारणा हुई है। जब राधा सरोवर में कूद पड़ती है तब उसे अपनी मनोग्रन्थि को खोलने का अवसर मिलता है। वह कहती है कि तू दूसरे के पति को क्या अपना बनाना चाहती है। कहीं दूसरे के सिन्दूर से ईर्ष्या करके अपना माथा फोड़ा जाता है।[2] करुणाभरण मे प्रयुक्त ये संवाद मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि उक्त नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है।

भारतेन्दुकालीन नाटकों से मनोवैज्ञानिक तत्व— भारतेन्दु-युग के नाटकों में बाल-विवाह, विधवा-विवाह, मध निषेध, बहु विवाह आदि समस्याओं पर भी नाटक लिखे गये हैं। तत्कालीन समस्याओं को आधार मानकर लिखे गये उन नाटकों को भी समस्या नाटक कहा जा सकता है। डा० ओझा ने भी इन नाटकों को समस्या नाटक माना है।[3] फलतः इन नाटकों में समस्या के प्रत्यक्षीकरण के कारण कुछ न कुछ

१—कबहुँ बदन स्वेत ह्वै जावै, कबहुँ मिलन सुख पावै।
नीची नारि पगन तन हेरे, उलटि उसांस सकल घट घेरे ॥
अङ्क प्रथम

२—कन्त परायो चाहति जोरनि, खिझि चितवति नयन निकोरनि।
परको सिन्दूर देखिकै अपनो फोरति भाल ॥ —अङ्क पृष्ठ
—करुणाभरण नाटक—कृष्ण जीवन लच्छीराम—काशी नागरी प्रचारिणी सभा

३—हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० सं० ५२२, २३

अंश मनोवैज्ञानिकता का अवश्य है। वैसे इन नाटकों में भावुकता विशेष मिलती है। आधुनिक समस्या नाटकों की भाँति उनमें मनोविश्लेषण की प्रधानता नहीं पाई जाती। प्रायः भारतेन्दु कालीन दुःखान्त नाटकों में अन्तः संघर्ष का प्रयोग पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक शैली पर भी उपलब्ध होता है, जिसका प्रतिपादन डा० त्रिपाठी द्वारा भी हुआ है। उनके मत में भी पाश्चात्य दुःखान्त नाटकों के आधार पर भारतेन्दुकालीन दुःखान्त नाटकों के चरित्र में मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के चित्र रखे गये हैं।[1]

डा० सोमनाथ गुप्त के मत में भी भारतेन्दु के नाटकों में बाह्य एवं आन्तरिक द्वन्द्व की नवीन पद्धति, अंग्रेजी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क एवं मनोविज्ञान द्वारा सुविकसित हुई है।[2]

इसी प्रकार डा० गोपीनाथ तिवारी ने भारतेन्दुकालीन नाटककारों के पात्रों में अधिकतर मनोविज्ञान को ही अन्तर्निहित बतलाया है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि भारतेन्दुकालीन नाटककार ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर पात्रों का निर्माण किया है। यदि कोई पात्र परिस्थिति विशेष में वैसा ही करता है और कहता है जैसा कि अन्य मनुष्यों को करना या कहना चाहिए तो हम कहते है कि मात्र मनोवैज्ञानिक है। यदि कोई पात्र ऐसा नहीं करता तो नाटककार को कारण देना होगा, नहीं तो पात्र अमनोवैज्ञानिक बन जायेगा। यदि शत्रु के ललकारने पर वीर पुरुष का हृदय तिलमिला कर हाथ न उठा बैठा तो पात्र अमनोवैज्ञानिक है, यदि उसने बुद्धत्व प्राप्त नहीं कर लिया है। यदि अबोध और अकेले पुत्र पर संकट देख मां आड़े न आई और न इसका कारण ही दिया गया है तो माँ का चरित्र-चित्रण अमनोवैज्ञानिक है।[3]

किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डा० तिवारी की मनोविज्ञान सम्बन्धी स्थापनायें एक पक्षीय हैं, अतः हम उनसे सहमत नहीं हैं। ये केवल उन्होंने चेतन मन की सामान्य कार्य विधियों की ओर संकेत किया है। केवल सामान्य मानसिक प्रक्रम वाले नाटक ही मनोवैज्ञानिक नहीं होते अपितु असामान्य अज्ञात—मन की गतिविधि वाले भी नाटक मनोवैज्ञानिक होते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो अचेतन मन की असामान्य कार्यविधियों से प्रेरित नाटकों में ही आन्तरिक द्वन्द्व और मनोग्रस्तता मिल सकती है, जोकि नाटकों का प्राणत्व कहलाती है। सामान्य में इसका निदर्शन नही होता है। पुनरपि हम उनके और उक्त विद्वानों के इस मत के पक्ष में हैं कि भारतेन्दु कालीन नाटकों में मनोविज्ञान की झलक है, जो निम्न प्रकार के विश्लेषण से सुस्पष्ट है।

१—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्रीपति त्रिपाठी—पृ० सं० ६०
२—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त पृ० ५८
३—भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी पृ० २६०

भारतेन्दु जी के जिन नाटकों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ उपलब्ध हैं वे—विद्यासुन्दर, सत्य हरिश्चन्द्र, प्रेम जोगिनी, चन्द्रावली और नीलदेवी है। संक्षेप में उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण क्रमशः यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

विद्या सुन्दर (सन् १८६८) भारतेन्दु जी का प्रारम्भिक नाटक है। डा० ओझा के मत में यह नाटक एक समस्या नाटक है। इसमें समस्या यह है कि विवाह केवल अभिवावकों की इच्छानुसार ही हो अथवा वर-वधू को भी विवाह में निर्वाचन का कोई अधिकार है। इस नाटक में नवीन विचार के अनुसार विद्या और सुन्दर विवाह तो कर लेते हैं, किन्तु चिरकाल-प्रचलित परम्परा की उपेक्षा के कारण उनमें अन्तर्द्वन्द्व भी उत्पन्न हो जाता है।

यहाँ भारतेन्दु जी ने वैवाहिक रूढ़ि तथा नव क्रान्ति के द्वंद्व का समाधान उसी प्रकार करा दिया है जिस प्रकार कालिदास ने अपने शकुन्तला नाटक में शकुन्तला और दुष्यन्त के विवाह को कण्व ऋषि की अनुमति दिलाकर सामाजिक समस्या को हल किया है।[1]

नाटक के उद्देश्य से स्पष्ट है कि गान्धर्व विवाह के उपरान्त नैतिकाहं की प्रबलता से स्त्री पुरुष को पश्चाताप करना पड़ता है, क्योंकि आनुवंशिक पूर्वप्रवृत्ति के अनुसार रुढ़िबद्धता की ग्रन्थि अपना अमिट प्रभाव रखती है। अत: गान्धर्व विवाह कर लेने पर युवक-युवती के मानसिक-साम्य को स्थिर रखने के लिए अभिभावकों को चाहिए कि वे उसका समर्थन हृदय से करें। नाटक में यही मनोवैज्ञानिक अवतारणा प्रमुख रूप में हुई है। डा० ओझा ने इस नाटक को प्रतीकात्मक सिद्ध किया है।[2] प्रतीक नाटक होने के कारण उसमें मनोवैज्ञानिक तत्व और भी दृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि प्रतीकवादी नाटकों का मनोविज्ञान से अविकल सम्बन्ध है। प्रतीकात्मक नाटक मानने पर यहाँ 'विद्या' पात्र अन्तश्चेतना का प्रतीक है। 'विमला' विद्या की सखी आदर्शाहं और सुलोचना अहं का प्रतीक है। 'सुन्दर' पात्र मनमोहक इड् है जो समाज की चिन्ता न करता हुआ अनियन्त्रित प्रकृत काम की तुष्टि में संलग्न है। इन मनोवृत्तियों का साम्य ही श्रेय और प्रेय है जो कि नाटककार ने प्रदर्शित किया है। इस भाँति हम देखते हैं कि 'विद्या सुन्दर' नाटक में प्रकृत-काम का स्वच्छन्द प्रवाह है। नाटककार ने 'विद्या' और 'सुन्दर' दोनों पात्रों में इस काल प्रवृत्ति का पूर्णतया निर्वाह किया है। इन पात्रों का इड् सामाजिक अहं के बन्धन से परे है। वहाँ इड् पर न किसी प्रकार नियन्त्रण है और न उसका प्रतिरोध। इसका प्रमाण

१—हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० २००—२०१
२— ,, ,, ,, ,, २०१

'सुन्दर, का राज प्रासाद में सुरंग लगाकर पहुँचने में मिल जाता है, जिससे स्वयं राजकुमारी विद्या का इड् भी सहमत है। इन दोनों के इड् ने अहं और आदर्शाहं की अवहेलना ही की है, जिसका प्रमाण ये संवाद हैं—

विद्या—जिस दिन से मैंने उन्हें देखा है उस दिन से अपने आपे में नहीं हूँ, क्योंकि उस मनमोहन रूप को देखकर कुल और लाज दोनों छोड़ चुकी हूँ।

सुन्दर—सखियो तुम साक्षी रहना, मन और प्राण तो इनने चोरी करके ले लिया, एक देह बच गयी है इसे अपनी ओर से अर्पण करती हूँ।[1]

इस प्रकार कामशक्ति से प्रेरित इन दोनों का गन्धर्व विवाह दासियों के बीच में सम्पन्न होता है जिसमें प्रकृत काम का स्वच्छन्द रूप मिलता है। 'विद्या' भी 'सुन्दर' को अपने इड् के अनुरूप पाकर इतनी आनन्द विभोर हो उठती है कि वह प्रत्यक्ष घटना को भी इसलिए सपना मान बैठी है कि स्वप्न में सत्यता का अंश होता है। इसी मनोविज्ञानिकता को वह स्पष्ट करती हुई कहती है—

विद्या—(मन ही मन) में सपना देखती हूँ ? नहीं, वह सपना है।[2]

वह सुन्दर से इतना तादात्म्य कर बैठी है कि सुन्दर का प्रेम उसको भुलाने पर भी नही भुलाया जाता, क्योंकि उसका सम्बन्ध अनियन्त्रित इड् से है। तभी उसका कहना है—

विद्या—सखी मैं तो समझती हूँ, मन नहीं समझता।[3]

विद्या के अनुसार हीरा मालिन का इड् है, पर उसका मार्ग दूसरा है। वह पूर्णतया प्रत्यावर्तन कर बैठा है। विद्या उसे इस प्रकार मालिन के समक्ष रखती पाई जाती है:—

हीरा मालिन—और जब तुम्हें सन्यासी से ब्याह देंगे तो क्या करोगी।

विद्या हाँ तुम तो इस बात से बड़ी प्रसन्न हो। मैने कई बार कहा कि उसको मुझसे एक बार और मिला दे पर तू उसे कब छोड़ती है। जब बुढ़ापे मे तेरी यह दशा है तो चढ़ते जीवन मे न जाने क्या रही होगी।[4]

यहाँ हीरा मालिन की यह आसक्ति इडिप्स ग्रन्थि का प्रकारान्तर है। नाटक में राजा रानी भी इड् की पुष्टि करते पाये जाते है।

"विद्या सुन्दर" की मनोवैज्ञानिता का समर्थन डा० तिवारी द्वारा हमें मिलता है। उन्होने प्रकृत काम के आधार पर भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य के

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास—पृ० १५ और १६
२— ,, ,, ,, २०
३— ,, ,, ,, ३५
४—भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास पृ० २४

तत्व विवेचन में मनोविज्ञान शीर्षक से "विद्या सुन्दर" नाटक के स्थल का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि मनोराज्य के अनुसार सौंदर्य आँखों को खीचता है । युवा स्त्री ही नहीं, वृद्धा भी पुरुष की मनोहरता से अभिभूत होती हैं । इस स्त्री मनोविज्ञान का सुन्दर उदाहरण "विद्या सुन्दर" में मिलता है—हीरा मालिन अत्यन्त सुन्दर राजकुमार "सुन्दर" को देख कहती है—

हाय हाय । ऐसा सुन्दर रूप तो न कभी आँखो देखा न कानों सुना । इसकी दोनों हाथ से बलैया लेने को जी चाहता है—हाय हाय इसके मां बाप का कलेजा पत्थर का है कि ऐसे सुकुमार पुरुष को घर से निकाल दिया ।[1]

वस्तुतः हीरा मालिन का राजकुमार "सुन्दर" के सौदर्य से आकर्षित होकर उसकी बलैया लेने में मातृ—प्रणय ग्रन्थि की प्रेरणा उद्‌बुद्ध हुई है । यहाँ पर फ्राइड द्वारा प्रस्तुत विध स्त्री का द्यूत—क्रीड़ा में अनुरक्त युवक से पुत्रवत् सम्बन्ध स्थापित करने वाली एवं निषिद्ध प्रेम की इच्छा वाली मनोवृत्ति सन्निहित है ।

नारी मनोविज्ञान में आँसू का महत्वपूर्ण स्थान है । जब हीरा मालिन राज-कर्मचारियों से आंसू बहाकर भी छुटकारा नहीं पाती तो अपना अतिमनोवैज्ञानिक अचूक अस्त्र छोड़ती है कि ये सब मिलकर मेरा धर्म लिया चाहते हैं—

विद्या—तेरा शरीर बूढ़ा हो गया पर चित्त अभी बारही बरस का है ।

चौकीदार—अरे यह छिनाल बड़ी छतीसी है.........। ऐसा मन होता है कि इस रांड की जीभ पकड़कर खींच लें ।

हीरा मालिन—दोहाई महाराज की ? हे धर्म देवता, तुम साक्षी रहना, देखो यह सब मुझे अकेली पाकर मेरा धर्म लिया चाहते हैं ।[2]

इस प्रवंचना से वह अपने को निरापद बनाना चाहती है और 'विद्या' के अनुसार उसमें प्रतिगमन है ।

भारतेन्दु जी के सत्य हरिश्चन्द्र (सन् १८७५) में ईर्ष्या के भ्रम, अहंकार, इड् और ईगों का द्वन्द्व, स्वप्न की घटनाओं में अस्तव्यस्तता, आदेशात्मक स्वप्न आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां मिलती हैं । मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार इन उपपत्तियों का तादात्म्य आधुनिक मनोविज्ञान के साथ हो जाता है ।

इन्द्र का ईर्ष्याभ्रम एवं विश्वामित्र का अहंकार इस नाटक का केन्द्र विन्दु है । विश्वामित्र के सुपर ईगो से अनुप्रेरित अहं और इड् का द्वन्द्व भी कहीं कही मिलता

१— भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य—डा० गोपी नाथ तिवारी पृ० २९१

२—भारतेन्दुग्रन्थावली (विद्यासुन्दर)—ब्रजरत्नदास पृ० ३१

है। नाटक में फ्राइडियन स्वप्न पद्धति का पूर्ण निर्वाह हुआ है फ्राइड की भाँति स्वप्न की यथार्थता राजा और रानी के संवादों में सुविदित है—

रानी—स्वप्न के शुभाशुभ का विचार कुछ महाराज ने ग्रन्थों में देखा है। नाथ, आप एक साथ ऐसे व्याकुल क्यों हो गये।

हरि०—मैं यह सोचता हूँ कि अब मैं उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊँगा और बिना उसकी थाली उसे सौपे भोजन कैसे करूँगा।

रानी—नाथ। क्या स्वप्न के व्यवहार को भी आप सत्य मानियेगा।

हरि०—स्वप्न संसार अपने काल में असत्य है, इसका कौन प्रमाण है। और अब असत्य कहो, तो मरने के पीछे यह संसार भी असत्य है।[1]

राजा ने स्वप्न की तुलना संसार से की है। यदि संसार सत्य है तो स्वप्न भी सत्य है। यही स्वप्न की यथार्थता है अर्थात् जो हम जीवन में देखते हैं वही स्वप्न में दीखता है। केवल अन्तर स्वप्न की घटनाओं की अस्तव्यस्तता का है जो फ्राइड के समान नाटककर ने दिखलाया है।

हरी०—जब मै स्त्री जानकर उसको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है।[2]

हरिश्चन्द्र का स्वप्न में यहां विश्वामित्र को स्त्री रूप में देखना स्वप्न की अस्तव्यस्तता का उदाहरण है।

फ्राइड के तुल्य आदेशात्मक स्वप्न राजा और रानी ने देखा है जो उन्होंने स्वप्न में देखा है वही प्रत्यक्ष में आगे संघटित होता है। फलतः वह फ्राइडियन आदेशात्मक स्वप्न के समान ही है।

भारतेन्दु जी के "प्रेम-जोगिनी" (सन् १८७५) नाटक में भी मनोवैज्ञानिकता मिलती है। डा० रामविलास शर्मा द्वारा भी इस कथन की पुष्टि इस भाँति उपलब्धि होती है कि नाटक मे जितने अंक लिखे गये है उनमे न तो प्रेम है न कोई जोगिनी। इन अकों की कला बिखरी-बिखरी सी है, परन्तु चित्रण एकदम यथार्थवादी है।[3] डा० शर्मा का यह कथन कि नाटक की कथा बिखरी-बिखरी किन्तु चित्रण यथार्थवादी है, ये दोनों ही बातें मनोवैज्ञानिक नाटकों में पाई जाती हैं, क्योंकि नाटककार पात्रो की यथार्थता को स्पष्ट करने के लिए मनोविज्ञान से उलझा होता है। इसी मत के समर्थन में डा० सोमनाथ गुप्त के कथनानुसार समस्याप्रधान नाटक धारा

१—भारतेन्दुग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास पृ०२७३ २७४
२— ,, ,, २७४
३—भारतेन्दु युग—डा० राम विलास शर्मा पृ० ६४

का जन्म भारतेन्दु की प्रेम जोगिनी से है। वास्तव में जिन्हें यथार्थवादी नाटक कहा जाता है उनका जन्म इन्हीं प्रतिदिन की समस्याओं के द्वारा हुआ करता है। यही वास्तविक जीवन के चित्र होते है।[1] नाटककार ने भी प्रेम जोगिनी में यथार्थ जीवन का चित्रण किया है।

यह नाटक भाट, ब्राह्मण, संन्यासी, वैश्या, विधवा, पंडा, अराजकता, पाखण्ड, कुव्यसन, आलस्य, विश्वासघात, पण्डितों और पुजारियों की धन लोलुपता से भरी मनोवृत्तियों का सामाजिक यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करता है। नाटक का सम्बन्ध नाटककार के अंतर्दर्शन से भी ज्ञात होता है जिसमें डा०ओझा के अनुसार भारतेन्दु जी को इसमें काशीवासी के नाते प्रच्छन्न रूप से 'आप बीती' भी बतानी थी। यह कार्य सरल न था। इसके लिए उत्कृष्ट कला अपेक्षित थी। फलतः नाटक सम्पूर्ण न हो सका, अतएव कला की दृष्टि से क्या कहा जाय। यह नाटक समाज की यथार्थ दशा का चित्रण बड़ी ही सफाई से कर गया है।[2]

प्रेम योगिनी में काशी की तत्कालीन हीनावस्था का चित्रण व्यक्तियों की अभावग्रस्तता का परिचायक है। भारतेन्दुकाल में आगे इस नाटक का अनुसरण करके यथार्थवादी धारा पर लिखे गये सामाजिक नाटकों की संख्या बहुत है, जिनमें यत्र-तत्र मनोविज्ञान की झलक मिलती है।

श्री चन्द्रावली नाटिका (सन् १८७६) भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में सर्वश्रेष्ट है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वयं चन्द्रावली पात्र में नाटककार ने सहबोधावस्था, तादात्म्यीकरण, विभ्रम और उन्माद को अत्युत्तम ढंग मे प्रस्तुत किया है। चन्द्रावली और उसकी सखियों के संवादों में ये मानवीय मनोविज्ञान की उपपत्तियाँ स्वाभाविक रूप में प्रस्फुटित हुई हैं।

चन्द्रावली—(जल्दी से उठ, बनदेवी का हाथ पकड़कर) कहो प्राणनाथ अब कहाँ भागोगे।

वनदेवी—मैं हूं कौन बोल तो ?

चन्द्रावली—हमारे प्राण प्यारे हो न ?

वनदेवी—तू है कौन ?

चन्द्रावली—प्रीतम पियारो मेरो नाम है।

सन्ध्या—एक रूप आज श्यामा भई श्याम है।

चन्द्रावली—तो मैं कौन हूँ।

१—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त पृ० ७६

२—हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास—डा०दशरथ ओझा पृ० सं० २११

बनदेवी—तू तो मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली है न ? तू अपने हू को भूल गई।[1]

उक्त संवादो के अन्तर्गत चन्द्रावली का अपने आपको कृष्ण बतलाना सह-बोधावस्था की मनोवृत्ति का प्रतिपादक है। वह अपने में और कृष्ण में कोई पार्थक्य नहीं समझती और कृष्ण को अपने अन्तस् में सहबोध रूप में देखती है। श्यामा का श्याम रूप बिल्कुल तादात्म्यीकरण के अनुकूल है। अपने स्वयं को भूल जाने में भिन्न व्यक्तित्व की मनोवृत्ति का निदर्शन है। विभ्रम और उन्माद में जड़ चेतन पदार्थो से बातचीत करना, प्रत्यक्ष रूपो को कुछ से कुछ समझना आदि चन्द्रावली के विक्षिप्त प्ररूप है। निष्कर्षत: कृष्ण के प्रेमियों को उनका विरह इसलिए प्रिय है कि वे स्वयं में कृष्ण का तादात्म्य कर बैठते है, और अभिन्नता के कारण उनमें सहबोधावस्था की मानसिक अवस्थिति प्रबल हो उठती है। नाटिका में उन्माद, विभ्रम, सहबोधावस्था तादात्म्यीकरण एवं भिन्न व्यक्तित्व का सुन्दर समन्वय मिलता है।

नील देवी (सन् १८८०) ऐतिहासिक गीतिरूपक में हीनत्व कुण्ठा से आक्रान्त भारतीय नारी को "क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया" की ओर उत्प्रेरित दिखलाया है। स्त्री मात्र की उन्नति का अवरोध हमारी वर्तमान कुल परम्परा है। स्त्रियो में यह मनोवृत्ति आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत है। पर नाटककार ने यहाँ उसमे प्रतिक्रिया दिखलाई है।

रूपक आद्योपान्त जीवन मरण प्रवृत्ति से परिपूरित है। मरने की प्रवृत्ति मारने में परिवर्तित हो गई है। लोहे के पिंजड़े में मूर्च्छित सूर्यदेव का विभ्रम—वश देवता का देखना मनोवैज्ञानिक विभ्रम के अनुकूल है। रूपक के आठवें दृश्य में 'पागल' पात्र का चरित्र चित्रण मनोविक्षिप्तता के लक्षणों से ओतप्रोत है।

नीलदेवी रानी में प्रतिशोध ग्रन्थि है। रानी के अन्तस् से उद्भूत प्रतिहिंसा के भाव की उत्तेजना का समर्थन डा० श्याम सुन्दरदास द्वारा भी मिल जाता है।[2] रानी नीलदेवी का उद्देश्य अपनी जाति के स्वातन्त्र्य की रक्षा और पतिबध का प्रतिशोध है। अतएव रानी में प्रतिशोध ग्रन्थि पूर्णतया समाविष्ट है। वह अमीर से कहती है।

नीलदेवी—ले चान्डाल पापी ? मुझको जान साहब कहने का फल ले, महाराज के बध का बदला ले। मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से बध करूँ। सो इच्छा पूर्ण हुई।[3] इस प्रकार रानी का गायिका बनकर अब्दुल शरीफ की हत्या करके अपने पति का प्रतिशोध लेना उसके अहं का पोषक सिद्ध होता है। नीलदेवी के चरित्र में क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया एवं कामोन्नयन से

१—भारतेन्दुग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास—पृ० सं० ४३१, ३३

२—भारतेन्दु नाटकावली—डा० श्यामसुन्दर दास पृ० ६८

३— ,, ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास पृ०५४५

प्रतिहिंसा के रूप में ऊर्ध्वगमन हुआ है।

नीलदेवी गीतिरूपक शैक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों की भाँति है। सूर्यदेव में शैक्सपीयर के नाटकों की भाँति सब गुण विद्यमान हैं। हिंसा प्रतिहिंसा से नाटक का पर्यवसान दुःखमय होने के कारण नीलदेवी रूपक पाश्चात्य दुःखान्त नाटकों की परम्परा का अनुशरण करता हुआ प्रतीत होता है। चरित्र-चित्रण मे शील वैचित्र्य एवं अन्तर्द्वन्द्व नीलदेवी में भी पाश्चात्य नाटककारो की तरह दिखाने की चेष्टा की गयी है।[1] निदान हिसा, प्रतिहिंसा, आन्तरिक द्वन्द्व, विभ्रम, मनोविक्षिप्तता आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियो से नीलदेवी रूपक मनोविज्ञान के अति निकट है।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु जी के अनूदित नाटको मे भी मनोविज्ञान की उपपत्तियाँ उपलब्ध है। 'कर्पूर मंजरी' में प्रकृत का काम बाहुल्य है। राजा का इड् रानी के होते हुए भी कर्पूर मंजरी पर पूर्णासक्त है। तभी उसके चरित्र में दिवास्वप्न, कामात्मक स्वप्न की उपपत्तियाँ पाई जाती है। राजा विदूषक से कहता है—

राजा—मित्र, स्वप्न में हमने ऐसा ही मनुष्य रत्न देखा है।

विदूषक—कैसा ?

राजा—मैंने देखा है कि वह कमलबदनी हँसती हुई मेरी सेज के पास आकर नीलकमल घुमाकर मुझे मारना चाहती है और जब मैंने उसका अंचल पकड़ा है तो वह चंचल नेत्रों को नचाकर अंचल छुड़ाकर भाग गयी और भरी नींद भी खुल गयी।[2] इस कामात्मक दिवास्वप्न के अतिरिक्त नाटक में रानी द्वारा प्रेम की परिभाषा भी नाटककार ने हैवलाक् एलिस के अनुरूप करायी है—

रानी—नव यौवन वाले स्त्री पुरुषों के परस्पर अनेक मनोरथों से उत्पन्न सहज चित्त के बिकार को प्रेम कहते हैं।[3] हैवलाक् एलिस के शब्दो मे भी प्रेम काम और मित्रता का समन्वय है, वह मनोरथ सिद्धि का साधन है, वह आकर्षण तथा आत्म समर्पण की भावना है।[4]

भारतेन्दु जी ने 'पाखण्ड विडम्बन' में मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अंक का है। इसमें मनोवृत्तियों के प्रतीक पात्रों का पर्यवेक्षण सुन्दर हुआ है।

मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त की हीनत्व कुण्ठा का विकास नाटककार ने क्षति-

---

१—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्रीपति ६०, ६१; ६२

२—भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास पृ० ३६५

३— ,, ,, ३६७

४—साइकालोजी आफ सैक्स (हि० सं०) हैव्लाक एलिस पृ० ३०६, ३०७

पूर्ति की प्रतिक्रिया में मनोवैज्ञानिक ढंग से दिखलाया है। इस नाटक के अधिकांश पात्रो में मनोविकृतियाँ प्रबल है। चाणक्य और राक्षस इन मनोविकृतियो के प्रमुख सूत्र है। चाणक्य की प्रतिशोध-ग्रन्थि अपने अहंवाद की पुष्टि करके ही प्रशान्त हो पाई है।

प्रेम प्रधान नाटक भारतेन्दु काल की महत्वपूर्ण धारा है। भारतेन्दु ने इस रूप में विद्या सुन्दर को छोड़कर अन्य किसी नाटक की रचना नहीं की। भारतेन्दु काल के इन नाटकों में से कुछ ऐसे नाटक मिलते है जो दुःखान्त है, और उन पर पाश्चात्य प्रभाव है। फलतः उनमें मनोविज्ञान की प्रतिच्छाया स्पष्ट प्रतीत होती है। इस परम्परा के प्रमुख नाटक 'श्री निवासदास कृत' रणधीर प्रेम मोहिनी (१८७७) श्री बालमुकुन्द पाण्डेय कृत 'गंगोत्री' (१८९५) है। और प्रताप नारायण मिश्र कृत 'कलिकौतुक रूपक' (१८८६) यथार्थवादी प्रेम नाटक है। इन तीनों नाटकों में काम प्रवृत्ति है। रणधीर प्रेम मोहिनी और गंगोत्री दुःखान्त प्रेम नाटक की कृतियाँ हैं। डा० तिवारी ने इन दोनों नाट्य कृतियों के सम्बन्ध में लिखा है—

"दुःखान्त प्रेम नाटक में रणधीर प्रेम मोहिनी के बाद गंगोत्री को ही स्थान मिलेगा। सभी दुःखान्त प्रेम नाटकों पर पश्चिमी प्रभाव है। जिसके कारण सब संघर्ष प्रधान है।[1]

रणधीर प्रेम मोहिनी के विषय में डा० राम विलास शर्मा का भी यही मत है। उनका कथन है कि यह एक दुःखान्त नाटक है, उस बात में भी यह संस्कृत नाटकों की परम्परा के विपरीत है। इस नाटक पर अँग्रेजी नाटकों का प्रभाव अधिक है। शेक्सपीयर के नाटको के समान यह दुःखान्त है। यहाँ पर संघर्ष ऊँच नीच का है। रणधीर प्रेम मोहिनी की प्रेम वार्ता रोमियो जूलियट नाटक जैसी है।[2] अतः जिस प्रकार शेक्सपीयर के नाटको में मनोविज्ञान की अवतारणा स्वभावतः हुई है वही स्वभाविक मानवीय मनोविज्ञान इन नाटकों में पाया जाता है।

'रणधीर प्रेम मोहिनी' में रणधीर और सूरत की राजकुमारी प्रेम मोहिनी एक दूसरे को पूर्ण आत्म-समर्पण कर चुके हैं। लेकिन सूरत के महाराज उसे साधारण राजपूत जानकर उन्हें विवाह सूत्र मे नही बँधने देते। यही से दोनों पात्रो में उनकी अहं निसर्ग वृत्तियों और काम प्रवृत्ति में आन्तरिक द्वन्द्व प्रबल हो उठता है। यही आधुनिक युग की सैक्स समस्या है। वे दोनो एक दूसरे से सम्बन्ध बनाने के इच्छुक हैं, परन्तु सामाजिक वैषम्य के कारण ऐसा नही कर पाते।

नाटक के कुछ स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं मनोवैज्ञानिक बन पड़े हैं। एक बार वे दोनों रात्रि में मिलने का आपस में वचन देते हैं। किन्तु मानवीय मनो-

---

१—भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डा०गोपीनाथ तिवारी पृ०१८१
२—भारतेन्दु युग—डा० राम विलास शर्मा पृ० ६६ और ७०

विज्ञान के आधार पर दर्शकों को इसमें सन्देह हो जाता है, क्योंकि प्रेम मोहिनी ने स्वप्न में एक हंस पकड़ा था और वह उसके हाथ से निकल गया। फ्राइडियन स्वप्न पद्धति के अनुसार यह आदेशात्मक स्वप्न है, जिसका विश्लेषण स्पष्ट है कि भविष्य में राजकुमार रणधीर हंस उसका न रह सकेगा। दर्शक भी इसका विश्लेषण स्वाभाविक कर लेते हैं।

प्रेम मोहिनी की अचेतावस्था को डा० राम विलास शर्मा ने भी मनोवैज्ञानिक बतलाया है। उनका कथन है कि रणधीर और प्रेम मोहिनी की प्रेम वार्ता में एक मर्मस्पर्शी सरलता है। प्रेम मोहिनी के अचेत होने पर रणधीर के मुँह से जैसे बरबस ये शब्द निकल पड़ते हैं—

''इसकी अचेत दशा भी मेरे मन को चैतन्य करने वाली है। इस व्यंजना में एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।[1] प्रेम मोहिनी की अचेतावस्था मे उसकी अतृप्त-दमित-कामेच्छाओं का अभिव्यक्तिकरण होने के कारण रणधीर के इड् को सान्त्वना प्राप्त होती है। परिणामतः रणधीर को इस मानसिक प्रक्रम से संतुष्टि का अनुभव होता है तभी वह उसकी अचेतावस्था में अपने मन की चैतन्यता के दर्शन पाता है।

श्री बालमुकुन्द पाण्डेय कृत—गंगोत्री नाटक में जमीदार की जघन्य लम्पटता और एक प्रेमिका की अनन्यता का यथार्थ चित्रण है। इसमे भी सेक्स समस्या को प्रदर्शित किया गया है। गंगोत्री संध्या को नवविवाहित पति के साथ बिदा होकर जाने वाली थी। इसी बीच मे जमींदार बाधा रूप में आ खड़ा हुआ। मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार वह प्रातःकाल से नव-मिलन की दिवा स्वप्न वाली कल्पनाओं में तन्मय थी। लेकिन स्वप्न की रंगीनी की भाँति वे कल्पनायें भी अतृप्त रह गयीं।

गंगोत्री का नवविवाहित पति ने जब कामुक राजा जमीदार के खूँनी पजे से बचाने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी तो उसका नारी मनोविज्ञान चीत्कार कर उठा—"मेरे स्वामी, यह प्रथम समागम है कि मैं तुमसे बात करती हूँ और सम्भव है कि कदाचित् यही अन्तिम भी हो। मुझको कालान्तर से तुम पर स्नेह था और मैं भली भाँति जानती हूँ कि तुम भी मुझे चाहते थे। यह मैं नहीं कह सकती कि आज मैं किन-किन उमाहो में थी और प्रभात से किन-किन अभिलाषाओं को मन में संचित कर रखा था। परन्तु यह भी उसी सिर्जनहार विधाता की इच्छा थी कि हम तुम दोनों की मनोकामनायें अपूर्ण रह जाती हैं और मैं अपना प्राण देने को उद्यत हूँ।[2] गंगोत्री की अतृप्तेच्छाओं का यह मार्मिक संवाद नारी मनोविज्ञान से ओत-प्रोत है। प्रातःकाल से कामात्मक दिवास्वप्नों ने उसकी मानसिक अवस्थिति

१—भारतेन्दु युग—डा० राम विलास शर्मा पृ० ७०
२—गंगोत्री—पाण्डेय—(५, २)

को उत्तेजित किया है। काम में निराशा आज के व्यक्तिगत सैक्स की प्रमुख अवधारणा है। उस ही निराशा से गंगोत्री में अतृप्ति-दमित कामेच्छाओं के बावजूद हीनत्व कुण्ठा का समावेश हो गया है। और काम तृप्ति का पर्यवसान गंगोत्री की स्वाक्रमण प्रेरणावेग की मनोवृत्ति में हुआ है, जिससे परिचालित होकर वह आत्म-हत्या पर उतारू हो गयी है।

प्रतापनारायण मिश्र कृत 'कलि कौतुक' रूपक की परम्परा में सैक्स समस्या पर आधारित पं० देवदत्त मिश्र कृत 'बाल्य विवाह दूषक' (१८८५ और निद्धीलाल कृत 'विवाहिता विलाप' (१८९८) नाटक पाये जाते हैं। कलि-कौतुक की श्यामा और चम्पा का इड् बिलकुल मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। वे इड् की अनियन्त्रित एवं अव्यवस्थित इच्छा से पूर्णतया उच्छृंखली बन चुकी हैं। यही इड् का निरंकुश शासन नाटक के नायक धनवान् किशोरीदास पर है। इड् के प्रभुत्व के कारण पूरा नाटक यौन विकृतियों से सन्निहित है। लम्पट रसिक बिहारी से स्यामा का नाजायज सम्बन्ध है और स्यामा के प्रति किशोरीसास की वेश्या से घनिष्टता है। जब स्यामा अपने प्रकृत काम की तृप्ति रसिक बिहारी के साथ एकान्त में कर रही है तभी किशोरीदास आ जाता है। अब अपने प्रेमी को छिपा देती है और अपनी कामुकता का आरोपण अपने पति के वेश्यागामी होने में करती है। नाटक में आद्योपान्त काम विकृति और इड् की दुष्प्रवृत्ति का चित्रण है।

देवदत्त मिश्र कृत 'वाल्य विवाह दूषक' भी काम प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। युवती दुल्हन का विवाह अमनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जाता है। उसे एक नादान बालक के साथ जोड़ दिया जाता है। नाटक में सुहागरात को उठने वाले मानवीय मनोविज्ञान से उत्प्रेरित मनोभावों का प्रदर्शन युवा पत्नी द्वारा नाटककार ने यथार्थ और स्वाभाविक रूप में किया है।[1]

युवती को काम के आवेग का दमन करना पड़ा। उसकी अतृप्तदमित कामवासनायें अज्ञात मन मे जा पहुंचीं। उसका इड् निर्बन्ध उड़ान लिये तड़प उठा। यथा नाम तथा गुण वाले दुराचारसिंह से सहसा उसका संयोग हो जाता है और रात्रि को अवसर पाकर वह वहाँ से भाग निकलती है। उसके इस भागने में अनियन्त्रित इड् का सामाजिक अहं पर आधिपत्य मात्र है। नाटककार के इस दम्पति जीवन की रहस्यमयी ग्रन्थि का अवगुण्ठन खोलने को डा० गोपी नाथ तिवारी ने भी सनोवैज्ञानिक बतलाया है।[2] फ्राइड ने नपुंसक पति की पत्नी की मनोग्रस्तता का जो मनोविश्लेषण किया है वह इससे अभिन्न होता है, परन्तु यहाँ इड् की संतुष्टि स्वच्छन्द होकर

१—बाल्य विवाह दूषक—देवदत्त मिश्र अङ्क ३ (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)
२—भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी—पृ० २९०, ९१

करदी गई है फलतः मनोग्रस्तता का प्रश्न ही [illegible] उठता, और फ्राइड के उदाहरण में काम की तृप्ति न होने के बावजूद मनोविकृति घर कर गई है। नाटककार ने यहाँ इड् की परितृप्ति के साधन प्रस्तुत किये हैं। अतः मनोग्रन्थि नहीं बन सकी, परन्तु इड् के घात प्रतिघात के कारण नाटक मनोविज्ञान से अपूर्ण नहीं।

निद्धिलाल ने विवाहित विलाप में मनधीर नायक को ललित मोहिनी पर आसक्त दिखलाया है। उसकी पत्नी चम्पा का संवाद कई स्थल पर नारी मनोविज्ञान से अनुप्रेरित है। उसके लिये जो प्रियतम की अच्छी लगनी चाहिएं वही शूल की भाँति हृदय विदारक है। वियोग में श्वासों की गति अत्यन्त क्षिप्रता लिए हुए है। बरसात समाप्त हो रही है लेकिन वर के साथ सोने की इच्छा [illegible] ही जा रही है।[1] मनधीर की ललित मोहिनी पर आसक्ति सैक्स समस्या पर आ[illegible] है। चम्पा से मनधीर के मन का लगना केवल यौन विच्युति ही है, जो मनोवैज्ञानिक [illegible]

भावुकता और बुद्धिवाद (१९०५—१९१[illegible]) के सन्धिकाल में भी मानवीय मनोविज्ञान की उपपत्तियां तत्कालीन नाटकों में उपलब्ध हैं। इस काल के अन्य नाटकों की अपेक्षा पण्डित बद्रीनाथ भट्ट कृत कुरुवन दहन (सन् १९१२) में मनोवैज्ञानिकता विशेष पाई जाती है। यह नाटक संस्कृत प्रसिद्ध नाटककार भट्टनारायण के 'वेणी संहार' की विषय-वस्तु के आधार पर लिखा गया है। किन्तु यहाँ यह अवेक्षणीय है कि नाटककार ने 'वेणी संहार' नाटक के अतिरिक्त अपने मूल नाटक में जो परिवर्त्तन किया है उस पर पाश्चात्य परम्परा की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। 'कुरुवन दहन' नाटक के अधिकांश पात्र अहंवादी हैं। फलतः वहाँ प्रतिशोध ग्रन्थि, मनोग्रस्तता एवं मनोविकृतियों का स्वतः ही प्रस्फुटन हुआ है।

बद्रीनाथ भट्ट की इस कृति का अनुकरण आगामी नाटकों में मिलता है। डा० सोमनाथ गुप्त द्वारा भी इस मत का प्रतिपादन हुआ है। उनकी स्थापना है कि सन्धिकाल में उच्चकोटि के नाटक साहित्य का निर्माण तो नहीं हुआ परन्तु उसमें ऐसी प्रवृत्तियां अवश्य ही उत्पन्न हो गयीं जो आगे चलकर लोकप्रिय नाटक साहित्य में सहायक सिद्ध हुई और जिसके स्वास्थ्यप्रद स्वभाव ने प्रसाद एवं उनके पश्चात के नाटककारों के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया। पं० बद्रीनाथ भट्ट इस प्रवृत्ति के दृढ़ उन्नायक थे।[2] भट्ट जी ने इस नाटक में अँग्रेजी नाट्य रचना पद्धति को स्वयं स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य की मर्यादा के साथ समयानुकूल नाटक में नवीनता लाकर ही भट्ट जी ने नाटकों के इस सन्धिकाल को पुष्ट किया है। नाटक में आद्यो-

---

१—विवाहिता विलाप—निद्धिलाल (झांकी) काशी नागरी प्रचारिणी सभा

२—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त पृ० १३७

प्रेरणावेग की मनोवृत्ति जागृत होती है, जिसमे गंगा में धसकर अपनी आत्म हत्या कर डालता है।

प्रसाद जी के (१९३०) आन्यापदेशिक (अलेगारिकल) 'एक घूंट' प्रतीक एकांकी की वनलता में युगीय समष्टि अचेतन की उभयमुखी, उत्कर्ष और अपकर्ष वाली दोनों मनोवृत्ति हैं। किन्तु नाटककार ने इसमें आभ्यन्तर के खोखलेपन का उद्घाटन किया है। वन-लता का इड् अपने प्रकृत-काम से किसी रुखे मन को स्नेहासिक्त करने का इच्छुक है।

प्रसादजी के (१९२१) विशाख नाटक का विशाख काम प्रवृति (सेक्स) से ग्रसित है। चन्द्रलेखा ने सर्वप्रथम एलेक्ट्रा ग्रन्थि के दर्शन होते हैं परन्तु विशाख की भेंट होते ही वह भी काम प्रवृत्ति (सैक्स) से आवद्ध हो जाती है। अपने मन के सम्बन्ध में यह विशाख से कहती है कि जब तुमसे बातचीत होने लगती है, तब मेरा मन न जाने कैसा-कैसा करने लगता है। तुम्हारी सब बातें स्वीकार करने की इच्छा होती है।[1] यह उसका विशाख को आत्म समर्पण है। नरदेव का इड् चन्द्रलेखा को अपनाना चाहता है उसे ऐसा करने में समाज की अवहेलनायें करनी पड़ती है और वह समाज से दण्डनीय होता है।

राज्य श्री—(१९१५) राज्यश्री नाटक में कामोन्नयन और प्रत्यावर्तन का विलक्षण विरोधाभास है। राज्यश्री काम की परिष्कृति और सुरमा काम विकृति का प्रतीक है। शान्तिदेव कामोन्नयन, देवगुप्त और विजयघोष प्रतिगमन की ओर अग्रसर है। देवगुप्त और विजयघोष का इड् राज्यश्री के रूप का चक्कर लगाता दृष्टिगत होता है, किन्तु सामाजिक वैषम्य से वह अपनी तृप्ति नहीं कर पाता। राज्यश्री में विक्षिप्तता के दर्शन होते है, जब वह मन्दिर में अपने पति की विजय कामना के विपरीत अट्टहास सुनती है तब सहसा वह विक्षिप्त हो जाती है। राज्यश्री में आत्म संयम प्रबल है।

सुरमा का अतृप्त-दमित काम उसकी सांकेतिक चेष्टाओं में प्रगट होता है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने भी उसके कार्यो, वचनों एवं आंगिक चेष्टाओं से उसकी आभ्यान्तरिक वृत्तियों का स्पष्ट प्रकाशन सिद्ध किया है।[2] प्रथम तो वह शान्तिदेव से अपनी अतृप्त वासना की तृप्ति के लिए कहती है कि मेरी प्राणों की भूख, आंखों की प्यास तुम न मिटाओगे। शान्तिदेव काम के शोधन से उत्प्रेरित होकर उसे सावधान करता हुआ कहता है कि उतावली न हो सुरमा। अभिलाषा के लिए इतना चंचल न होना चाहिए। यह काम के उदात्तभाव की ही उसमें प्रेरणा है। तदुपरान्त देवगुप्त की कामुकी प्रवृति उसे अपना लेती है। सुरमा के जब वह हाथ चूमने को उद्यत होता

१—विशाख—प्रसाद—द्वितीय अङ्क पृ० सं० ४३
२—देखिए प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ० सं० ३७

है तो सुरभा का इड् नौ नौ बांस उछल पड़ता है, पर सामाजिक अहं की संतुष्टि के लिए वह देवगुप्त को धृष्ट सिद्ध करती है, देवगुप्त से अवहेलित होकर वह विजयघोष के चंगुल में फंस जाती है। यही काम का प्रत्यावर्तन है जो उसे विनाश की ओर ले जा रहा है। देवगुप्त और विजयघोष के प्रतिगमन ने उन्हें इसी सीमा पर ला खड़ा किया है। प्रस्तुत नाटक मानसिक वृत्तियों के सत् असत प्रक्रम का अत्यन्त सफल प्रयास है। इसमें एक ओर मनोविकृतियों का नग्न चित्र चित्रित है तो दूसरी ओर परिशोधन भी।

प्रसाद जी का 'कामना' रूपक संस्कृत के प्रबोध चन्द्रोदय और हिन्दी के 'देव-माया-प्रपंच' की परम्परा में अन्तर्निहित नाट्यरूपक है। इस नाट्य कृति में कामना (१९२३ -२४) में प्रतीकवादी परम्परा की रक्षा है। प्रसाद की विचारधारा को समझने में यह बड़ा सहायक होता है। भौतिक विलासिता ने विषमता को जन्म दिया और राजनीति ने उस वातावरण को और भी अधिक विक्षोभ पूर्ण बना दिया। परिणाम हुआ विवेक और संतोष की मूकता, परन्तु ज्ञान के उदय और विवेक एवं संतोष के सहयोग से समाज में पुनः मंगल विधान की स्थापना हुई। मनोवैज्ञानिक विकास के इसी उतार-चढ़ाव का मानवीकरण प्रसाद ने इस नाटक में किया है। प्रतीत होता है कि अपने चारों ओर बढ़ती हुई असंतोष की लहर को देखकर प्रसाद उसके मूल में जाने का प्रयत्न करते हैं और अपने उत्तर को नाटक का रूप दे देते हैं।[1]

कामना का रूपक सांगोपांग है। उसके सूक्ष्म अवयव कथा की एक धारा में शैथिल्य भले ही उत्पन्न कर देते हैं। लेकिन कहीं भी वे असम्बद्ध और स्वतंत्र नहीं होने पाते है। कामना मानव मनःलोक की रानी है। वह विलास के प्रति आकृष्ट होती है, पर उसके साथ उसका विवाह नहीं होता वह विलास के जाल में फंसी हुई सुख के लिए तरसती ही रहती है और अन्त में सन्तोष के साथ उसका परिणम होता है। (अर्थात् मनुष्य की कामना की परितृप्ति विलास द्वारा नहीं संतोष द्वारा ही सम्भव है।) विलास कामना को छोड़ लालसा से परिणय करता है— दोनों एक दूसरे के आकर्षण पर मुग्ध हैं। विलास अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए स्वर्ण और मदिरा का प्रचार करता है और फिर धीरे-धीरे से सभ्य शासन की दुहाई देकर, लोगों पर नियन्त्रण करना आरम्भ कर देता है (स्पष्ट शब्दों में मनुष्य की लालसा ही विलास से थोड़ी देर के लिए तृप्त हो सकती है—पर विलास और लालसा के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और इस प्रकार दुःख का आरम्भ होता है।[2]

१—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा०सोमनाथ—पृ० सं० १९१
२—आधुनिक हिन्दी नाटक-डा० नगेन्द्र—पृ० सं० ८३, ८४

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के अनुसार इस नाटक में दो भिन्न २ स्थितियों और मानव-मनोदशाओं का चित्रण हुआ है। प्रारम्भ में जीवन में जटिलतायें न थीं, अतएव नाना प्रकार की मनोवृतियों का भी उद्‌भव नहीं था। उत्तरोतर भौतिकता के प्रसार से मानव मन की वृतियाँ भी बदलीं। नियम नियंत्रण, आकर्षण विकर्षण, युद्ध हत्या, आक्रमण, अपहरण, अशान्ति अप्रीति भड़क उठे। लोगों में कुविचार, लालसा, प्रमाद, दुर्वृत्ति अविश्वास और आतंक निरन्तर बढ़ने लगे। इस प्रकार नरत्व में पशुत्व घुस पड़ा।[1] समस्त नाटक में मनोविज्ञान का यही ताना बाना है। इसमें अन्तःकरण की प्रवृतियाँ पात्रों के रूप में उपस्थिति हुई हैं। नाटक के अभिनय से आभास होता है कि ये कथोपकथक स्वाभाविक नर नारी का नहीं प्रत्युत मनोवृतियों का है। इसी मनोविश्लेषण पद्धति के कारण डा० दशरथ ओझा इस नाटक में मानवी चरित्र-चित्रण को अपूर्ण सिद्ध करते हैं।[2] उनका यह मत सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि इसमें पात्रों के संवाद मनोविज्ञान के तथ्य को ढोते हुए अत्यन्त शिथिल एवं विच्छिन्न प्रतीत होते हैं। इसके लिए 'विलास' की स्वोक्ति उल्लेखनीय है—

विलासः—(स्वगत) मेरी मानसिक अव्यवस्था कैसे छाया चित्र दिखलाती है। कोई अदृष्ट शक्ति संकेत कर रही है। नहीं, कामना एक गर्व पूर्ण और सरल हृदय की स्त्री है। रंगीन तो हैं— मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता। मुझको चाहिये बिजली के समान वक्र रेखाओं का जसून करने वाली, आँखों को चौधिया देने वाली तीव्र और विचित्र ज्वाला।[3]

यह प्रकृत काम की स्वच्छन्द मनोवृति है। इसी मनोवृत्ति की पुष्टि 'विवेक' के संवाद में इस प्रकार हैं।

विवेकः—पशुता का आतंक हो गया। पाशवी वृतियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गयी। परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। यह व्यक्ति को आत्म संयम और आत्म शासन सिखाकर विश्राम लेगी।[4] जहां एक ओर नाटककार ने काम विकृति का चित्रण किया है वहीं उसके प्रतिकूल आत्म संयम, आत्म शासन द्वारा उसने काम का उन्नयन मानव मात्र को श्रेयस्कर बतलाया है।

१—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ० २४१, ४२

२—हिन्दी नाटक और उद्‌भव और विकास—डा० दशरथ ओझा, पृ० सं० ३४३

३— कामना—प्रसाद—पृ० सं० ४७

४— „ प्रसाद „ ९८

अजातशत्रु (१६२२)—यह नाटक आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्वों से परिपूरित है। द्विजेन्द्रलालराय आन्तरिक द्वन्द्व के बिना नाटक को निकृष्ट मानते है।[1] प्रसाद के इस नाटक में अन्तर्बहिर्द्वन्द्व का अद्भुत समन्वय है। नाटक में आद्योपान्त राजाओं के विपरीत राजकुमारों, सामाजिक क्षेत्र में अभिजात वर्ग के विरुद्ध निम्न-वर्ग, पारिवारिक क्षेत्र में स्त्रियों का विद्रोह पुरुषों के प्रति है। यह अन्तर्विरोध ही असह्य होकर बाह्य रूप में परिणत हो गया है। प्रसाद के पात्र ऐसा बाह्य व्यवहार करके अपनी मानसिक कुण्ठाओं का परिष्कार करते हैं।

अजातशत्रु की मानसिक द्वन्द्व-वश्यता मैकबैथ के अनुरूप है। इन दोनों नाटकों के स्वगत कथन अन्तर्द्वन्द्वों से युक्त हैं। मैकबैथ में राजा डन्कन की मृत्यु के पूर्व जब मैकबैथ सोते हुए, डंकन के कक्ष में कटार लेकर जाता है, और उसको अन्धकार में लटकती हुई, दूसरी कटार दृष्टिगोचर होती है, उसका मन रक्त-पात के भूत और भविष्य के हिंडोले में आन्दोलित हो उठता है। उसी प्रकार नाटक के अन्त में, चारों ओर निराशा से घिरा हुआ मैकबैथ अपनी जीवन सहचरी की मृत्यु पर जीवन की निस्मारता पर कितनी अमर पंक्तियों को गुनगुनाता है। प्रसाद के नाटक भी इसी प्रकार स्वगत कथनों से भरे पड़े है, जिनमें सशक्त मनोविज्ञान तथा तरल भावुकता का रंग दिखाई पड़ता है। बिम्बसार और वासवी के चरित्रों में इस प्रकार के कथनों का अच्छा स्वरूप उपलब्ध होता है।[2] बिम्बसार की दृष्टि में संसार विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यन्त्र और प्रतारणा से सम्पन्न है। यह धारणा उसकी विक्षिप्तावस्था की है।[3] मल्लिका का शक्तिमती को पाशव वृत्ति वाले क्रूर कर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करने का संदेश स्त्रियों की हीनत्व कुण्ठा की परिष्कृति मात्र है।[4] छलना की हीन भावना ने उसे वार विलासिनी बना डाला है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के मत में भी जिस प्रकार पाश्चात्य नाटककारों के चित्रांकन के प्रवाह में व्यक्ति वैचित्र्य एवं आन्तरिक द्वन्द्व का प्रयोग अत्यन्त सफल बन पड़ा है, वह अजातशत्रु के बिम्बसार और वासवी में भी अत्युतम शैली में है।[5] इसके अतिरिक्त अनाहत मागन्धी बुद्ध से अवहेलित होकर हीनत्व कुण्ठा से उद्विग्न है। उदयन के राज प्रासाद में उसे रूप का गौरव तो प्राप्त होता है, परन्तु दरिद्र कन्या होने के कारण उसमें आत्महीनता प्रबल है। यह मनोग्रन्थि उसे स्वगत भाषण में अभिव्यक्त होती है—

१—अजातशत्रु – प्रसाद—(प्राक्कथन) पृ० सं० ४
२—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्रीपति त्रिपाठी पृ० सं० १३२, १३३
३—अजातशत्रु—प्रसाद—पृ० सं० १०६
४— „ „ १५४
५—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ० सं० ६

मागन्धी—इस रूप का इतना अपमान। सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया। यहाँ मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला नहीं गयी, यहाँ रूप का गौरव हुआ तो धन के अभाव से दरिद्र कन्या होने के अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूँ। अच्छा, इसका भी प्रतिशोध लूँगी।[1] मागन्धी को निमन्त्रित करने पर भी गौतम का प्रवचन सुनने के लिए पद्मावती के प्रासाद में न पहुँचना उदयन में मनोग्रस्तता का कारण बना है। गौतम की आत्ममैत्री और विश्व बन्धुत्व की भावना डा० होमरलेन की भाँति मनोग्रन्थि का मैत्री भावना से निवारण मात्र है। युंग की समष्टि अचेतन की प्रेरणा से उदयन पद्मावती पर तलवार उठाता हुआ भी नहीं मार पाता। विरुद्धक का शैलेन्द्र नामक डाकू बनना और मागन्धी का वार विलासिनी श्यामा का छद्मवेष धारण करना अभाव ग्रस्तता एवं तृप्त्यभाव का द्योतक है। मागन्धी की मनोवृत्ति डाकू शैलेन्द्र से ही मेल खाती है। वह उसको विरुद्धक राजकुमार समझ कर घृणा करती है, क्योंकि डाकू मनोवृत्ति से ही वह प्रतिशोध हल करा सकती है। छलना भी प्रतिशोध की पुतली है।

स्कन्दगुप्त (१९२८)—प्रसाद के स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में शेक्सपीयर की स्वच्छन्दतावादी कला का पूर्ण निखर हुआ है। स्कन्दगुप्त में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य शैलियों का अभूत पूर्व समन्वय हुआ है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इस समन्वय के सम्बन्ध में लिखा है कि प्रस्तुत नाटक की विशेषता भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों के समन्वय में दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य शास्त्रियों ने नाटक की मौलिकता-कार्य और द्वन्द में मानी है। इस नाटक में संघर्ष का ही प्राधान्य है जो कि व्यक्तिगत और वर्गगत रूपों में दिखाई पड़ता है। व्यक्तिगत द्वन्द्व का सुन्दर स्वरूप स्कन्दगुप्त और देवसेना में मिलता है। पति-पत्नी, भाई-बहिन, माता-पुत्र, सखी-सखी, स्वामी सेवक इत्यादि का संघर्ष भी पाया जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य मानदण्ड से यह रचना प्रभावोत्पादक और सर्वथा सफल है। पाश्चात्य व्यक्ति वैचित्र्यवाद भी इसमें पाया जाता है।[2]

स्कन्दगुप्त और देवसेना दोनों ही आत्मभर्त्सना से आविर्भूत हैं। इनमें शेक्सपीयर के हैमलेट की आत्म प्रतारणा (सेल्फ ऐक्यूशन) की भयंकर कुण्ठा विद्यमान है। आद्योपान्त समस्त नाटक अन्तःसंघर्ष से ओत-प्रोत है। यह आन्तरिक संघर्ष शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों का अनुकरण मात्र है। इसकी अवतारणा स्वगत भाषणों में समुपलब्ध है। स्कन्दगुप्त में आत्महीनता ग्रंथि से प्रादुर्भूत इतना मानसिक द्वन्द्व है कि वह अपने को संसार भर का विनाश चिह्न मानता है।

१—अजातशत्रु—प्रसाद—पृ० सं० ४९

२—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ० १३९,१४०

स्कन्दगुप्त—हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति, केवल मेरे अस्तित्व से मालूम होता है कि सबको विश्व भर की शान्ति रजनी में मैं ही धूम-केतु हूँ। यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता।[1]

इसी भाँति देव सेना भी अपनी हीनत्व कुण्ठा के कारण स्वकीय नारी जीवन को क्षुद्र बतलाती है।[2] उसमें दोहरा व्यक्तित्व भी हीन भाव से बना है। उसका इड् स्कन्दगुप्त को चाहता है लेकिन अहं दुत्कारता है, क्योंकि उसे काम का उन्नयन ही रुचिकर है।

देवसेना– हृदय की कोमल कल्पना सो जा। जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है।[3]

विजया भी इस हीनता की ग्रन्थि से कभी इतनी जाज्वल्यमान हो उठती है कि उसका सम्पर्क ज्वालामुखी बन जाता है। और वही तत्क्षण हिमानी का रूप क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया में धारण कर लेती है।[4]

इसके अतिरिक्त भटार्क में जर्मनी दार्शनिक शोपनहावर और फ्राइड की प्रत्येक कार्य के मूल में कामवासना की स्थापना मेल खाती दीखती है।

भटार्क— जो विलासी न होगा वह भी क्या और हो सकता है। जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी।[5]

प्रसाद की अनन्त देवी में फ्राइडियन मानसिक नियतिवादिता तो और भी उन्हें सफल मनोविश्लेषक सिद्ध करती है। वह नियति कठोर विनाश की मुस्कराहट, एवं व्यभिचार के संकेतवाली, आँधी सी प्रवहमान है।[6] चाहे शेक्सपीयर और प्रसाद इसे दैव की संज्ञा दें किन्तु इसका वास अज्ञात मन में छिपे मानसिक नियतिवाद से है। किं बहुना, स्कन्दगुप्त का दोहरा व्यक्तित्व तो मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरता है। उसकी चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में कोई कहता है कि तू खिलौना है। इसी द्वित्व के ताने बाने से उसका चरित्र निर्मित है।

१—स्कन्दगुप्त—प्रसाद पृ० सं० ८६
२— ,, ,, १३७
३— ,, ,, १५३
४—स्कन्दगुप्त—प्रसाद—पृ० सं० ११०
५— ,, ,, ,, ६४
६— ,, ,, ,, २६

चन्द्रगुप्त—(१६३१)—'चन्द्रगुप्त' में मनस्तत्ववेता चाणक्य की प्रतिभा का आलोक सर्वव्यापी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व चाणक्य से भिन्न प्रतीत नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त केवल चाणक्य के व्यक्तित्व का बहिर्मुखी अर्थात् क्रियान्वित रूप है। वैसे चाणक्य को सफल मनोविश्लेषण कहने में भी अतिशयोक्ति नही होगी। उसमें मनोग्रन्थियों के परिष्कार की पूर्णक्षमता है। पुनरपि उसे स्वयं मनोविकृतियों से छुटकारा नहीं मिल पाया। युगीय समष्टि अचेतन की भांति उसमें एक ओर काम प्रवृत्ति का प्रबल ज्वार है तो दूसरी ओर विनाश और निर्माण की विलक्षण शक्ति भी अन्तर्निहित है। फ्राइडियन अहं, मानसिक द्वन्द्ववश्यता, प्रतिशोध—ग्रन्थि और कामोन्नयन का सुन्दर समन्वय चाणक्य के अतिरिक्त प्रसाद के अन्य पात्रों में स्थान ही उपलब्ध हो।

नाटक में आद्योपान्त चाणक्य के व्यक्तित्व का बहिर्मुखी रूप चन्द्रगुप्त में इसलिए सिद्ध होता है कि बिना चाणक्य के आदेश के वह किंचित् अंश में भी क्रियाशील नहीं दीखता। नाटक के अन्तिम अंक में भी जब चन्द्रगुप्त अपने माँ बाप पर भी चाणक्य का अबाध नियन्त्रण पाता है तो उसका अहं कुछ भिन्नता लेकर प्रकट होता है। लेकिन कितने क्षण के लिए, उसे तत्क्षण अपनी भूल ज्ञात होती है। जिस प्रकार इड् में वास करने वाली दुर्दमनीय काम वासनायें और विनाश के प्रक्रम बिना अहं और नैतिकाहं के गतिशील नहीं होते उसी भाँति चन्द्रगुप्त का प्रत्येक कदम चाणक्य से प्रेरणा लेकर अग्रसर हुआ है। चन्द्रगुप्त के इड् ने प्रकृत-काम के वशीभूत होकर मालविका और कल्याणी से जब भी मिलने की इच्छा की तब ही चाणक्य उसका अहं और नैतिकाहं बनकर उन दोनों के बीच एक विराटाकार अवरोध शिला बन बैठा। मालविका के लिए उसके अज्ञात मन में प्रेम की मधुर धारा बहती रही जोकि चाणक्य के अहं द्वारा ही दमित थी। उसका अज्ञात मन कल्याणी के अतुल प्यार पर संवेदना प्रकट करते ही झकझोर दिया गया। जिस काम के उन्नयन की प्रक्रिया चन्द्रगुप्त में चाणक्य ने उत्प्रेरित की है, वही उसे स्वयं भी अपनानी पड़ी है। उस अतृप्त-दमित-कामेच्छा का स्पष्टीकरण उसके स्वागत भाषण में होता है:—

चाणक्य—मेरे सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी, सुन्दर मन मेरा साथी हो। और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ ? सुवासिनी न न न, वह कोई नहीं।[1]

यहां चाणक्य की अहं—निसर्ग—वृतियों का काम से कितना मर्मस्पर्शी मानसिक द्वन्द्व है जिसकी परिष्कृति भी साथ साथ है। उसका इड् जिस परम सुन्दरी सुवा-

---

१—चन्द्रगुप्त—प्रसाद—पृ० सं० १५८

सिनी का उपासक है, वह एक दिन अपना पूर्ण आत्म समर्पण चाणक्य के लिए कर बैठती है। किन्तु चाणक्य का आत्मसंयम उसे हाथ नहीं रखने देता—

चाणक्य—क्या उससे परिणय कर सकोगी।

सुवासिनी—(निश्वास लेकर) राक्षस से। नहीं असम्भव।

चाणक्य—(हंसकर) सुबासिनी वह स्वप्न टूट गया।

सुवासिनी—निष्ठुर (निर्दय।

चाणक्य—सुवासिनी। तुम्हारा प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस में अंकुरित हुआ और शैशव का वह सब केवल हृदय की स्निग्धता थी। आज किसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष में बदल रहा है, परन्तु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है।

और मैं, अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ। यही मेरे लिए अच्छा होगा। मानव हृदय में यह भाव सृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है, तब हम लोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों उसमें परवशता क्यों मानें। श्रेय के लिए मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए, सुवासिनी। जाओ।

काम का उदात्तीकरण राष्ट्र की सभ्यता संस्कृति और कला का उन्नायक होता है। उसी श्रेय के लिए चाणक्य का सुवासिनी से प्यार ऊर्ध्वगमन की ओर प्रवृति हो चुका है। यह काम की परिष्कृति उसमें जितनी दूसरों के लिए है उतनी ही अपने लिए भी है। सुवासिनी के अज्ञात मन में दबी घुटी राक्षस के प्रति काम शक्ति का मनोविश्लेषण करना चाणक्य जैसे मनो पारखी का ही काम है।[1]

चाणक्य में स्वयं प्रतिशोध ग्रन्थि और मानसिक द्वन्द्व-वश्यता की अवस्थिति है। प्रतिशोध के अन्तर्गत ही आन्तरिक द्वन्द्वकी सफल अवतारणा हुई है। उसमें दो स्थलों पर प्रतिशोध के विचार समुपस्थित हुए हैं। और पर्वतेश्वर इसके मूलाधार तत्व हैं। चाणक्य मे मगध के बन्दीगृह का अन्तर्द्वन्द्व प्रतिशोध ग्रन्थि का प्रकारान्तर है। उसके भयंकर द्वन्द्व को दाण्डयायन ने और भी सुविदित कर दिया है:—

दाण्डयायन—चाणक्य। सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है।[2] इसी आन्तरिक हलचल से आन्दोलित होकर कात्यायन चाणक्य की हंसी को क्रोध से भयंकर समझता है।

कात्यायन—तुम हंसो मत चाणक्य। तुम्हारा हंसना तुम्हारे क्रोध से भी

१—**चन्द्रगुप्त—प्रसाद**—पृ० सं० १९७, १९८

२—**चन्द्रगुप्त—प्रसाद**—पृ० सं० ९७

भयानक है।[1] इसी द्वन्द्व के कारण राक्षस उसके मुँह को देखने से भी घृणा करता है और कल्याणी उससे भयभीत है।

राक्षस—मैं इसका मुँह देखना नहीं चाहता।

कल्याणी—विचित्र ब्राह्मण है अमात्य। मुझे तो इसको देखकर डर लगता है।[2]

यही अन्तःसंघर्ष चन्द्रगुप्त और मौर्य में है।

चन्द्रगुप्त मालविका से कहता है—

चन्द्रगुप्त—संघर्ष। युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध भावों का अभाव से द्वन्द्व। कोई कमी नहीं।[3] यही प्रतिशोध का द्वन्द्व मौर्य मे है।

मौर्य—रक्त और प्रतिशोध, क्रूरता और मृत्यु का खेल देखते ही जीवन बीता। यह ब्राह्मण आँख मूँदने खोलने का अभिनय भले ही करे, पर मै ? असम्भव है। अरे, जैसे मेरा रक्त खोलने लगा। हृदय मे एक भयानक चेतना, एक अवज्ञा का अट्टहास, प्रति हिंसा जैसे नाचने लगी। नहीं-नहीं, ब्रह्म हत्या होगी, हो मेरा प्रतिशोध·······।[4] इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त मे हैमलेट का सा स्नायु व्यतिक्रम है। कल्याणी में स्व-आक्रमण-प्रेरणावेग, मालविका मे तादात्म्यीकरण, अलका और सिंहरण में काम प्रवृत्ति का संयमित प्रवाह एवं राष्ट्रग्रन्थि और दाण्डयायन में गेस्टाल्ट-वादी मनोविज्ञान की एक हल्की झलक है।

ध्रुवस्वामिनी (१९३३)—प्रसाद जी ने अपनी इस अन्तिम नाट्य कृति में निजी शैली को त्याग कर नवीन शैली अपनाई है। इसमें वे युग की वास्तविक समस्याओं की यथार्थवादिता से निरपेक्ष नही हुए है।[5] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में पाश्चात्य देशों की यथार्थवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर प्रसाद ने इसमें प्रधानतः नारी समस्या का समावेश किया है।[6] पाश्चात्य नाटकों की भाँति चरित्र-गत शील वैचित्र्य, आन्तरिक संघर्ष, मानसिक नियतिवाद, स्व-आक्रमण प्रेरणा वेग, हेत्वारोपण, परस्पर विरोधी भावों के घात-प्रतिघात नाटक में पूर्णतया उपलब्ध हैं।

१— ,, ,, १९१
२— ,, ,, १३४, १३५
३— ,, ,, १८४
४—**चन्द्रगुप्त—प्रसाद—पृ० सं० २८१**
५—**हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा—पृ सं० ३९५**
६—**प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ० सं० २१५**

नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक है, लेकिन उसकी अन्त: प्रेरणा फ्राइडियन काम प्रवृत्ति (सैक्स) से आद्योपांत सन्नद्ध है। फ्राइड के मनोविश्लेषण का उद्गम मानसिक नियतिवाद है। ध्रुवस्वामिनी में भी यही मानसिक नियतिवाद अज्ञातमन में प्रविष्ट होकर रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी को उत्तेजित कर रहा है। चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी जब उसके बड़े भाई रामगुप्त के साथ मनचाहे ही विवाह सूत्र में बांध दी जाती है। तब उसकी अतृप्तदमित कामेच्छायें अव्यक्त मन मे पहुँच जाती है। वह राम गुप्त सम्राट को चहाते हुए भी नहीं चाहती। इस मानसिक प्रक्रम का रामगुप्त पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उसमे रति-शक्ति—हीनता के लक्षण अंकुर हो उठते है। उसमें आत्म—भर्त्सना के कारण हीनता का सन्निवेश हो जाता है। नाटककार ने हीनत्व कुण्ठा की इस भंकार को रामगुप्त के आंतरिक द्वंद्व में अभिहित किया है—

रामगुप्त—(हृदय पर हाथ रखकर) युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है। जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझ से स्नेह नही करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज।[1] यह द्वंद्व ध्रुवस्वामिनी के नियतिवाद का ही परिणाम है। और यहीं से रामगुप्त में भी एक नि:ति किन्तु दृढ़ धारणा स्थानापन्न हो जाती है। यद्यपि रामगुप्त में भी यह मानसिक नियतिवाद तभी से विद्यमान था जब से ध्रुवस्वामिनी को उसकी पत्नी बनने की बातें चली। सर्व प्रथम ध्रुवस्वामिनी का विवाह संबंध शकराज से स्थिर हुआ था। अतः रामगुप्त की अंतश्चेतना ने उसे दूसरे को नियत किया। उसी नियति के सहारे रामगुप्त ने अपने अज्ञात मन की गुह्यैषणा को हेत्वारोपण द्वारा अभिव्यक्त किया है।

रामगुप्त—महादेवी के पिता ने पहले शकराज से इनका सम्बन्ध स्थिर कर लिया था।

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं राजाधिराज रामगुप्त की महादेवी नहीं हूँ।

रामगुप्त—क्यों नहीं ? परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था। पुरोहित ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा।[2]

ये दोनों हेतु, मानसिक नियतिवाद की ही प्रवचना मात्र हैं, क्योंकि रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को नहीं चाहता और न ध्रुवस्वामिनी ही उसे चाहती है। फिर भी वे एक दूसरे से बंधे हुए हैं। यही आज की सैक्स समस्या है। रामगुप्त चाहता है कि ध्रुवस्वामिनी यदि उसकी नही तो चन्द्रगुप्त की भी नहीं रह सकती। इसी कारण वह उसे शकराज को समर्पित करना चाहता है। यह उसकी प्रतिशोध ग्रन्थि का अंतः

१—ध्रुवस्वामिनी—प्रसाद—पृ० सं० १६

२— „ „ २३—२४

प्रयाण है। किन्तु ध्रुवस्वामिनी स्वाक्रमण-प्रेरणा वेग से प्रेरित होकर इसके प्रतिकूल आत्म हत्या के लिए तत्पर हो जाती है, क्योंकि सम्राट् रामगुप्त अपने आहत तृतीय पक्ष के अनुसार प्रतिगमन की ओर मुड़ चुका है। ध्रुवस्वामिनी आज कल की पाश्चात्य नारी की भाँति प्रकृत काम के वशीभूत होकर रामगुप्त की सहधर्मिणी बनने से निषेध कर देती है। समाज के वैवाहिक बन्धनों की अवहेलना भी उसकी आज की नारी समस्या से आपूरित है। वह रामगुप्त के समक्ष मनुष्य की इन बंधनमय उपाधियो को लौटाने के पक्ष में है। अंत में रामगुप्त को तिलांजलि देकर चन्द्रगुप्त से आत्मसात् करके फ्राइडियन काम-प्रवृत्ति की मनोवृत्ति उसमें मनचाहे मार्ग का अनुसरण कराती है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के पिछले नाटकों में मानसिक और चारित्रिक संघर्ष इस रूप में आये हैं कि शारीरिक संघर्ष की आवश्यकता नहीं रही है।[1]

प्रसाद के समकालीन नाटकों में मनोविज्ञान की अवतारणा—प्रसादकालीन पौराणिक आख्यान धारा में मानवीय मनोविज्ञान की जिन नाटकों में स्वभावतः अवतारणा हुई है वे सुदर्शन कृत 'अंजना' (१९२२) और गोन्विद वल्लभ पन्त कृत वरमाला (१९२५) नाटक हैं।

इस काल की समस्या नाटक धारा की प्रमुख रचनायें गोपाल दामोदर तामस्कर कृत राधा-माधव (१९२२) जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत मधुर मिलन (१९२३) छविनाथ कविराज कृत पश्चिम प्रभाव (१९२०) लक्ष्मी नारायण मिश्र के सन्यासी १९३१) राक्षस का मन्दिर (१९३१) और मुक्ति का रहस्य (१९३२), प्रेमचन्द का प्रेम की वेदी (१९२६) है। ये प्रसादयुगीन समस्या नाटकों में प्रमुख हैं।

डा० सोमनाथ गुप्त ने भी प्रसाद कालीन समस्या नाटक धारा के नाटकों में उक्त समस्या नाटकों को ही प्रमुख माना है।[2] इन नाटकों में क्रमशः तादात्म्यीकरण, काम प्रवृत्ति, सामाजिक अहंवादिता, हीनत्व कुण्ठा, स्वच्छन्द प्रवृत्ति, आहत-तृतीय पक्ष, स्थिरता एवं प्रतिगमन, कामन्नोयन तथा प्रत्यावर्त्तन और सैक्स सम्बन्धी मानसिक उपपत्तियों की अवतारणा हुई है।

सुदर्शन कृत 'अंजना' में मानसिक नियतिवाद की प्रतिच्छाया है। अंजना और पवन का विवाह निश्चित होता है किंतु मानसिक नियतिवाद के वशीभूत होकर पवन अंजना को देखने के लिए विवाह से पूर्व पहुंचता है। फ्राइडियन नियतिवाद की

१—हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार (प्रसाद के नाटक) आचार्य नन्द दुलारे-वाजपेयी पृ० १६८

२—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा०सोमनाथ गुप्त—पृ०२१५

मनोग्रन्थि की भाँति उसमें भी ग्रन्थि बन जाती है और बारह वर्ष तक उसकी सुध नहीं लेता । परस्पर विरोधी भाव-प्रवणता के कारण पवन मे पुन: अंजना के प्रति आसक्ति होती है और वह अपने सखा प्रहसित के कहने पर, उसके हेत्वारोपण का सहारा लेकर अंजना से संगम करता है ।

गोविंद बल्लभ पन्त जी के वरमाला (१९२५) भाव नाट्य में अवीक्षित और वैशालिनी दोनों प्रेम और घृणा, आकर्षण और विकर्षण से सम्पन्न हैं । चेतन और अचेतन मन का द्वन्द्व प्राय. कभी प्रेम को घृणा और घृणा को प्रेम में परिवर्तित कर डालता है । यही इस भाव नाट्य की विषय वस्तु है ।

जब अवीक्षित वैशालिनी से प्रेम याचना करता है तो उसका स्त्री मन इस प्रकार के अयाचित प्रणय की भारी भर्त्सना करता है, और वैशालिनी का अहं अवीक्षित के इस निरीह समर्पण के प्रति सहसा उदासीन बन जाता है । तदुपरांत अवीक्षित का इड् विभिन्न प्रलोभन और भुजबल से जब वैशालिनी को अपना बनाने पर तुल जाता है तो वह उससे घोर घृणा कर बैठती है । फलत: वह स्वआक्रमण प्रेरणावेग से प्रेरित होकर आत्महत्या करने के लिए तत्पर हो जाती है ।

मानसिक घटना के अनुकूल जब अवीक्षित को वैशालिनी की दया पर निर्भर रहना होता है और वह करुणा एवं दीनता से नारी मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो अकस्मात् उसके मन में भारी आत्म भर्त्सना होती है । वह हीनत्व कुण्ठा से खिन्न चित्त हो उठता है, क्योंकि यह प्रेम स्वाभाविक नहीं प्रत्युत वह एक दया का प्रतिरूप मात्र था । अतः प्रेम की मन मांगी सीमा का स्पर्श करते ही अवीक्षित को उसके हीन भाव विचलित कर डालते है । किंतु अवीक्षित द्वारा जब राक्षस से वैशालिनी की सुरक्षा होती है, तब उसका पुरुषार्थी अहं अपने अस्तित्व को समझता है । स्त्री मन उसकी साहसिकता पर आसक्त होता है और पुरुष का पौरुष नारी के मन और शरीर पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करता है । इस प्रकार पंत जी के इस भाव नाट्य में स्त्री पुरुष अहं के और इड् का अंतः संघर्ष अति सुन्दर बन पड़ा है ।

प्रसाद कालीन पौराणिक आख्यान धारा के अतिरिक्त समस्या नाटकों की रचनाओं में यों तो मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ किसी न किसी अंश में सभी में विद्यमान हैं किंतु मिश्र जी के संन्यासी, राक्षस का मंदिर और 'मुक्ति का रहस्य' एवं प्रेमचंद के 'प्रेम की वेदी' नाटक में मनस्तत्व की अच्छी अवतारणा पायी जाती है । अत: इन्हीं नाटकों का मनोविश्लेषण यहां प्रस्तुत है ।

प्रसाद कालीन मिश्र जी के नाटकों में मनोवैज्ञानिक पद्धति

राक्षस का मन्दिर (१९३१)—इस नाटक में इड् का प्राधान्य है । इसमें

मुनीश्वर का इड् ही राक्षस है, जिससे रामलाल, अश्करी और रघुनाथ पूर्णतया पराभूत है। रामलाल और अश्करी का इड् मुनीश्वर इड् को केन्द्र बिंदु मानकर परिक्रमा कर रहा है। इड् के आधिपत्य से इन पात्रों का आंतरिक द्वन्द्व सीमा को छू चुका है। मुनीश्वर के अंदर विवेक और प्रवृति की जो मानसिक द्वन्द्व-वश्यता है वह आज के शिक्षित समुदाय की सबसे बड़ी समस्या है। मुनीश्वर एक ओर तो उग्र विचारों का समर्थक है, दूसरी ओर सीमा से अधिक काम पीड़ित। उसके चरित्र पर इब्सन के समाज के स्तम्भ के कान्सल वनिक की छाया है। रामलाल पक्का शराबी है, पर अपनी समस्त सम्पत्ति वैश्या सुधार में दे डालता है। अश्करी वैश्या होते हुए भी अंत मे मातृ-मंदिर के संचालन के लिए अपनी सारी सम्पत्ति दान कर देती है। प्रायः प्रत्येक चरित्र द्वन्द्व से भरा है, समाज सेवकों की मक्कारी का चित्रण इब्सन के पिलर्स आफ सोसाइटी के आधार पर है।[1] मनोविज्ञान की दृष्टि से नाटक के सभी पात्रो की मनोवृति परस्पर विरोधी भाव प्रवणता से सम्पन्न है। रामलाल मे इडिपस काम्पलैक्स के बावजूद ही अश्करी वैश्या से सम्पर्क स्थापित हुआ है। इसी मातृ-प्रणय ग्रन्थि की अनुप्रेरणा से उसमें प्रतिगमन मनोवृत्ति की विवशता है। अश्करी से उसका प्रेम है पर उसमें निषिद्ध प्रेम की इच्छा की प्रतिक्रिया है। अश्करी उसके पास पाँच वर्ष रही है लेकिन सिवाय शराब की बोतल और गिलास भरकर उसे पिलाने तथा रामलाल का उसकी ओर टकटकी लगाकर देखने के अतिरिक्त अश्करी का कोई उपयोग नहीं। इसी कारण वह रघुनाथ और मुनिश्वर को प्यार करने लगी थी।

वह अपने काम की उन्मुक्तता रघुनाथ के समक्ष मनोवैज्ञानिक ढंग पर रखती हुई कहती है—

अश्करी—आधी रात को जागकर तुम इस तरह कलेजा निकाल कर कागज पर रखते हो। चलो मैं तुम्हारी तबियत ठीक कर दूँगी। (मुस्करा कर) उसकी दवा मेरे पास है।[2]

इस संवाद में रघुनाथ के सैक्स का भाव-रेचन और अश्करी के प्रकृत काम का प्रवाह मिश्र जी ने दिखाया है, क्योंकि अश्करी का इड् केवल ऐश्वर्य की चकाचौंध एवं सुस्वादु भोजन से ही सन्तुष्ट थोड़े ही रह सकता था उसे अपनी फ्राइडियन मूल प्रवृति काम की भी तो कुछ परवशतायें परेशान कर रही थीं। जब रघुनाथ उसे झाड़ लगा देता है तो यही चाल वह मुनीश्वर के साथ चलती है। मुनीश्वर तो

१—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्री पति—पृ० सं० १९३
२—राक्षस का मंदिर—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० १२—१३

इस इड् के कारनामे से स्वयं प्रभावित थे ही उन्हे मन मांगी मुराद मिल जाती है और साथ ही साथ अश्करी की समस्त सम्पति भी, जो मातृ मंदिर के ढोंग द्वार अपहृत की जाती है। मुनीश्वर के अहं पर उसके इड् का इतना निरंकुश शासन है कि वह अंतः बहि दोनों प्रकार से राक्षस बन चुका है, जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है। अश्करी उससे तादात्म्य कर पागल बन चुकी है।

अश्करी—हम लोग पागल हो गये हैं।

मुनीश्वर—नहीं होश में है।

मुनीश्वर—मै राक्षस हूँ।

अश्करी—देवता कौन है।

मुनीश्वर—राम लाल जी। तुम्हें अपना सब कुछ देते है—लेते कुछ नहीं।

अश्करी—मेरी तबियत........अब मुझे यहां से कहीं ले चलो।

मुनीश्वर—कहां।

अश्करी—जहाँ जी चाहे।

मुनीश्वर—अभी मेरे लिए कोई जगह नहीं। राक्षस का कोई मंदिर नहीं होता। वह जब चाहता है........देवता के मंदिर में आ जाता है। इसलिए कि देवता निर्बल होता है। किसी को रो. नहीं पाता।[1]

यह उसके इड् की अहं पर विजय का ज्वलन्त उदाहरण है। मुनीश्वर में जीवन मरण प्रवृत्तियां अपराध—ग्रन्थि से अंकुरित हुई नजर आती हैं। वह अपने पिता बनर्जी को पिस्तौल का निशाना इसलिए बनाना चाहता है कि उसके मरने की प्रवृत्ति मारने के रूप में परिवर्तित हो गई है। रघुनाथ के कथनानुसार राम लाल की हत्या भी उसने जहर देकर इसी प्रवृत्ति वश की हैं। वह अश्करी से प्रेम करता है पर उसे भी मारने को उद्यत है। उसने रघुनाथ की पैतृक थाती को हस्तान्तरित करके उसे मृत्यु के नजदीक पहुँचा दिया है, और ललिता की अधिकांश सम्पत्ति भी उसने मातृ-मन्दिर के बहाने हड़प ली है। इस प्रकार उसकी जीवन-मरण प्रवृत्ति प्रत्येक पात्र को पीड़ा दे रही है। किसी के जीवन की समाप्ति से उसे सन्तुष्टि मिली है तो किसी के धन को अपने काबू में करने से वह सन्तुष्ट हो पाया है। यह उसके इड् का बड़ा ही भयावह ताण्डव-नृत्य है। पूरा नाटक मुनीश्वर के इड् की आत्म कहानी है।

रघुनाथ प्रतिशोध-ग्रन्थि से ग्रसित है। वह मुनीश्वर से प्रतिशोध लेना चाहता है। ललिता मे काम-प्रवृत्ति का प्रवाह है। अश्करी में काम का संयमित ज्वार है, क्योंकि वह वैश्या है, अतः उसमें आत्महीनता ग्रन्थि होना अत्यन्त स्वभाविक है। पर स्त्रियों में हीन भाव उच्च कोटि का जितना पाया जाता है उतना ही क्षतिपूर्ति-

---

१—राक्षस का मंदिर—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ३६, ३७

प्रतिक्रिया उनमें बलवती होती है। अश्करी में यही क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया सबल है। वह रामलाल की होकर रही। मुनीश्वर ने उसे अपने हाथ की कठपुतली बनाया। किन्तु जिस मुनीश्वर के इड् के सामने सभी ने घुटने टेक कर आत्म-समर्पण कर दिया अस्करी की क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया ने उसे पराजित कर डाला। उसने मुनीश्वर को मातृ-मन्दिर से भगा कर दम लिया और उस आश्रम की स्वयं एक मात्र अधिष्ठात्री बनकर रही। ललिता और अश्करी दोनों स्त्री पात्रों में आत्म-संयम अपनी पराकाष्टा पर पहुँच चुका है।

सन्यासी (१६३६)—'सन्यासी' नाटक की कथावस्तु काम-प्रवृत्ति पर आधृत है। सम्पूर्ण विषय-वस्तु में मनुष्य का यौन-जीवन हिलोरें ले रहा है। यौन-संगठन, यौन विकृतियां, यौन-वर्जना, यौन-स्फीति और यौन विच्युति की विभिन्न मानसिक अवस्थितियों का पर्यालोचन मिश्र जी द्वारा इसमें हुआ है। प्राकृतिक नदी की भाँति स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाली दो उन्मुक्त धारा नाटक में प्रकृत काम के वशीभूत होकर इठलाती, इतराती मालती और किरणमयी बनकर सामने आई है। इसी मनोवृत्ति के चपेट में कुछ मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ स्वतः ही आ गयीं हैं, जिनमें प्रतिगमन, हेत्वारोपण और प्रतिशोध-ग्रन्थि बिल्कुल स्पष्ट हैं।

दीनानाथ प्रोफेसर किरणमयी से प्रेम ही नहीं बल्कि विवाह भी कर चुका है, पर किरणमयी का मन उससे कोसों दूर है। रमाशंकर प्रोफेसर का मन मालती के चक्कर काट रहा हैं। लेकिन मालती का प्यार विश्वकान्त के अतिरिक्त और किसी को नहीं चाहता। जिस प्रकार किरणमयी पहले से ही मुरलीधर सम्पादक पर आसक्त थी और उसकी शादी हुई दीनानाथ से, इसी भाँति मालती चाहती विश्वकान्त को है पर रमाशंकर के साथ उसका वैवाहिक गठ-बन्धन होता है। और 'मोती' उमानाथ की अवैध सन्तान है ही। यह सब यौन वर्जना के परिणाम हैं।

मालती ने समझ सोचकर रमाशंकर से विवाह किया। अतः हम उसमें सुसंगठित यौन-जीवन पाते है। दीना नाथ का पुनः पुनः किरणमयी के साथ प्राक्क्रीड़ा करना यौन स्फीति का द्योतक है, जिसको किरण नफरत की दृष्टि से देखती है। किरणमयी द्वारा दीनानाथ का परित्याग यौन-विकृति से सम्बन्धित है। यौन-विच्युति का प्रतीक मोती स्वयं है ही। नाटक में फ्राइडियन उपपत्ति का एक महत्वपूर्ण अंश दृष्टिगोचर होता है। तत्सम्बन्धी स्थापना को हम निम्न प्रकार से कह सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक स्थापना 'आहत-तृतीय पक्ष' की मनोवृत्ति द्वारा सिगमण्ड फ्राइड ने प्रणयी के निर्वाचन में एक विशेष प्रकार की विलक्षणता दिखलाई है। विश्वकान्त और मुरलीधर में यह मानसिक विलक्षणता स्थित है। उसे सूत्र के रूप में प्रतिगमन की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु फ्राइड ने इस उपपत्ति को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

"कुछ व्यक्ति कुमारी या सर्वगुणा सम्पन्ना, सच्चरित्रा पत्नी से आकर्षित या प्रसन्न नहीं होते बल्कि वे ऐसी स्त्री को निर्वाचित करते है जो सदैव से पर पुरुष-गामिनी एवं पुंश्चली है अथवा जो दूसरों के अधिकार मे है और जिन्हें, जिनके प्रेमाधिकारी होने में कुछ उसी तरह की सुख अनुभूति हो जो अपने शत्रु को पराजित करने में अथवा उसकी सम्पत्ति को अपहृत करने में होती है। ऐसी ही कुछ स्त्रियाँ भी होती हैं जो पर पुरुष पर आसक्त या विवाहित पुरुष अथवा दूसरी औरतों से प्रेम करने वाला पुरुष होता है, उस पर द्रवित होती पाई जाती है। कुछ ऐसे प्रेमी जीव पाये जाते है जिनकी दृष्टि में स्त्री की शीलता, सलज्जता, सच्चरित्रता, पातिव्रतता, साधुता, यौनिक वफादारी अर्थात् स्त्री जाति के समस्त आदर्श चिह्न उनकी दृष्टि में हेय होते हैं। ये गुण स्त्रियों को ऐसे प्रेमी मनुष्य के लिए सर्वथा आकर्षण हीन एवं उपेक्षणीय बना डालते है। उनमें चारित्रिक लांछन या यौनिक जीवन में असंयम एवं अमर्यादा की गन्ध जब तक नहीं आवेगी तब तक वह उसकी प्रेम पात्री नहीं हो सकती।"[1]

इस तरह अनुपभोग्या, त्याज्या, उपेक्षणीयाँ नारियों के प्रति आकर्षित होने वाले पुरुष फ्राइड के प्रतिगमन की अवस्था में आते हैं। फ्राइड ने इसे ही प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिए एक आहत-तृतीय-पक्ष की आवश्यकता (नीड फार इन्जर्ड थर्ड पार्टी) के नाम से पुकारा है।

अपनी प्रेमिकाओ के निर्वाचन में आसाधारण मार्ग का अवलम्बन मानव की शिशुकालीन अवस्था से चिपके प्रतिगमन वाली मानसिक स्थिति का परिचायक है। वह बाल्यकाल में एक विशेष ढंग से अपनी कामना की तृप्ति लाभ करता था। आज भी वह बालक ही है। उसका मनोविज्ञान एक अंश मे बालक का ही है। भले ही उसे प्रौढ़ बालक कह लीजिए पर मनसा वह बालक ही है। काम तृप्ति का बाल्यकालीन रूप क्या था। वह माँ को प्यार करता था। उस माँ को जो उसके पिता के प्रेम की अधिकारिणी थी। वह पिता को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखता था। पिता उसका शत्रु था। माता को प्यार कर वह अपने शत्रु पिता से प्रतिशोध लेता था। उस समय उसके और उसकी मां के बीच पिता बाधक था। आज भी वह प्रत्येक नारी में अपनी मां का प्रतिनिधित्व देखता है, प्रत्येक नारी उसके लिए (मदर सरोगेट) है, और इस मानसिक चक्र को पूरा करने के लिए उसके और प्रेमिका नारी के बीच में एक तीसरा व्यक्ति होना भी चाहिए। तभी उसकी प्रेम भावना उद्बुद्ध हो सकती है।

फ्राइड के शब्दों में माता-पिता के अधिकार में परिवार के अन्तर्गत परिवर्द्धित होने वाले व्यक्ति के अन्दर यह बात इस तरह जम जाती है कि माता के इस पितृ

१—कलेक्टेड पेपर्स—फ्राइड—चतुर्थ वोल्यूम पृ० १९६—१९९

अधिकृत रूप से अलग कर देखना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। यह भी स्पष्ट है कि आहत तृतीय पक्ष पिता के सिवाय दूसरा नही। "इन क फैमिली सर्किल आल" "सो देट दी" इन्जर्ड थर्ड पार्टी इज नन अदर देन दी फादर हिमसेल्फ"

प्रेमानुभूति की यह शर्त कुछ व्यक्तियों में कभी-कभी इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि सम्पर्क में रहने वाली नारी को तब तक कटु तिरस्कार का भाजन होना पड़ता है जब तक वह किसी न किसी रूप में ही सही किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में नहीं हो जाती। पर ज्यों ही वह किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्धित हो जाती है कि सारा वातावरण ही बदल जाता है उसमें प्रेम के आलम्बनगत धर्म की स्थापना हो जाती है।

"संन्यासी" के विश्वकान्त में फ्राइड की यही मान्यता मिश्र जी ने बिल्कुल सारी उतारी है। विश्वाकान्त और मालती का प्रेम अविच्छिन्न है। परन्तु जितना मालती उसे चाहती है, उतना ही विश्वकान्त का अज्ञात-मन उससे काटता है। इसलिए नहीं कि उसका उससे प्यार ही नहीं प्रत्युत उसके आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता अज्ञात मन में प्रबल हुई बैठी है। वह चाहता है कि मालती का कोई अन्य व्यक्ति प्रेमाधिकारी अवश्य हो। तभी वह प्रो० रमाशंकर का प्रेम मालती के प्रति सुनकर सहम जाता है:—

विश्वकान्त— क्या कहा?

मालती—नहीं समझे ? वे मुझे प्रेम·······

विश्वकान्त क्या कहती हो ?

मालती—जो कहती हूँ मानो। वे मुझे तुम्हारे साथ देखकर जल उठे।

विश्वकान्त—चलो जाने दो।[1]

विश्वकान्त के इस 'चलो जाने दो' में अव्यक्त मन की गुह्य अभिव्यक्ति सन्निहित है। यह चाहना तो उसकी मनोवृत्ति के सन्निकट है। यद्यपि मालती रमाशंकर से घोर घृणा करती है, पर विश्वकान्त इसके बिल्कुल विपरीत है। उसका समझना मुरलीधर को भी कठिन हो रहा है। वह भी उसमें प्रतिगमन की ग्रन्थि को बतलाता है—

मुरलीधर—मैं अभी तक उसे समझ नहीं पाया। कभी-कभी तो वह अनुभव-हीन बालक है। जब कविता लिखता है तो जैसे प्रेम और विरह की उसकी अनुभुति जाग पड़ती है।[2] उसके इस दोहरे व्यक्तित्व को देखकर मालती अत्यंत व्यग्र है वह सच्चे दिल से उसे प्यार करती है पर वह उसे चाहता हुआ भी नहीं चाहता वह स्वयं अनुभव करता है कि उसके मन की बात वह नहीं समझ सकती, क्योंकि मालती अपने

१—**संन्यासी— लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० २४, २५**

२— ,, ,, ५७

प्रेम को केवल विश्वकांत से सम्बन्धित मानती है। जबकि वह स्वयं उसका प्रेमाधिकारी किसी अन्य को चाहता है।

मालती—तुम्हारे मन की बात मैं कैसे जानूँगी।

विश्व—सचमुच। मेरे हृदय की बात तुम नहीं………।[1]

ज्यों-ज्यों रमाशंकर मालती का सान्निध्य प्राप्त करता जाता है, कांत को कुछ-कुछ संतोष की सांस आती है। उससे जितना बनता है मालती को रमाशंकर से मिलने के लिए प्रोत्साहित करता है—

रमाशंकर—मेरी बात पर सहानुभूति के साथ विचार करो। (मालती का हाथ पकड़ कर) इधर देखो।

मालती—(हाथ छुड़ाकर) उंह, छोड़िये।

रमाशंकर—अब बहुत हुआ ………… कितने दिनों तक यह प्यास—(मालती को अपनी ओर खींचना चाहता है। मालती झिझक कर पीछे हटती है। उसका अंचल खिसक कर नीचे गिर पड़ता है। विश्वकान्त अकस्मात् आता है और उसका जूता मालती के गिरे हुए अंचल पर पड़ जाता है। विश्वकान्त पीछे हटकर उसका अंचल उठाकर, उसके सिर पर डाल देता है)।

विश्वकान्त—(मालती के आंखों पर रूमाल रखते हुए) रोती ….हो (रमाशंकर की ओर देखकर) छीः………… ।[2]

कोई भी प्रेमी अपनी प्रेमिका को दूसरे के लिए समर्पित नहीं करता। पर वह क्या करे, उसके अज्ञात मन की बात का विरोध भी दुःसाध्य है। ऐसी स्थिति में भी उसे अपनी प्रेमिका को सान्त्वना देने में एक विलक्षण सुखानुभूति होती है, जब मालती विश्वकान्त की अपेक्षा रमाशंकर की ओर नहीं झुकती तब वह इन दोनों के मार्ग से बिल्कुल हट जाना चाहता है। मालती उसे दूर नहीं हटने देना चाहती :—

मालती—देखो सोती, जाने न पावे, किसी तरह यहाँ तक लिवा लाओ। अब संकोच ……

(विश्वकान्त जाना चाहता है। मालती उसका हाथ पकड़ती है)

मालती—कहाँ चले। कायर। तुम मुझे चाहते हो, मैं तुम्हें चाहती हूँ।

विश्वकान्त—नहीं, मैं तुम्हें नहीं चाहता।[3] इस नहीं चाहने में वही प्रतिगमन छिपा है।

१— ,, ,, ६९

२—**संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ७८**

३—**संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ८५, ८६**

फ्राइडियन उपपत्ति के अनुसार विश्वकान्त में यहाँ प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिए एक आहत तृतीय पक्ष रमाशंकर काँटे की तरह अज्ञात मन में कसक रहा है। प्रतिगमन मनोग्रन्थि के कारण न उसे निकालते बनता है प्रत्युत विश्वकान्त मातृ-प्रणय-ग्रन्थि का निषिद्ध प्रेम सा उसे भीतर ही भीतर संजोये हुए है। फलतः जब तक मालती रमाशंकर से विवाह नहीं करती तब तक विश्वकान्त उसे उत्तेजित ही करता रहा है। विवाह करने तक की स्वीकृति वह मालती को दे देता है। किन्तु विवाहोपरान्त उसका आत्म-संयम एक साथ शिथिल पड़ जाता है। काम के उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) द्वारा जो प्रतिष्ठा एव कीर्ति उसे उपलब्ध हुई है अब मालती के समक्ष उसका कोई मूलल नहीं। वह संघ के मन्त्री पद से त्याग-पत्र देने को उद्यत है। उसके अज्ञात-मन में स्थानापन्न अतृप्त-दमित-कामेच्छाओं का भयंकर विप्लव सहसा उठ खड़ा होता है। मालती के प्रेमाधिकारी की होड़ में उसका दोहरा व्यक्तित्व समस्त वातावरण को युगत् ही परिवर्तित कर डालता है। वह उन्मत्त-सा मालती के सामने जा खड़ा होता है।

विश्वकान्त— तुमने यह क्या? तुम्हारे सिर का सिन्दूर, मेरी हृदय का लाल रक्त .... (मालती का वहीं बैठकर घुटनों पर सिर रख देना। रमाशंकर और मोती का प्रवेश। रमाशंकर का मालती के सिर पर हाथ रखना। मालती का चौंककर ऊपर देखना।)

मालती— तुम.......... तुम जाओ यहाँ से।

रमाशंकर—क्यों?

मालती—मेरी इच्छा.......जाओ यहाँ से मेरे पैरों के नीचे की पृथ्वी खिसक रही है, मुझ पर और बोझ न डालो, जाओ।[1]

(रमाशंकर का प्रस्थान) मिश्र जी ने फ्राइड के आहत तृतीय पक्ष का यहाँ मनमोहक चित्र खींचा है। विश्वकांत अपने प्रतिद्वन्द्वी को क्षणिक में नीचा दिखा देता है।

मिश्र जी ने प्रतिगमन में इडिपस ग्रन्थि के समकक्ष एलेक्ट्रा ग्रन्थि की ओर भी दृष्टिपात किया है। दीनानाथ के साथ किरणमयी का विवाह अवश्य हो गया है, पर किरण दीनानाथ में पति के बजाय पिता के दर्शन करती है।

किरणमयी—मैं जब तुम्हें देखती हूँ.......

दीनानाथ—तब क्या होता है?

किरणमयी—मुझे अपने पिता की याद पड़ती है।

१—संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० १७७ और १८२

दीनानाथ—तुम्हारे पिता की याद से और मुझ से क्या सम्बन्ध ?

किरणमयी—वे भी तुम्हारी ही तरह के थे। उनके भी तीन चौथाई बाल सफेद हो चुके थे।

दीनानाथ – हाँ तब।

किरणमयी—कोई समय नियत कर लो। मैं अपने शरीर को लेकर तुम्हारी सेवा में ....जो इच्छा हो।[1]

किरण दीनानाथ में पिता का स्थानान्तरण पाती है। तभी दीनानाथ के साथ यौन स्फीति में उसे तनिक भी आनन्द नहीं मिलता। जबकि दीनानाथ प्राक्क्रीड़ा के लिए उत्सुक होता है तभी उसे फटकार खानी पड़ती है। कभी अपने शरीर को पत्थर जैसा मजबूत नहीं बतलाती और कभी कमजोरी के कारण पैर लड़खड़ाने की दुहाई देती है। लेकिन इतने पर भी जब दीनानाथ कहता कि विवाह ही इस निमित्त किया था तो उसका समर्पण इन शब्दों में होता है। इस काम के लिए यदि वह नहीं मानता तो कोई समय नियत कर लें ताकि वह अपना शरीर लेकरउनके सेवा में उपस्थित हो जाया करे। वाक्य में कितनी परवशता है। उसका शरीर उसके लिए सेवा में तैयार है पर मन की मन जाने। वह शरीर से जो चाहे काम ले सकता है, जैसी उसकी इच्छा हो किन्तु मन किसी भी शर्त पर यह सब कुछ नहीं कर सकेगा।

चाहे विश्वकांत के साथ मालती का विवाह नहीं हुआ पर रमाशंकर की अपेक्षा वह उसको ही सच्चा प्यार करती है। विश्वकांत भी इस आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता के बावजूद हृदय से चाहने वाली इस नारी के प्रेम को निष्ठुरता से ठुकराता रहा है। इसमें उस बेचारे का क्या दोष, यह सब तो उसे प्रतिगमन में बंधकर परवश करना पड़ा है। तभी तो उस बन्धन से तनिक ढीला होते ही वह मालती के प्रेम को अंगीकार करता है। लेकिन नैतिकाहं से प्रेरित मालती अब उसे दूल्हा बनाने को तत्पर नहीं बल्कि उसकी आत्मा उसी से तादात्म्य किये हुए है:—

मालती—हाँ अब तुम मेरे देवता बन सकते हो.......इस रूप में। मेरे शरीर की मुक्ति तो तुमसे मिल गयी, लेकिन मेरी आत्मा ? कौन जाने..........?[2] (झुककर विश्वकान्त के पैर की धूल सिर पर लगाती है।)

यह विश्वकांत के लिये मालती का पूर्ण समर्पण है। रमाशंकर ("इन ए फैमिली सर्किल आलसो देट दी 'इजर्न्ड थर्ड पार्टी' इज नन अदर देन दी फादर हिमसैल्फ")

१— ,, ,, ५५

२—संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० १८३

फ्राइड की इस उपपत्ति में फिट बैठता है। वह पिता जैसा आहत तृतीय पक्ष है। यहाँ विश्वकान्त के अन्दर मातृ-प्रणय ग्रन्थि की कितनी स्पष्ट झलक दीखती है। सर्वप्रथम वह चाहता हुआ भी नहीं चाहता था और अन्त में चाहने पर वह उससे इतना तादात्म्य स्थापित कर गुजरा कि मालती के धीरज देने पर भी वह धैर्य धारण नहीं कर सका। उसकी अपनी अतृप्ति—दमितेच्छाओं के मार्गान्तरीकरण का प्रारम्भ भी यहीं से हो जाता है, क्योंकि आहत तृतीय पक्ष वाली मनोग्रन्थि उसकी सहसा खुल जाती है। और काम का अबाध—प्रवाह उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) में परिवर्तित हो जाता है, जिसे मिश्र ने 'सन्यासी' शीर्षक से पुकारा है। फिर उसका मन किसको चाहता है, मुरलीधर सम्पादक को जिसके चरित्र में मिश्र जी ने वही मानसिक अवस्थिति का प्रक्रम दिखलाया है। विश्वनाथ की भाँति मुरलीधर में भी मातृप्रणय ग्रन्थि की प्रबलता के बावजूद प्रतिगमन की ओर मुड़ाव है। वह भी आहत-तृतीय-पक्ष की अनिवार्यता किरण और अपने बीच मानता रहा है। मुरलीधर की किरणमयी से केवल एक दो दिन का प्रेम नहीं प्रत्युत उन दोनो का प्यार अपना एक लम्बा इतिहास रखता है। किरणमयी और दीनानाथ का विवाह तो अब हुआ है। पर मुरलीधर से किरण का प्यार पाँच वर्ष से है। वह बहुत ही चाहती रही है कि मुरलीधर उसे अपनी ही बना ले पर उसकी यह मनोग्रन्थि उसे ऐसा करने से रोकती रही है। वह उसे चाहता हुआ भी नही अपना पाता। किरण शादी होने पर भी दुःखी है, क्योंकि उसका उसके प्रति ही पूर्ण आकर्षण है:—

किरणमयी—(तुमने मेरा नाश··· ·· ····तुम इसे खूब जानते हो। यदि है, हम लोगों की पहली भेंट············।)

मुरलीधर—तुम लोगों के विवाह के उपलक्ष में।

किरण—ओह। अब भी धोखा, फिर सुनी ···········यह सब झूठ है, मैं सब जानती हूँ, आत्म समर्पण तो तुमने आज से पाँच वर्ष पहले किया था। तुम्हें देखकर मेरी हालत जो तब············वही अब भी ··· ········(मुरलीधर का चौकी पर बैठना किरणमयी का उसकी गोदी में सिर डालना) आज पाँच वर्ष हो गये ···········इस तरह मेरी अवहेलना।)

मुरलीधर—तुम्हारी अवहेलना।

किरणमयी—नहीं तो और क्या।

मुरलीधर—इस हृदय से पूछो।[1] इस सम्वाद में मानो किरणमयी की हृदय की साध बिलबिला उठी है। वह इस स्थिति में अपने आपको सम्हालने में असमर्थ

१—**संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० १२२, १२३, १२४**

है। मुरलीधर भी अपने आहत तृतीय—पक्ष को दीनानाथ के रूप में पा ही चुका है। अब उस प्रेमाधिकारी प्रतिद्वन्द्वी को आहत करने की मनोवृत्ति मुरलीधर मे चरमसीमा पर पहुँच चुकी है। वह दीनानाथ को पराजित एवं अपमानित करके और किरण को अपनी बनाने के प्रयत्न में संलग्न है। किरण तो उस पर आसक्त है ही और वह उसको ही सच्चा प्यार करती है। केवल मुरलीधर से संकेत की आवश्यकता थी। अब वह भी अज्ञात मन की हाँ में हाँ मिलाने के लिये, अपनी मनोवृत्ति की अभिलिषित क्रिया को संपन्न देखकर, तत्पर है:—

किरणमयी -सचमुच पुरुष स्त्री के मन की बात जान नहीं सकते।

मुरलीधर —आपको मेरा पता नहीं।

किरणमयी—मैं खूब जानती हूँ। आप उन लोगों में है जो कुयें के मुँह तक निकालकर फिर छोड़ देते है। आप ऐसे लोग..........ओह? कल्पना का हृदय काँप उठता है।

मुरलीधर—मैंने आपको व्यर्थ कष्ट दिया।

किरणमयी—कष्ट दिया ? कष्ट दिया। आप प्यासे मालूम हो रहे हैं (मुरलीधर का हाथ खीचते हुए) चलिये (मुरलीधर) उठते हैं। किरणमयी अपने हाथ में उनका हाथ लेकर चलती है। दोनों का दूसरे कमरे में जाना। दासी का प्रवेश। उसका आश्चर्य की मुद्रा में इधर उधर देखना। दूसरे कमरे के दरवाजे की ओट धीरे-धीरे जाना और बार बार झाँकना। बार बार सिर पीछे की ओर खीचना और बार बार आगे बढ़ा कर दूसरे कमरे में झाँकना)।

दीनानाथ का स्वर।

नेपथ्य में—"आपको यहाँ नही आना चाहिए इस तरह जब मैं यहाँ न रहूँ। (मुरलीधर का स्वर)

नेपथ्य में—अच्छी बात नहीं आऊँगा।

किरणमयी –(मुरलीधर से) आप पाँच मिनट बैठ जाइए। मैंने आपके साथ ....इन्हें सन्देह हो रहा है..........इनका सन्देह मिट जाय।

दीनानाथ-- तुम्हारा इधर सारा प्रेम बनावटी था। ओफ।[1] दीनानाथ की बात बिल्कुल सही है किरण का प्रेम उससे था ही कब, यह तो केवल मुरलीधर की अन्तश्चेतना से अनभिज्ञ होकर उसे यह विवाह सम्पादन करना पड़ा। मुरलीधर तभी उसके लिये रहस्य बन गया था, क्योंकि किरण जितना पहले उसके समीप आने का प्रयत्न करती वह उतना ही उससे दूर भागने का प्रयास करता था:—

१—संन्यासी लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० १०२, १०३, १०४

मुरलीधर—मैं आनन्द से बराबर भागता रहा हूँ।

किरणमयी—आपको समझना बड़ा कठिन है।

मुरलीधर- मैं कोई रहस्य नहीं हूँ।[1]

परन्तु जब किरण शादी कर लेती है तो उसकी वह मनोग्रन्थि भंग हो जाती है और वह तुरन्त किरण के समक्ष आत्म समर्पण कर डालता है। यद्यपि किरण का रोम रोम प्रफुल्लित है, पर वह इस रहस्य को समझने ने लिए पुनः उसे बाह्य ताड़ना देती है।

किरणमयी—मैं तुम्हारा प्राण लूँगी ? जिसे आज पाँच वर्ष से अपने हृदय में…… ………तुम यहाँ आये क्यो और आये तो मुझे देखने ही क्यों गये ?

मुरलीधर—मैं रोक नहीं सका। मन में विवश था।

हाँ, हाँ, रोने लगी।[2]

यह किरण की ताड़ना नहीं वरन् एक आन्तरिक पुचकार है। यह उसका रोना नहीं, बल्कि आन्तरिक आह्लाद है। वह तो उसे बहुत ही चाहती रही है। शादी हो जाने पर भी उसमें मुरलीधर के प्रति कामात्मक अतिवाद (फैटिशवाद) का मनोविकार उपस्थित था। वह मुरलीधर का रूमाल उठा लेती है और उसके चले जाने पर रुमाल से बार बार अपना मुँह पोंछती है। यह फैटिशवाद की रगड़ तो है ही। अब उसे इस प्रक्रिया से संतोष नहीं होता तो रुमाल को मुँह पर डालकर सो जाती है। यह कामात्मक आतिवाद का अन्तिम चरण है। उसके इस विलास में जब दीनानाथ हस्तक्षेप करता है तो वह उसे भी फटकार देती है।[3] यह सब मुरलीधर से तादात्म्य का परिणाम है।

तात्पर्य यह है कि मिश्र जी ने आहत-तृतीय-पक्ष की फ्राइडियन उपपत्ति का दो विभिन्न मनोवृत्ति वाली जोड़ियों में सुन्दर समन्वय किया है; मालती का बहाव और है और किरण का और। पर विश्वकान्त और मुरलीधर में साम्य है। वे दोनों अपनी अपनी प्रेमिकाओं से प्यार तो करते हैं। किन्तु उस प्यार के बीच एक दीवार खड़ी हुई है जो उनके मिलने में बाधा डालती है। वह प्रतिगमन की ही रुकावट है या दूसरे शब्दों में आहत-तृतीय-पक्ष की आवश्यकता है। हां, भेद केवल इतना है कि मालती विश्वकांत की होती हुई भी प्रो० रमाशंकर के विवाह बन्धन को तोड़ने के पक्ष में नहीं जबकि किरणमयी ने मुरलीधर के लिए यह भी कर डाला है वह

१— ,, ,, ५२

२—संन्यासी—मिश्र—पृ० १२७, १२८

३— ,, ,, पृ०, ५३

दीनानाथ के विवाह बन्धन तोड़कर मुरली की ही शरण में पहुँचती है। कारावास जैसे स्थान पर जहां पहुंचना साधारण-सी बात नहीं। वह कैदी मुरलीधर के पास जा पहुँची है और केवल दीनानाथ की ही अवहेलना में नहीं बल्कि पूरे समाज की अवहेलना करने में उसे लेशमात्र भी हिचक नहीं होती। राजयक्ष्मा से पीड़ित मुरलीधर का देहान्त हो जाता है और किरण को वहीं बेहोश अवस्था में पाया जाता है। यह आहत-तृतीय पक्ष का कितना सारगर्भित प्रमाण है।

मालती में हीनत्व कुण्ठा, हेत्वारोपण और प्रतिशोध ग्रंथि की भी लहर है। वह हीन-भावना के कारण स्त्री मात्र का प्रतिनिधित्व कर रही है और विश्वकान्त के अपमान में चाहे वह वाह्य ही है यह पुरुष वर्ग से प्रतिशोध लेना भी है। वह चाहती तो प्रो० रमाशंकर से इससे पूर्व ही विवाह कर सकती थी पर वह प्रेम और विवाह मनोवैज्ञानिक परिधि खीच कर यह हेतु प्रस्तुत करती हैं कि उसका विश्वकान्त से प्रेम है अतः प्रेम प्रेम है उसका विवाह से कोई सम्पर्क नहीं, फलतः इस हेत्वारोपण के बावजूद वह रमाशंकर से विवाह कर डालती है। किं बहुना, मिश्रजी ने नाटक में फ्राइडियन प्रतिगमन के मूल में कुछ ऐसी मनोवैज्ञानिक मान्यतायें प्रस्तुत की हैं जो मनोविज्ञान की हृदयस्पर्शी उपपत्तिया है।

मुक्ति का रहस्य (१६३२)

प्रसाद कालीन समस्या नाटक धारा मे मिश्रजी की यह प्रमुख रचना है। इसमें शुद्ध का प्रवृत्ति काम समावेश है। डा० सोमनाथ गुप्त ने मिश्रजी को नाटक साहित्य मे शुद्ध काम समस्या का श्री गणेश करने वाला सिद्ध किया है।[1] वही काम इस नाटक में है। किन्तु काम की परिष्कृति और विकृति दोनो का सुन्दर समन्वय इसमें पाया जाता है। उमाशंकर शर्मा में काम की परिष्कृति है। आशा देवी और त्रिभुवननाथ में रूप का विकृत काम है। डा० दशरथ ओझा ने उमाशंकर शर्मा पर आशादेवी के कौमार्य भंग का आरोप लगाया है।[2] इससे उमाशंकर में काम का विकृत रूप सिद्ध होता है। डा० ओझा से यहाँ हम सहमत नहीं हैं। हमारे विचार में उनकी यह भ्रान्त मूलक धारणा है, क्योंकि आशादेवी का कौमार्य भंग डा० त्रिभुवननाथ द्वारा नाटककार ने प्रस्तुत किया है, उमाशंकर शर्मा द्वारा नहीं। अतः हमारे मत में त्रिभुवननाथ मे काम विकृति है और उमाशंकर शर्मा में कामोन्नयन; जिसके फलस्वरूप वे उच्चकोटि के समाज सेवी हैं।

डा० त्रिभुवननाथ का उच्छृंखल इड् आशादेवी को अपना बनाने के लिए आशा

१—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त– पृ० सं २४८

२—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा पृ० सं० ५१६

के कथनानुसार उमाशंकर शर्मा की पत्नी के लिए जहर भेज देता है। आशा उसे इस कारण जहर दे देती है कि उसके मरने पर उमाशंकर शर्मा उसे अपनी पत्नी बना लेगा। तभी वह कहती है।

उमाशंकर—"""पर विष दिया क्यों ?

आशा—तुम्हारे लिए। मैं तुम्हें प्रेम करती थी।

उमाशंकर—इसीलिए उसे दिया।

आशादेवी—हाँ मैं चाहती थी"""" मेरे प्रेम में कोई साझीदार न बने। तुम सो जाते थे और मैं रात भर इस करवट से उस करवट"""""सोचती थी अब आते हों""" अब आते हों"""""तुम्हारे पैताने अपना सिर रख देती थी। कोई रात ऐसी नहीं बीती कि मैं तुम्हारी चारपाई के पास घंटों न खड़ी रही हूँ।

उमाशंकर—तो तुमने मेरे लिए उसे विष दे दिया।

आशा—हां" मैंने समझा उसके मर जाने पर तुम्हें पा सकूँगी। पर"""।[1]

यह कथोपकथन उमाशंकर की काम परिष्कृति और आशा की यौन विच्युति का परिचायक है। आशा में मनोहर की माँ का वही रूप विभ्रम-वश दृष्टिगत होता है, जिसे उमाशंकर को भी दिखाना चाहती है।

आशादेवी का अनियन्त्रित इड् डाक्टर के अव्यवस्थित इड् से मेल खाता है वह आत्म संयमी उमाशंकर से तादात्म्य नहीं कर पाया। इसलिए जहर के पत्र का हेत्वारोपण लेकर वह डाक्टर से कौमार्य भंग करा बैठती है, उस डाक्टर से जो मोतीजान पुंश्चली स्त्री से नाजायज ताल्लुक रखता है। यद्यपि आशा देवी के सामाजिक अहं और इड् का आन्तरिक द्वन्द्व इस स्थिति मे अत्यधिक हुआ है, वह डाक्टर को नहीं चाहती, लेकिन इड़ की अतृप्तेच्छा उसे ऐसा करने को बाध्य करती है। अन्त में उमाशंकर के द्वारा पत्नी बनाने के प्रस्ताव को भी वह इसीलिए हेत्वारोपण द्वारा ठकुराती है कि उसका इड् उसे डाक्टर के समीपस्थ पाता है। वह कहती है—

आशा—यही तो मेरा त्याग है""मैं अपने देवता को अपवित्र नहीं करूँगी।[2]

इस कामोन्नयन और प्रत्यावर्त्तन अतिरिक्त नाटक में उमाशंकर के पुत्र मनोहर में वाटसन के शिशु मनोविज्ञान की मार्मिक झांकी दिखलाई है जिसमें प्रेम, भय और क्रोध का विलक्षण सामंजस्य है। शिशु मनोविज्ञान में यही वाटसन की उत्कृष्ट मान्यता है।

प्रेमचन्द का 'प्रेम की वेदी' (१९३३) नाटक व्यक्तिगत सैक्स समस्या की प्रतिच्छाया मात्र है। समस्या यही है कि प्रेम की वेदी पर किसकी बलि चढ़ाई जाए।

१—मुक्ति का रहस्य—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० १४१, ४२, ४३

२—मुक्ति का रहस्य—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० १४७

एक ओर व्यक्तिगत सैक्स का अबाध प्रवाह हिलोरें ले रहा है जिस पर इड् की निरंकुश राज सत्ता अपना प्रभुत्व जमाये हुए है। दूसरी ओर धर्म का सांसारिक बाह्य रूप और उससे आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत संस्कारो की रूढ़िवादिता से प्रेरित अहं निसर्ग वृत्तियां अहंकार को संजोये बैठी है जिन पर नैतिकाहं का शासन है। इस भांति काम प्रवृत्ति और अहं निसर्ग वृत्तियों का आन्तरिक द्वन्द्व इस नाटक मे झलकता है। नाटक में यौन विच्युति के परिणाम स्वरूप योगिराज नामक पुरुष की पत्नी उमा की मृत्यु भी हुई है। जैनी, ईसाई होती हुई भी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के बावजूद योगिराज पुरुष से अपने प्रकृत काम-वश विवाह प्रस्ताव रखती है जबकि उसका एक प्रेमी विलियम भी है। विलियम भी प्रारम्भ मे जेनी से ही प्यार करता है। लेकिन जेनी की प्रतिकृति को जब वह उसकी माँ मे देखता है तो फ्राइडियन स्थानान्तरण की मनोवृत्ति वश उसी के साथ विवाह कर लेता है। नाटककार ने जेनी इड् की संतुष्टि के लिए माँ के द्वारा योगिराज की मृत्यु का तार उसमें बाधक होता है। जेनी की स्वच्छन्द प्रवृत्ति तदुपरांत रज्जन की ओर मुड़ती है। परिणामतः नाटक पर्यवसान जेनी की अतृप्त-दमित-कामेच्छाओं के आन्तरिक द्वन्द्व में ही होता है।

किं बहुना, मनोवैज्ञानिक परम्परा की सूक्ष्म किन्तु अविरल स्पष्ट धारा को प्रवाहित करने वाली नाट्य कृतियों के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार नाटको मे अति प्राचीन काल से यह धारा शाश्वत प्रवहमान रही है। पौरस्त्य नाट्य-पद्धति मे इसका स्वरूप वेदो में अन्तर्निहित कथोपकथनों में सर्वप्रथम मिलता है। पाश्चात्य नाटककारों मे सोफोक्लीज के दुखान्त नाटक इस धारा के श्रोत है। पूर्व एवं पश्चिम की टेकनीक के समन्वय के काल मे आकर यह परम्परा प्रबल तथा सुस्पष्ट हो गई है, क्योंकि मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रवाह भी तत्कालीन नाटकों पर परिलक्षित है।

यद्यपि प्रसाद के नाटकों में शेक्सपीयर और द्विजेन्द्र लाल राय के माध्यम से यह मनोवैज्ञानिक टेकनीक घुल मिल गई है। किन्तु उनकी अन्तिम नाट्य कृति ध्रुवस्वामिनी की यथार्थवादी पद्धति मनोविज्ञान के प्रत्यक्ष प्रभाव की परिचायिका प्रतीत होती है। प्रसाद कालीन पौराणिक नाट्य धारा मे यह मानसिक प्रक्रम अति सुसंगठित नहीं विदित होता, पुनरपि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियो से ये नाटक मुक्त नहीं है।

प्रसाद युग के समस्या नाटकों में मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रसाद कालीन नाटक 'सन्यासी' 'राक्षस का मन्दिर' और 'मुक्ति का रहस्य' नाटक इस आधुनिक मनोवैज्ञानिक धारा की उत्कृष्ट कृति हैं।

पंचम अध्याय

प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों का

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामान्य विवेचन और विभाजन

नाटकों का विभाजन—प्रतिपाद्य विषयानुसार प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विभाजन करना अपेक्षित है। इस काल के नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव के साथ-साथ आधुनिक मनोविज्ञान की उपपत्तियां परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप में समाविष्ट हैं। ये मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां इस काल के नाटकों की कथावस्तु, पात्र एवं रचनात्मक प्रक्रिया में पायी जाती हैं।[1] प्रसादोत्तर युग के कुछ नाटक तो ऐसे हैं जिनकी कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया बहुत कुछ अंश में मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है। इस प्रकार के नाटकों को "प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटक" वाले वर्ग में रखा गया है। जिन नाटकों के पात्रों ने अपनी मानसिक घटनाओं द्वारा कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बना दिया है और अपनी मनोग्रस्तता से भरे संवादों तथा आंगिक चेष्टाओं द्वारा स्वयं मनोवैज्ञानिक बन गये है, परन्तु रचनात्मक प्रक्रिया मनोविश्लेषणात्मक बन पायी है, इस प्रकार के नाटकों को, मनोवैज्ञानिक कथावस्तु पात्र प्रध न वर्ग में रखा गया है। जिन नाटकों के कुछ पात्र मनोवैज्ञानिक है पर कथावस्तु तथा रचनात्मक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक नहीं है, ऐसे नाटक 'मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान वर्ग में मान लिए गये हैं। जिन नाटकों मे कथावस्तु एवं पात्र तो मनोवैज्ञानिक नही प्रत्युत उनमें रचनात्मक प्रक्रिया के कुछ तत्वों में मनोवैज्ञानिक लक्षण विद्यमान है, उन नाटकों को 'प्रक्रिया प्रधान' वर्ग में रखा गया है। इसके अतिरिक्त जिन नाटकों में कथावस्तु 'पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया मे से कोई भी अंग मनोवैज्ञान से अनुप्रेरित नही वरन् घुणा-क्षार—न्यायेन कहीं-कहीं संवादों में मनोवैज्ञानिक की झलक मिलती है, इस प्रकार के नाटकों को 'मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर समाविष्ट मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों वाले वर्ग में सन्निहित किया गया है।

मनोवैज्ञानिक पद्धति के आधार पर स्थूल रूप में इस विवेचन के अनुसार हम प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों को दो खण्डों में विभाजित कर सकते हैं :—

१— **प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटक**—जिनकी कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया अधिकांश में मनोवैज्ञानिक हैं ।

२—**गौण मनोवैज्ञानिक नाटक**—जिनकी कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया में से केवल एक या दो तत्वों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ अधिकांश में विद्यमान हैं ।

प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटकों की कथावस्तु, पात्र एवं रचनात्मक प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों का समावेश है । परिणाम स्वरूप इस वर्ग का अन्य कोई भेद नहीं हो सकता । लेकिन कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए गौण मनोवैज्ञानिक वर्ग के चार भेद किये जा सकते हैं—

१—**मनोवैज्ञानिक कथावस्तु एवं पात्र प्रधान नाटक**—जिनकी कथावस्तु और पात्रों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ सन्निविष्ट है ।

२—**मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान नाटक**—जिन नाटकों में कुछ पात्र मनोवैज्ञानिक हों, परन्तु शेष पात्रों में मानसिक प्रक्रम की कमी होने के कारण कथावस्तु बाह्य घटनाओं से परिपूर्ण हो ।

३—**मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया प्रधान नाटक**—जिन नाटकों के संवाद मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार छोटे एवं विच्छृङ्खल प्रतीत होते हैं, पात्रों के अभिनय के लिये दिये हुये निर्देशों और रंग संकेतों मे सांकेतिक चेष्टाओं का मानसिक प्रक्रम परिलक्षित है । इसके साथ-साथ रंगमंच पर मनस्तत्व को प्रदर्शित करने तथा मानसिक द्वन्द्व का निदर्शन छाया पात्रों द्वारा अभिनीत है ।

४—'**मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर समाविष्ट विभिन्न मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के वर्ग वाले नाटक**—जिनमें मनोविज्ञान की झलक यत्र-तत्र कहीं-कहीं उद्भासित तो है, किन्तु कथावस्तु, पात्रों और रचनात्मक प्रक्रिया पर इसका कोई भी प्रभाव प्रतीत नहीं होता ।

इस विभाजन के साथ ही साथ यहाँ यह अवेक्षणीय है कि प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटकों एवं गौण मनोवैज्ञानिक नाटकों के विभाजन की आधारशिला मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ ही हैं, क्योंकि प्रसादोत्तर युग के इन नाटकों की कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से अनुप्रेरित हैं । फलतः विभाजन के उक्त दोनों प्रकारों में पृथक्-पृथक् मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के वर्ग अन्तर्निहित हैं जिनका वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक शैली पर निम्न नौ प्रकारों में किया जा सकता है—

१—अहंकारात्मक ।
२ - मानसिक नियतिवादी ।
३—मनोविकृतियों के प्रेरक तत्वात्मक ।
४—मानसिक संतुलनात्मक ।
५—काम प्रवृत्यात्मक ।
६—आन्तरिक द्वन्द्व के मार्गान्तरीकरणात्मक ।
७—हीन भावनात्मक ।
८—मानववादी एवं सांस्कृतिकवादी मनोविश्लेषणात्मक ।
६ - अमनोविश्लेषणात्मक ।

ये सभी वर्ग प्रसादोत्तर युग के प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटकों एवं गौण मनोवैज्ञानिक नाटकों की कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया में मिलते है। अतएव आलोच्यकाल के नाटकों का मनोवैज्ञानिक विभाजन इन्हीं उक्त मनोवैज्ञानिक वर्गों से सम्बन्धित है।

इन नौ वर्गों में पृथक् पृथक् वर्ग के अन्तर्गत कई-कई मनोवैज्ञानिक उपपतियाँ अन्तर्निहित हैं, जिनका यहाँ विवरण देना अपेक्षित है। वर्गों के क्रम से वे उपपत्तियाँ इस प्रकार है—

१ अहंकारात्मक वर्ग मे इदं, अहं, नैतिकाहं, चेतन, अर्द्धचेतन और युगीय समष्टि, व्यष्टि अचेतन मन हैं।

२—मानसिक नियतिवादी वर्ग में मानसिक नियतिवाद, जिजीविषा, मुमूर्षा अर्थात् जीवन मरण प्रवृत्तियाँ और मातृ-प्रणय-ग्रन्थि है।

३—मनोविकृतियों के प्रेरक तत्व वाले वर्ग में—अचेतन मन, आन्तरिक द्वन्द्व, मनोग्रन्थियाँ, मनोग्रस्तता, बद्धता, प्रत्यावर्त्तन, सहबोधावस्था, स्वाक्रमण प्रेरणावेग, प्रबल मनोवेग का अभाव और परस्पर विरोधी भाव प्रवणता हैं।

४—मानसिक संतुलनात्मक वर्ग में—अचेतन मन के सामान्य कार्य आक्रमण, पलायन, भय और चिन्ता हैं। और अचेतन मन के असामान्य कार्य—ध्यानाकर्षण, आरोपण, हेत्वारोपण, स्थानान्तरण प्रतीकीकरण, रूपान्तरण, संक्षिप्तिकरण, मनोविच्छेद, एकान्तप्रियता, तादात्म्यीकरण, दिवास्वप्न, विस्थापन और उदात्तीकरण है।

५—काम प्रवृत्यात्मक वर्ग में—काम प्रवृत्ति के पाँच मानसिक प्रक्रम सन्निहित हैं—

अभिव्यक्ति—जिसमें सहवास अथवा प्रजनन की इच्छा अभिव्यक्ति होती है।
काम विकृति—जिसमें वासना तृप्ति के हेतु अस्वाभाविक हेतु प्रयुक्त होते हैं।
उन्नयन—जिसमें वासना का परिवर्तित उन्नत रूप काम करता है। (प्राय:

काम का उन्नयन भक्ति, काव्य-सर्जन, कला प्रेम और समाज सेवा आदि में होता है ।)

आत्म नियन्त्रण — जिसमें सोच समझकर अपनी इच्छा से दमन होता है ।

अवदमन — जिसमें किसी वासना का अज्ञात भाव दमित होकर अचेतन मन में पहुँच अवसर पाकर अभिव्यक्त होता है ।

काम प्रवृत्ति के इन पाँचो मानसिक प्रक्रमों में केवल काम विकृति कई प्रकार की होती है । इनमें आधार और लक्ष्य सम्बन्धिनी काम-विकृतियाँ प्रमुख है, जिनके नाम-कामचौर्य, कामघर्षण, आहृत तृतीय पक्ष, पिगमैलियनवाद, कामात्मक दिवा-स्वप्न, आत्म मैथुन, आत्म प्रेमवाद, कामात्मक फेटिशवाद. कामात्मक स्वप्न, सहयौन-सुख-दुःखास्तित्ववाद और भिन्न लिंग परिच्छदासक्तिवाद है ।

६—आन्तरिक द्वन्द्व के मार्गान्तरीकरण वाले वर्ग में भूल, स्वप्न और सांकेतिक चेष्टायें हैं ।

७—**हीन भावनात्मक वर्ग में** – एडलर की आत्महीनता ग्रन्थि, क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया और युंग का व्यक्तित्ववाद है ।

८—**मानववादी तथा सांस्कृतिकतावादी मनोविश्लेषणात्मक वर्ग में**—डा० केरेन हार्नी और एरिक फ्राम की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ है ।

९—**अमनोविश्लेषणात्मक वर्ग में**—गेस्टांल्टवादी, व्यवहारवादी, शिशु मनोविज्ञान और नारी मनोविज्ञान सम्बन्धी उपपत्तियाँ हैं ।

इन समस्त मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों का विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है, क्योंकि आलोच्य काल के नाटकों मे ये उपपत्तियाँ सन्निहित हैं । फलतः प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटकों के चारों भेदों में रखी गयी नाट्य-कृतियो को इन्हीं वर्गों में विभाजित किया गया है ।

इस विभाजन के अनुसार प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों को संक्षेप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटक

१—**अहंकारात्मक वर्ग प्रधान**—'अंजोदीदी' नाटक में अश्क जी ने आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत अहं की स्थापना की है । उनके 'कैद और उड़ान' में इड् का अनियन्त्रित रूप और काम की परिष्कृति है ।

२—**मानसिक नियतिवादी वर्ग में**—भट्ट जी द्वारा प्रथम विवाह एकांकी में फ्राइडियन इडिपस ग्रन्थि की सफल अवतारणा हुई है ।

३—**मनोविकृतियों के उत्प्रेरक तत्व प्रधान वर्ग में**—डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'बाँस की फाँस' नाटक में मनोग्रस्तता का सुन्दर विश्लेषण है। जगदीशचन्द्र माथुर का "मकड़ी का जाला" एकांकी मानसिक द्वन्द्व-वश्यता से ग्रस्त है। मिश्र जी के 'विधायक पराशर' एकांकी में प्रत्यावर्त्तन की झलक है। सिद्धनाथ कुमार के रेडियो काव्य नाटक 'संघर्ष' से आन्तरिक द्वन्द्व अति हृदय स्पर्शी बन पड़ा है, जिसमें मन को स्वयं पात्र बनाया गया है।

४—मानसिक संतुलनात्मक वर्ग प्रधान ध्वनिरूपक 'वह आया' में चिरंजीत ने अचेतन मन के सामान्य कार्य में अन्तर्निहित भय की मनोविकृति को दिखलाया है। भट्ट जी के 'जवानी' एकांकी में कामात्मक दिवास्वप्न है। पन्त जी ने काव्य-रूपक 'रजत शिखर' में मानसिक संतुलन की विधा उपस्थित की है।

५—काम प्रवृत्यात्मक वर्ग प्रधान में निहित 'राजयोग' और 'सिन्दूर की होली' नाटक में मिश्र जी ने यौन वर्जना एवं यौन विच्युति के परिणाम प्रस्तुत किये है। डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'मंगल-सूत्र' नाटकों में विकृति स्नायु गतरित शक्ति हीनता है। अश्क जी के 'भंवर' में यौन विकृति है। डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'खिलौने की खोज' नाटक में यौन-वर्जना के कारण बनी मनोग्रस्तता है। चिरंजीत के रेडियो नाटक 'महाश्वेता' में काम विकृति का पिगमैलियनवादी मानसिक प्ररूप है। भट्ट जी के 'मत्स्यगन्धा' भाव नाट्य में प्रकृत काम का पूर्ण निर्वाह है। दिनकर जी के काव्य प्रधान 'उर्वशी' में भी प्रकृत काम की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

(६) आन्तरिक द्वन्द्व के मार्गान्तरीकरण वर्ग के अन्तर्गत 'औरंगजेब की आखिरी' रात एकांकी में डा० राम कुमार वर्मा ने सांकेतिक चेष्टाओं को प्रदर्शित किया है।

(७) हीन भावनात्यक वर्ग प्रधान में सन्निहित 'डाक्टर' नाटक में विष्णु प्रभाकर ने 'आत्महीनता ग्रन्थि एवं क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया का अति हृदयस्पर्शी एवं भव्य निदर्शन किया है।

गौण मनोवैज्ञानिक नाटक—प्रसादोत्तर युग के मनोवैज्ञानिक पात्र एवं कथावस्तु प्रधान नाटकों को निर्धारित मनोवैज्ञानिक वर्गों के अनुसार निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(१) **अहंकारात्मक वर्ग में**—मिश्र जी के 'चक्र व्यूह' नाटक में अहंवाद की मनोवृत्ति से प्रतिशोध-ग्रन्थि का प्रतिपादन हुआ है। उनके दशाश्वमेघ नाटक में इड् के प्रकृत काम का प्रस्फुटन एवं उसकी विरोधी प्रवृत्ति के आधारभूत मुमूर्षात्मक प्रवृत्ति का जागरण हुआ है। भट्ट जी के 'विश्वामित्र' भाव-नाट्य में अहं स्थापना है। मिश्र जी के 'कावेरी में कमल' एकांकी में इड् की उन्मुक्त उड़ान है।

(२) **मानसिक नियतिवादी वर्ग में**—अश्क जी 'जय-पराजय' में इडिपस ग्रन्थि की झलक है।

(३) **मनोविकृतियों के प्रेरक तत्व वाले वर्ग में**—परितोषगार्गी के 'छलावा' नाटक में मनोग्रस्तता का जाल-सा बिछा हुआ है। गणेश प्रसाद द्विवेदी के 'परदे का अपर पार्श्व' एकांकी में 'परस्पर विरोधी भाव प्रवणता है। चतुरसेन शास्त्री के 'राजसिंह' नाटक में 'स्व-आक्रमण प्रेरणावेग' का प्राधान्य है।

(४) **मानसिक संतुलनात्मक वर्ग में**—भट्ट जी के 'राधा' भाव नाट्य में कामोन्नयन है।

(५) **काम प्रवृत्यात्मक वर्ग में**—लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'पत्थर' में प्राण 'एकांकी में काम-विकृति एवं परिष्कृति का सुन्दर समन्वय है। जगदीश चन्द्र माथुर के 'खण्डहर' एकांकी में यौन वर्जना की मनोग्रन्थि है। अश्क जी के 'मैमूना' एकांकी में काम प्रवृत्ति, सामाजिक अहं और इड् से समन्वित है। अश्क जी के रेडियो नाटक 'पापी' में यौन विकृति के कारण शारीरिक व्याधियाँ मिलती हैं।

(६) **आन्तरिक द्वन्द्व के मार्गान्तरीकरण वाले वर्ग में**—अश्क जी के 'छठा-बेटा' नाटक में सूक्ष्महेत्वाभास से परिपूरित फ्राइडियन स्वप्न कला का निदर्शन है। मिश्र जी के 'वैशाली में वसन्त' नाटक में फ्राइडियन आदेशात्मक स्वप्न तथा प्रतीकात्मक स्वप्न का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

(७) **मानववादी एवं सांस्कृतिकतावादी मनोविश्लेषणात्मक वर्ग में**—अश्क जी के 'कामदा' एकांकी में अर्थपूर्ण काम प्रवृत्ति की अवतरणा हुई है। 'भुवनेश्वर प्रसाद'' के 'प्रतिभा का विवाह' 'शैतान' 'एक साम्यहीन साम्यवादी', एकांकियों में भी अर्थ और काम का अद्भुत सम्मिश्रण है।

(८) **अमनोविश्लेषणात्मक वर्ग में**—भुवनेश्वर प्रसाद के 'शैतान' एकांकी में गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान की झलक है।

(२) मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान नाटकों को भी मनोवैज्ञानिक वर्गों के अनुसार निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(१) **अहंकारात्मक वर्ग में**—अश्क जी के 'चरवाहे' एकांकी में इड् की उन्मुक्तता है। सिद्धनाथ कुमार के 'रङ्ग और रूप' ध्वनि और रूपक में काम का पर्युत्थान अहंवाद पर आधृत है। डा० राम कुमार वर्मा के 'कादम्ब या विष' एकांकी में इड् का निरंकुश शासन है।

(२) **मानसिक नियतिवादी वर्ग में**—विष्णु प्रभाकर के 'नव प्रभात' रेडियो नाटक में जीवन-मरण प्रवृत्तियां हैं। जगदीश चन्द्र माथुर के 'कलिंग विजय' एकांकी में मुमूर्षात्मक एवं आक्रमण प्रवृत्ति है।

(३) **मनोविकृतियों के प्रेरक तत्व वाले वर्ग में**—अश्क जी के 'चिलमन' एकांकी मनोग्रन्थियों का प्रतिरूप है। 'धूम शिखा' के पात्रों में फ्राइडियन ईर्ष्या के भ्रम की मनोग्रन्थि है। 'अभिशप्त' रेडियो फेंटेसी में प्रतिशोध ग्रन्थि हैं। सिद्धनाथ कुमार के 'वे अभी भी क्वारी, हैं, रेडियो नाटक में अचेतन-मन का आन्तरिक द्वन्द्व उच्चकोटि का है। 'विजेता' रेडियो रूपक में सिद्धनाथ कुमार ने मानसिक द्वन्द्व के कारण दोहरे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की है।

(४) **मानसिक संतुलनात्मक वर्ग में**—श्री कृष्ण किशोर जी श्रीवास्तव के 'मछली के आँसू' और 'अ'ख' 'आँसू' 'आग' रेडियो रूपक में विस्थापन-तन्त्र की स्थापना है। उनके 'टूटा हुआ आदमी' रेडियो नाटक में मानसिक संतुलन बनाने के लिए 'एकान्तप्रियता' है। माथुर जी के 'कोणार्क' नाटक में कामोन्नयन की सुन्दर गतिविधि है।

(५) **काम प्रवृत्यात्मक वर्ग में**—मिश्र जी के 'वत्सराज' नाटक में काम प्रवृत्ति और भट्ट जी के 'नया समाज' में आत्म रति है। 'भट्ट जी' के मेघदूत ध्वनि रूपक में काम क्रीड़ा, यौन स्फीति और कामात्मक विभ्रम है। उपेन्द्र नाथ 'अश्क' के 'चुम्बक' एकांकी में स्वच्छन्द काम प्रवृत्ति है। गणेश प्रसाद द्विवेदी के 'सोहाग बिन्दी' 'वह फिर आई थी', 'शर्मा जी' 'दूसरा उपाय ही क्या था' 'सर्वस्व समर्पण' 'कामरेड' एकांकियों में काम का प्रस्फुटन है। श्री कृष्ण किशोर श्रीवास्तव के रेडियो रूपक 'लमसेना' में काम की स्वच्छन्दता है।

(६) **हीन भावनात्मकवर्ग में**—'कच्चे धागे' रेडियो रूपक में हीनत्व कुण्ठा है।

(३) मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया प्रधान नाटकों का वर्ग-क्रम इस प्रकार है—

(१) **अहंकारात्मक वर्ग में**—भट्ट जी के 'विद्रोहिणी अम्बा' भावनाट्य में अहंवाद है।

(२) **मनोविकृत्तियों के प्रेरक तत्व वाले वर्ग में**—डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'कैवट' में भिन्न व्यक्तित्व अपराध ग्रन्थि से उद्भूत है। भट्ट जी के 'मुक्तिदूत' नाटक में समष्टि, व्यष्टि अचेतन मन का द्वन्द्व है। डा० भारती के 'अन्धा युग' गीति-नाट्य में प्रतिशोध ग्रन्थि है।

(३) **मानसिक संतुलनात्मक वर्ग में**—भट्ट जी के 'कालिदास' ध्वनि रूपक में उदात्तीकरण है।

(४) **काम प्रवृत्यात्मक वर्ग में**—मिश्र जी के 'आधी रात' नाटक में काम का विकृत रूप आहत तृतीय पक्ष है। अश्क जी के 'आदि मार्ग' नाटक में यौन वर्जना

है। 'भट्ट जी' के 'बार्गेन' 'मायोपिया' और 'यह स्वतन्त्रता का युग' एकांकियों में काम का विकृत रूप है। प्रेमी जी के "छाया" नाटक में यौन विच्युतियों के उदाहरण हैं। डा० रामकुमार के "परीक्षा" एकांकी में कामात्मक मनोग्रस्तता है। भुवनेश्वर प्रसाद के "लाटरी" रोमांस रोमांच" में काम विकृति और श्यामा—एक वैवाहिक—विडम्बना में काम का स्वच्छन्द प्रवाह है। भट्ट जी के विक्रमोर्वशीय ध्वनि रूपक में कामात्मक द्वन्द्व है। श्री कृष्ण किशोर श्रीवास्तव 'जीवन का अनुवाद" रेडियो रूपक में यौन विकृति के कारण विभ्रम और सहबोधावस्था है। डा० लक्ष्मी नारायण लाल के "अंधा कुंआ नाटक में अहं निसर्ग वृत्तियाँ और काम प्रवृत्ति का द्वन्द्व है।

(५) आन्तरिक द्वन्द्व के मार्गान्तरीकरण वाले वर्ग मे—अश्क जी के "तौलिये" में आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण है।

(६) हीन भावनात्मक वर्ग में डा० रामकुमार के 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' एकांकी में हीनत्व कुण्ठा है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से समन्वित नाटकों में यह वर्गीकरण सम्भव नही है, क्योंकि इन नाटकों में ये उपपत्तियाँ अक्रमिक एवं यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं। फलतः उनको विश्लेषण वाले अध्याय में ही आगे देखा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक पात्र—पात्रों के आधार पर नाटक को दो पार्श्वों में विभाजित किया जाता है :—

(१) प्रथम पार्श्व में पात्र के अन्तस् की वे अनुभूतियाँ नाटक में स्थानापन्न होती हैं जो मनोविज्ञान या रस से अनुप्रेरित होकर जीवन के यथार्थ अथवा आदर्श में प्रतिफलित प्रतीत होती हैं।

(२) द्वितीय पार्श्व में आनुवांशिक पूर्व-प्रवृत्तिगत या परिवेशगत परिस्थिति की वे समस्त रूप रेखायें आती हैं जो रंगमंच, वेषभूषा, नृत्य, संगीत और पात्रों द्वारा अभिनय का माध्यम अपनाती हैं।

प्रसादोत्तर युग के अधिकांश नाटकों में, जो मनोविज्ञान से अनुप्राणित हैं, उनके दोनों पार्श्वो की मनोवैज्ञानिक ढंग पर अवतारणा हुई है।

प्रथम पार्श्व में पात्र रस के स्थान पर मनोविज्ञान एवं आदर्श के स्थान पर यथार्थ की ओर प्रवृत्त हुआ है।

द्वितीय पार्श्व में पात्र जेम्स लाज्ज के सिद्धान्त से अनुप्रेरित है। नाटककार प्रस्तुत रंग संकेत और पात्र निर्देश दोनों ही अभिनेताओं में अनुकरणात्मक आंगिक क्रियाओं की ओर संकेत देकर तदुपरान्त अभिनय में क्रमशः संवेग, संवेदना एवं अनुभूति

का संचार कराने में प्रयत्नशील ज्ञात होते हैं, इसके अतिरिक्त पात्र, वेशभूषा एवं अभिनय के हाव-भाव में सांकेतिक चेष्टाओं द्वारा अपनी मानसिक द्वन्द्व-वश्यता को अभिव्यक्त करते हुए पाये जाते हैं।

उदाहरण के लिए अश्क जी के मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान "चरवाहे" एकांकी को लिया जा सकता है। नाटक के प्रथम पार्श्व में स्त्री पात्र "रत्नी" के इड़ ने इस एकांकी को मनोवैज्ञानिक बना डाला है। रस को वहाँ कोई स्थान नहीं मिला है। आनुवंशिक पूर्व-प्रवृत्तिगत तथा वर्तमान परिस्थिति के ताने-बाने में "रत्नी के इड् की निर्बन्ध कामुकता छटपटा रही है। नाटककार ने अभिनेताओं से अभिनय के लिए पात्र निर्देश में "रत्नी" को मानसिक द्वन्द्व-वश कमरे में आकुलता से घूमते रहने का निर्देश दिया है, जिसमें घूमते हुई रत्नी अपने आप इड् की अतृप्त काम वासना को अभिनय एवं स्वोक्तिपरक संवाद द्वारा अभिव्यक्त करती हुई पायी जाती है।[1]

अहं निसर्ग वृत्तियों और काम-प्रवृत्ति के इस द्वन्द्व का निदर्शन जेम्स लाज्ज के सिद्धान्तानुसार नाटककार ने अनुकरणात्मक आंगिक क्रिया द्वारा पात्र-निर्देश में सर्व प्रथम अभिनेता से कराया है, क्योंकि इस आंगिक क्रिया के उपरान्त ही अभिनेता अपने स्वगत संवाद में क्रमशः संवेग, संवेदना और अनुभूति प्राप्त कर सकता है। और इसी उपक्रम द्वारा अभिनय में पात्र के मानसिक द्वन्द्व की सफल अभिव्यक्ति सम्भव है। "अश्क जी" के "रत्नी" पात्र में ऐसा ही हुआ है। प्रसादोत्तर युग के ऐसे मनोवैज्ञानिक नाटकों में पात्रों के आधार पर निर्णीत नाटक के दोनों पार्श्व इसी प्रकार मानसिक प्रक्रम से परिपूर्ण विदित होते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चरित्र-चित्रण का सीधा सम्बन्ध व्यक्तित्व से है। व्यक्तित्व आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत एवं परिवेशगत परिस्थितियों के विनिमय से निर्मित होता है। मनोवैज्ञानिक पात्रों में यही व्यक्तित्व सन्निहित रहता है। इस युग के नाटकों के पात्रों को इसी व्यक्तित्व से प्रेरणा मिल रही है। इस मत के समर्थन में डा० रामकुमार वर्मा ने इस सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि मनोविज्ञान के दो पक्ष हैं :—

पहला पक्ष व्यक्ति के संस्कारों से सम्बन्ध रखता है जो उसके स्वभाव का निर्माण करते हैं।

मनोविज्ञान का दूसरा पक्ष परिस्थितियों के प्रभाव से सम्बन्ध रखता है।

पात्र के संस्कारों पर जब परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है तो वे अपना

१—चरवाहे—अश्क—पृ० सं० ३२

विकास करने लगते हैं। यदि प्रभाव संस्कार के अनुकूल [illegible]
अनुचित दिशा में सरलता से विकास करने लगता है। यदि यह प्रभाव संस्कार [illegible]
प्रतिकूल पड़ता है तो पात्र में अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। इससे पात्र के मनोविज्ञान के भीतर का एक एक पार्श्व भटकने लगता है। संस्कार और प्रभाव की उचित युक्ति में ही चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य है जब यह सौंदर्य अभिनय कला के साँचे में ढलता है, तो रंगमंच पर सच्चे जीवन का अवतरण होता है।[1] वास्तव में आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत संस्कारों और परिवेशगत परिस्थितियों से सामंजस्य होना मानव जीवन में दुर्लभ है। फलतः मानव में आन्तरिक द्वन्द्व होना स्वाभाविक है।

अश्क जी का "अंजो दीदी" नाटक इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। स्त्री पात्र "अंजली" में जीवन को नियंत्रित एवं अनुशासित करने वाली प्रवृत्ति उसको गोद लेने वाले नाना द्वारा संस्कारगत मिली है। अंजली का पति इन्द्रनारायण वकील अंजली के इस अहं के समक्ष कठपुतली सा नाचता रहा है। लेकिन अंजली के निषेध करने पर भी जब इन्द्रनारायण शराब पीना नहीं छोड़ता तो उसका अहं इस परिस्थिति के प्रभाव द्वारा अन्तर्द्वन्द्व मचा डालता है। परिणाम स्वरूप अंजली में स्नायु-व्यतिक्रम द्वारा दौरे पड़ने लगते हैं और उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार संस्कार और प्रभाव से उत्प्रेरित मानसिक द्वन्द्व का चरित्र-चित्रण करके नाटककार ने अंजली के उलझे हुए व्यक्तित्व में मनोविज्ञान के व्यक्तित्व सम्बन्धी दोनों प्रक्रमों को अत्युतम ढंग में प्रस्तुत किया है, जिससे मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर पात्र के मनोविज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्येक पार्श्व झलक उठा है।

इस प्रकार संस्कार और प्रभाव के संघर्ष से पात्र में अन्तर्द्वन्द्व हो उठता है। और व्यक्ति को आन्तरिक द्वन्द्व से मनोग्रस्तता आ घेरती है। व्यक्तिमात्र की इस ही मनोग्रस्तता से तादात्म्य स्थापित करने के लिए ही आज नाटक जीवन की स्वाभाविकता और यथार्थता के अधिक निकट आ पहुंचा है। उसमें पात्र संघर्ष और मानसिक द्वन्द्व अधिक हो गया है। पात्रों के मनोविज्ञान में संघर्ष की अत्यन्त शक्तिशाली प्रेरणा उसमें समा गई है।[2] इसका कारण आजकल के जीवन में समाया हुआ वैषम्य है। आज जीवन में विभिन्न परिस्थितियाँ, अनेक घटनायें, अज्ञात मन के अगणित गुप्त रहस्य और विलक्षण कुण्ठायें अन्तर्निहित है। प्रत्युत संसार में समरूपता और एकता रखते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति मानसिक असाम्य के कारण भिन्न बन गया है। प्रायः देखने में आ रहा है कि हममें से बहुत से मनुष्यों के व्यक्तित्व आवरणों में छिपे हुए हैं। इसलिए उनकी वास्तविकता को पा सकना कठिन हो रहा है। परन्तु मन की बात

१—दीपदान 'नाटकों के सम्बन्ध में' डा० रामकुमार वर्मा पृ० १३, १५

२—शिवाजी—'भूमिका' डा० रामकुमार वर्मा पृ० सं० ६

को हमेशा के लिए छिपाए रखना सम्भव नहीं हो सकता। फलतः इन रहस्यपूर्ण व्यक्तियों से भी कभी कभी ऐसा व्यवहार हो जाता है और उनके मुख से ऐसी बात निकल पड़ती है कि इस संकेत मात्र के आधार पर नाटककार की कल्पना के लिए एक बहुमुखी व्यक्तित्व वाले चरित्र का निर्माण सम्भव हो सकता है।

एक आकर्षक चेहरा, एक कंटीली या विषैली मुस्कान, बोल-चाल का ढंग कोई चुभता हुआ फिकरा, हमें जैसे सोचने पर मजबूर कर देता है कि इस संकेत के पीछे क्या है ?[1] यही उत्सुकता प्रसादोत्तर युग के नाटककार को व्यक्ति विशेष की मूलभूत विशेषता को पहिचानने के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान कर रही है।

उदयशंकर भट्ट द्वारा प्रस्तुत "आज का आदमी एकांकी" संग्रह इसका प्रमाण है। इन नाटकों के सम्बन्ध में नाटककार ने स्वयं लिखा है कि इन नाटकों में आज के मनुष्य के मानसिक असंतुलन के चित्र हैं जिनमें मनुष्य दो रूपों में प्रकट होता है। ऐसा दिखाई देता है, जैसे इस सम्पूर्ण युग में उसके दो मस्तक काम कर रहे हैं या दो मन, बडी आसानी से वह अपने भीतर के विवेक को दबाकर दूसरे रूप में प्रकट होता है, जैसे सारा युग इस दुमुंही प्रवृत्ति से परिचालित है। वह सोचता कुछ है, करता कुछ है, मानता कुछ है और कहता कुछ है, वह भीतर से कुछ है और बाहर से कुछ और।[2]

"आज का आदमी" एकांकी में धनपतराय पात्र का मनोविज्ञान भट्ट जी द्वारा इसी मानसिक असंतुलन को लेकर उपस्थित हुआ है। स्वामी जी पात्र द्वारा उसके इस मानसिक प्रक्रम को भली भाँति समझ लिया गया है। धनपतराय के पास जब "नमिता" युवती अपने पति से लड़कर नौकरी करने की अभिलाषा से आती है, उस समय धनपतराय अचेतन मन के असामान्य कार्य ध्यानाकर्षण से ग्रसित होकर नमिता पर आसक्त हो जाता है। उसका बाह्य प्रदर्शन ऐसे पीड़ित एवं शोषितों को सहायता पहुंचाने मात्र है, परन्तु उसका अचेतन मन नमिता को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी इसलिए बनाने का इच्छुक है कि उसकी प्रेमिका बनकर रहेगी। इस प्रकार उसका कहना कुछ है, और वह करना कुछ और ही चाहता है। उसकी इस परस्पर विरोधी भाव प्रवणता को स्वामी नामक पात्र मनोविश्लेषक की भाँति अपने संवादों में इस प्रकार स्पष्ट करता है :

धनपतराय—(खड़ा होकर) यह क्या महाराज। आप कहाँ चल दिये।

स्वामी—जहाँ मनुष्य का एक ही रूप है, एक ही प्रश्न और एक ही समाधान है, सेठ।

धनपतराय—मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।

१—रेडियो नाटक—हरिश्चन्द्र खन्ना—पृ० सं० ११९
२—आज का आदमी—उदय शंकर भट्ट— भूमिका (ख)

सीमा में अपनी गति स्वयं निर्धारित कर लेता है। फलतः घटना की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक घटना मरुस्थल की भाँति स्थिर रहती है, किन्तु पात्र निर्झर की भाँति ठोकर खाते हुए भी आगे बढ़ता जाता है। वह गतिशील है, उसमें स्वभावानुसार क्रिया और प्रतिक्रिया होती है, जिसमें मनोविज्ञान के भीतर से जीवन की किरणें झांकने लगती हैं। संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व में वह अनुभूतियो के द्वारा अपने को साकार करने लगता है।[1]

पात्र की गतिशीलता और घटना की स्थिरता का उदाहरण हम भट्ट जी के 'धूमशिखा' एकांकी मे पाते हैं जिसका पूर्ण विश्लेषण यहां प्रस्तुत है। मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान 'धूमशिखा' की मन्दाकिनी का मानसिक साम्य भ्रम द्वारा दोलायमान हुआ है। यह भ्रम एक मानसिक प्रक्रम की, जो स्वयं दूसरे के संकेतों से प्रकट हो गया है, आवश्यक प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुआ है। मन्दाकिनी की बहिन कमला की कामुकी प्रवृत्ति ने उसके पति विपिन बाबू और उसमें इस भ्रम को उद्दीप्त किया है। यह भ्रम कमला के मिथ्यारोपणों द्वारा आगे मनोग्रस्तता में परिवर्तित होना प्रारम्भ हो गया है। पर इस मनोग्रस्तता के पूर्व विपिन और मन्दाकिनी के बीच फ्राइडियन ईर्ष्या के भ्रम का प्रादुर्भाव हुआ है। फ्र इड की सास रोगिणी की भाँति विपिन अपनी कामुकता की पूर्ति के लिए विस्थापन का तंत्र ढूंढ़ निकालता है और मन्दाकिनी में अन्य पुरुष के प्रति आसक्ति मानकर हेत्वारोपण वश कमला के साथ आर्य-समाज में विवाह कर बैठता है।

मन्दाकिनी का अहं तड़प उठा है, वह सर्वप्रथम कमला की मृत्यु के पश्चात् उसके छोटे बच्चे के चित्र को बार-बार देखती है और पुनः फैंक देती है तथा कुछ बड़बड़ाती भी है। रंग संकेत के अनुसार वह कभी उठती है तो कभी बैठती हुई शून्य दृष्टि से दर्शकों को देखती हुई मिलती है। वह पागल नहीं है, परन्तु कभी-कभी उसकी दृष्टि से दर्शकों के हृदय में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। विपिन और मन्दाकिनी के बीच ये भ्रम की दीवार तब तक नहीं टूटती जब तक उसकी 'इला' सखी विपिन से मन्दाकिनी के तथ्य वृत्तान्त को नहीं कह डालती। मन्दाकिनी यद्यपि मानसिक रोग से पीड़ित थी पर उसके आधिक्य ने उसे शारीरिक रोग राज्यक्ष्मा का रोगी बना डाला है। यद्यपि रोग से विपिन की भी सुरक्षा नहीं हो सकी, पर उसका रोग अभी मानसिक ही है। अपने इस रोग के विषय में वह साधना से कहता है—

आगुन्तक (विपिन)—मैं जानता हूँ, मन्दाकिनी को क्या रोग है ? हम दोनों एक ही रोग के रोगी हैं।[2] विपिन चाहता है कि मन्दाकिनी उसकी सेवा को स्वीकृत

१—ऋतुराज—डा० रामकुमार वर्मा परिचय पृ० १४, १५

२—जवानी और छः एकांकी—भट्ट—पृ० सं० ३०

कर ले वह एक सफल मनोविश्लेषक की भांति मन्दाकिनी को बतलाता है कि हम दोनों का यह मानसिक रोग दोनों के निकट आने से ही दूर हो सकता है, क्योंकि भ्रमात्मक मन की ग्रन्थि खुलते ही स्वस्थ होना स्वाभाविक है। यही मन्दाकिनी भी महसूस करती है :—

आगुन्तक (विपिन)—मैं जानता हूँ, तुम्हारी बीमारी क्या है? मन्दाकिनी यह केवल मेरी सेवा से ही ठीक हो सकती है। मैं जल रहा हूँ, मन्दाकिनी मैं हृदय की खुजली से परेशान हूँ। जितनी ही जलन बुझाने के लिए खुजलाता हूँ उतनी ही यह बढ़ती जाती है।

मन्दाकिनी—(खांसना) नहीं, साधना, आज मुझे सब कुछ कह लेने दो! वर्षों का गुबार मेरे हृदय में भरा हुआ है। मुझे निकाल लेने दो। प्राणों की एक-एक कड़ी में अटकता हुआ तिक्तता, कटुता का विष बाहर उगल लेने दो।

आगुन्तक (विपिन)—मैं भी सुनने आया हूँ। एक ही दिशा में बहने वाली दो नदियों की धारायें कुहरे से पूर्ण हैं। वे एक दूसरे को नहीं देख पातीं। उनका भ्रम, अविश्वास का कुहरा घट जाने दो। मेरा विश्वास है, मैं मन्दाकिनी को प्रसन्न कर सकूंगा। उसके रोग को दूर कर सकूंगा।[1]

मन्दाकिनी विपिन की उस भ्रमात्मक भूल में वासना, दुर्बलता, स्वार्थपरता और प्रवंचना सिद्ध करती है। विपिन इस दोषारोपण को कमला पर लादता है और कहता है कि उसने तुम्हारे सम्बन्ध में पर पुरुष की प्रेम चर्चा की और उसकी पुष्टि तब हुई जब स्वयं तुमने एक पुरुष से बातें करते हुए मुझ में झाड़ लगायी कि तुम्हें इस तरह नहीं आना चाहिए, तुम देख नहीं रहे कि मैं किसी सज्जन से बातें कर रही हूँ। उधर मन्दाकिनी से कमला ने विपिन के सम्बन्ध में भरा, में ऐसी हजार स्त्रियों से विवाह कर सकता हूँ। इसकी पुष्टि तब हुई जब विपिन एक स्त्री (कमला) से एकान्त में बैठा बातें कर रहा था।[2]

आगुन्तक (विपिन)—भ्रम का फैलाव आकाश-बेल के समान है, जिसकी जड़ नहीं होती। जैसे-जैसे भ्रान्ति फैलती है, विश्वास का वृक्ष, जिस पर वह फैलती है, सूखने लगता है।

मन्दाकिनी—विश्वास नहीं होता, मेरी ही बहिन मुझे धोखा देगी। यदि तुम्हारे हृदय में वास्तविक प्रेम होता, मेरे प्रति ममता होती। तो कमला भी तुम्हें धोखा नहीं दे सकती थी विपिन। उस समय मेरे हृदय में जो हा हा कार मचा, जो

१—जवानी और छः एकांकी—भट्ट—पृ० सं० ३२, ३३

२— ,, ,, ,, ३३, ३४

उत्क्रान्ति कर देने वाला हड़कम्प उठा, तूफान के झोंके उठे। वह मेरा प्राण लेने को काफी थे। उस समय भी मैं नहीं मरी।[1]

इसी बीच में मन्दाकिनी का अहं विपिन को पुनः टटोलने के लिए अपना बहिन साधना के साथ विवाह का प्रस्ताव रखता है। पर वह समझ जाता है और अपने पापों का क्षमादान की भीख नैतिकाहं द्वारा प्रस्तुत करता है।

विपिन और साधना के विशेष आग्रह पर कि स्वास्थ्य लाभ के लिए भुआली चलना श्रेय है, मन्दाकिनी वाह्य रूप से स्वीकार कर लेती है पर पुनः अन्तर्द्वन्द्व से प्रताड़ित होकर वह विपिन के भुआली जाने के लिए निषेध करती हुई कहती है—

मन्दाकिनी—(एक दम) नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं नहीं जाऊँगी। तुम जाओ विपिन बाबू, अब यहाँ कभी मत आना। जाओ अब मुझे तिल-तिल करके बढ़ती हुई दावाग्नि को एक चुल्लू पानी डालकर बुझाने की आकांक्षा नही है। मैं जी जान से प्राणों की धड़कन को घुटने का तिवत आवाहन दे चुकी हूँ। मुझे जाने दो मुझे रहने दो, यह व्यथा। बहन कमला के लिए, मेरे लिये, अपने लिए मुझे मेरी दशा पर छोड़ दो! जाओ, जाओ ......। (कहती हुई धड़ाम से खाट पर गिर पड़ती है।[1]) मन्दाकिनी की धूम शिखा अन्दर ही अन्दर घुमड़ी। कुछ भाव -रंचन के लिये यदि उन दोनों में भ्रम के विनाश की इच्छा भी जागृत हुई तो वह अचेतन और चेतन के भयंकर द्वन्द्व ने पनपने नहीं दी, जिसका अन्त मन्दाकिनी की विक्षिप्तता पर ही आकर रुका। और वह मनोग्रस्त ही नही बल्कि पागल हो गयी।

इस भाँति मन्दाकिनी और विपिन के कामात्मक द्वन्द्व की मनोग्रस्तता ने घटनाओं में मानसिक संचार किया है। मन्दाकिनी और विपिन दोनों अपने अपने मनोविज्ञान के आधार पर नितराम् प्रवहमान हैं। और एकांकी की समस्त कथावस्तु मानसिक प्रक्रम पर अविलम्बित रही है। यदि वहाँ कोई घटना है तो केवल मानसिक, जो पात्रों की मनोवैज्ञानिकता से ही निर्मित हुई है। मन्दाकिनी और विपिन के मनोबल के सहारे धूमशिखा' एकांकी चरित्र प्रधान बन गया है। नाटककार ने मनोविश्लेषणात्मक विन्यास शैली को ही एकांकी का आधार बनाया है। मन्दाकिनी और विपिन के बीच एक बार समझौते का मानसिक प्रकम होते हुये भी नहीं हो पाता। इसका कारण मन्दाकिनी की मनोग्रस्तता थी जिसके सहारे सम्पूर्ण एकांकी में मानसिक घटनाओं का ही प्राधान्य रहा और अन्त मे मन्दाकिनी पागल हो गई।

निदान, मनोवैज्ञानिक नाटकों में पात्र के ही मानसिक प्रक्रम पर मानसिक घटनायें बनती है। कथावस्तु की गतिविधि का अवलम्ब भी यही मानसिक घटनायें

१—जवानी और छः एकांकी—भट्ट पृ० सं० ३९, ४०

२— ,, ,, ,, ३९, ४०

होती है । फलतः मनोवैज्ञानिक कथावस्तु के आकार प्रकार को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु—मनोवैज्ञानिक पात्रों की गतिविधि से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक कथावस्तु में बाह्य घटनायें नगण्य होती है। उसका प्रसारण मानसिक घटनाओं पर ही अवलम्बित होता है । चरित्रों का मानसिक प्रक्रम इसको विकासोन्मुख बनाता है । जिन नाटकों की कथावस्तु में मनोग्रस्त पात्र को केन्द्रबिन्दु बना लिया जाता है, उसमें मनोवैज्ञानिकता का प्राधान्य हो ही जाता है, क्योंकि प्रमुख पात्र की परिक्रमा करने वाले अन्य पात्र परिवेशगत किसी न किसी अंश में उससे अवश्य प्रभावित होगे ही, अर्थात् प्रमुख पात्र से सम्बन्ध स्थापना किये बिना अन्य पात्रों का निर्वाह असम्भव है । जब ये पात्र विलक्षण शौर्य, प्रतिभा एवं अद्भुत कार्यों में एक मानसिक द्वन्द्वात्मक अवस्थिति पायेंगे तभी कौतूहल होना स्वभाविक है । इस कौतूहल मे ही रहस्य को पाने के लिये पात्रों में जो उत्सुकता होगी वह उनके अन्त-र्दर्शन की प्रवृत्ति का उद्घाटन-मात्र होगी । इस भांति पात्रों में कौतूहल रहस्य जानने की उत्सुकता और अन्तर्दर्शन की ओर झुकाव मनोवैज्ञानिक कथावस्तु के प्रमुख सूत्र हैं । लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'कावेरी में कमल' एकांकी की कथावस्तु को हम ऐसा ही पाते हैं । अतः एक उदाहरण के लिये उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यहाँ दिया जाता है—

'कावेरी में कमल' एकांकी की कथावस्तु पूर्ण मनोवैज्ञानिक है । रोम के श्रेष्टी 'टाइटस' की कन्या 'सोफी' के इड् की उन्मुक्त उड़ान ने कथावस्तु को काम प्रवृत्यात्मक बना दिया है । इस कथावस्तु की घटनायें मानसिक अधिक हैं । नाटककार ने कथा वस्तु का मूलाधार तत्व मनोवैज्ञानिक पद्धति पर, अतृप्तदमित कामेच्छाओं के अभि-व्यक्तिकरण में प्रस्तुत किया है । इस मानसिक प्रक्रम के प्रमाण हमें एकांकी के संवादों में इस प्रकार मिलते हैं—

"हम जो चाहते हैं, बराबर वह नही होता । वह भी हो जाता है कभी, जो हम नहीं चाहते ।"[१]

यवन कुमारियों को महामारी की भाँति हम दूर नहीं रख सकते । उनको दूर रखने की हम जितनी अधिक चेष्टा करेंगे, उनका सम्मोहन हमारे युवकों पर उतना ही अधिक पड़ेगा । अकाल से बचने के लिये नदी का पानी हम रोकते है, पर सब नहीं, कुछ न कुछ तो खोलना ही पड़ेगा ।"[२]

१—कावेरी में कमल—मिश्र—पृ० ४७

२— „ „ ४९

जो हम नहीं चाहते और हमारे द्वारा वह हो जाता है, यही हमारी मानसिक नियतिवादिता है, जो हमारे अचेतन मन में आसीन है। यदि अचेतन मन में निहित अतृप्त दमित कामेच्छाओं को संचित करके बाहर निकलने का मार्ग नहीं दिया जायेगा तो मानसिक संतुलन बिगड़ जायेगा। राजा करिकाल यवन कुमारियों की कामासक्ति में फँसे कुमारों पर रोक तो लगाना चाहते हैं, लेकिन पूर्णतया नहीं। फलतः सोफी के प्रति कुमार की अनुरक्ति दो विवाहित स्त्रियों के होते हुये भी राजा को इसी कारण नहीं अखरती। उसे शंका है कि कही कुमार को मनोग्रस्तता न आ घेरे।

चोल-नरेश करिकाल ने नर्तकी अलका का एक बार नृत्य देखा था। राजा के इड् की अतृप्त दमित कामेच्छाओं ने उसमें अचेतन मन का निर्माण कर डाला। मानसिक नियतिवादिता के बावजूद राजा उस अलका को भूलने पर भी न भूल सका और एक दिन अलका को वह अपने साथ ले ही आया। आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत यही कामात्मक मानसिक नियतिवाद करिकाल के पुत्र कुमार में ज्यों का त्यों विद्यमान है जो अवसरानुसार स्वयं प्रस्फुटित हुआ है।

रोम के श्रेष्ठी टाइम्स की कन्या सोफी जब पिता के साथ भारत में आई तो उसे अलका नर्तकी की संरक्षता में रहना पड़ा। अलका ने उसे नृत्य-विद्या में निपुण कर दिया। इन्द्रोत्सव की रात में सोफी ने जब करिकाल राजा के पुत्र कुमार को मुग्ध कर दिया तो वह बालिका थकान के बहाने कुमार के समीप जा बैठी और लेट गई। कुमार उसके सिर पर हाथ फेरते रहे, उसे नींद आ गयी। उस समय वह अबोध बालिका थी। किन्तु उन दोनों प्रेमियों का अचेतन मन तब भी पूर्ण प्रौढ़ था। सोफी को पिता के साथ लौटना पड़ा, लेकिन अपना मन वह कुमार के पास ही छोड़ गयी। यद्यपि कुमार की बाह्य चेष्टायें यही रहीं कि उसका सोफी से कोई लगाव नहीं, परन्तु उसका कामात्मक द्वन्द्व कभी शान्त नहीं रहा। कुमार के दो विवाह हुए जो एक से एक रूपसि के साथ सम्पन्न थे। किन्तु कामात्मक मानसिक नियतिवादिता ने उसे चैन नहीं लेने दिया।

रोम में सोफी के प्यार के प्यासे 'कैसका' 'केटर' आदि इसीलिए उसका प्यार न पा सके, क्योंकि वह कुमार को अपना पूर्ण समर्पण कर चुकी थी। कुमार के प्रति आसक्ति को केटर अपने सम्वाद में स्पष्ट करता हुआ पाया जाता है :—

केटर—तीन वर्ष पहले इसी 'मयूर पंख' पर सोफी के नृत्य का रस तुमने यहाँ लिया था, तुम्हारी जांघ पर सिर रखकर वह यहीं सोयी थी, अपने सिर की कंघी तुमने उसके जूड़े में यहाँ लगा दी थी। यहीं पर तुमने उस पर मोहन और वशीकरण किया था।

तुम्हारे लिए कुमार ? अकेले तुम्हारे लिए रोम की इस अनुपम सुन्दरी ने वहाँ के कितने तरुणों को निराश किया, अपने पिता के साथ धोखा किया, मेरे

गुप्त कक्ष में मुझे भी छलकर मेरे ही साथ तुम्हारे पास चली आयी। रोम के समूचे तरुणों के नाम पर, सीजर और आगस्टस की प्रतिष्ठा के नाम पर, मैं तुम्हें द्वन्द्व का निमन्त्रण देता हूँ। यहीं, इसी जल में जहाँ तुमने रूप की रानी सोफिया का हृदय जीता था।[१]

सोफी अपने पिता को यह कहकर ही भारत लाती है कि वह रोम में पागल हो जायेगी, जिसका कारण प्रत्यक्ष में कुमार के प्रति आसक्ति है। तभी वह कहती है :—

सोफी—सन्देश-पत्र वह भेजे जो अपने वश में हो, पर जिस पर वशीकरण हो गया हो, वह क्या सन्देश देगी[२]। सोफी के प्रेम का उदात्त भाव कुमार में अक्षय वीरत्व भर देता है जिससे केटर को उसके समक्ष झुकना पड़ता है।

निष्कर्षतः "कावेरी में कमल" एकांकी की सोफी का मानसिक प्रक्रम समस्त पात्रों का केन्द्र विन्दु बना हुआ है। प्रत्येक पात्र की मानसिक घटनायें सोफी के नारी मनोविज्ञान से उलझी हुई प्रतीत होती है। सोफी के इड् ने इस एकांकी की कथा-वस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाने में महत्व पूर्ण योग दिया है। यद्यपि वहाँ बाह्य घटनायें भी है किन्तु वे अचेतन मन के असामान्य कार्यों से प्रेरणा लेकर क्रियान्वित हो पायी हैं। इस एकांकी की सम्पूर्ण कथावस्तु काम प्रवृत्यात्मक है। जिसमें इड् की अतृप्त कामेच्छा प्रतिगमन और जीवन-मरण प्रवृत्तियों का घटाटोप है। पात्रों में मानसिक द्वन्द्व-वश्यता के आधारभूत कौतूहल एवं रहस्य को पाने की उत्सुकता विद्यमान है जो पात्रों की अन्तर्दृष्टि की परिचायिका प्रतीत होती है। इन सभी मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से मिश्रजी के "कावेरी में कमल" एकांकी की कथावस्तु पूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्ध होती है।

प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों में मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया—रचना की दृष्टि से प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१—संस्कृत नाट्य-कला के आदर्शों पर या उनके प्रभाव से रचे गये नाटक।

२—पाश्चात्य शैली के अनुकरण या विचारों से प्रभावित होकर लिखे गये नाटक।

दूसरे वर्ग के नाटकों में पाश्चात्य नाट्य-कला के प्रभाव के साथ साथ फ्राइड, एडलर और युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्रतिच्छाया भी विद्यमान है।

प्रतिपाद्य विषयानुसार प्रसादोत्तर-युग के हिन्दी नाटकों में प्रवाहित मनो-

---

१— **कावेरी में कमल—मिश्र—पृ०** ३६, ६७

२— ,, ,, ३१

वैज्ञानिक धारा का सुस्पष्ट रूप कथावस्तु और पात्रों में हम देख चुके है। इन नाटकों की रचनात्मक प्रक्रिया के जिन तत्वों को मनोविज्ञान के सिद्धान्तों ने अनुप्राणित किया है उनका विश्लेषण यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है :—

रचनात्मक प्रक्रिया में रस एवं मनोविज्ञान की स्थिति—प्रसादोत्तर युग के अधिकांश नाटकों में आदर्शवाद के नाम पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता की हत्या नहीं हुई है। जीवन की स्वाभाविकता के साथ-साथ रस की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक संघर्ष ही आधुनिक नाटककारों को स्वीकार हुआ है।[1] पाश्चात्य नाटकों में अन्त: प्रकृति के वैचित्र्य प्रदर्शन पर विशेष दृष्टि रखी जाती है। यहाँ भारतेन्दु काल में जिन नाटकों की रचना हुई है उनमें अन्तः-प्रकृति के वैचित्र्य का विधान नहीं के बराबर रहा है। पर इधर जो नाटक लिखे गये हैं उनमें यह विधान भी है।[2]

किन्तु यहाँ यह अवेक्षणीय है कि इस युग के कुछ नाटकों में रस और मनोविज्ञान का भी सम्मिश्रण है। मिश्र जी के "चक्रव्यूह" और "वैशाली में वसन्त" तथा रामकुमार वर्मा के "शिवाजी" नाटक में यह समन्वय सुन्दर एवं आकर्षक शैली में हुआ है। इन नाट्य कृतियों के अनुशीलन से विदित होता है कि रस और मनोविज्ञान का सम्बन्ध किसी न किसी अंश में अवश्य है। रस और मनो-विज्ञान के सान्निध्य का पर्यालोचन भी हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि पौरस्त्य रस पद्धति मनोविज्ञान के सन्निकट है। फलतः इस संदर्भ में इन दोनों के सम्बन्ध पर तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ विचार किया जाता है।

रस और मनोविज्ञान का सान्निध्य—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस को मनोवेगों का आस्वादन कहा जा सकता है, और रसो की व्याख्या भावों का मनोविज्ञान कही जा सकती है। रस के मूल भाव मन के विकार होते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाव का मन से गहरा सम्बन्ध है और रसों की व्याख्या में भावों का मनोविज्ञान सन्निहित होता है।

रस को मनोवेगों का आस्वादन मानने वाले समर्थकों में रामदहिन मिश्र का कथन यहाँ उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में काव्य दर्पणकार मिश्र जी की मान्यता है कि यदि मानस शास्त्र की दृष्टि से एक काव्य पाठक के मानस व्यापार का विचार किया जाय तो तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं :—

एक तो उत्तेजक वस्तु (स्टिमुलस) यह है काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि।

१—शिवाजी—डा० रामकुमार वर्मा—भूमिका पृ० सं० ७

२—चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—दूसरा भाग पृ० सं० २३४

दूसरी उस उत्तेजक वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्युरात्तरमक क्रिया का करने वाला सचेतन प्राणी, यह है सहृदय पाठक।

और तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (रेस्पोन्स) का स्वरूप है उसकी सुखात्मक मनोऽवस्था।

यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कंप, नेत्रनिमीलन, आनन्दाश्रु से प्रकट होता है। अभिप्राय यह है कि मनोवेगों का आस्वादन ही रस है। यह हमारी रस प्रक्रिया के अनुरूप ही मानस व्यापार है। मनोविज्ञान शास्त्र का यही नवनीत है।[1] एक दूसरी विधा को लीजिए, मनोविज्ञान के अनुसार संवेग की तीन मुख्य दशायें है :—

१—प्रत्यक्ष कारण।
२—मानसिक दशा।
३—शारीरिक प्रतिक्रिया।

डा० राकेश गुप्त ने रस की भी यही तीन दशायें मानी हैं—अर्थात् विभाव, भाव और अनुभाव। आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही प्रकार के विभाव भाव अर्थात् (मानसिक दशा) और अनुभाव अर्थात् (शारीरिक चेष्टा) उत्पादक होते हैं। अतः वे एक प्रकार के संवेग (एमोशन) का प्रत्यक्षीकरण (इमीजिटेट कौज) कहे जा सकते हैं। किन्तु ये अकेले ही संवेग को उत्पन्न नही करते प्रत्युत उनके साथ-साथ मन की प्रवृत्ति (डिसपोजीशन) भी आवश्यक है।[2]

इसके अतिरिक्त स्थायी भाव और संचारी भाव में भी हमें वही अन्तर प्रतीत होता है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावना (मनोवृत्ति) और भाव (मनोविकार) में किया जा सकता है।

साहित्य दर्पणकार के अनुसार अविरुद्ध और विरुद्ध भाव जिसको छिपाने में असमर्थ रहते हैं, जो आस्वादन अर्थात् रस रूपी अंकुर का मूल है, वह स्थायी भाव कहलाता है।[3] संचारी भाव विशेष रूप से अर्थात् मुख्यतया के साथ चलने के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं। स्थिरता से विद्यमान इत्यादि स्थायी भाव में आविर्भूत, तिरोभूत अर्थात् उन्मग्न, निमग्न होने वाले (स्थायी भाव रूपी जल में तरंगों की भांति

१—काव्य दर्पण—राम दहिन मिश्र—पृ० सं० २०२
२—साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस—डा० राकेश गुप्त पृ० सं० १५०
३—अविरुद्धि विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा:।
आस्वादङ्. कुर कन्दोऽसौभाव: स्थायीति संमत:।। साहित्यदर्पण ३। १७४

संचरण करने वाले) भाव संचारी संज्ञा से पुकारे जाते हैं ।[१] इस प्रकार स्थायी भाव स्थिर और संचारी भाव अस्थिर होते हैं ।

स्थायी भावों की तरह भावना (मनोवृत्ति) एक स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति है। शैण्ड के मत से भावना किसी वस्तु पर केन्द्रित भावात्मक प्रवृत्तियों (इमोशनल डिस्पोजिशन) की एक सुव्यवस्थित समष्टि है। मैकडूगल के अनुसार भावना मनोवृत्ति (सेन्टीमेंटस्) किसी वस्तु के अनुभव से उत्पन्न उस वस्तु के प्रति एक स्थायी चेष्टात्मक अभिवृत्ति (कोनेटिव अटिच्यूड) है ।[२]

भाव या मनोविकार (इमोशन्स) व्यक्ति की उसके हित को प्रभावित करने वाली परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया है। यह व्यक्ति की क्षुब्ध दशा है। यह मन और शरीर की क्षुब्ध अवस्था है। मन के सम्मुख एक परिस्थिति होती है, वह उसे नहीं सम्हाल सकता, और आन्दोलित हो जाता है। इसका प्रकाशन शरीर की अस्तव्यस्तता में होता है ।[३] यह मनोविकार संचारी भाव से पर्याप्त साम्य रखते हैं ।

अन्ततोगत्वा, यह कहा जा सकता है कि संचारी भावों की अपेक्षा भावना या मनोवृत्ति की तरह स्थायी भाव स्थिर होते हैं। यद्यपि मनोविकारों की निर्धारित संख्या बयालीस है, परन्तु केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे है जो अन्यों से कही अधिक स्थायित्व रखते हैं और ये ही अत्यधिक स्थायी, दृढ़, प्रभावोत्पादक होने के कारण रस परिपाक के योग्य हैं। अतः ये स्थायी भाव विशेषतया महत्वपूर्ण है।

मनोविज्ञान के आधार पर डा० भगवानदास ने संस्कृत साहित्य के सभी स्थायी भावों का इन्हीं मूल भावों के अन्तर्गत समाहार सिद्ध किया है। उनका कथन है कि रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं। और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा अस्मिता के उपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत-निर्वेद में इन दोनों का सामंजस्य हो जाता है। उसमें अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति हैं दूसरे कटु होने के कारण दुःख की। निर्वेद में दोनों का समन्वय है ।[१]

१—विशेषा दाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युमंग्न निर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्चतद्भिदाः ॥ —साहित्य दर्पण ३ । १४०

२—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा पृ० सं० २५१

३— ,, ,, २४६

४—रीतिकाल की भूमिका देव तथा उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० ७५

डा० भगवानदास द्वारा प्रतिपादित अस्मिता में स्थायी भावों को राग और द्वेष के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। यह अस्मिता फ्राइडियन अहं से साम्य स्थापित किये हुए है। जहाँ यह अस्मिता उपकारक स्थाई भावों की अवतारणा को प्राश्रय देती है वहाँ फ्रायडियन (लिबिडो) जिजीविषा प्रेम करने की प्रवृत्ति के कारण राग में अन्तर्भूत हो जाती है। इसके विपरीत अस्मिता के अपकारक स्थायीभावों के द्वेष वाले वर्ग को फ्राइडियन मुमूर्षा या नाश करने की प्रवृत्ति मे रखा जा सकता है।

यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता, किन्तु फिर भी हम इसे मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नही कह सकते। डा० नगेन्द्र ने इस मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि स्थायी भाव की स्थिति वास्तव में जीवन के उन तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है जो मानव स्वभाव के मूल अंग हैं, पाश्चात्य दर्शन में जिन्हें साधारणतः मौलिक मनोवेग (एलीमेन्टल पाशन्स) वहा गया है। इन मनोवेगों का सीधा सम्बन्ध मानव आत्मा के मूलभूत गुण राग और द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता-अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अहं या आत्माभिव्यक्ति (सेल्फ अजर्शन) के रूप में निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो सरणियाँ है–राग और द्वेष जो मानव जीवन के दो मौलिक अनुभावों सुख और दुःख के मनोवैज्ञानिक पर्याय मात्र है—सुखात् रागः दुःखात् द्वेषः। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र में इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति (लिबिडो) और नाश करने की प्रवृत्ति कहा गया है। और गहरे में जायें तो फ्राइड का 'काम' मूलतः राग ही है, और एडलर का हीन भाव द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेषकों के इस विषय में तीन मत है—एक फ्राइड का जो काम को जीवन की मूल प्रवृत्ति मानता है, दूसरा एडलर का जो हीन भाव या क्षतिपूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युंग का जो इन दोनों की जीवनेच्छा या (स्वत्वरक्षा) हमारे शब्दों में अस्मिता के पोषण की-शाखायें मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकृत है[1]। निदान हम यह कह सकते हैं कि रस के मूलाधार स्थायी भावों का समाहार युंग की जीवनेच्छा (स्वत्वरक्षा) में है जिसमें फ्राइड के कामात्मक राग और एडलर हीन भावनात्मक या क्षतिपूर्ति के द्वेष का समन्वय है।

मैकडूगल ने भावों को मूल प्रवृत्तियों के कार्य माना है। उसके मत में मौलिक भाव मूल प्रवृत्तियों के चेतन सहचर है। प्रमुख मूल प्रवृत्तियों में से प्रत्येक किसी एक प्रकार के भावात्मक उद्दीपन को जन्म देती है जिसका गुण उसके लिए

१—रीतिकाल की भूमिका देव तथा उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० ७४, ७५

विशिष्ट या विलक्षण होता है।[1] मैकडूगल ने परस्पर सम्बन्धिनी मूल प्रवृत्तियों और भावों को साथ-साथ रखा है।

मैकडूगल द्वारा प्रतिपादित मानव स्वभावगत मूल प्रवृत्तियों का साम्य नव रसों एवं स्थायी भावों से निम्नलिखित तालिका के अनुसार किया जा सकता है :—

रस	स्थायी भाव		मैकडूगल द्वारा प्रतिपादित मूल प्रवृत्तियाँ	
(१) श्रृंगार	रति		काम	(Sex)
(२) वात्सल्य	वात्सल्य		मातृ-भावना	(Parental)
(३) भयानक	भय		भय	(Escape)
(४) वीभत्स	जुगुप्सा या घृणा		आपकर्षण	(Repulsion)
(५) रौद्र	क्रोध		क्रोध	(Combat)
(६) अद्भुत	विस्मय या औत्सुक्य		जिज्ञासा	(Curiosity)
(७) हास	हास		हास्य	(Laughter)
(८) वीर	उत्साह	(गर्व	आत्मप्रतिष्ठा	(Self-assertion)
		(अधिकार	परिग्रह	(Aquisition)
		(भावना		
		(सर्जनोत्साह	निर्माण	(Construction)
(९) करुण	शोक	(दैन्य	अधीनता	(Self-submission)
		(दुःखकारता	आर्त्त प्रार्थना	(Appeal)
		(मिलनेच्छा	सामाजिकता	(Gregariousness)
		(सहानुभूति		

रस, स्थायी भाव और मूल प्रवृत्तियों के इस साम्य को डा० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है।[2]

डा० गुलाबराय ने भी रस और मनोविज्ञान शीर्षक से रस और मूल प्रवृत्तिमों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है।[3] रामदहिन मिश्र ने भी स्थायी भावों के

१—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा—पृ० सं० २६७

२—रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० ७७, ८१

३—सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाब राय पृ० सं० १३८, १५३

भीतर सहज प्रवृत्तियों को रखकर इसका समर्थन किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि रस और मनोविज्ञान में बहुत कुछ साम्य है।

किं बहुना, नवीन मनोविज्ञान के पूर्णतया अनुकूल न होते हुए भी इस विवेचन को अमनोवैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। संक्षेप में संचारी भावों को मनोविकारों का पर्यायवाची कहा जा सकता है। स्थायी भावों की स्थिति को मौलिक मनोवेगों के साथ रखा जा सकता है, क्योंकि स्थायी भावों की भाँति मनोवेग भी अपनी शक्ति, स्थायित्व और प्रभाव के कारण मनुष्य के जीवन की संचालन करने वाली मनोवृत्तियाँ हैं। अतः रस और मनोविज्ञान में सामंजस्य भी है।

रस और मनोवैज्ञानिक के इस समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण हमे लक्ष्मी-नारायण मिश्र के 'चक्रव्यूह' नाटक मे मिलता है। 'चक्रव्यूह' नाटक वीर और करुण रस से पूर्णतय आप्लावित है। नाटक के अभिमन्यु, अर्जुन, सुयोधन और लक्ष्मण आदि पात्रों मे वीर रस का एवं सुभद्रा, द्रौपदी, उत्तरा और सुमित्र में करुण रस का सुन्दर निर्वाह हुआ है। नाटक के वीर रस से अनुप्रेरित पात्रों में गर्व एवं अधिकार भावना से उत्तेजित होकर स्थायी भाव उत्साह का पूर्ण निदर्शन किया गया है। इस उत्साह को जागृत करने वाली मैक्डूगल द्वारा प्रतिपादित आत्मप्रतिष्ठा (सेल्फ अजर्शन) मूल प्रवृत्ति है जो पात्रों में अहंकार बनकर व्याप्त है। परिणामस्वरूप वीररस के स्थायी भाव से साम्य स्थापित करने वाली मूल प्रवृत्ति से समन्वित इस नाटक में रस और मनोविज्ञान का समन्वय हुआ है।

जिस प्रकार पाश्चात्य विरेचन सिद्धान्त और भारतीय करुण रस में पर्याप्त साम्य है। उसी प्रकार त्रासदी और करुण रस के साम्य का निर्वाह भी 'चक्रव्यूह' के उन पात्रो में परिलक्षित है जिनमें करुण रस का प्रवाह है।

अरस्तु द्वारा प्रतिपादित त्रासद प्रभाव का भारतीय करुण रस से इसलिए साम्य प्रतीत होता है कि त्रासद प्रभाव के आधार भूत मनोवेग हैं:—करुणा और त्रास, और दोनों में ही पीड़ा की अनुभूति का प्राधान्य है।

भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार करुण रस का स्थाई भाव है शोक, जिसके कुछ प्रतिनिधि लक्षण इस प्रकार है।

भारत मुनि के अनुसार—शोक का भाव इष्ट वियोग, विभव नाश, बध, कैद तथा दुःखानुभूति आदि विभावों (कारणों) से उत्पन्न होता है।[2] विश्वनाथ के मत

१—काव्य दर्पण—राम दहिन मिश्र, पृ० सं० २०१, २०४

२—शोको नाम इष्ट जन वियोग विभव—नाश—वध—बन्धन,
दुःखानुभवनादिभिर्विभावैस्समुपजायते । —नाट्यशास्त्र

में इष्ट के नाश आदि से उत्पन्न चित्त के क्लेश का नाम शोक है।[१] धनंजय के सिद्धान्त से एक के मरने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति विलाप करे वहाँ शोक होता है।[२] इन सभी लक्षणों में शोक के अन्तर्गत करुणा का प्राधान्य तो है ही, किन्तु बध, बन्धन आदि के कारण त्रास का भी सद्भाव है, अतः करुण रस के परिपाक में शोक स्थायी भाव के अन्तर्गत भारतीय काव्यशास्त्र भी करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इष्ट नाश अथवा विपत्ति शोक का कारण है—और इससे करुणा और त्रास दोनों की उद्भूति होती है।[३]

चक्रव्यूह नाटक के उत्तरा, द्रौपदी, सुभद्रा और सुमित्र पात्र मे करुण रस स्थायी-भाव शोक के बावजूद अवस्थित है। अभिमन्यु की मृत्यु के उपरान्त शोक में करुणा का प्राधान्य नाटक के अन्तर्गत सुस्पष्ट है। किन्तु अभिमन्यु का बध होने के कारण यहाँ त्रास भी सम्मिलित है। इस त्रास से अरस्तू के त्रासद की भी अभिव्यक्ति नाटक में मिलती है। इस प्रकार चक्रव्यूह मे पौरस्त्य करुण रस और पाश्चात्य विरेचन सिद्धान्त पर आधृत त्रासद का समन्वय रस और मनोविज्ञान का ही समन्वय मात्र कहा जा सकेगा, क्योकि त्रास तथा करुणा के उद्रेक द्वारा मनोविकारों का विरेचन त्रासदी का उद्देश्य होता है। त्रासदी का रागात्मक प्रभाव मनुष्य की कमजोरी से उत्पन्न त्रास और करुणा पर अवलम्बित रहता है। रंगमंच पर यह प्रभाव आस्वाद रूप हो जाता है। चक्रव्यूह नाटक में अरस्तू की त्रासदी (ट्रेजेड़ी) के कारुणिक (त्रासद-व्यापार) (ट्रेजिक ऐक्सन) का भी निर्वाह हुआ है। उसमें मानव-सुलभ दुर्बलता की कारुणिक विवशता से त्रास और करुणा का उद्भव हुआ है और त्रास तथा करुणा के उद्रेक से मनोविकारों का विरेचन भी नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया मे मिलता है जो पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। यह रस और विरेचन का समन्वय अन्यत्र नहीं के बराबर है। मनोविज्ञान से अनुप्राणित प्रसादोत्तर नाटकों में विरेचन सिद्धान्त को ही प्रश्रय मिला है। अतएव विरेचन सिद्धान्त का रस तत्व के साथ विवेचन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

विरेचन सिद्धान्त एवं रसतत्व— मनोविकृतियों की परिष्कृति का नाम विरेचन है। मानसिक घुमड़न के निष्कासन की इस विधा का विवेचन अरस्तू ने नाटकीय त्रासदी में किया है। प्रायः मानव-मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है जिनमें करुणा (शोक) और भय ये दो मनोवेग—मूलतः दुःखद हैं। त्रासदी रंगमंच पर अवास्तविक परिस्थितियों के द्वारा इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुत कर कृत्रिम अतः

१—इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।—साहित्यदर्पण

२—मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एवसः।—दशरूपक

३—अरस्तू का काव्य शास्त्र—डा० नगेन्द्र भूमिका पृ० सं० ९३

निर्दोष उपायों से प्रेक्षक के मन में वासना रूप से स्थित इन मनोवेगों के दंश का निराकरण और उसके फलस्वरूप मानसिक सामंजस्य का स्थापन करती है, अतएव विरेचन का अर्थ हुआ—विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अन्तर्वृत्तियों का समंजन अथवा मन की शान्ति एवं परिष्कृति—मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता ।[1]

मनोविश्लेषण-पद्धति के अनुसार भी हमारे मनोवेग कुंठित होकर अज्ञात मन में पहुँच जाते है और अव्यक्त रूप में वे चेतन मन को कंचौटते रहते है। अतृप्त दमित मनोवेगो की मानसिक ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। मनोग्रस्तता का यह रोग अभुक्त मनोवेगों को चेतन मन मे उद्बुद्ध करने से ठीक हो जाता है। मनोविश्लेषण की विधि से परितृप्त मनोवेग मानसिक संतुलन बना डालता है। मनोविश्लेषण द्वारा मानसिक रोगों का निवारण जिस उन्मुक्त विचार-प्रवाह-प्रणाली से किया जाता है वह इसी सिद्धान्त के अनुसार है। फ्रायड ने इस विरेचन सिद्धान्त को अपने मूलाधार सिद्धान्तों में ग्रहण किया है। मनोविश्लेषणवादियों ने अनेक स्थलों पर अरस्तू के वाक्यों से समर्थन भी प्राप्त किया है।

रस और विरेचन के सान्निध्य को दृष्टि में रखते हुए यह कहा सकता है कि अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भारतीय रस सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। इस मत का प्रतिपादन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि भारतीय रस सिद्धान्त में प्रकारान्तर से विरेचन सिद्धान्त अन्तर्भूत है। विरेचन प्रक्रिया के दो अंग हैं—

१—अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन।

२—और तज्जन्य मनः शान्ति।

मनोवेगों की अतिशय उत्तेजना रस सिद्धान्त के स्थायी भावों के चरम उद्बोध के समानान्तर है। मनः शान्ति रस सिद्धान्त की 'समाहिति' की अवस्था है।

इस अवस्था में सहृदय श्रोता का मनोमुकुर भौतिक विकार जन्य मलिनता से मुक्त होकर सर्वथा निर्मल हो जाता है। रस की स्फुरणा के समय कवि का मन और रस के आस्वाद के समय सहृदय का मन व्यक्ति सम्बन्धों से मुक्त होकर अनिवार्यतः समाहिति की अवस्था को प्राप्त करता है। तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव और सत्व की परिव्याप्ति की स्थिति यही है। अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त यहीं रुक जाता है। रस के लिए इससे आगे आनन्द रूप आत्मा से सत्व का प्रचुर उद्वेग अनिवार्य है, उसके लिए तमोगुण और रजोगुण का तिरोभाव ही पर्याप्त नहीं है।

१—अरस्तु का काव्य शास्त्र—डा० नगेन्द्र भूमिका पृ० सं० ८८

इसका कारण यह है कि रस भौतिक राग द्वेष से मुक्त आत्मा द्वारा अस्मिता का भोग है।[1]

निष्कर्षत: विरेचन सिद्धान्त मन शान्ति, विशदता या राहत से आगे नहीं जाता, यद्यपि यह अनुभव भी निश्चय ही सुखद है, परन्तु यह सुख ऋणात्मक है घनात्मक नहीं है—भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द की भूमिका है, आनन्द नही है। जबकि रस पूर्ण आनन्द है। इसी आनन्द के आधार पर भारतीय नाट्य शास्त्र के भेदको में रस का प्रमुख स्थान है। यहाँ सामाजिकों को रस से उद्रिक्त करना नाटको का महत्वपूर्ण लक्ष्य रहा है। परन्तु पाश्चात्य नाटकों मे विरेचन सिद्धान्त ही रसात्मक आस्वाद बनकर उपस्थित हुआ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो विरेचन का सिद्धान्त अपने आपमें एक अभावात्मक मानसिक अवस्थिति रखता है जिसका सान्निध्य एडलरीय आत्महीनता ग्रन्थि से होता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार हीनत्व कुण्ठा के परिमार्जन की एक विधा क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया है। उसी भाँति विरेचन सिद्धान्त दु:ख के अभाव की पूर्ति क्षतिपूर्ति में करता है। हमारे इस कथन का समर्थन डा० नरेन्द्र द्वारा भी मिलता है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि विरेचन का सिद्धान्त अपने आप में एक अभावात्मक स्थिति रखता है। इससे दु:ख के अभाव की स्थित उत्पन्न होती है। दु:ख के अभाव का अर्थ हुआ आत्मा की क्षतिपूर्ति अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण। आत्मा की वृद्धि अथवा चेतना के उत्कर्ष के समकक्ष यह स्थिति नही हो सकती। फलत: अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विरेचन-जन्य-प्रभाव भट्ट नायक अभिनव के रस में यही अन्तर है। और यह अन्तर साधारण नहीं है—'क्षतिपूर्ति, और 'लाभ' का अन्तर है।[2] क्षतिपूर्ति मानव की अभाव ग्रस्तता की परिचायिका है। यह अभाव की पूरक है। उसका मार्ग लाभ से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब प्रबल मनोवेग के अभाव से निर्मित कुण्ठायें मानव को मनोग्रस्त बना देती हैं तो उसकी मनोग्रन्थि का प्रस्फुटन मानसिक संतुलन के लिए आवश्यक होता है। यह तभी सम्भव है जब अज्ञात मन मे पड़े उस अभाव को मार्गान्तिरीकरण करके क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया द्वारा अन्य कार्य के पूर्ण विकास में परिवर्तित कर दिया जाए। विरेचन विधा का भी यही आस्वाद है, क्योंकि कैथारिसिस या रेचन सिद्धान्त द्वारा हमारे भावों का परिमार्जन होता है। जिस प्रकार एक कुशल वैद्य विरेचक औषधियों से शरीर की अस्वस्थता को ठीक करके बात, पित्त और कफ का संतुलन स्थिर करते है, उसी भाँति नाटककार भय और करुणा को जागृत करके दर्शकों में भावों का परिष्कार करता है। परिष्कृत की यह पद्धति पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है।

१—अरस्तू का काव्य शास्त्र – डा० नगेन्द्र (भूमिका) पृ० १०१, १०२

२—अरस्तू का काव्य शास्त्र— डा०नगेन्द्र पृ० १०४, १०५

प्रसादोत्तर-युग के मनोविज्ञान से अनुप्रेरित नाटकों में रसात्मक आस्वाद की अपेक्षा विरेचन सिद्धान्त को ही प्रश्रय मिला है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरेचन पद्धति की क्षतिपूर्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण विष्णु प्रभाकर के 'डाक्टर' नाटक मे हमें मिलता है -

पूर्वोक्त अनुशीलन के अनुसार विरेचन सिद्धान्त का प्रमुख सूत्र मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अन्तर्वृत्तियों का समीकरण या मनोग्रन्थियों का परिष्करण मात्र है। 'डाक्टर' नाटक की 'डाक्टर' अनीला में हीनत्व कुण्ठा के मनोविकारो से क्षति पूर्ति की प्रतिक्रिया को उत्तेजना मिली है जिससे वह परित्यक्ता होने के बावजूद अशिक्षिता से डाक्टर बन गयी है। क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया की प्रबलता से उसकी हीनत्व कुण्ठा में प्रतिशोध-ग्रन्थि का समावेश है जिससे उसका मानसिक संतुलन भी शिथिल पड़ गया है। उसका विवाह पन्द्रह वर्ष पूर्व सतीशचन्द्र शर्मा इन्जीनियर से सम्पन्न हुआ किन्तु अशिक्षिता होने के कारण वह पति द्वारा परित्यक्ता कर दी गई। सतीशचन्द्र शर्मा की दूसरी पत्नी अस्वस्थ होकर उसी अस्पताल में इलाज कराने आई जिसमें अनीला इन्चार्ज थी। प्रतिशोध ग्रन्थि वश पहले तो अनीला को उसका दाखिला करना अत्यन्त अखर उठा। किन्तु नाटककार को विरेचन सिद्धान्त के अनुसार यहां मनोग्रन्थि का परिष्कार दिखाना था। अतः मानसिक द्वन्द्ववश्यता के सहारे संपूर्ण नाटक मानसिक घटनाओं का सफल निर्वाह करता हुआ परिष्कृति की उस चरम सीमा पर आ पहुँचा है जहां विरेचन द्वारा मनोविकृतियों का निराकरण होता है।

डा० अनीला अपने भूतपूर्व पति सतीशचन्द्र की पत्नी का आपरेशन करना न चाहती हुई भी करती है। और आपरेशन को सफल न बनाने की इच्छा रखती हुई भी उसे पूर्ण सफल बनाती है। तदुपरान्त बेहोश हो जाती है। यह प्रतिशोध ग्रन्थि की परिष्कृति है। सतीशचन्द्र के काम आकर नाटककार ने मनोग्रस्त अनीला को पूर्ण स्वस्थ बनाने का ढंग प्रस्तुत किया है। इस प्रकार विरेचन सिद्धान्त के अनुसार नाटक का अन्त क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया में हुआ है। यहां लाभ अर्थात् रस से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

मनोविश्लेषणात्मक शैली—स्थूल रूप से शैली के दो भाग किए जा सकते हैं :—

(१) विकास (Development) शैली ।
(२) विन्यास या उद्घाटन (Exposition) शैली ।

विकास शैली के सहारे चरित्र चरम परिणति पर पहुँचता है और अन्त में गांठ-सी खुल जाती है। विन्यास शैली विकास के क्रम से सर्वथा च्युत होती है, उसमें

केवल भाव विचारों तथा घटनाओं के परत के परत खुलते चले जाते हैं। विकास शैली हमारी जिज्ञासा की संतुष्टि में तल्लीन होती है। विन्यास शैली हमारे परितोष का कोई साधन नहीं ढूंढ निकालती। बहुधा उसमें जिज्ञासा मध्य में ही अटक जाती है और यही उसकी सफलता के लक्षण हैं। विकास शैली वस्तु-कौशल से सम्पन्न होती है। विन्यास शैली में मनोविश्लेषण की पद्धति अन्तर्निहित होती है।

आधुनिक काल के नाटकों में जहाँ मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाया गया है वहां विन्यास शैली की सफल अवतारणा हुई है। उदाहरणार्थ-उदयशंकर भट्ट के 'नया समाज' नाटक में विन्यास शैली के लक्षण विद्यमान हैं जिसका मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन निम्न प्रकार से है :—

नया समाज—उदयशंकर भट्ट के इस नाटक की 'कामना' पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। 'कामना' में मनोग्रस्तता चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। उसमें इडिपस ग्रन्थि और आत्मरति (नार सिस्टिक काम्पलैक्स) का प्राबल्य है। फ्राइड ने इडिपस ग्रन्थि का विवेचन करते हुए लिखा है कि पिता से प्रेम पूर्ण अनुराग, अनावश्यक माता को हटाने और उसका स्थान ग्रहण करने की आवश्यकता, तरुणावस्था में होने वाले हाव-भावों और लीला का शुरू में ही प्रदर्शन ये सब बातें मिलकर छोटी लड़की का विशेष रूप से मोहक चित्र बना देती हैं।

जब नये भाई और बहिन बड़े होते हैं तब उनके प्रति बालक के रुख में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। लड़का निष्ठाहीन माता के स्थान पर अपनी बहन को प्रेम आलम्बन बना सकता है। छोटी लड़की अपने से बड़े भाई को पिता का स्थानापन्न बना लेती है, क्योंकि पिता अब उससे बचपन के जैसा प्यार नहीं करता, या वह किसी छोटी बहन को उस शिशु का स्थानापन्न बना लेती है जो वह अपने पिता से पाना चाहती थी, पर न पा सकी।[1]

'कामना' अपने पिता और भाई की आंखों पर इतनी आसक्त है कि अपने पिता मनोहरसिंह की अवैध सन्तान रूपा नौकर की आंखें अपने पिता और भाई के अनुरूप पाकर ही उस पर विमुग्ध हो गयी है। 'कामना' की इस आसक्तता में पिता और भाई के प्रति आसक्ति के दर्शन होते हैं। यही फ्राइडियन इडिपस ग्रन्थि की मान्यता है कि लड़की का सर्वप्रथम पिता के प्रति प्रेम पूर्ण अनुराग होता हैं। तदुपरान्त अपने बड़े भ्राता को पिता के स्थानापन्न बना लेती है। 'कामना' द्वारा भी यह मानसिक प्रक्रम हुआ है। वह इतनी मनोग्रस्त है कि उसको कोई व्यक्ति मन पसन्द नहीं। वह केवल चाहती है तो पिता और भाई को, जिनकी आंखें उसे अति आकर्षक

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड—पृ० सं० २६७

प्रतीत हुई है । इसी के आधारभूत कामना मे आत्मरति का भी सुन्दर एवं आकर्षक निदर्शन हुआ है ।

हैवलाक एलिस ने इस नार्किससवाद या आत्म प्रेमवाद के सम्बन्ध में लिखा है—"इस दशा को हम आत्म मैथुन का चरम और सर्वोच्च विकसित रूप मान सकते है । बहुत पहले से उसके चिन्ह कथा साहित्य और कविता मे ढूंढे जा सकते थे । और उसकी केन्द्रीय स्थिति का प्रतीक नार्किसस प्राचीन समय से ही यूनानी साहित्य में मौजूद था । इस दशा में यौन-भावनायें आत्मप्रशंसा मे निमज्जित हो जाती है, और अक्सर पूरी तरह लुप्त हो जाती है । इसमें कर्त्ता अपने आपको किसी स्त्री के साथ एकाकार कर देता है और इस प्रकार आत्म-प्रेम अपना लेता है ।"[1]

"कामना" रूपा पर यों ही आसक्त है कि उसके रूप में वह अपने ही सौंदर्य का दर्शन करती है । उसके रूप साम्य में तादात्म्य की भावना का रहस्य तब खुलता है जब वह कहती है कि यही अकेला मुझे अच्छा लगता था । इसकी आंखों में मुझे अपनापन दिखायी देता था । मैं ऐसा रूप चाहती थी, मैं ऐसी आँखो को चाहती थी । मैं अब शादी नही कर सकती । मुझे बाबा जैसी आंखें अच्छी लगती है । चन्द्र जैसी आंखें अच्छी लगती हैं । यह मुझे क्या हो गया । मैं अपने मन से परेशान हूं, मैं अपने से परेशान हूँ ।

इस कथन के फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि 'नया समाज' की 'कामना' इडिपस काम्पलैक्स और नारसिस्टिक काम्पलैक्स अर्थात् आत्मरति ग्रन्थि से पूर्णतया ग्रसित है, क्योंकि नाटक में मनोग्रन्थि सुलझने की अपेक्षा कामना की मनोग्रस्तता के कारण उलझ गई है । उसकी मनोग्रस्तता का कारण तो नाटक में बतला दिया गया है पर उसका निराकरण नहीं हो पाया है । फलतः जिज्ञासा यहां मध्य में ही अटकने के कारण नाटक में विन्यास शैली का प्राधान्य है ।

मनोवैज्ञानिक रंग संकेत एवं पात्र निर्देशों द्वारा पात्रों और संवादों में मनोवैज्ञानिकता—नाटकों में आये हुए मनोवैज्ञानिक रंग-संकेत और पात्र निर्देश से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रायः नाटककार पात्र को मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए ऐसे रंग संकेत देता है जिसके आधारभूत पात्र के अभिनय में मनोवैज्ञानिकता आ जाती है, जैसे उदाहरणार्थ भट्ट जी के मुक्तिदूत नाटक में जहां सिद्धार्थ के बीसियों रूप रंग संकेत द्वारा नाटककार उपस्थित करता है, वहां उसका रंग संकेत सिद्धार्थ के भिन्न व्यक्तित्वों को स्पष्ट करने के लिए पूर्ण मनोवैज्ञानिक बन गया है ।[2]

१—यौन विज्ञान—हैवालाक् एलिस —पृ० सं० १३०

२—मुक्तिदूत—उदयशंकर भट्ट पृ० सं० ५६

इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्र निर्देश भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखत है। अभिनेता यदि नाटककार द्वारा दिये हुए मनोवैज्ञानिक पात्र निर्देश का पालन करेगा तो उसके हाव-भाव और आंगिक क्रियाओं में सांकेतिक चेष्ठाओं का समाहार स्वतः ही हो जायेगा। जैसे —दाँत पीसना, होठ चबाना, क्रोध संवेग के सांकेतिक रूप हैं। घिघियाकर या हंसकर बातें करना आदि पात्र निर्देश अपना कुछ न कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य रखते है। इन पात्र निर्देशो से संवादों में मनोवैज्ञानिक आकर्षण बन जाता है। उदाहरण के लिए डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'केवट' नाटक के कुछ स्थलों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

डा० वृन्दावन लाल के 'केवट' नाटक की—उन्मादिनी गोदावरी का पागलपन फ्राइडियन मनोविश्लेषण चिकित्सा पद्धति से घुणाक्षरन्यायेन स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। उसके अज्ञात मन की घुमड़न जो कि तुला की हत्या के साथ-साथ ही बन गई थी अब तक चेतन मन से पृथक् ही रही थी। जब खेमा द्वारा अकस्मात तुला देवी की मूर्त्ति का प्रसंग चल पड़ता है, तब गोदावरी झपटकर मूर्त्ति को हाथ में ले लेती है। उसकी आंखों में शून्यता बिल्कुल गायब हो जाती है। उसकी दशा ऐसी हो जाती है जैसे उसकी नस-नस में बिजली कौंध रही हो। वह कमरे की हर एक वस्तु पर निगाह दौड़ाती है। उसकी स्मृति यकायक सजग हो जाती है।

गोदावरी—(अपेक्षाकृत जल्दी जल्दी) यह तो मेरा मकान है। यह मेरा कमरा है। यह मूर्ति तुला की, मेरी तुला की।

मुकुन्द—आपको अपना नाम याद है।

गोदावरी— क्यों ? क्या बात हुई ऐसी। मैं डाक्टर गोदावरी हूँ।[1]

एक स्थल पर डा० वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने इस नाटक की मनोवैज्ञानिकता की पुष्टि स्वयं मुकुन्द के संवाद में की है। वह गोदावरी के इस परिवर्तन को मनस्तत्व वेत्ताओ की सामग्री बतलाता है—

किन्नर—(गोदावरी से) अब आप बिल्कुल स्वस्थ है।

गोदावरी—जी ? जी हाँ।

किन्नर—मुझे अभी अभी मालूम हुआ कि जैसे यकायक आप अस्वस्थ हुई थीं वैसे ही अकस्मात् स्वस्थ भी हो गई।

मुकुन्द—यह जो मूर्ति मेज पर रक्खी है उसको देखते ही आप में परिवर्तन हुआ।

खेमा, सुमेर—(एक साथ) जी हाँ।

१—केवट—डा० वृन्दावनलाल वर्मा—पृ० सं० ६३

किन्नर—डाक्टरों के गहरे अध्ययन का विषय है।

मुकुन्द—(बेधड़क) डाक्टरों के लिए नहीं, श्रीमान् जी, मनोवैज्ञानिकों के लिए है यह विषय।[1]

इसके अतिरिक्त खेमा और उसके पति सुमेर मे कुछ मनोवैज्ञानिक उलझने है। सुमेर की आर्थिक स्थिति अच्छी नही, पर खेमा को फिर भी चटकीले कीमती वस्त्राभूषण चाहिये। अतः सुमेर को बदमाशो के गिरोह की शरण लेनी पड़ी। हिमानी की आज्ञा से तुला की मूर्ति का निर्माण भी उसने किया। इसी समय यौन-विच्युति के कारण उसमें पंगमॅलियनवाद का प्राबल्य हो उठा। उसके अज्ञात मन ने खेमा की अवहेलना की, क्योंकि उसका उस मूर्त्ति से प्यार हो उठा। खेमा ने इसे ताड़ लिया।

खेमा—जितनी चाह इस मूर्त्ति पर चढ़ा रहे हो, उतनी से ज्यादा इसके असली रूप पर बरसाओगे।

सुमेर—(घिघियाकर) न जाने तुम्हारे मन में क्या भ्रम समा रहा है।[2]

खेमा की यह ईर्ष्या बिल्कुल सही है आगे मूर्तिकार सुमेर तुला की उस मूर्ति को हिमानी से लौटाने की मांग करता पाया जाता है—

हिमानी—(हंसकर) ओ हो किसी भाव में डूबने उतराने लगे क्या। मूर्तिकार जो ठहरे, कलाकार।

सुमेर—(कुछ तत्परता के साथ) नहीं तो, पर सबसे पहले उस चित्र को लौटा दो। उसको देखकर, न जाने मन क्यों चल-विचल हो उठा है।[3]

दोहरे व्यक्तित्व वाली हिमानी जहां अपराध ग्रन्थि से अनुप्राणित होकर मरुस्थल सी सबको संतप्त किये हुए है। उसी अन्तर्तम में वह काम रूपी शाद्वल भी छिपाए हुए हैं। उसकी आसक्ति सुमेर जाकर टिकती है। पर सुमेर को केवल अपनी सनक से प्यार है।

हिमानी—तुम जानते हो या नहीं कि मैं तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ।

सुमेर—मैं समझा ......नहीं।

हिमानी—सुनो साफ समझाती हूँ। तुम खेमा को गहने कपड़ों से खुश करते रहो—काफी देती रहूँगी—और मुझे अपने प्रेम से। मेरा असली नाम ठिनकी है, गिरोह का नाम जमप्लों और यहाँ का हिमानी। तुम्हारे लिए ठिनकी, तुम्हारी प्यारी ठिनकी।

१—**केवट—डा० वृन्दावन लाल वर्मा पृ० सं० १०१, १०२**

२— ,, ,, २६

३—**केवट—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० ८६**

सुमेर —(यकायक) असम्भव ।[1] यह हिमानी के बहुव्यक्तित्व में पले हुए नाम हैं। वह सुमेर से प्रेम चाहती है, विवाह नही, क्योंकि हीन भावना से आन्दोलित प्रतिशोध ग्रन्थि का अंकुर अभी हिमानी में मनुष्य मात्र से बदला लेने का अभिलाषी है।

तात्पर्य यह है कि पात्रों के मनोविज्ञान के सहारे नाटककार ने अभिनेताओं के अभिनय हेतु मनोवैज्ञानिक पात्र निर्देश और संवादों की अवतारणा की है। 'केवट' नाटक के हिमानी, किन्नर, गोदावरी. सुमेर, और मुकुन्द आदि पात्रों में मनोवैज्ञानिक संवादों को परिपुष्ट बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक पात्र निर्देशों का सफल प्रयोग हुआ है। उक्त पात्रों के सम्वादों की शैली से ऐसा विदित होता है जैसे किसी मनोवैज्ञानिक ग्रंथि को सुलझाने के लिए ही उनका सर्जन हुआ है।

मनोवैज्ञानिक स्वोक्तिपरक संवाद एवं आन्तरिक द्वन्द्व के प्रतिरूप छायापात्र— विपमताओं के कारण वर्तमान जीवन ऐसे चरित्रों का आगार है जिनमें अन्तर्विरोध और प्रतिकूलतायें स्वभावतः प्राप्त हो जाती है। चरित्रों में सरलता का मिलना दूभर हो रहा है। आज मानव व्यथित एवं उत्पीड़ित है, किन्तु मुस्करा रहा है, उसका अन्तःकरण खोखला है, किन्तु बाह्य रूप में मान मर्यादा उसे प्रसन्न और दृढ़ बनाये हुए है, ऐसी स्थिति ने उसमें आन्तरिक द्वन्द्व को जन्म दे डाला है। इस मानसिक अवस्थिति का संतुलन एकात्तवास या स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण द्वारा किया जा सकता है, तभी आज मनुष्य उत्पीड़ित होने के कारण एकान्तप्रिय बनता जा रहा है। इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण है। वह एकान्त में अपनी उन दमित ग्रन्थियों को खोलकर स्वस्थ बनने का अभिलाषी है।

यद्यपि रंगमंचीय चरित्रों को यह निभृति (प्राइवेसी) अलभ्य है, परन्तु रंगमंच पर छाया पात्रों द्वारा चरित्रों की मानसिक द्वन्द्व-वश्यता को मनवैज्ञानिक ढंग पर आधुनिक नाटकों में प्रस्तुत किया जाता है। उदयशंकर भट्ट के 'मुक्तिदूत' नाटक के सिद्धार्थ पात्र में ऐसे ही छाया चित्र का अत्युपयोगी निदर्शन हुआ है।[2]

और उदयशंकर भट्ट के 'मायोपिया' एकांकी में 'सुधी' की छायामूर्ति ने भी इसी मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति की है।[3] इसके अतिरिक्त नाटकों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में इन छाया पात्रों के और भी बहुत से उदाहरण मिलेंगे।

१—वही " " ८८-८९

२—मुक्तिदूत—उदयशंकर भट्ट—पृ० ५८ और ६२

३—पर्दे के पीछे—उदयशंकर भट्ट पृ० ९३

रंगमंच की अपेक्षा रेडियो पर ऐसे चरित्रों की कुन्ठाओं का भण्डाफोड़ बडी सुगमता से स्वगत भाषण द्वारा किया जाता है। रेडियो शिल्प के प्रमुख सूत्र स्वगत भाषण अरुपध्वनि तथा संकेतात्मक शब्द और विगताख्यान आदि उपकरण है। रेडियो नाटक में अभिनय का कोई मूल्य नही, केवल पात्रो द्वारा प्रस्तुत कथोपकथन में आये हुए मनोभावों की गूढ़ गुत्थियों एवं अज्ञात मन के गुप्त रहस्य, स्वगत भाषण से सुस्पष्ट हो जाते है। रंगमंच के नाटकों में स्वगत भाषण एक उलझन पैदा करता है। पात्र की कृत्रिमता छिपाने पर भी नहीं छिप पाती। उन संवादो का प्रस्तुतीकरण जिनमें विभिन्न व्यक्तित्व संघर्षो की अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है, ऐसे नाटको का अभिनय निश्चय ही कई नयी-नयी समस्यायें उठता है, जिनका निवारण छाया पात्रो के अतिरिक्त और कोई मनोवैज्ञानिक ढंग नाटकों में दृष्टिगत नहीं होता।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि साधारण मनुष्य के व्यक्तित्व के भी एक से अधिक पक्ष होते हैं, और असाधारण रूप से विकसित व्यक्तित्व के तो इतने विरोधी पक्ष होते है कि एक का व्यवहार दूसरे के व्यवहार से सर्वथा भिन्न और विपरीत होता है। रंगमंच पर इस मानसिक द्वन्द्व का प्रति चित्रण इतना सफलतापूर्वक सम्भव नही होता जितना कि रेडियो नाटक में सम्भव है। आर्नहाईम एक उच्चकोटि के जर्मन रेडियो नाटक (Johann Hein Rich Merck's last night) का उदाहरण देते हुए बताता है कि इस श्रव्य कृति में प्रमुख पात्र 'मैर्क' पांच वक्ताओं में विभाजित किया गया है, जो 'मैर्क' के मन के विभिन्न और अन्तर्विरोधी पक्षों और उसके जीवन के विभिन्न कालों के प्रतीक हैं, यथा 'मैर्क' की अनुताप, अविश्वास, युवा एवं बाल्यावस्था और आसुरी रूप। श्रव्य नाट्य को छोड़कर और कोई ऐसा नाट्य कला रूप (ड्रामेटिक आर्ट फोर्म) नहीं है जो मन के आन्तरिक संघर्ष को इतनी स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता से व्यक्त कर सके।[1] श्रोता के लिए सबसे अधिक उपयुक्त वातावरण तो वह होता है जब वह चरित्र के विभिन्न पक्षों का अनुबोध विभिन्न चरित्रों के रूप में नहीं करता। जिस समय एक अभिनेता की ध्वनि को कई रूपों में श्रोता कर्णगोचर करता है तो वह समझ लेता है कि यहाँ दो पात्रों का कार्य नहीं प्रत्युत दो विरोधी तत्वों से आन्दोलित एक ही पात्र की विकृत ध्वनि है जो एक व्यक्ति में संस्थित होते हुए भी विरोधी भावनाओं से प्रतिध्वनित है।

व्यक्तित्व के चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन का विश्लेषण, श्रव्य नाट्य में अत्यन्त सफलता से होता है। अज्ञात मन की इच्छाओं का प्रस्फुटन स्वप्न, सांकेतिक चेष्टाओं और भूलों द्वारा होता है। यह तीनों मानसिक प्रक्रम रंगमंच पर आंगिक क्रियाओं और पात्रों के कथोपकथनो द्वारा दिखलाये जाते हैं। किन्तु रेडियो पर स्वप्न

१—रेडियो नाटक-हरिश्चन्द्र खन्ना पृ० सं० ६६, ६७

को अरुप ध्वनि, सांकेतिक चेष्टाओं को संकेतात्मक शब्दों और भूत्रों के मनोविज्ञान को सम्वादों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। रेडियो पर आकार-विहीन शब्द संकेत द्वारा स्वप्न की अवस्था का जो सफल प्रयोग होता है, रंगमंच पर वह दुर्लभ है, क्योंकि स्वप्न के अन्तर्गत हमारे अर्द्धचेतन मानस में कैसी-कैसी परस्पर विरोधी भाव प्रवणता उठती और विलीन हो जाती है। यह सब कुछ रेडियो पर ही दिखलाना सम्भव है।

रंगमंच पर जहाँ मनोवैज्ञानिक स्वोक्तिपरक सम्वादों द्वारा मानसिक द्वन्द्व को हम छाया पात्रों के अभिनय में देखते हैं, रेडियो पर उसका निबंन्ध प्रयोग होता है। वहाँ चेतन मन (ओब्जेक्टिव) प्रश्न का उत्तर अन्तर्मन (सब्जैक्टिव) देता है और अन्तश्चेतना (सब्जैक्टिव) का विरोध ओब्जैक्टिव मन करता है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण विष्णु प्रभाकर के नाटक 'उपचेतना का छल' (जैसा कि नाम से भी सुस्पष्ट है) में पाया जाता है। यहां 'तारा' और उसकी 'उपचेतना' मनोवैज्ञानिक सम्वादों द्वारा दमित सवेगाविष्ट मनोवेगों का एक विलक्षण एवं सारगर्भित मनोविश्लेषण करती पायी जाती है।

तारा—(गम्भीर एवं स्वागत स्वर में) मेरे जीवन का एक और अध्याय समाप्त हो गया। मै एक बार और असफल रही, मैंने एक और मात खायी। प्रभात से मैं कितना प्रेम करती थी लेकिन झूठे आदर्श के मोह में पड़कर मैने उसे खो दिया। (सहसा उपचेतना हंसती हुई बोल उठती है।)

उपचेतना—(हंसकर) झूठे आदर्श का मोह नहीं, वह तुम्हारा अभिमान था और अभिमानी मनुष्य कभी प्रेम नहीं कर सकता।

तारा—(कांप कर) कौन ? उपचेतना, तुम फिर आ गयीं।

उपचेतना—आने को मैं कहाँ जाती हूं। मैं मनुष्य के अन्दर सोती रहती हूँ। जब वह अपने को धोखा देता है तब मैं जागती हूँ।

तारा—क्या मैं अब भी अपने को धोखा दे रही हूँ। क्या प्रभात के प्रेम में मेरा हृदय नहीं तड़प रहा है ?

उपचेतना—तुम्हारा हृदय तो तड़प रहा है। परन्तु प्रभात के प्रेम के कारण नहीं।

तारा—तो............।

उपचेतना--शंकर से बदला न ले सकने के कारण।

तारा--तुम क्या कह रही हो।

उपचेतना--मैं वही कह रही हूँ जो है। बोलो, क्या मैं गलत हूँ।

तारा--(कांपती हुई) शायद, शायद तुम ठीक कह रही हो।

उपचेतना--(अट्टहास) मैं सदा ठीक कहती हूँ। तुमने शंकर मे जिस प्रकार मुक्ति पायी, जिस प्रकार तुम्हें महात्मा का प्रेम मिला, उसका तुम्हें बहुत बड़ा अभिमान था। इसलिए अलग होकर भी तुमने चाहा कि शंकर तुम्हारे पास आये और जब आया तो तुम क्रोध से भर उठीं। और इसी कारण तुमने शंकर को परसों अपने घर से निकाल दिया था।

तारा--(कांपकर) मैं मानती हूँ ऐसा ही था। तुम ठीक कहती हो पर शंकर भी तो.......।

उपचेतना--मैं शंकर को नहीं जानती, तुम्हे जानती हूँ। तुम बार-बार अपने को धोखा क्यों देती हो, तुम अपनी हार से क्यों हार जाती हो।

तारा--मैं अपनी हार से हार जाती हूँ।

उपचेतना--हाँ, हारने पर दु.ख मानना हार से हारना है। तुम प्रभात से विवाह नहीं कर सकतीं, इसका तुम्हें बहुत बड़ा क्षोभ है। तुमने अनीला को जो आशीर्वाद दिया उसमें भी प्रेम नही था।

तारा--(कांप कर) क्या...... तुम क्या कहना चाहती हो।

उपचेतना--यही कि उसके मूल में द्वेष था, घृणा थी। मैं द्वेष और घृणा को उतना बुरा नहीं समझती जितना उनको छिपा कर महात्मा बनने को।

तारा--(सुबक उठती है) तुम ठीक कह रही हो। लेकिन मैं क्या करूँ। मुझे कुछ सूझता नहीं। मैं अन्धकार में भटक रही हूँ। मुझे राह दिखाओ--बोलो (स्वर गूंजता है) बोलो, तुम फिर चली गई। ठहरो, ठहरो, अरे, यहाँ तो कोई नहीं। ओह मैं स्वप्न देख रही थी। कैसा भयंकर स्वप्न था। पर कितना सत्य ......।[1]

रेडियो शिल्प-विधान के कारण नाटककार को आन्तरिक द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए रंगमंच की भांति छाया-पात्र का सर्जन नहीं करना पड़ा। प्रत्युत मनोवैज्ञानिक स्वोक्तिपरक सम्वादों द्वारा तारा ने उसे स्वत: ही अभिव्यक्त कर डाला है।

अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रसादोत्तर-युग के मनोविज्ञान से प्रभावित नाटककारों का ध्यान बाह्य क्रियाओं से हटकर आन्तरिक क्रियाओं पर केन्द्रित होता जा रहा है। उनकी नाट्य कृतियों मे पुरानी परिभाषा के अनुसार कोई क्रिया नहीं होती प्रत्युत कहानी मात्र सुनाने की अपेक्षा उनका उद्देश्य जटिल चरित्रों का मनोविश्लेषण होता है।

१--उपचेतना का छल--विष्णु प्रभाकर (रेडियो नाटक--हरिश्चन्द्र खन्ना) पृ० १४१, ४२

यह कहना कि इन नाटकों में गति या विकास का आभास नहीं होता, गलत है। इनमे गति होती है, लेकिन कलाकार का उद्देश्य अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र में जीवन की एक घटना विशेष का अध्ययन और विमर्षण होता है। प्रभाव विविधता (Diversity) का नहीं, गहराई (Depth & intensity) का होता है। नाटक की गति शारीरिक (Physical) नहीं बल्कि मानसिक (Psychical) होती है। और यहाँ भी नाटककार का प्रमुख उद्देश्य चरित्रों के बाह्य व्यवहार की व्याख्या के लिए अन्तर्मन की ग्रन्थियों पर प्रकाश डालना होता है।[1] फलतः प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए ऐसे ही नाटकों को चुना गया है जिनमें मानसिक कुण्ठाओं का प्रस्फुटन हुआ है। मनोवैज्ञानिक पात्र, कथावस्तु और रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक वर्गों में समाहित करके आगे के अध्यायों मे ऐसे ही नाटको का विश्लेषण किया गया है।

१—रेडियो नाटक– हरिश्चन्द्र खन्ना पृ० ६५, ६६

षष्ठ अध्याय

★

मनोविज्ञान से अनुप्रेरित प्रमुख नाट्य कृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

प्रसादोत्तर युग के प्रमुख मनोवैज्ञानिक नाटकों मे पात्र, कथावस्तु और रचनात्मक प्रक्रिया को किसी न किसी अंश में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सफल पाया गया है। फलस्वरूप इन नाटकों को मनोवैज्ञानिक वर्गो की निर्धारित पद्धति के अनुसार विभाजित करके उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु यहां यह दृष्टव्य है कि नाटक में आई हुई प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपपत्ति को ही आधार मानकर उसे तत्सम्बधी मनोवैज्ञानिक वर्ग में रखा गया है और अन्य मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण प्रमुख उपपत्ति को विकासोन्मुख बनाने के कारण किया गया है। नाटकों के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे पात्र, कथावस्तु और रचनात्मक प्रक्रिया के क्रम से अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया, प्रत्युत इस क्रम की पेक्षा वहां नाटक की विषय-वस्तु की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के साथ-साथ विश्लेषित करते हुए, उसकी अखण्डता पर ध्यान रखा गया है, जिससे नाटक की गतिविधि में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां सुगमता से समझी जा सकें।

अहंकारात्मक वर्ग— अहंकारात्मक मनोवैज्ञानिक वर्ग में उपेन्द्रनाथ अश्क के अंजो दीदी तथा कैद और उड़ान नाटकों का विश्लेषण यहां प्रस्तुत है।

अंजो दीदी—"अंजो दीदी" मनोविकारों के घात प्रतिघात और उसकी प्रतिक्रिया की कहानी है। कोई देवी घटना वहां नहीं है, आकस्मिक रूप से बदलने वाली परिस्थितियां वहां नहीं हैं, जो जीवन को अंधेरे या उजेले मोड़ पर डाल देती हैं। उसकी कथा की प्रेरक शक्ति है— मनोविज्ञान।[1]

मनोविज्ञान के सहारे अश्क जी ने इस नाटक में अभिजात वर्गीय पारिवारिक प्रतिशोध, काम-विकृति, सैक्स की प्रकृतेच्छा का निरोध या स्वच्छन्द प्रवाह आदि

१—अंजो दीदी—उपेन्द्र नाथ अश्क (मूल्यांकन) पृ० सं० २१

कुण्ठाओं की मान्यता नहीं दी प्रत्युत इसमें आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत चारित्रिक मनोवृत्तियां, ग्रन्थियां और विलक्षणताओं का मनोवैज्ञानिक एक पहलू प्रदर्शित किया है।

अंजली के मन में जीवन को नियंत्रित एवं अनुशासित, करने वाली मनोवृत्ति संस्कारगत है। यह प्रवृत्ति उसे गोद लेने वाले नाना जी से विरासत में हस्तान्तरित हुई है। जिस प्रकार अंजली ने स्वंय इस प्रवृत्ति को फ्राइडियन आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति (हैरेडिटरी प्रेडिस्पोजिशन) के सिद्धान्तानुसार प्राप्त किया है। उसी प्रकार 'ओमी' ने भी इसे पाया है। अर्थात् अंजली ने इस प्रवृत्ति को अपने नाना जी से और ओमी ने अंजली से उपलब्ध किया है। इस परम्परागत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पाई जाने वाली प्रवृत्ति को, अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक गोडार्ड, महाशय के संस्कारगत अनुशीलन से निकले हुए परिणामों से भी मान्यता प्राप्त होती है। गोडार्ड का ज्यूक वंश का अध्ययन तीन सहस्र व्यक्तियों में एक ही प्रवृत्ति को समान बतलाता है। अतः अश्क के नाटक में तीन पीढ़ी तक एक ही प्रवृत्ति का शाश्वत आधिपत्य असंगत नहीं।

मनोवैज्ञानिक पात्र अंजली—अंजली का मनोविज्ञान ऐसे स्तर पर संगठित हुआ है कि उसकी यह सनक ऊपरी या थोथी नहीं दिखाई देती। इस सनक को चालित करने वाली शक्ति है—उसका अखण्ड अहं। अहंवादिता के आतंक के बावजूद कोई ऐसी रहस्यमयी घुटन है जो उसे चैन नहीं लेने देती, हर व्यवस्था को देखकर भी वह तिलमिलायी झुंझलायी सी घूमती रहती है। उसके उस प्रचण्ड अंह की तुष्टि में कोई शाश्वत कठिनाई है जो अवरोध बनकर खड़ी है और उसके अहं को निरर्थक और प्रभावहीन करती जा रही है। इस हार को स्वीकार न कर पाने के कारण वह घुटती-घुटती उस सीमा तक जा पहुँचती है, जहां से नाश की रेखा शुरू होती है।[1] मानसिक रोगी का स्वयं नाश की स्टेज 'स्वाक्रमण—प्रेरणावेग' मनोवृत्ति से अविच्छिन्न सम्बन्ध रखती है। नवीन मनोविज्ञान प्रणेताओं ने इस मनोवृत्ति को Nemisism, Auto-aggression, Desteruridо आदि नामों से पुकारा है। घृणा के बावजूद ऐसा मनोग्रस्त व्यक्ति अपने हृदय में आक्रमणात्मक भाव-जाग्रत कर बैठता है। यह अवस्थिति तीन मानसिक प्रक्रमो को उत्पन्न करती है—निरोधन (Repression) स्थानान्तरण (Displacement) स्वाक्रमण Turning it against himself। आत्म हत्या स्वाक्रमण प्रेरणावेग का अन्यतम रूप है। यह प्रवृत्ति अज्ञात में कार्य करती रहती है। जे० सी० फलुगेन की यह उपपत्ति अंजली पर अक्षरशः सत्य है क्योंकि वह हठी अभिमानिनी नारी, अपने स्वयं के नाश से भी उसी कार्य को फलित करना चाहती है जिसको वह जीवन पर्यन्त भी जिन्दा रहकर न कर सकी। उसके अहं को सबसे बड़ी चुनौती है इन्द्र नारायण वकील द्वारा शराब पीने की आदत को न छोड़ पाना। जब अंजली अपने प्रियतम की इस

१—अंजो दीदी—उपेन्द्र नाथ अश्क—(एक मूल्यांकन) पृ० ८, ९, १०

निकृष्ट आदत से पराभूत हो जाती है, तब उसका अहं अन्तर्द्वन्द्व की चरम सीमा का उल्लंघन कर जाता और वह स्वयं आत्म भर्त्सना से अपना अस्तित्व सर्वदा के लिए खो बैठती है—लेकिन उसके इस विनाश में भी वह शालीनता और संयम है जो नष्ट होते हुए भी अपनी पराजय स्वीकार नहीं करना चाहता।

अपने पराजित जीवन की इस विफलता को लिए हुए, एक दिन अंजो अपनी रहस्यमय मृत्यु का आभास केवल अन्नो को देकर मर जाती है। लेकिन वह मर कर भी जीवित रहती है। उसका पूरा परिवार उसने पीछे भी पूर्णतया आतंकित रहता है। उसका अहं शिर नहीं झुकाता। अपनी जिस अर्धविक्षिप्तावस्था में वह अपने अहं को सहेजती है, मानवों को मशीन बना देना चाहती है। उसका चक्र चलता रहता है और वह उन्हें ठीक अपनी तरह से चलाती है। वह कहती है :—

"जीवन एक महान् घड़ी है। प्रातः संध्या उसकी सुइयाँ हैं। नियमबद्ध एक दूसरी के पीछे घूमती रहती हैं। मैं चाहती हूँ--मेरा, घर भी घड़ी की तरह चले और हम सब उसकी सूइयाँ बन जांय।[1]

इन्द्रनारायण वकील अंजली के अहं की कठपुतली बने हुए हैं। जीवन भर वे उसके अनुशासन में बंधे रहे लेकिन अज्ञात में शराब की लत ने उन्हें द्वन्द्व के लिए अवश्य प्रेरित किया और उनकी इस विरोधी प्रवृत्ति ने अंजली के प्राण ले लिए। पुनरपि अंजली के मरणोपरान्त वकील महोदय उसी अनुशासन को अपनना चाहते हैं, क्योंकि अंजली की रूह को वह अशान्त करने में अब भी घबराते हें। अंजली का अहं नीरज और नज़ीर के जीवन में विकृत्ति बन कर आया है जो कि उसकी मृत्यु के बाद पनपा है। और श्रीपत प्रवृत्तिमूलक है। वह अंजली के समक्ष चुनौती देकर खड़ा होता है।

अंजो दीदी नाटक की मनोवैज्ञानिक कथावस्तु—अंजली की मानसिक ग्रन्थि के आधार पर नाटक की कथावस्तु मानसिक घटनाओं से सन्निहित है। नाटक का प्रत्येक पात्र अंजली के अहं की परिक्रमा करने के बावजूद कथावस्तु को मानसिक प्रक्रम की ओर प्रेरित करता हुआ पाया जाता है। अंजली का पति इन्द्र नारायण उसके अहं के प्रति शराब पीना बन्द न करके उसकी मृत्यु का कारण बनता है। इन्द्र नारायण की यह प्रतिक्रिया नाटक की प्रमुख मानसिक घटना है। अंजो की मृत्यु के उपरान्त, ओमी, नीरज' नीलू में ज्यो का त्यों अहं का अखण्ड प्रवाह भी मानसिक उपक्रम का उत्कृष्ट उदाहरण है। अंजो का भाई श्रीपत प्रतिक्रिया स्वरूप सफल मनोविश्लेषक की भाँति उस परिवार की सनक को अपने अन्दर नहीं आने देता। उसके मनोविश्लेषण से नाटक की मनोवैज्ञानिक कथावस्तु स्वतः उद्भासित हो उठती है।

१—**अंजो दीदी—उपेन्द्र नाथ अश्क (एक मूल्यांकन) पृ० सं० १०**

रचनात्मक प्रक्रिया में मनोविश्लेषण पद्धति—अश्क जी 'ने अंजो दीदी' नाटक में रचनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को अपनाया है। यह सुस्पष्ट है कि अंजो की मानसिक अवस्थिति ने सब पात्रों को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना डाला है। अंजो की मनोग्रस्तता पात्रों के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु को भी मनोवैज्ञानिक बनाने में सफल हुई है। नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया को भी पात्र और कथावस्तु के अनुसार नाटककार ने मनोविश्लेषण पद्धति पर रखा है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से भरे इस नाटक में श्रीपत मनोविज्ञान का कार्य करता है। वह किसी प्रकार की कुण्ठा के वशीभूत नहीं बल्कि ग्रन्थियों से आक्रान्त व्यक्ति की उसे पहिचान है। उसकी यह विशेषज्ञता एक मुखी है, क्योंकि स्नायु-व्यतिक्रम का उसे निदान ही ज्ञात है, उपचार उससे नही आता। यदि अपनी सगी बहिन अंजली की मनोग्रन्थि को वह मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से खोलने में समर्थ होता तो वह बेचारी आत्म-हत्या क्यों करती। वह उसे मनोग्रस्तता के कारण अस्वस्थ चित्त उद्भ्रान्त (मार्बिड) बतलाता है। उसके मरने का कारण उसकी उद्भ्रान्तता ही थी—

श्रीपति—मार्बिड ? अंजो दीदी सख्त मार्बिड थी।

० ० ०

अंजो मार्बिड थीं और जालिम। खुद मरी और जीजा जी को भी मार गई।

वह मार्बिड क्यों थी ? मनोवैज्ञानिक पुष्टि फ्राइडियन आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति के अनुरूप श्रीपत सिद्ध करता है—

श्रीपत—मैं ठीक कहता हूँ—अंजो सख्त मार्बिड और जालिम थी, क्योंकि उसके नाना मार्बिड और भी जालिम थे।[1]

श्रीपत मानसिक साम्य के लिए प्रतिपल उद्यत रहता है, कोई काम वह ऐसा नहीं करना चाहता जो उसे सनकी सिद्ध करे—

श्रीपत—किसी बात को सनक की हद तक ले जाने का मैं कायल नहीं।

अनिमा—चाय तो आप अपने हाथ से ही बनाकर पीते थे।

श्रीपत—उस सनक को भी मैंने छोड़ दिया।

अनिमा—(मुस्कराते हुये) तो आपने उस सकन को भी छोड़ दिया।

श्रीपत—किस सनक को।

अनिमा—अकेले रहने की सनक को...... आपने कहा था—मैं शादी के सपने ही लेता हूँ (शादी कभी नहीं करते)।

१—अंजो दीदी—उपेन्द नाथ अश्क—पृ० सं० ११८, ११६ और १३८

श्रीपत—(हंसकर) वह सनक भी मैंने छोड़ दी।[1]

किं बहुना, अश्क जी ने सनक का विश्लेषण छोटे संवादों तथा मुख-मुद्रा के सांकेतिक रूपों को देते हुए म ोविश्लेषणात्मक ढंग पर किया है।

श्रीपत मे जो बात ग्रन्थि बनाने के लिए यदा-कदा तत्पर हुई है, वह पुनः उदात्त बनकर ही उपस्थित हुई है, क्योकि उसका मानसिक संतुलन कभी शिथिल होता हुआ नजर नहीं आया।

श्रीपत को मनोग्रस्त अंजली से छुटकारा मिलते ही 'ओमी' उसका प्रतिनिधित्व करते हुए पाई जाती है। ओमी यदि अंजली की रूह है तो नीरज श्रीपत की प्रतिकृति। दूसरे शब्दों में नीरज को श्रीपत का अपूर्ण सपना कह सकते हैं और नीरज का पुत्र नीलू उस सपने की संभावित परिणति का संकेत मात्र है। श्रीपत ने अंजली के मानसिक वैषम्य का शिकार सर्वप्रथम नीरज को देखा है। वही असमानता अंजली के मरणोपरान्त वह ओमी द्वारा नीलम पर होते देखता है। नीरज क्रिकेट का कप्तान बनने का अभिलाषी था पर अंजो उसे कमिश्नर बनाने की इच्छुक थी। दूसरी पीढ़ी में नीरज अपने पुत्र नीलम को कप्तान बनाना चाहता है। जबकि वह स्वयं कवि बनने की स्पृहा रखता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि भाव अपने गहरे असन्तोष एवं अतृप्ति को अपनी सन्तति के माध्यम द्वारा उसी जीवन में पूर्ण होता हुआ देखना चाहता है। इसी अतृप्तेच्छा की प्रतिक्रिया नीरज और नीलम में पाई जाती है। नाटक की कथावस्तु इन्हीं कुण्ठाओं से युक्त है।

इसके अतिरिक्त इस मनोवैज्ञानिक नाटक के सभी पात्र स्नायु व्यतिक्रम वाली मार्बिड अंजो की परिक्रमा कर रहे हैं। श्रीपत जानता है कि उसकी यह बहन यदि वकील साहब के शराब पान करने से न मरती तो उसे इसी प्रकार की और सनक से मरना पड़ता, क्योंकि उसके शिथिल स्नायु छोटी से छोटी बात लेकर भी भयंकर विस्फोट कर सकते थे। इस कथन की पुष्टि 'ओमी' द्वारा इस प्रकार मनोवैज्ञानिक शैली में नाटककार ने प्रस्तुत की है:—

ओमी—ममी के दौरे बढ़ते गये। नसें तो उनकी कमजोर थीं हीं, इसलिए हर बार उनका क्रोध दुगुने वेग से उभरता और वे पागल सी हो जातीं। उस दिन, जब पापा घर आये तो सुनती हूँ कि ममी को ऐसा भयानक दौरा पड़ा कि फिर वे उससे नही उठीं।[2] निष्कर्षतः अंजो में मानसिक वैषम्य हद दर्जे का था।

कैद और उड़ान—इन दोनों नाट्य कृतियों में स्त्री-पुरुषों के अनियन्त्रित

१—अंजो दीदी—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० १०६
२—अंजो दीदी—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० ६३

मनोवेग, उनका अवरोध और परिष्कार का ही सांकेतिक चित्रण है। इन नाटकों में प्रेम और विवाह की समस्या स्ट्रिण्डवर्ग, जो नील और काफमैन की भाँति अश्क जी ने दिखलाई है। सामाजिक विकृतियाँ और उसकी पृष्टभूमि में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सहज सम्बन्धों में पड़ने वाली उलझनमय ग्रन्थियाँ, अन्तर्विरोध और मनोविकार-ग्रस्त पात्र स्त्री-पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हुए पाये जाते है।

'कैद और उड़ान' में एक ओर इड् की उन्मुक्त काम-पिपासा 'अप्पी' में यौन-स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्ति हुई है जबकि वीणा इस प्रकृत वासना में स्वत: ही लवलीन है। और उड़ान की 'माया' काम-प्रवृत्ति की परिष्कृति है। 'अप्पी' का मनचाहा प्रणयी दिलीप है। 'प्राणनाथ' तो मानों उसके अभिलिषित कामेच्छा की माँग को भंग करने के लिए अवतरित हुआ है। परन्तु अप्पी का जीवन साथी दिलीप बनते बनते रोक दिया जाता है। अप्पी की बड़ी बहिन अकस्मात् स्वर्गवास हो जाने के कारण उसको अपने जीजा की जीवन संगिनी बनना पड़ता है। दिलीप और अप्पी का सुनहला स्वप्न टूट जाता है। काम प्रवृत्ति की मन माँगी मुराद को विकृत सामाजिक व्यवस्था पूरा नही होने देती। पुनरपि कैद की अप्पी का काम अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सका है। वह अतृप्त दमित कामेच्छा के बावजूद मनोग्रस्त है। मानसिक व्यग्रता के परिणाम स्वरूप वह किसी न किसी शारीरिक रोग से घिरी रहती है। लेकिन उसमें संयम भी ऊँचे दर्जे का है। इसका प्रमाण दिलीप के पुनर्मिलन से सुस्पष्ट है। यदि वह असंयत इड् की अभिलाषा को पूर्णतया निभाती तो उसका पति प्राणनाथ उसके मार्ग में बाधक नहीं बनता, क्योंकि वह तो स्वयं उन दोनों को एक पास बैठाकर दफ्तर की राह लेता है। 'अप्पी' और ''दिलीप' का संयत वातावरण ही उनको अपने अहं के विरोध में नहीं आने देता।

मनोवैज्ञानिक पात्र 'अप्पी' दिलीप और प्राणनाथ—कैद की अप्पी हीनत्व कुण्ठा की शिकार है। दिलीप भी मनोग्रन्थि से रहित नहीं। प्राणनाथ में अपराध ग्रन्थि है। अप्पी की हीन-भावना स्त्रीत्व के कारण सामाजिक वैषम्य से पनपी है। उसकी आत्म भर्त्सना ने स्वयं अपने आपको मानसिक स्नायविक व्याधियों का घर बना डाला है, जिससे उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी खराब हो चला है। उसकी इस ग्रन्थि का मार्गान्तिरीकरण आत्मदानमय कल्पना प्रवण प्रेम के रूप में हुआ है। दिलीप में अप्पी को पाने की अधिकार लिप्सा की अपेक्षा आत्मदान, वासना के बजाय पूजा की शोधन-प्रवृत्ति ने उदात्त मनोवृत्ति का परिचय दिया है। उसके विख्यात कवि बनने का कीर्ति स्तम्भ काम के उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) पर ही आश्रित है। अप्पी भी अपनी अनियन्त्रित काम-पिपासा का मार्गान्तिरीकरण कवित्त द्वारा करने को उद्यत है। परन्तु उसके संयम की दीवारें जर्जर हैं, क्योंकि वह

ऐसा दिलीप के साथ ही रहकर कर सकती है। दूसरे शब्दों में यह उसके इड् का छदम रूप है जो स्वयं को तो छल ही रहा है, इसके साथ-साथ दिलीप को भी फांसना चाहता है।

जिस प्रकार दिलीप और अप्पी दोनो पात्र मनोवैज्ञानिक हैं उसी भाँति प्राणनाथ भी है।

प्राणनाथ मे अपराध-ग्रन्थि है उसका विवाह अप्पी की बड़ी बहिन दिप्पो से हुआ था। अप्पी उसकी साली थी पर उसका समर्पण दिलीप के लिए हो चुका था। दिप्पो की मृत्यु के उपरान्त बाप ने बच्चो की देखभाल के कारण अप्पी को ही प्राणनाथ के साथ बाँध दिया। प्राणनाथ जानता है कि अप्पी का प्यार उसके लिए मन से नहीं है। लेकिन तब भी वह उसके प्रति दुर्व्यवहार नही करता, क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मैथुन सामर्थ्य में अशक्त व्यक्ति ही अपनी स्त्रियों के प्रति निष्ठावान् और विश्वस्तता के सच्चे प्रतीक होते हैं और अपनी कमजोरियो के कारण अपनी पत्नियो पर दिखावटी अपार प्यार का प्रदर्शन करते रहते है। यहाँ तक कि उनके स्नायु-रोगों का भी उन्हें अधिक ध्यान रहता है।[1] मनोविश्लेषणात्मक कसौटी पर खरी उतरने वाली फ्राइड की यह उपपत्ति प्राणनाथ के बिल्कुल अनुरूप है।

प्राणनाथ में अपने इस हीन-भाव के साथ अप्पी के प्रति परिपक्व सहानुभूति है जिसमें अपराध चेतना (गिल्टी कान्शेन्स) की भी हल्की सी झलक है। अपने हृदय के किसी अज्ञात कोने में प्राणनाथ यह अनुभव करता है कि दिप्पो के बाद अप्पी से विवाह करके उसने कोई अक्षम्य अपराध किया है। उसको इसका अधिकार नहीं था। उसने अप्पी के प्रति एक गुनाह किया है और उसकी इस हमदर्दी में पश्चाताप की भी एक गहरी रेखा मिली हुई है।[2] वह समझता है कि अप्पी की अस्वस्थता का एक मात्र कारण वही है, तभी तो वह कहता है कि काश तुम्हारे दुःख की दवा मेरे पास होती। काश मैं तुम्हें खुश रख सकता। जीवन अपना यौवन खो चुका है। वास्तव में ये अपराध-चेतना के ही बोल है।

दिलीप, अप्पी और प्राणनाथ के मनोविज्ञान से निर्मित कथावस्तु—दिलीप और अप्पी की यौन वर्जना और प्राणनाथ की स्नायुगत रतिशक्तिहीनता ने कैद की कथावस्तु को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना दिया है। अप्पी के अनियन्त्रित इड् और दिलीप के संयम तथा प्राणनाथ की मनोग्रन्थि ने जो मानसिक घटनायें उपस्थित की है उनसे कथावस्तु विकासोन्मुख विदित होती है। उक्त तीनों पात्रों के रोगी

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड (हि० सं०) पृ० सं० २२५

२—कैद और उड़ान—अश्क (व्याख्या) धर्मवीर भारती पृ० सं० २३

मन प्रायः अपने-अपने अचेतन मन के असामान्य कार्यों द्वारा कथावस्तु का निर्माण कर पाये हैं।

मनोवैज्ञानिक रंग संकेत, संवाद एवं सांकेतिक चेष्टाओं से युक्त रचनात्मक प्रक्रिया

*

दिलीप—तुम्हारी कसम तुम अब भी कवि हो अप्पी।

अप्पी—तुम्हारे साथ रहकर शायद मे फिर कवि बन जाऊँ। तुम रहो, तो शायद मैं फिर अपना पुराना सुख उल्लास पा जाऊँ।

(निमिष भर के लिए दोनों एक दूसरे को आँखों में देखते हैं। दिलीप की आँखों में क्षणभर के लिए एक चमक सी कौंध जाती है, लगता है, जैसे वह एक ही बार में अप्पी को अपने आलिंगन में भर लेगा, लेकिन दूसरे क्षण वह अपूर्व संयम से जिसके चिह्न उसके मुख पर अंकित हो उठते है—अपने आपको वश में कर लेता है।[1]) उक्त संवाद, रंग संकेत और आन्तरिक द्वन्द्व की महत्ता अप्पी के इड् के अबाध प्रवाह एवं दिलीप के संयमित सामाजिक अहं के परिचायक हैं।

नाटककार द्वारा अभिनेताओं के लिए यह सांकेतिक चेष्टाओं का निर्देश, मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया की पुष्टि करता है। पात्रों के मनोविश्लेषणात्मक संवाद भी इसी शैली पर आधृत हैं।

कामावेग के कारण दिलीप और अप्पी की दशा अजीब है। दिलीप में यह संयमन तथा नियमन पुनः पुनः जल लहरियों से विलीन भी होते हैं, क्योंकि उसका अव्यक्त मन भी अभावग्रस्तता से ओत-प्रोत है। उसे आठ वर्ष पूर्व की याद आती है जिसे अप्पी को वह स्मरण दिलाता है—

दिलीप—हमने भी एक बार ऐसा ही स्वर्ग बसाने का प्रण किया था।

अप्पी—(लम्बी सांस भर कर) सदियाँ जैसे आठ वर्ष........

दिलीप—तुमने अपना नन्हा-सा स्वर्ग बना लिया, पर मैं........

अप्पी—आजादी की आग में जलकर कुन्दन बन गये तुम और न टूटने वाली बेड़ियाँ मेरे पावों में बँधती चली गयीं।

दिलीप—बेड़ियाँ...........अप्पी........तुम खुश नहीं हो। भाई कहते थे। कि तुम बीमार रहती हो।

अप्पी—मुझे तुम बीमार दिखाई देते हो।[2]

१—कैद और उड़ान—अश्क—पृ० सं० ८१, ८२

२—कैद और उड़ान—अश्क—पृ० सं० ६४

बीमार दोनों है और इस रोग की आड़ में काम कर रही है यौन वर्जना। यदि यौन स्वच्छन्दता इन दोनों को मिल गई होती तो इनमें मनोविकारों का बाहुल्य नहीं होता। अप्पी स्वच्छन्दता की भूखी है। जबकि दिलीप इसी कारण घुमक्कड़ बना है कि वह अपनी अतृप्त दमित वासना को झूठी या छल छद्ममय सान्त्वना दे। अप्पी में आत्मभर्त्सना हद पर पहुँच चुकी है। अखनूर कस्बा उसके लिए काला पानी है और वह आजीवन अपने को उसमें बन्दी बनी हुई महसूस करती है। अप्पी कैदी है, दिलीप स्वतन्त्र, पर दोनों काम-प्रवृत्ति का उन्मुक्त याचना के याचक है। अन्तर केवल इतना है कि अप्पी में अपनी काम तृप्ति के लिए आत्म संयम बिल्कुल साथ छोड़ बैठा है पर दिलीप के संयम ने उसको ऐसी स्थिति में बेजोड़ साथ दिया है। इस प्रकार नाटक की कथावस्तु काम प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। दिलीप, प्राणनाथ और अप्पी की मानसिक कुन्ठायें कथावस्तु में बाह्य घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक घटनाओं को संचित कर पायी हैं। मनोवैज्ञानिक कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया का हृदयस्पर्शी चित्रण नाटककार ने उस स्थल पर चित्रित किया है—

जब प्राणनाथ दिलीप के आने का समाचार अप्पी को सुनाता है। पलंग में गढ़ी हुई अप्पी दिलीप का नाम सुनकर मन्त्रमुग्ध सी हो जाती है। उसका रोग ग्रस्त शरीर एक साथ चमक उठता है। वह प्राणनाथ से पुनः पुनः दिलीप की चर्चा का ही आग्रह करती है। पर प्राणनाथ भी जैसे चतुर साइकोलोजिस्ट हो, उसकी अज्ञात मानसिक तहों को बार-बार कुरेदता है। पुनः-पुनः दिलीप से सम्बन्धित अतीत की घटनाओं को दुहराता है, परन्तु अप्पी के पूछने पर भी दिलीप के आगमन की बात को तत्सम्बन्धी अन्य व्यतीत हुई गाथाओं में जोड़ डालता है। यह सब उसकी अज्ञात मन की क्रियायें है जिसका उसको स्वयं पता नहीं—

अप्पी—मैं दिलीप की बात पूछ रही थी और आप……

प्राणनाथ—अब तुम तो यों ही रूठ जाती हो।

अप्पी—यही तो पूछ रही हूँ, पहर भर से और आप हैं कि बात का उत्तर ही नही देते।

प्राणनाथ—यही तो बताने आया था, पर न जाने क्यों ?[1]

अप्पी की सांकेतिक चेष्टायें और प्राणनाथ का हृदयस्पर्शी मनोविश्लेषण अति ग्राह्य हो गया है। किसी व्यक्ति के मानसिक रोग को दूर हटाने के लिए अचेतन मन की दमितेच्छाओं का चेतन मन में लाना ही मनोविश्लेषण की पद्धति है। दिलीप का जीवन साथी न बनने की अभावग्रस्तता अप्पी को मनोग्रस्त बनाये हुए है, तभी वह दिलीप के आने का नाम सुनकर ग्रन्थि-विहीन पूर्ण स्वस्थ्य दृष्टिगोचर

१—कैद और उड़ान—अश्क—पृ० सं० ४३

होती है। वह मरी-मरी सी अप्पी सचेत होकर प्यासे मन से दिलीप के बचपन की बातें बतलाती है। कमरे को सम्हालती है। बच्चों के लिए क्रूर होती हुई भी प्यार करके नहलाती धुलाती है। यह सब प्रदर्शन उसकी आन्तरिक घुमड़न से बनी हुई कैद के पारदर्शी शीशे हैं।

'उड़ान' की नायिका 'कैद' की नायिका के विपरीत विद्रोहिणी बनकर उपस्थिति हुई है। उसके समक्ष पुरुष प्रकृति के तीन रूप हैं--कामुक, अधिकार लिप्सु और पुजारी। शंकर की कामुकी प्रवृत्ति है। यौन स्वच्छन्दता एवं उच्छृंखल वासना की उसमें सनक है। मदन मे अधिकार लोलुपता महान् है। इसी कारण उसमें फ्राइडियन ईर्ष्या के भ्रम की झलक है। रमेश में श्रद्धा एवं पूजा का आवेग उसे प्रतिगमन की ओर ले जा रहा है। उसकी मातृ-प्रणय-ग्रन्थि का समूलोन्मूलन नहीं हुआ है। उसका प्रेम श्रद्धा और पूजा की ओर अग्रसर है।

'उड़ान' में विच्छृंखल समाज की विकृत व्यवस्था का विरोध है। कैद में जो मनोवेग अन्दर ही अन्दर घुमड़ कर विस्फोट के लिए लालायित है, वे 'उड़ान' में मानवता की आन्तरिक टीसों, समाज की झूठी मर्यादाओं रूढ़ियों और परम्पराओं में विप्लव मचा देना चाहते हैं। विस्फोट में हमारी विकृतियाँ नग्न एवं वीभत्स हो उठती हैं। अखनूर कैद में पड़ी अप्पी 'उड़ान' में माया बनकर विस्फोट देखती है। माया के शब्दों में बमबाजी ने जहाँ उन मकानों के परखचे उड़ा दिये, वहाँ उनके वासियों की लज्जा को भी तार तार कर दिया। जिनकी शर्म उन्हें झरोखे से झाँकने तक की आज्ञा न देती थी, उन्हे मैंने नंगे मुँह, नंगे मुँह क्या, नंगे शरीर सड़कों पर भागते हुए देखा है। मैं शर्म और बेशर्मी से ऊपर उठ गई हूँ। "इस तरह वह माया उस अत्यन्त वीभत्स लोक से फिर जैसे रूमान के देश में लौटती है। जहाँ कैद का प्राण-नाथ (किंगकाँग) शिकारी शंकर या अधिकार लोलुप मदन बन चुका है और दिलीप थका हुआ कल्पनावादी रमेश की शक्ल अख्तियार कर चुका है। माया भी अप्पी की रूमानियत और भावुकता खो बैठी है।[1] इस भाँति 'उड़ान' के स्त्री पुरुषों के ये प्रतीक अवृत्तिगत अपनी परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति से आन्दोलित हैं।

'उड़ान' के मनोविज्ञान पात्र—अश्क जी ने स्त्री-पुरुषों के प्रतीक पात्रों के संवाद, रंग संकेत और सांकेतिक चेष्टायें मनोवैज्ञानिक शैली पर अभिनेताओं के लिए प्रस्तुत की हैं।

इड् की अनियन्त्रित प्रकृत कामेच्छा का प्रतीक शंकर अपने आप में इतना उच्छृंखल है कि अपने कारनामों से वह स्वयं अनभिज्ञ है। तभी तो वह कहता है—

१—कैद और उड़ान—अश्क—(व्याख्या) धर्मवीर भारती पृ० २०, २१

शंकर न जाने मुझे क्या हो जाता है मैं अपने आपे में नही रहता।

o o o o

तुम्हारा शिकार ? तुम क्या कहती हो, माया ? मै तुम्हारा शिकार नहीं करना चाहता, मै तो स्वयं शिकार हो जाना चाहता हूँ। बिन्दु बनकर तुम्हारी इस सुन्दरता के अथाह सिन्धु मे खो जाना चाहता हूँ। घायल पक्षी से मुझको अपने करुणामय सीने से लगा लो। (एक ही बार माया को बाहों में भर लेना चाहता है)

(माया तिनककर उठ खड़ी होती है।)

माया—होश में आइये। (शंकर अनायास फिर आगे बढ़ता है, अपनी दुर्निवार लालसा के बहाव में शंकर माया से लिपट जाना चाहता है कि रमेश को देखकर सम्हल जाता है।)

रमेश– (जाते हुए) क्या बात है शंकर।

शंकर––(खिसियाना-सा) मुझे क्षमा कर दो, माया। न जाने मुझे कभी कभी क्या हो जाता है।[1]

यह इड् का ताण्डव-नृत्य है। अन्त में शंकर का विकराल रूप तब देखने में आता है जब मदन पर बन्दूक इस वजह से तानता है कि वह माया को उसके चंगुल से निकाल कर लिये जा रहा है। यह हीन भावना का आतताई प्ररूप है। रमेश इस इड् की उन्मुक्त माँग का सामाजिक अहं की भांति कटु विरोध करता है, यहाँ तककि उसका विरोध काम-प्रवृत्ति के अस्तित्व का कोई मापदण्ड ही नहीं रखता अपितु उसके स्थान पर पूजा को अपनाता है।

रमेश––मायादेवी ? मेरे मन के मन्दिर में तो आप देवी के आसन पर विराजमान हैं। मैं तो पुजारी बना प्रशिक्षण आपकी पूजा करता हूँ।

o o o o

आप क्रोध में हो, तो आपके मुख पर देवी का सा तेज झलकने लगता है। मैं सच कहता हूँ. मन ही मन शंकर भी आपसे डरता है।[2]

आन्तरिक द्वन्द्व के प्रतिरूप छायापात्रों एवं संवादों से परिपूर्ण रचनात्मक प्रक्रिया––रंगमंच पर छाया-पात्रों का यहाँ प्रदर्शन मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया का द्योतक है।

अश्क जी का रंगमंच पर छाया-पात्रों द्वारा यह अभिनय पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको का अनुकरणात्मक रूप है। 'उड़ान' में भी कैम्प से दो छायायें निकलकर बाहर जाती हैं। उनकी बातचीत से जान पड़ता है कि माया और मदन है। माया

१—कैद और उड़ान—अश्क—अश्क—पृ० सं० १३७, १३८

२—कैद और उड़ान—अश्क—पृ० सं० १४० और १४३

मदन को तन से स्वस्थ एवं मन से अस्वस्थ बतलाती है। मदन के यह कहने पर कि शंकर पागल नही वह केवल तुमसे प्रेम करता है। माया प्रत्युत्तर में कहती है--

माया—मैं उससे घृणा करती हूँ।

मदन—इस पर भी तुम इतने दिन उसके यहाँ मौज उड़ाती रहीं।

माया—(चीख उठती है) मदन शंकर चाहे पागल न हो, लेकिन तुम निश्चय ही पागल हो।

मदन—शंकर को नहीं तुम रमेश को पसन्द करती हो।

माया—मैं सच कहती हूँ, मैं दोनों से डरती हूँ। एक आकाश में बसता है। दूसरा उस गहरे अँधियारे खड्ड से भी अंधकारमय संसार का वासी है। उसका वश चले तो न जाने मुझे किन अँधेरी गहराइयों में ले जाय ? मैं दोनों से डरती हूँ। ऊँचाई या गहराई मेरा आदर्श नहीं। गहरे खड्डों और ऊँचे शिखरो से मैं ऊब गई हूँ। मैं समतल धरती चाहती हूँ।"[1] यही समीकरण की क्रिया मानसिक संतुलन के लिए अपेक्षित है। अज्ञात एवं ज्ञात मन में द्वन्द्व न हो तभी जीवन सुखमय रह सकता है, यही समतल माया चाहती है। परन्तु मदन के ईर्ष्या के भ्रम से उसे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध होता है कि वह अब चाहे कितनी भी सीता की भाँति अग्नि परीक्षा दे, लेकिन मदन का भ्रम कदापि दूर नहीं हो सकता, क्योकि वह भ्रम अज्ञात में मनोग्रन्थि बनकर बैठ गया है। तब माया को दासी बनना भी युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता वह कहती है—

माया—आप लोगों ने मुझे समझा क्या है ? आपने समझा कि मैं कोई नीच तुच्छ, बाजारी कुतिया हूँ कि चन्द टुकड़ों के लिये दुम हिलाती हुई मैं आपके पैरों में लोटती रहूँगी।[2]

अश्क जी ने इस नाटक की कथावस्तु में यौन विच्युतियों की मानसिक घटनाओ को आधार बनाया है जिसमें मनोवैज्ञानिक पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया का अपूर्व समन्वय मिलता है। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि कैद और उड़ान के स्त्री पात्रों की मनोवृत्तियाँ विरोधी है। माया की हीनत्व कुण्ठा अप्पी के विमुख है, अप्पी की हीन भावना ने उसे दूसरे के हाथों की कठपुतली बना डाला है जबकि माया में वही क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया बन गयी है। इन कैद और उड़ान की दोनों नायिकायो के आधुनिक स्त्री प्रतीक की आत्महीनता ग्रन्थि का उभय पक्ष अश्क जो

१—कैद और उड़ान— अश्क—पृ० सं० १५१, १५२

२—कैद और उड़न— अश्क—पृ० सं० १४०

संभोग को स्वप्न में माता के साथ पुत्र का संभोग बतलाकर छुटकारा पाना चाहती है। परन्तु भट्ट जी की जन-नायिका में इतनी भी झेंप नही। वह केवल मातृ-प्रणय ग्रन्थि को नहीं प्रत्युत एलेक्ट्रा ग्रन्थि को भी अपने प्रबल कामावेग के वशीभूत होकर कह डालती है। काद्रवेयी जन-नायिका स्वीकार करती है कि पुत्र सन्तानों में सभी पुत्र उसके मध्यम काद्रवेय पुत्र से हुए और पुत्रियाँ काद्रवेय के संभोग से हुई है। वह पति और पुत्र दोनों की ही होकर रहना पसन्द करती है।

डा० फ्रायड के मतानुसार भी मनुष्य जाति में आलम्बन का पहला चुनाव सदा निषिद्ध सभोगवाला ही होता है। पुरुषों के लिए वह माता और बहिन होती है। प्राचीन इतिहास में बहिन के साथ निषिद्ध संभोगात्मक विवाह राजाओं (मिस्र के फारो और पेरु के इनका) के लिए धार्मिक कर्तव्य बताया गया था। ओडिपस का एक अपराध था माता के साथ निषिद्ध संभोग और दूसरा था पिता की हत्या। स्नायु रोगियों में से प्रत्येक व्यक्ति या तो स्वयं ओडिपस था, और या ग्रन्थि से उत्पन्न प्रतिक्रिया में हेमलेट बन गया था। शिशु पुरुष अपनी सारी की सारी माता को अपने लिए ही चाहता है, अपने पिता को इसमें बाधक देखता है। वह अपनी भावनायें सीधे तौर से शब्दों में प्राय: प्रकट करता है, अपनी माता को वचन देता है कि मैं तेरे साथ विवाह करूँगा।[1] यह विवाह तो पीछे की बात रही काद्रवेयी जन-नायिका के लिए इसका कोई मूल्य नहीं, वह स्वतन्त्र बनकर पिता और पुत्र दोनों की ही होकर रहना चाहती है।

मनोविश्लेषणात्मक संवादों में मातृ-प्रणय ग्रन्थि और निषिद्ध संभोग—नाटककार ने रचनात्मक प्रक्रिया को मनोविश्लेषणात्मक संवादों द्वारा पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना डाला है। काद्रवेयी में पुत्रियों के प्रति ईर्ष्या और पुत्रों के प्रति प्रेम और काद्रवेय मे पुत्री प्रेम और पुत्रो के प्रति ईर्ष्या भाव टपकते है। इन दोनों पात्रो में मातृ-प्रणय-ग्रन्थि और एलेक्ट्रा ग्रन्थि के साथ-साथ निषिद्ध-संभोग के भी दर्शन होते हैं। तत्सम्बन्धी उपपत्तियों से सन्निहित कथोपकथन निम्न प्रकार से हैं—

काद्रवेयी—जानती हूँ काद्रवेय। मुझे दिखाई देता है, जैसे हम अब तक रहते आये हैं, वैसे अब नहीं चलेगा। यदि द्वितीय काद्रवेय सिंह से लड़ते न मारा गया होता तो आज ये क्या इतना सिर उठाते। ये उसे मानते भी तो बहुत थे। ज्येष्ठ तो उसके लिए अब भी कभी रो उठता है, मेरा बिचार ही नहीं निश्चय है कि पुत्र सब मध्यम काद्रवेय की संतान हैं, और उषा और मध्यमा तेरी सन्तान हैं। पर मैं तो सबकी हूँ न।

काद्रवेय—हाँ, सो तो है ही, (हँसता है)..............पर न जाने क्यों, सिर के केस श्वेत होते जा रहे है, दाढ़ी भी।

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड—२६५—और २६८

काद्रवेयी—फिर भी तू मुझे अच्छा लगता है, सभी मुझे अच्छे लगते हैं। कभी-कभी उषा और माध्यम काद्रा को देखकर लगता है जैसे ये मेरी होती हुई भी मेरे लिए अनिष्ट हैं।

काद्रवेय—क्यों ? वे भी तो तेरी तरह सुन्दर हैं।

काद्रवेयी—बस. यही, यही तो है, जिससे मैं कभी कभी उन पर क्रोध कर बैठती हूँ।

काद्रवेय—किन्तु क्रोध करने से क्या वे सुन्दर न लगेंगी। उनकी वक्षस्थल कितना पुष्ट होता जा रहा है। और रोम राजी बढ़ती जा रही है। यही शोभा के लक्षण है।

काद्रवेय— कभी कभी सोचती हूँ, क्या सोचती हूँ, बताऊं ? मैं सोचती हूँ यदि मैं ही होती उषा और मध्यमा काद्रा न होतीं तो कैसा होता। न जाने क्यो कभी कभी मेरा विचार हो जाता है।

काद्रवेय—हां, उस समय मुझे कभी-कभी लगता था। यदि वे दोनों पुत्र कहीं चले जायें। तो कैसा रहे।[1]

काद्रवेयी का पुत्र स्नेह मातृ-प्रणय-ग्रन्थि और काद्रवेय का पुत्रियों के प्रति झुकाव एलेक्ट्रा ग्रन्थि का प्रतिपादक है। काद्रवेय को कनिष्ठ और मध्यम काद्र केवल काद्रवेयी के ही कारण अनिष्ट प्रतीत होते हैं।

मनोवैज्ञानिक पात्र काद्रवेय और काद्रवेयी— वस्तुत: पिता काद्रवेय को कनिष्ट और मध्यम पुत्र काद्रवेयी के साथ निषिद्ध संभोग की ही इच्छा को देखकर बुरे लगते हैं। वरुण जब काद्रवेय से पूछता है कि यदि तुम्हारे सामने से काद्रवेयी को कोई उठा ले तो तुम्हें क्या अच्छा लगेगा। तुम उसके साथ कैसा बर्ताव करोगे।

काद्रवेय—(एक दम) मैं उसे मार डालूंगा, पितर वरुण। यह मुझे प्रिय है। मुझे कनिष्ठ और मध्यम काद्र भी कभी-कभी बुरे लगते थे।[2]

सैक्स के इस अथक् प्रवाह को रोकने के लिए 'विश्व पंचजन' की ओर से मध्यम काद्रा के साथ विवाह का प्रस्ताव आता है। काद्रवेय और काद्रवेयी दोनों विवाह से अनभिज्ञता प्रकट करते है और विवाह के स्थान पर पाणिग्रहण की ओर संकेत करते है। ज्येष्ठ काद्र विश्वावारा के साथ विवाह प्रस्ताव रखता है। काद्रवेय में परिवार-ग्रन्थि के कारण यह विनिमय रुचिकर नहीं होता।

१—जवानी और छः एकांकी—पृ० सं० १०३, १०४

२—जवानी और छः एकांकी—भट्ट—पृ० सं० ११३

काद्रवेय—इस अदल-बदल से तो यह अच्छा है कि अपने अपने व्यक्ति अपने ही घर में रहें ।[1] परन्तु सैक्स का समाजीकरण काद्रवेय की समझ में आ जाता है। वरुण इसका समाधान विवाह द्वारा करता है । उसका कहना है कि पारस्परिक द्वेष भाव को विवाह संस्कार करके समाप्त कर सकते हैं । आपस के बुरा लगने और युद्ध रोकने के लिए आवश्यक है कि युवक युवती एक दूसरे को सदा के लिए चुन लें । और कोई व्यक्ति उन दोनों के बीच मे न आवे । वरुण काद्रवेय से कहता है—

वरुण—भ्रातर काद्रवेय । विवाह पशुओं से ऊपर उठे हुये मनुष्य के लिये आवश्यक कार्य है । हम पशुओं की तरह नहीं रह सकते । विवाह पशुता को रोकने के लिए है ।

काद्रवेयी—यही कि जैसे पशु बिना नियम के एक दूसरे से मिलते हैं वैसे हमको नहीं मिलना चाहिए । मै कभी कभी सोचता हूँ । ऐसा हम क्यों करते हैं ।[2] काद्रवेयी का यह क्यों करते हैं वाला प्रश्न काम-प्रवृत्ति के मार्गान्तरीकरण द्वारा सभ्यता का उन्नायक है । अब उसमे पुत्रों के प्रति प्रणय-कामना और पुत्रियों के प्रति ईर्ष्या लुप्त होती जा रही है तभी वह काद्रवेय से कहती है—

काद्रवेयी—मुझे तेरे साथ रहना पसन्द है काद्रवेय । पहले मुझे ये सब अच्छे लगते थे, अब तू ही अच्छा लगता है ।[3]

यहाँ से मात्र-प्रणय ग्रन्थि का लोप होना प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि वृद्धत्व मे यह ग्रन्थि शिथिल पड़ जाती है । वरुण के कथनानुसार मानव समाज का विकास विवाह द्वारा सम्भव है । हमें उस समाज के लिए अपने को तैयार करना होगा । लड़ाई झगड़े से बचने के लिए यह आवश्यक है कि परिवार की कन्या दूसरे परिवार में जाये । इस तरह आपस मे प्रेम बढ़ेगा, समाज सुदृढ़ होगा । काम प्रवृत्ति का यही उदात्तीकरण है कि समाज, सभ्यता, संस्कृति और कला में नव जागृति हो । वास्तव में इस चली जाने वाली शैशवीय प्रवृत्ति को कार्य रूप में परिणत होने से रोकने के लिए बहुत कठोर निषेधों की आवश्यकता होती है । आज तो जंगली और आदिम जातियाँ मौजूद हैं, उनमें निषिद्ध संभोग विषयक निषेध हमारे यहाँ से बहुत अधिक कठोर है । थियोडोररीक ने हाल में ही यह बताया है कि तरुणावस्था या प्रौढ़ता पर जंगली लोगों में होने वाले कर्मकाण्ड का, जो द्वितीय जन्म को निरूपित करता है, अर्थ है माता के प्रति बालक की निषिद्ध संभोगात्मक आसक्ति को शिथिल कर देना और पिता के साथ उसका फिर मेल-मिलाप करा देना ।[4] भट्ट जी के इस एकांकी में

१—जवानी और छः एकांकी —भट्ट—पृ० १०६

२—जवानी और छः एकांकी—भट्ट —पृ० ११२, ११३

३—जवानी और छः एकांकी भट्ट—पृ० ११२

४—मनोविश्लेषण—फ्राइड—पृ० सं० २६८

कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया मनोविश्लेषण पद्धति पर आश्रित है। 'प्रथम विवाह' एकाकी रचना मे मातृप्रणय, एलेक्ट्रा और परिवार ग्रन्थियां काद्रवेय और काद्रवेयी के मनोविश्लेषणात्मक कथोपकथनों द्वारा अत्याकर्षक दृष्टिगोचर होती है। स्यात् ही हिन्दी नाट्य साहित्य में इस ग्रन्थि का इतर उदाहरण मिल पाये।

मनोविकृतियों के प्रेरक तत्वों का वर्ग—मनोविकृतियों के प्रेरक तत्व वाले वर्ग मे डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'बांस की फांस' नाटक, जगदीश चन्द्र माथुर का 'मकड़ी का जाला' और लक्ष्मी नारायण मिश्र का 'विधायक पराशर' एकांकी और सिद्धनाथ कुमार के रेडियो काव्य-नाटक 'संघर्ष' का विश्लेषण निम्न प्रकार से है।

बांस की फांस—'बांस की फांस' नाटक में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यथा नाम तथा गुण की अक्षरशः झलक मिलती है। पुनीता, गोकुल और फूलचंद मन्दाकिना में केवल यह फाँस सी मन में हल्की सी चुभन है। जिस प्रकार बांस की फांस के चुभ कर टूट जाने पर दभसुरी की सी चमक भीतर ही भीतर असह्य होती है, किन्तु उसे निकाले भी नहीं बनता। व्यक्ति के अज्ञात मत मे छिपी अतृप्त दमितेच्छाओं का भी यही प्रक्रम होता है। यह दमन हल्का हो या महान दोनों ही प्रकार की कसक मनोग्रस्तता की जननी होती है। इस मनोग्रस्तता के भी लक्षण फांस की बेकली एवं बेबसी के समान होते हैं। मनोग्रस्तता के हाव-भाव की समस्त प्रक्रियायें व्यक्ति अपने से दूर निकाल फेंकने की भरसक चेष्टा करता है, पर निकाल नही पाता। यदि मनोग्रस्तता की इस फांस को अज्ञात मन से निकाल कर चेतन के सामने खींचकर रख दिया जाता है, तो ये मीठी मीठी कसक एक साथ शान्त हो जाती हैं, अन्यथा उसका परिणाम भयंकर होता है। पुनीता और गोकुल भी इसी मनोग्रस्तता की फांस से कुसमुसा रहे हैं। लेकिन उनकी यह फांस सी मनोग्रस्तता अज्ञात से चेतन मन पर आ जाने से कसक को त्याग कर जीवन साथी का सच्चा सुख प्राप्त कराती है। फूलचंद और मन्दाकिनी में यह फांस फंसी ही रह गई है। अतः उनकी कसक शाश्वत है। वे दोनों उस मनोग्रस्तता से अपना पीछा छुटाने में असमर्थ होकर एक दूसरे से सर्वथा के लिए दूर हो गये हैं।

डा० वृन्दावनलाल वर्मा ने एक सफल मनोविश्लेषक की भांति मानसिक रोगी के दोनों रूप इस नाटक मे दिखला दिये हैं। उन्होने नाटक के परिचय मे इस मनो-विश्लेषण पद्धति की ओर संकेत करते हुए स्वयं लिखा है कि विद्यार्थियों में आचरण का असंयम और भोलापन तथा साथ ही कभी-कभी उन्ही विद्यार्थियों में त्याग की महत्ता दिखलाई पड़ती है, उनके सामंजस्य ने मनोविश्लेषण के लिए एक अच्छी सामग्री दी है। वस्तुतः यह नाटक असंयम और उच्छृंखलता की परिष्कृति का एक मनो-विश्लेषण है।[1]

१—बांस की फांस—डा० वृन्दावनलाल वर्मा—(परिचय) पृ० सं० २

कथावस्तु की मनोवैज्ञानिकता—'बाँस की फांस' नाटक में मन की फाँस में हृदयस्पर्शी विश्लेषण पाया जाता है। नाटक में पुनीता, मन्दाकिनी और फूलचन्द में यही मानसिक फाँस फंस गयी है जो निकालने पर भी नहीं निकल पाती। यह मन की फाँस गोकुल और पुनीता के अज्ञात-मन में चुभन पैदा करती हुई एक दिन उनके चेतन मन पर आ जाती है। और वे दोनों अपने मानसिक संतुलन को बना लेते हैं। परन्तु मन्दाकिनी और फूलचन्द की यह मनोग्रस्तता का अव्यक्त मन से बाहर नहीं निकल पाती। फलतः वे दोनों एक दूसरे को चाहते हुए भी नहीं चाह पाते। नाटक की कथावस्तु केवल उसी मनोग्रस्तता के परिष्करण एवं उलझन पर आधृत है।

मनोविकृतियों से उत्प्रेरित पुनीता, गोकुल, मन्दाकिनी और फूलचन्द—पुनीता और मन्दाकिनी के समक्ष गोकुल और फूलचन्द के सांकेतिक व्यवहार यौन वर्जना के परिणाम हैं। इन चारों पात्रों में यौन-विच्युति के परिणाम स्वरूप यहीं से मनोविकृतियाँ घर कर जाती है।

नाटक में पुनीता, गोकुल, मन्दाकिनी और फूलचन्द की मनोविकृतियाँ कथावस्तु का आधार बनी है। इन्हीं मनोवैज्ञानिक पात्रों के संवादो ने नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक बना दी हैं।

मन्दाकिनी सत्कुलोत्पन्ना है। पुनीता भी चाहे इस समय भिखारिन का जीवन यापन कर रही है पर वह भी उच्चकुल की पुत्री है, यह पेशा उसकी माँ ने पति के मर जाने पर जाति वंश वालों के झूठे आरोपों के कारण स्वीकृत किया है। वह इन आरोपों का उत्तर गालियों मे देती रही है। पुनीता को भी उसने यही सिखाया है। जब कभी भीख माँगती हुई पुनीता को कोई छेड़ता है तो उसके मुँह से गालियो की झड़ी निकल पड़ती है। माँ बेटी दोनों के अज्ञात मन में समाज से प्रतिशोध लेने के लिए यह फाँस-सी मनोग्रस्तता कसकती है।

पुनीता— लोग मुझको क्यों चिढ़ाते हैं। लोग बाँस से मार दें तो इतना कष्ट न हो जितना उनके फाँस चुभाने से होता है। मैं क्रोध न करूँ तो कैसे बचूं। लोग मुझ को यो ही पागल कहते है। क्या मै पागल हूँ। तुम्हीं कहो। पागलों का जैसा मैं क्या करती हूँ।

गोकुल—और मैं ऐसा क्या करता हूँ। परन्तु मेरा मित्र फूलचन्द मुझे पागल कह गया है।

पुनीता—आपको पागल कहते है। (हँसती है) कुछ कुछ आप हैं भी। क्यों यहाँ लगातार बैठे रहते हैं। ·······(गोकुल द्वारा उस रात की आँख के दाबने की बात याद करके) आँख की कोरों के दाबने वालों को मैं जैसी खोटी-खोटी सुनाया करती हूँ। वैसे ही सुना उठूँगी। फिर कहने लगते हैं, मैं पागल हूँ।

डाक्टर— क्रोध में मत आओ पुनीता नहीं तो स्वस्थ होने में देर लगेगी।

गोकुल ने ही तुम्हारे लिए अपना खून दिया और घाव के लिए अपना चमड़ा।

पुनीता—(यकायक विस्फारित लोचन से) इन्होंने दिया। इन्होंने दिया। (पुनीता गिरती है, उसकी आँखों से आँसू निकलते हैं।)[1]

(पुनीता का हतसंज्ञ होना इसी मनोग्रस्तता का परिणाम है। उसका अहं यह नहीं चाहता था कि गोकुल उसके काम आये, क्योंकि उसने पहिले उसकी ओर स्टेशन के प्लेटफार्म पर आँख की कोरों को दबाया था यही ग्रन्थि पुनीता में स्थित है। स्वयं गोकुल को भी इसका दुःख है, वह इस ग्रन्थि को पुनीता से निकालने का अभिलाषी है। गोकुल में यही अपनी दुर्व्यवहार की फांस और पुनीता में क्रोधावेश से गाली देने की बांस की फाँस लगी हुई है।

रचनात्मक प्रकिया में मनोविश्लेषणात्मक संवाद अज्ञात मन की मनोग्रस्तता जब चेतन मन पर आ जाती है। तब भिखारिन पुनीता अपने गाली देने की क्षमा मांगती है। गोकुल भी अपने उस दुर्व्यवहार से स्वयं लज्जित है। नाटककार ने इस मानसिक प्रक्रिया को मनोविश्लेषणात्मक शैली में रखा है।

गोकुल—तुम अब किसी को कभी गाली नहीं दोगी।

पुनीता—कभी नहीं। क्यों आपको क्या सन्देह है। आपने क्या मुझको अभी तक क्षमा नहीं किया।

गोकुल—मैं तो उस बात को भूल ही गया।

पुनीता—नहीं, मां कहा करती है कि बांस से फांस बुरी होती है। फांस कसकती रहती है।

गोकुल—क्या तुम्हारे मन में भी कसक रहा है।

पुनीता—नहीं तो। मुझको तो आपकी उस आँख पर हंसी आती है। ह। ह।। ह।।। ह ।।।।

गोकुल—और मुझको उसके स्मरण से लज्जा। सब बड़ों छोटों के जीवन में बांस और फांसें आती हैं। फांस को फांस से निकाल देना है। मेरे मन में कोई कसक नहीं रही। (प्रसन्न होकर) अब मुझको विश्वास हो गया कि मन से फांस निकल गयी।[2]

यह फांस की चुभन वाली मनोग्रस्तता का निवारण गोकुल और पुनीता से तब होता दीखता है जब वे एक दूसरे से विवाह सूत्र में बंधने को तत्पर हो जाते हैं। इन दोनों की मन की कसकती हुई फांस के समाप्त होते ही दोनों जीवन साथी

१—बांस की फांस—वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ४२, ४५, ४६

२—बांस की फांस—वृन्दावन लाल बर्मा—पृ० सं० ५६ और ६१

बन जाते हैं। पर फूलचन्द और मन्दाकिनी की यह फांस नहीं निकल सकी। मन्दाकिनी का अज्ञात-मन फूलचन्द के लफंगेपन को नहीं भूला। यद्यपि उसने भी मन्दाकिनी को अपना रक्त दान दिया, पर गोकुल की भाँति उस दान में कृतज्ञता अन्तर्गामिनी ही नहीं बनी रही, वरन् उसने एहसान का रूप ले लिया है। मन्दाकिनी की मनोग्रस्तता की ग्रन्थि इस व्यवहार से और भी उलझ गयी। इसी वजह से उसने शादी के लिए निषेध कर दिया। नाटक में डा० वृन्दावन लाल वर्मा ने मनोविश्लेषण पद्धति पर मनोग्रस्तता के दोनों रूपों का समन्वय अति सुन्दरता के साथ किया हैं। जो स्वभावतः हम सब में विद्यमान हैं।

मकड़ी का जाला—माथुर जी के नाटकों में वर्तमान मध्यकालीन जीवन के जीते जागते, हँसते-खेलते और जीवन संघर्षो में कराहते हुए चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्र मिलते हैं। वर्तमान समाज की जटिल से जटिल समस्याओं, उसके संघर्षों तथा विवशताओं का उन्होने कलात्मक चित्र अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है।[1] इस संग्रह के प्रायः सभी एकांकी ऐसे ही मनोवैज्ञानिक चारित्रिक द्वन्द्वों से प्रभावित हैं। उनके पात्र जीवन संघर्षो से लड़खड़ाते, गिरते पड़ते विवश होकर मानसिक ग्रन्थियों से ग्रसित हैं। 'मकड़ी का जाला' एकांकी में 'भोलानाथ' की यही मानसिक अवस्थिति है। वह फ्राइडियन काम प्रवृत्ति से अनुप्रेरित है, किन्तु काम के उन्नयन के कारण उसमें मानसिक विक्षिप्तता का पदार्पण नहीं हुआ है। इस एकांकी के रंगमंच पर छाया मूर्ति एवं अदृश्य आवाज को दिखाना मनोवैज्ञानिक टेकनीक से संबंध रखता है। इसका अनुकरण नाटककार ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नाटकों से किया है। यहाँ स्वयं मनोवैज्ञानिक प्रक्रम का सूचक अर्द्धचेतन, पात्र बनकर उपस्थित हुआ है।

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु—अतीत में 'भोलानाथ' का 'कमला' से अगाध प्रेम रहा है। कमला भी भोलनाथ के लिए पूर्ण समर्पण कर चुकी थी, पर सामाजिक वैषम्य ने उनका सर्वदा के लिए विच्छेद कर दिया। कमला वर्षों से भोलानाथ की याद में बरबस, होकर टप टप आँसुओं की धार टपकाती रही। फलस्वरूप अतृप्त दमित कामेच्छाओ से अपना आश्रय टटोला और वे अज्ञात मन की शरण में पहुँच गयीं। अज्ञात मन मनुष्य के अनुभवों अथवा सामाजिक वातावरण के दबाव से बनी हुई प्रवृत्तियों (प्रिडिस्पोजीशन्स) का ढेर होता ही है। इस अचेतन मन में जन्मजात मूल प्रवृतियां तो रहती ही हैं, इनके साथ साथ इसमें बहुत सी रुचियों, इच्छाओं और अनुभवों का भी ढेर रहता है जिनके विषय में हम कोई सफाई नहीं दे पाते हैं और जिनका हम अनिवार्यतः दमन करते हैं, अर्थात् जिन्हें

१—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्रीपति पृ० सं० २६०,६१

हम अपना स्वीकार नहीं करते है, अपने ज्ञात तथा चेतन व्यक्तित्व से अलग रहते हैं। सामान्य तथा स्वस्थ मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए उसकी चेतना तथा चेतन, उपयुक्त व संतुलित व्यवहार का होना आवश्यक है। जिस व्यक्तित्व में चेतन, उपयुक्त और संतुलित व्यवहार न पाया जाय, जिसके आवश्यकता पूर्ति क्रम में परस्पर भिन्नता हो, जिसके प्रेरकों का पता ही न हो, ऐसा व्यक्तित्व अस्वस्थ, असमान्य तथा विकृत होगा।[1] भोलानाथ ने कमला के विछोह होने पर काम का दमन किया है। अब इस प्रेम के अस्तित्व को वह बिल्कुल मिटा चुका है। कभी उसने ऐसा किया भी था, उसे वह स्वीकार नहीं करता। उसमें उपयुक्त और संतुलित व्यवहार का अभाव है। ऐसे कराने वाले प्रेरकों से वह पूर्णतया अनभिज्ञ है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की पुष्टि भोलानाथ और चन्द्रभान के संवादों में मिलती है। अपनी अभावग्रस्तता से बचाव एवं मानसिक सन्तुलन के बनाने के लिए वह अपबीते अनुभवों को चन्द्रभान पर आरोपण मानसिक वृत्ति द्वारा आरोपित करता है। वह चन्द्रभान में रंगीनी दुनिया एवं रोमांस की प्रचुरता पाता है।

भोलानाथ पात्र में कामात्मक द्वन्द से निर्मित मनोविकृति—भोलानाथ अपनी सांकेतिक चेष्टाओं से स्पष्ट कर देता है कि उसमें पहले यही रोमांस था तभी उसकी यह आकाँक्षा बनी रहती है कि वह युवकों को सही मार्ग दिखलावे, उसके लिए भी एक काल था जब वह चन्द्रभान की भाँति ऐसे रंगीन स्वप्नो की दुनियाँ मे वास करता था लेकिन उन्नयन द्वार उसने इस काम की चकाचौंध से छुटकारा पा लिया। उसने उन काम प्रवृत्ति के आवेगों को दामित कर डाला जो उसके लिए घातक थे। ऐसे आवेगों को दबाकर ही वह उत्थान कर पाया है और चन्द्रभान से भी उसे यही आशा है।

"जेम्स डेवर" के शब्दों में उन्नयन एक वह अचेतन प्रक्रिया है जिसके द्वारा काम—आवेग (सेक्सुअल इम्पल्स) या उसकी शक्ति अर्थात् प्रगति या प्रवाह की दिशा को बदला या मोड़ा जाता है, जिससे वह किसी ऐसे कार्य में व्यक्त हो जो विशुद्ध कामज न हो और समाज द्वारा स्वीकृत तथा मान्य हो। आम तौर पर किसी इच्छा की निम्न स्तर की तृप्ति के बदले उच्च स्तर की तृप्ति के लिए भी इस शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है।[2]

भोलानाथ का कमला के प्रति प्रेम एवं उसका काम-आवेग (सेक्सुअल इम्पल्स) उत्कर्षता की ओर प्रवृत्त हो चुका है। उसी के फलीभूत होने पर आज स्टार ट्रेडिंग कम्पनी का मैनेजिंग डाइरेक्टर बन गया है, वह चन्द्रभान को भी निम्न स्तर से

१—रोगी मन—सूरज नारायण मुन्शी—सावित्री निगम—पृ० सं०८७, ८८

२—रोगी मन—सूरजनारायण मुन्शी—सावित्री एम० निगम पृ० १४६

उच्चता की ओर ले जाने का अभिलाषी है। यह मानसिक प्रक्रिया उसकी विशुद्ध कामज नहीं प्रत्युत सामाजिक दृष्टि से उत्कृष्ट है। परन्तु काम का अन्त प्रयाण अव्यक्त मन में अवश्य गतिशील है।

रचनात्मक प्रक्रिया में अर्द्धचेतन के छायापात्र के रूप में कथोपकथन—दर्शकों को गुह्यैषणा की अभिव्यक्ति मि० भोलानाथ के स्वप्न के मध्यम से हो जाती है जो मानसिक द्वन्द्व का पारदर्शी मुकुर की तरह दर्शन कराने मे उपयुक्त है। भोलानाथ रेडियो की आवाज सुनते-सुनते सो जाता है। नाटककार ने रंग-संकेत में इस दृश्य को अचेतन मन का माना है। उन्होंने इस परिवर्तित दृश्य को चेतना से उठाकर अर्द्ध-चेतना के लोक का उद्भासित किया है। इस नयी आवाज को मनोवैज्ञानिक मापदण्ड से ही नाटककार ने अर्द्ध चेतन कह कर पुकारा है। अचेतन मन की अतृप्त-दमित भावना ग्रन्थियाँ शनैः शनैः अर्द्ध चेतन में प्रविष्ट हो जाती हैं और उनकी छाया मूर्ति रंग-मच पर अभिनय के लिए उपस्थित होती है। अर्द्ध चेतन कहना चाहता है कि भोलानाथ तुम स्वयं को छलते रहे हो और अब उस भोले युवक चन्द्रभान को छलना चाहते हो। तुमने नैतिकाहं आदेशपालक सामाजिक अहं के भय से मेरी एक न सुनी। अवसरानुसार मैंने कई बार तुमसे अपनी उत्कट इच्छा प्रकट करनी चाही पर तुमने उसको अनसुनी कर दिया। तुमने तीव्र इच्छा एवं लालसा को दबोचा है मगर वे लालसायें तूफान सा अबाध प्रवाह की उताल तरंगों सी निर्बाध है। उन्हें वश में करना सरल नहीं। पुनरपि इस पर तुम्हें घमण्ड है कि तुमने उन पर विजय प्राप्त कर ली है। इससे तुम अपनी जीत न समझो। इस रोमांस, भावुकता रंगीनी स्वप्नों में डूबे हुए युवक ने तुम्हारी उन्हीं दबी घुटी वासनाओं के ज्वार को ज्यों का त्यों पुनः उभार दिया है। यदि ऐसा नहीं तो तुम्हें उस युवक चन्द्रभान के सपनों को टुक-टुक करने में आनन्द क्यों मिला, क्योंकि यदि यह प्रेक्षपण तुम न करते तो पागल न हो जाते। बीस वर्ष पूर्व कमला के गाने पर आसक्त, दोनों की आँखों का मिलना चोरी-चोरी पत्र व्यवहार यह क्या था। इसी प्रेम को निभाने के लिए तुम गरीब से अमीर बनने को अग्रसर हुए।

इसी उर्ध्वगमन को नाटककार ने इस संवाद में अभिव्यक्त किया है।

भोलानाथ—मैं स्टार ट्रेडिंग कम्पनी का मैनेजिंग डाइरेक्टर, बीसियों कम्पनी का हिस्सेदार, स्टील कारपोरेशन का मेम्बर में भोलानाथ। मैं वह हूँ जिससे उन्नति और सफलता का आदर्श समाज को दिखाया है।

अर्द्धचेतन—तुम गरीब थे और तुममें योग्यता थी। तुमने सोचा पहले अमीर बन लूँ और फिर प्रेम भी करूँगा, सुन्दरता को पहिचान लूँगा और तुमने उस वैभव को तिलांजलि दे दी। प्यार के सोते सूख गए। जिन्दगी एक रेगिस्तानी सड़क बन गई

जिस पर अन्धे होकर तुम आगे बढते ही रहे। और उस रेगिस्तान में कमला के आँसू बरसों तक टप टप टपकते रहे, बेकार, बरबस।[1]

काम का यह ऊर्ध्वगमन (सब्लिमेशन) यहाँ अपने में स्वयं पूर्ण है पर उसकी घुमड़न जो अन्तःसलिला सी प्रवाहित है वह चन्द्रभान युवक से तादात्म्य करके बरबस बाहर निकलना चाहती है। अचेतन मन चेतनाई का एक बहुत बड़ा भाग होता है। भोलानाथ का इड् कभी अतीत में अपनी तृप्ति चेतनाई से चाहता था लेकिन वे काम-भाव दमित करने पड़े तथा अचेतन मन में जा पहुंचे। नाटककार ने अचेतन चेतन मन की इसी प्रक्रिया की अवतारणा करते हुए लिखा है—और स्वप्न को भंग कराके भोलानाथ को सचेत कर दिया है।

भोलानाथ—यह कौन ऐसी बातें मुझे सुना रहा है? मैं नहीं सुनना चाहता।

अर्द्धचेतन—सुना रहा हूँ, मैं। मै वही हूँ जो एक दिन तुम थे। मैं तुम ही हूँ। और इसलिए मेरी बाते तुम्हें सुननी पड़ेंगी। भोलानाथ तुम बच नही सकते। मकड़ी का जाला तन रहा है। और तुम उसमे वेबसी से टंग रहे हो। तुमने यह न जाना कि बहाब रुकने पर झील बन जाता है जो किसी न किसी दिन बांध तोड़ कर फिर बह निकलती है। काश तुम रो सकते। काश तुम्हारे सूखे हुए दिल पर भावों के बादल घहराकर बरस पड़ते।[2] यह भोलानाथ के अतिरिक्त द्वन्द्व की पराकाष्ठा है जो काम के अवरोध से बना है और उन्नयन करते करते भी अन्त में झील की भाँति फूट पड़ा है। अर्द्धचेतन का उसे रोता हुआ देखना रेचन की विधि से सम्बन्धित है।

'विधायक पराशर' एकांकी में

अपराध, प्रतिशोध एवं प्रायश्चित मनोग्रन्थि और अभावग्रस्तता से संपन्न कथावस्तु—'विधायक पराशर' एकांकी की कथावस्तु विश्वामित्र और वशिष्ठ के द्वन्द्व की मानसिक घटना पर आधृत है। इसका प्रारम्भ प्रतिशोध ग्रन्थि से हुआ है। वसिष्ठ की सन्तति को राक्षसों ने अपना भोज्य बनाया। अपने पितामह की इस अवज्ञा और माँ अदृश्यन्ती के आँखों के आँसू परशर के लिए असह्य हो उठे। वह प्रतिशोध ग्रन्थि से पीड़ित होकर राक्षसों के विध्वंस के लिए यज्ञ करने लगा।

१—मोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर—पृ०सं०२५ और २८
२—मोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर—पृ० सं० २४, २५, २६

राक्षस संहार अपार हुआ, अन्त में पुलस्त्य और वसिष्ठ के कहने पर यज्ञ को रोक दिया गया। प्रतिशोध ग्रन्थि प्रायश्चित में परिवर्तित हो गयी। पराशर तप के लिए निकल पड़े। अदृश्यन्ती मां पराशर के वियोग से छटपटा उठी। उसका वात्सल्य कराह उठा। इस अनवरत अशान्ति से कारण मानसिक रोग की उसमें अभिवृद्धि हो गयी। उसकी आँखें पराशर को देखने के लिए ललक उठीं। उधर तपोनिष्ठि पराशर में अनियन्त्रित इड् का प्रकृत-काम सत्यवती के इड़ से संगम कर बैठा। इन्हीं मानसिक घटनाओं पर सम्पूर्ण कथावस्तु को मिश्र जी ने मनोवैज्ञानिक ढंग पर रखा है।

रचनात्मक प्रक्रिया में संमोहन के आधार पर कथोपकथन—अदृश्यन्ती का समष्टि अचेतन अदृष्ट शक्ति में लीन पुत्र से तादात्म्य करने के लिए तत्पर हो उठा—

अदृश्यन्ती—एक बार पा जाती उसे········।

वशिष्ठ—मैं तुम्हें पाराशर को यही से दिखा सकता हूँ········। अपने मन को वश में कर सको तो कहो।

अदृश्यन्ती—नही डरूँगी मैं········।

वशिष्ठ—तुम्हारा मन मेरु के ध्यान में लगे।

जहाँ पराशर पहुँच गया है, देवता जिसे विस्मय से देख रहे हैं। अप्सरायें जिस पर फूल बरसा रही है, ऋषि जिसकी बन्दना कर रहे हैं। जिस दृश्य को किसी ने नही देखा वह तुम देखने लगे।

अदृश्यन्ती फ्राइडियन सम्मोहन के अनुसार सम्मोहित हो जाती है वह स्वप्निल स्थिति में डूब जाती है—

अदृश्यन्ती—(मन्द स्वर से जैसे स्वप्न में बोल रही हो) बेटा········ कहाँ········ अब········ देखा········ इन्द्र धनुष्य के रंग का प्रकाश। सब ओर········ नक्षत्र नाच रहे हैं पराशर········रंगीन प्रकाश की लहरों में और ये सब देव कन्यायें फूल बरसा रही हैं।

सम्मोहक की तरह वशिष्ठ फिर बोलते हैं :—

वशिष्ठ—ब्रह्म देव को देख रही हो········जो तुम्हारे पुत्र के सिर पर हाथ रखकर खड़े हैं।

अदृश्यन्ती—(मन्द ध्वनि) देख रही हूँ········।

वशिष्ठ—बस देख लिया तुमने········।

१—भगवान् मनु तथा अन्य एकांकी—लक्ष्मी नारायण मिश्र पृ० सं० ३३, ३४

अदृश्यन्ती--(जैसे जागकर) ऐं.......... ऐं सपना देखा है भगवान्; मैंने.......... ।[1]

मिश्रजी का यह सम्मोहन चाहे पौराणिक योग बल पर आधारित हो किन्तु पुनरपि उसमें फ्रा'इडियन सम्मोहन की प्रतिच्छाया कुछ न कुछ अंश में अवश्य ही प्रतिबिम्बित है।

मनोवैज्ञानिक पात्र—अदृश्यन्ती का नारी मनोविज्ञान वात्सल्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। वशिष्ठ सफल मनोविश्लेषक बने हुए हैं। अदृश्यन्ती के अज्ञात मन की हीनत्व कुण्ठायें पुत्र की सुरक्षा के प्रति जागरूक हैं। मनोग्रस्त अदृश्यन्ती के रोगी मन का उपचार वशिष्ठ सम्मोहन पद्धति से करते हुए पाये जाते हैं जिससे अदृश्यन्ती का मानसिक संतुलन बन जाता है।

इन पात्रो के अतिरिक्त मिश्रजी ने पराशर और सत्यवती पात्रों को भी कामात्मक मनोविकृति से ग्रसित दिखलाया है। जब पराशर वरदान वश या मनोविज्ञान के प्रतिगमन के वशीभूत होकर धीवर कन्या पर एक साथ आसक्त हो जाते हैं, तब उनमें काम प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण हेत्वारोपण की मनोवृत्ति सजग हो उठती है। तभी वह सत्यवती से कहते हैं कि मैं काम के वंश में ऐसा नहीं कर रहा प्रत्युत इसका हेतु ब्रह्म का वरदान है। इसी हेत्वारोपण (रेशन लाइजेशन) का उत्कृष्ट उदाहरण पराशर की उक्ति में इस प्रकार है :—

पराशर--तुम्हें देखकर मेरा चित्त इतना चंचल हो गया.......... किसी दूसरी तरुणी की ओर जो आँखें कभी नहीं उठीं....... अप्सराओं की ओर भी नहीं, वे ही तुम्हारे रूप के जाल में फंस गई हैं। इस आचरण का कारण दैवी है, सुन्दरी! ....नहीं तो मेरा मन तुम में अनुरक्त नहीं होता।

उनकी अनुरक्ति का कारण दैवी है। दैवी हेतु के वशीभूत होकर वह यह आचरण कर रहे हैं। नहीं तो कामासक्ति उन्हें विमुग्ध नहीं कर पाती। यही हेत्वारोपण की भी परिधि है।

यद्यपि सत्यवती का काम भी पराशर के यौवन को देखकर बाँध तोड़ चुका है पर सामाजिक अहं उसकी अतृप्त वासना की तृप्ति के लिए बाधा खड़ा करता है। वह कह उठती है :—

सत्यवती—दोनों किनारे ऋषियों के आश्रम हैं अभी दिन का प्रकाश है....... कितनी निन्दा होगी। ऋषि मेरी .... (अनुराग से देखकर सिर नीचा कर लेती है।) यह उसका आन्तरिक द्वन्द्व है। वह चाहती है, पर समाज का भय है। सत्यवती

१—भगवान मनु तथा अन्य एकांकी—लक्ष्मीनारायण मिश्र पृ० सं० ३३, ३४

के इड् की अतृप्तेच्छा से पराशर भी अनभिज्ञ न थे वह नारी सुलभ मनोवैज्ञानिक हीनता को सामने रखते हैं :—

पराशर—मुझे देखकर तुम्हारे मन की जो दशा हुई क्या वह मुझसे छिपी रही बोलो।

सत्यवती—मेरे मन के विकार को भूल जायें महर्षि ···· ··· ।

पराशर—मन का विकार तुम्हारा सात्विक था।

मनोवैज्ञानिक शैली में यह सात्विकता इड् की प्रकृतेच्छाशैली में यह सात्विकता इड् की प्रकृतेच्छा की सत्यता का प्रदर्शन मात्र प्रकट कर रही है। सत्यवती का अहं पुत्र रत्न और अक्षय यौवन की प्राप्ति में भी ठोकर लगाकर पुनः उठ खड़ा होता है—

सत्यवती—अभी दिन है, कोई देख लेगा। ··· ····मै अभी कुमारी हूँ······· पिता के वश में हूँ। आपके समागम से मेरा कन्या भाव नष्ट हो जायेगा। ······· पुनरपि आप पर मेरा मन रीझा क्यों ······· ?

पराशर—तुम्हारे भाग्य में रानी बनना है और मेरे पुत्र की माता।

सत्यवती—तब मैं अपनी हीन काया आपको सौंप रही हूँ।[1]

ये कथोपकथन मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से अनुप्रेरित है। पात्रों की इस संवाद शैली ने कथावस्तु में एक मनोवैज्ञानिक मोड़ दिया है। इस स्थल पर सत्यवती का यह काम के लिए समर्पण है। उसके इस समर्पण में काम की उन्मुक्त अतृप्ति की माँग है। जो इड् का परिष्कृत रूप है। इसी स्वच्छन्द विहार के उत्तम फल थे द्वैपायन जिनको कृष्ण या व्यास के नाम से भी विभूषित किया गया। यहाँ यह दृष्टव्य है कि काम की इस विकृति से जिसने कन्यकात्व का विचार न रखते हुए अपनी अतृप्ति को तृप्त किया। उसका फल निकृष्ट न निकल कर उत्तम कैसे निकला। द्वैपायन की विद्वत्ता किसी से छिपी नहीं। फिर इस संकीर्णता से उनके प्रकाण्ड-पाण्डित्य पर क्यों न असर पड़ा। मिश्र जी के इस एकांकी में कृष्ण नाम का पात्र द्वैपायन ही है। वेदादि आर्य-दर्शनों के प्रवर्त्तकों में आप सर्वोपरि हैं। यह क्यों, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कन्या के गर्भ से पैदा होने वाली सन्तान में आत्महीनता ग्रन्थि अति प्रबल होती है। क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया ओवर कम्पेन्सेशन) की मनोवृत्ति से उसकी हीनत्व कुन्ठा उसको उत्कर्षता की ओर प्रवृत्त करती है। यही प्रतिक्रिया कृष्ण के जीवन में संघटित हुई है। कन्या के जन्म ने उन्हें हीनता की ग्रन्थि से बाँध डाला। उनका पूर्ण विकास अन्त में उसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। कृष्ण को अपनी माँ का पता यों चलता है—

१—भगवान मनु तथा अन्य एकांकी—लक्ष्मी नारायण मिश्र पृ० सं० ३३, ३७, ३८

कृष्ण—नदी तट पर······ मेरी माँ कौन है तात।

पराशर—कुछ कहा उसने···········

कृष्ण—किसने···········

पराशर—नाव पर जिसके साथ खेल रहे थे।

कृष्ण—कहा आपसे पूछने को मेरी माँ कौन है········

पराशर—वह तुम्हारी माता है।·······। यह सुनते ही कन्या जन्म के कारण उनमें हीनत्व कुण्ठा आगयी।

कृष्ण में एडलर की आत्महीनता के अतिरिक्त फ्राइड की मातृप्रणय ग्रन्थि भी है। कृष्ण मे ओडिपस की भाँति माँ के प्रति आकर्षण है पर प्रौढ़त्व न होने के कारण निषिद्ध संभोग नहीं।

कृष्ण—जिस दिन वह नाव लेकर आती है मैं अनजाने नाव की ओर भाग पड़ता हूँ। क्यों ऐसा होता है तात ? मेरे मन में क्या होने लगता है—कि मैं उसके पास खिंच जाता हूँ।[1]

वह इस आकर्षण से अनभिज्ञ है, ऐसे ही ओडिपस भी पहले अनभिज्ञ रहा था। उसके अज्ञात मन का प्रक्रम ही उसके मातृ-प्रणय ग्रन्थि के कारण अजाने में नाव की ओर भगता है। उसके मन की ओर भगता है। उसके मन की विलक्षण प्रक्रिया और अकस्मात् सत्यवती की ओर खिंचना, इसी ग्रन्थि द्वारा हो रहा है।

'संघर्ष'—रेडियो काव्य नाटक 'संघर्ष' में सिद्धनाथ कुमार ने आन्तरिक द्वन्द्व की मर्मस्पर्शी अवतारणा की है। पंकज के दोहरे व्यक्तित्व में इस मानसिक द्वन्द्व-वश्यता का प्रस्फुटन हुआ है। काव्य नाट्य की कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन और रचनात्मक प्रक्रिया में मानसिक प्रक्रम की झलक परिलक्षित है। अतः यह रेडियो नाटक 'संघर्ष' मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है।

मानसिक द्वन्द्वात्मक कथावस्तु—इस रेडियो काव्य नाटक की कथावस्तु, 'पंकज' के अन्तर्द्वन्द्व पर आश्रित है। कहीं-कहीं आभास मात्र उसकी पत्नी बेला और पुत्र मोहन का उपस्थित होना भी पंकज की मानसिक स्थिति को निर्देशित करने के लिए उद्भासित हुआ है। नाटककार ने कलाकार की अन्तश्चेतना को इतना द्वन्द्वात्मक बना दिया है कि उसमें बहुव्यक्तित्व की धारणा पंकज के प्रत्येक संवाद में बोल पड़ी है। विषय वस्तु केवल इतनी है कि पंकज का पुत्र अस्वस्थ है लेकिन कलाकार पंकज पत्थर की मूर्ति बनाने में ही तल्लीन है। उसका युगीय समष्टि एवं व्यष्टि अचेतन मन का द्वन्द्व तुरन्त बोल उठाता है—

पंकज का मन—तुम कलाकार ही नहीं,

१—भगवान मनु और ·····मिश्र—पृ० सं० ४०, ४१

नहीं शिल्पी केवल,
तुम रक्त-मांस के पुतले भी, मानव भी हो।[1]
यह सार इस रेडियो-काव्य-नाटक की कथावस्तु का है।

मनोवैज्ञानिक पात्र पंकज में बहुव्यक्तित्व—पंकज अपनी भिन्न व्यक्तित्व की अस्पष्ट ध्वनि सुनकर चकित होता है और कहता है—

पंकज—तुम कौन ? कहाँ से बोल रहे ?
मैं तुम्हें देखता यहाँ नहीं,
लेकिन आवाज सुन रहा हूँ।

मन—मैं तो तुम से-कुछ कहता रहता हूँ सदैव, जिसको तुम सुनकर भी न कभी ही सुन पाते मेरे पंकज।

पंकज—पंकज ?
सम्बोधित करते हो मुझको 'पंकज' कहकर।[2]

स्वयं पंकज को पंकज कहकर सम्बोधित करने में दोहरे व्यक्तित्व के बावजूद यहाँ सहबोधावस्था का भान होता है। लेकिन भिन्न व्यक्तित्व की यह अवधारणा किसी अन्य व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं प्रत्युत पंकज का समष्टि अचेतन मन, चेतन मन के लिए भिन्न बन गया है, जिससे पंकज को सहबोधावस्था मनोवृत का आभास हो रहा है।

पंकज के बहुव्यक्तित्व की शृङ्खला में अज्ञात मन पुनः कहने को उद्यत होता है।

मन—अश्चर्य चकित क्यों रोते हो ? मैं तुमसे परिचित हूँ, हैं ज्ञात मुझे आख्यान तुम्हारे जीवन के, हर एक तुम्हारी धड़कन मेरी धड़कन है।

पंकज—तुमने अपनी बातों में उलझाकर मुझको, साधना भंग कर दी मेरी। ये हाथ रुक गये हैं मेरे छेनी है नीची गिरी हुई, मेरे सम्मुख यह मूर्त्ति अधूरी खड़ी खड़ी सतृष्ण नयन से ताक रही, मैं कलाकार हूँ, शिल्पी हूँ, भर दूंगा इसमें नये प्राण, चेतना नयी।[3]

रचनात्मक प्रक्रिया में पंकज के भिन्न व्यक्तित्व से उद्वेलित स्वोक्तिपरक संवाद—पंकज के अन्तर्द्वन्द्व का पर्यवसान कला के मार्गान्तरीकरण में होता है। वह मूर्ति गढ़ने में व्यस्त हो जाता है। परन्तु मानसिक द्वन्द्व का अतिरेक उसे काम करने से फिर रोक देता है--

---

१—रेडियो नाट्क शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १४५
२—रेडियो नाट्क शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) १४५, ४६
३—रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १४६, १४८

मन—मत पागल हो पंकज, कुछ मेरी बात सुनो। पाषाणों में जीवन का सत्य नहीं मिलता, सत्यों के फल खिला करते हैं धरती पर। पाषाणों से तुमको न उलझने दूंगा अब। मैं तुम्हें खींचकर जीवन की धरती पर लाने आया हूँ।

पंकज—मैं कलाकार, जीवन के सत्यों का दृष्टा।

मैं देख रहा हूँ उन्हें सतत, इसलिए कि उनको जग को भी दिखला पाऊँ।

प्रमुदित हो पाये संसार कलाकृतियों में उनका बिम्ब देख।

मन—इन बातों से मुझको विश्वास नहीं होता।

कामना तुम्हारी होती यदि, जगती को सुखी बनाने की।

पहले तुम सुखी बनाते।

अपनी पत्नी को, माँ को अपने नन्हे शिशु को।

नन्हा मोहन बीमार पड़ा है शय्या पर पत्नी बैचैन हो रही है।[1]

यहाँ पंकज पात्र का अज्ञात मन अपनी अतृप्त-दमितेच्छाओं का परिशोधन मूर्त्ति कला द्वारा करना चाहता है। किन्तु करुण संगीत के साथ एक स्मृति दृश्य उसके इस ऊर्ध्वगमन में बाधक बन जाता है। उसका प्यारा बच्चा मोहन बीमार पड़ा हुआ है। उसकी स्त्री बेला उसे दवा दे रही है लेकिन दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण वह उसे ठीक दवा नहीं दे पाती। अतः बच्चे को सान्त्वना देती है कि तुम्हारे पिता आकर तुम्हें शीघ्र ही नीरोग बना देंगे। पंकज वहाँ पहुंचता है और बच्चे को जल्दी अच्छे होने का आश्वासन देता है। पंकज का मानसिक द्वन्द्व उसे फिर झकझोरता है और कहता है कि तुम अपने बच्चे और पत्नी को संतुष्ट करने में अक्षम हो, तुम पत्थरों की वाणी प्रतिपल सुनने को लालायित रहते हो, परन्तु मोहन की कातरता ध्वनि तुम्हारे अन्तर्तम तक अभी नहीं पहुंच पाई। मन की यह प्रतारणा सुनकर पंकज मनोवैज्ञानिक संवाद प्रस्तुत करता है —

कज—मुझको अशान्त मत करो अधिक।

उनकी स्मृतियों को सोने दो ओ मेरे मन।

मेरे अन्तर को और न अधिक कुरेदो तुम।

मैं शिल्पी हूँ, गढ़ रहा मूर्त्तियाँ जग के हित,

मेरी साधना न भंग करो इन बातों से।

(**मन**—हँसते हुए) साधना ? साधना इसे तुम कहते हो। तुम पागल हो। तुम भाग रहे हो जीवन के संघर्षों से।

पाषाणों के संग जूझ जूझ; पाषाण हो गये हो तुम भी।

लेकिन निराश करते अपनी प्रिय बेला को।

१—रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १४८, ४९, ५०, ५१

नहीं शिल्पी केवल,

तुम रक्त-मांस के पुतले भी, मानव भी हो।[1]

यह सार इस रेडियो-काव्य-नाटक की कथावस्तु का है।

मनोवैज्ञानिक पात्र पंकज में बहुव्यक्तित्व—पंकज अपनी भिन्न व्यक्तित्व की अस्पष्ट ध्वनि सुनकर चकित होता है और कहता है—

पंकज—तुम कौन ? कहाँ से बोल रहे ?

मैं तुम्हे देखता यहाँ नहीं,

लेकिन आवाज सुन रहा हूँ।

मन—मैं तो तुम से-कुछ कहता रहता हूँ सदैव, जिसको तुम सुनकर भी न कभी ही सुन पाते मेरे पंकज।

पंकज—पंकज ?

सम्बोधित करते हो मुझको 'पंकज' कहकर।[2]

स्वयं पंकज को पंकज कहकर सम्बोधित करने में दोहरे व्यक्तित्व के बावजूद यहाँ सहबोधावस्था का भान होता है। लेकिन भिन्न व्यक्तित्व की यह अवधारणा किसी अन्य व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं प्रत्युत पंकज का समष्टि अचेतन मन, चेतन मन के लिए भिन्न बन गया है, जिससे पंकज को सहबोधावस्था मनोवृत का आभास हो रहा है।

पंकज के बहुव्यक्तित्व की शृङ्खला में अज्ञात मन पुनः कहने को उद्यत होता है।

मन—अश्चर्य चकित क्यों रोते हो ? मैं तुमसे परिचित हूँ, हैं ज्ञात मुझे आख्यान तुम्हारे जीवन के, हर एक तुम्हारी धड़कन मेरी धड़कन है।

पंकज—तुमने अपनी बातों में उलझाकर मुझको, साधना भंग कर दी मेरी। ये हाथ रुक गये हैं मेरे छेनी है नीची गिरी हुई, मेरे सम्मुख यह मूर्त्ति अधूरी खड़ी खड़ी सतृष्ण नयन से ताक रही, मैं कलाकार हूँ, शिल्पी हूँ, भर दूंगा इसमें नये प्राण, चेतना नयी।[3]

रचनात्मक प्रक्रिया में पंकज के भिन्न व्यक्तित्व से उद्वेलित स्वोक्तिपरक संवाद—पंकज के अन्तर्द्वन्द्व का पर्यवसान कला के मार्गान्तरीकरण में होता है। वह मूर्ति गढ़ने में व्यस्त हो जाता है। परन्तु मानसिक द्वन्द्व का अतिरेक उसे काम करने से फिर रोक देता हूँ--

---

१—रेडियो नाट्क शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १४५

२—रेडियो नाट्क शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) १४५, ४६

३—रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १४६, १४८

मन—मत पागल हो पंकज, कुछ मेरी बात सुनो। पाषाणों में जीवन का सत्य नहीं मिलता, सत्यों के फल खिला करते हैं धरती पर। पाषाणों से तुमको न उलझने दूँगा अब। मैं तुम्हें खींचकर जीवन की धरती पर लाने आया हूँ।

पंकज—मैं कलाकार, जीवन के सत्यों का दृष्टा।

मैं देख रहा हूँ उन्हें सतत, इसलिए कि उनको जग को भी दिखला पाऊँ।

प्रमुदित हो पाये संसार कलाकृतियों में उनका बिम्ब देख।

मन—इन बातो से मुझको विश्वास नहीं होता।

कामना तुम्हारी होती यदि, जगती को सुखी बनाने की।

पहले तुम सुखी बनाते।

अपनी पत्नी को, माँ को अपने नन्हें शिशु को।

नन्हा मोहन बीमार पड़ा है शय्या पर पत्नी बैचैन हो रही है।[1]

यहाँ पकज पात्र का अज्ञात मन अपनी अतृप्त-दमितेच्छाओं का परिशोधन मूर्त्ति कला द्वारा करना चाहता है। किन्तु करुण संगीत के साथ एक स्मृति दृश्य उसके इस ऊर्ध्वगमन में बाधक बन जाता है। उसका प्यारा बच्चा मोहन बीमार पड़ा हुआ है। उसकी स्त्री बेला उसे दवा दे रही है लेकिन दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण वह उसे ठीक दवा नहीं दे पाती। अतः बच्चे को सान्त्वना देती है कि तुम्हारे पिता आकर तुम्हें शीघ्र ही नीरोग बना देंगे। पंकज वहाँ पहुंचता है और बच्चे को जल्दी अच्छे होने का आश्वासन देता है। पंकज का मानसिक द्वन्द्व उसे फिर झकझोरता है और कहता है कि तुम अपने बच्चे और पत्नी को संतुष्ट करने में अक्षम हो, तुम पत्थरों की वाणी प्रतिपल सुनने को लालायित रहते हो, परन्तु मोहन की कातरता ध्वनि तुम्हारे अन्तर्तम तक अभी नहीं पहुंच पाई। मन की यह प्रतारणा सुनकर पंकज मनोवैज्ञानिक संवाद प्रस्तुत करता है—

कज—मुझको अशान्त मत करो अधिक।

उनकी स्मृतियों को सोने दो ओ मेरे मन।

मेरे अन्तर को और न अधिक कुरेदो तुम।

मैं शिल्पी हूँ, गढ़ रहा मूर्त्तियाँ जग के हित,

मेरी साधना न भंग करो इन बातों से।

(**मन**—हँसते हुए) साधना? साधना इसे तुम कहते हो। तुम पागल हो। तुम भाग रहे हो जीवन के संघर्षों से।

पाषाणों के संग जूझ जूझ; पाषाण हो गये हो तुम भी।

लेकिन निराश करते अपनी प्रिय बेला को।

१—रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १४८, ४९, ५०, ५१

तुमको न तनिक लज्जा आती।
है याद. कौन सी आशायें थीं, लाग उठीं उसके मन में ?[1]

मनोवैज्ञानिक रचना के आधार पर पंकज स्मृति दृश्य में फिर डुबकी लेने लगता है। बेला उससे एक अपनी मूर्त्ति बनवाने की इच्छा प्रकट करती है। लेकिन पंकज कामोन्नयन पद्धति से उसे ही कला की प्रेरणा बतलाता है। और बेला को सुखी सिद्ध करता है। यह सुन मानसिक द्वन्द्व फिर प्रारम्भ होता है।

मन—बेला की पलको के सपने क्या कहते हैं।
तुम देख नहीं पाते उसकी इच्छाओं को।
जो सिसक सिसक कर रोती हैं,
जो घुट घुट कर मिट जाती है।
पंकज—मैं नश्वरता के लिए कभी भी अमरता को खो सकता।
मन—पागल सपने ? छल रहें तुम्हें। तुम देख नहीं पाते जीवन के सपनों को
तुम खोज रहे अमरत्व यहाँ, वह भी नश्वर क्षणभंगुर है।[2]

सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता की पुष्टि के लिए नाटककार प्रकृति के प्रकोप द्वारा मनुष्य की कृतियों का विनाश सिद्ध करता है और पंकज के मन से कहलवाता है।

मन=(अट्टहास) कलाकार पंकज की सब मूर्त्तियाँ ध्वस्त हो जायेंगी (हंसी)
पंकज—इतना न हंसो ओ मेरे मन, मैं पागल हो जाऊँगा सचमुच इन्हें सोच।
मन—(हंसी) क्यो न हंसू,
तुम खोज रहे अमरत्व यहाँ,
अमरत्व भला इस धरती पर मिल पाता है।
संभव है, जग के भले आदमी,
शान्ति चाहने वाले नर कुछ ऐटम बम ही बरसादें।
(विस्फोट) आह-चीत्कार आदि की ध्वनियां।

मन—(अट्टहास) तब कलकार पंकज की ये मूर्त्तियां कहीं बच पायेंगी ? (हंस) अमरत्व चाहने वाले भावुक कलाकार। (हँसी)
पंकज—बस, रहने दो, रहने दो; ओ मेरे मन।
सच कहते हो अमरत्व नहीं इस धरती पर।
मेरी मूर्त्तियाँ सभी खण्डित हो जायेंगी।

१—रेडियो नाव्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० १५४, १५५
२—रेडियी नाव्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० ३६२, १६३

मैं रचकर इन्हें करूँगा क्या ?
प्रतिमे ? तुझको मिटना ही है,
तो बनकर भला करेगी क्या।[1]

यह कहकर पंकज निर्मित मूर्त्ति को हथौड़े से खण्ड खण्ड कर डालता हैं। 'संघर्ष' के इस मानसिक द्वन्द्व में व्यष्टि अचेतन की विजय होती है। किन्तु समष्टि अचेतन में इस विनाश को देखकर पुनः निर्माण की भावना जागृत होती है और कलाकार पंकज पत्थर की प्रतिभा पुनः बनाने की सोचता है। इस प्रकार रेडियो काव्य नाटक 'संघर्ष' की कथावस्तु, पात्र, संवाद और रचनात्मक प्रक्रिया मे मनो-विज्ञान का आश्रय लिया गया है जिसमे नाटककार को पूर्ण सफलता मिली है।

मानसिक संतुलनात्मक वर्ग—मानसिक संतुलनात्मक वर्ग के चिरंजीत का **वह आया** ध्वनि रूपक, भट्ट जी का 'जवानी' एकाकी, सुमित्रानन्दन पन्त का काव्य रूपक, 'रजत शिखर' का विश्लेषण मनोविज्ञान के आधार पर यहाँ प्रस्तुत है।

वह आया—रेडियो एकांकी 'वह आया' में 'चिरंजीत' ने भय संवेग का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसमे 'सिम्पिल कांक्रीट फोबिया' (साधारण मूर्त्ति-भीतिरोग) की मनोविकृति मिलती है। इस भय संवेग और उत्तेजक वस्तु का मूल सम्बन्ध वर्तमान में अर्थात् रोग प्रहार के समय नहीं होता है, बल्कि अतीत में कभी हुआ होता है। अर्थात् अतीत की कोई घटना और वर्तमान प्रतिक्रिया तथा अनुभव में ऐसा सम्बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप भय का संवेग उभर आता है। ऐसे रोगी को वर्तमान सवेग की तो चेतना रहती है और वह उसके प्रभाव में तदनुकूल व्यवहार भी करता है, लेकिन अतीत की मूल घटना की नहीं। और इसीलिए लाख प्रयत्न करने पर भी वह अपने व्यवहार पर नियंत्रण नहीं कर पाता। वह अतीत की अप्रिय स्मृति का दमन करता है और उसके दमित-भाव अज्ञात मन में पहुँच जाते हैं। वह व्यक्ति उनके प्रति वही क्रिया करता है जो उसने अतीत की उस मूल घटना की उपस्थित में की थी। संवेगात्मक प्रेरणा से विवश होकर उसे भयभीत होना ही पड़ता है।[2]

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु—'वह आया' एकांकी की 'शीला' सिम्पिल कंक्रीट फोबिया की" मनोविकृति से ग्रस्त है, एक वर्ष पूर्व शीला की शादी प्रकाश के साथ हुई थी, जबकि सोमू उसको चाहता था। किन्तु सोमू के आचरण से घृणा करके उसके माँ-बाप ने उन दोनों को एक नहीं होने दिया। जब शादी होकर शीला डोली

१—रेडियो नाट्य शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (संघर्ष) पृ० सं० १६५, १६६
२—रोगी मन—सूरज नारायण मुन्शी—सावित्री एम० निगम पृ० ३२१, २२

में प्रकाश के घर पहुंची तो मूसलाधार वर्षा हो रही थी अतः प्रकाश ने उसके ऊपर डोली से उतरते ही छाता ताना कि साथ ही साथ उधर बिजली की भाँति टूटकर सोमू ने शीला पर छुरा का प्रहार किया। वह पकड़ लिया गया। तो भी वह छुरा शीला की बाजू पर बैठा। यही मानसिक प्रक्रम कथावस्तु का आधार बना।

शीला में 'प्रतीक मूर्त्तभीत रोग' का मानसिक असंतुलन—यह मनोग्रस्तता शीला में एक साथ तब पुनः उभरी जब मूसलाधार वर्षा होने के कारण उसमें 'प्रतीक मूर्त्त भीत रोग' का संवेग जग उठा। उसकी नौकरानी सुखिया ने उसे बहुतेरा समझाया पर मनोग्रस्तता के कारण वह उस भय से दूर होना चाहती हुई भी उससे मुक्त नहीं हो सकी!

सुखिया—बहू जी। आपसे कितनी बार कहा है कि आप उस घटना को बिल्कुल भूल जाइए।

शीला—कैसे भूल जाऊँ, सुखिया? जब तक मेरे इस बाजू पर सोमू के चाकू का निशान है, और—और सोमू अभी जिन्दा है, तब तक………………….।[१]

रचनात्मक प्रक्रिया में विभ्रममय संवाद—सोमू जेल में पड़ा है तब भी शीला उसी के भय से भयभीत है। इसी बीच में रेडियो से वह सुनती है कि सेन्ट्रल जेल से कोई कैदी निकल कर भाग गया है। अब उससे भय का कोई ठिकाना नहीं रहता। वह विभ्रम वश बादलों की गर्जन में सोमू का अट्टहास सुनती है। अन्धकार में उसी की भयंकर मूर्त्ति उसे नजर आती है। मकान के चारों ओर की किवाड़ें सुखिया से बन्द कराके भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उसके वाक्यों से विभ्रम झलक उठता है—

शीला—उसकी साँसें मुझे सुनायी दे रही हैं। उसकी खूनी पद चाप मुझे सुनायी दे रही हैं। उसके हाथ में चमकता हुआ छुरा मुझे दिखायी दे रहा है। सुखिया सुन, वह बाहर क्या कह रहा है। (बादल की गरज के साथ, वही अट्टहास) कह रहा है, मैं जरूर बदला लूँगा, जरूर बदला लूँगा।[२]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शीला में प्रतीक एवं साधारण मूर्त्त भीत रोग और विभ्रम का मनोविक्षेप प्रबल है। कुछ अंक में शीला हेत्वारोपण से भी आक्रांत है, क्योंकि उसकी शादी बचपन में सोमू से ही निश्चित हुई थी। अतः उस का अव्यक्त मन भय से संवेग की ओट में अपनी दमित काम वासना की तृप्ति को हत्या का हेतु प्रस्तुत कर रहा है।

उदयशंकर भट्ट जी के 'जवानी' एकांकी में जवानी, विचारक और स्मृति छाया-पात्र रंगमंच पर युवती वृद्ध और वृद्धा के वेश में अभिनय इस प्रकार पाये

१—रंगमंच—चिरंजीत—पृ० सं० ५७
२—रंगमंच—चिरंजीत पृ० सं० ६१

जाते हैं, जैसे पश्चिम में मनोवैज्ञानिक एक्सप्रेशनिस्ट नाटककार यूजीन ओ नील "हैराल्ड राबिसटीन' और रोनाल्ड जोन्स मन के 'एक्सरे' फोटोग्राफर बन पात्रों की सूक्ष्म कल्पना को पकड़ कर रंगमंच पर कौतूहल उत्पन्न करते है। इसका परिष्कृत रूप मैटर लिंक के रूपक 'दि प्रिन्सेस मेलीन' में मिलता है। जो हिन्दी में पन्तजी के नाटक 'ज्योत्स्ना' में आ बोला है। भट्ट जी का कैदी पात्र आगन्तुक (विचारक) स्मृति (वृद्धा-स्त्री) और युवती (जवानी) इन तीनों के हाथ की कठपुतली बना हुआ है। युवती अपने लावण्यमय सौंदर्य की छटा दिखाती है। स्मृति (छायापात्र) उसमें सहयोग देता है। विचारक (छाया-पात्र) उसमें बाधक सिद्ध होता है।

मनोवेगों पर आधृत कथावस्तु— भट्ट जी के 'कैदी' पात्र में यह कामात्मक दिवा स्वप्न है। अतृप्त दमित कामेच्छाओं का प्रकृत रूप अचेतन से चेतन का घमासान युद्ध करा रहा है। इस आन्तरिक सघर्ष मे अन्तश्चेतना से स्मृति चित्र और समष्टि अचेतन से नैतिकाहं के आदर्श विचार छाया बनकर कैदी को विभ्रम में डाले हुए है, क्योकि उसका मानसिक संतुलन बिल्कुल बिगड़ चुका है। इड् के जन्म-जात संवेगों का पुंज तूफान गति से अहं और आदर्शाहं की दृढ़ दीवारो को चकनाचूर कर चुका है। वह पागल हो, ऐसी बात नहीं। वह मनोग्रस्तता है, और उसकी मनोग्रस्तता अपनी सीमा के बांध तोड़ चुका है जिससे उसे विचार, स्मृति, जवानी के प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष में दीखते हैं। यदि कैदी इसी दशा में निमग्न हो जावे तो विक्षिप्तता अपेक्षित है।

कैदी पात्र में कामात्मक द्वन्द्व से दोहरा व्यक्तित्व—कैदी के अतीत का जीवन अभाव ग्रस्त रहने के कारण उसमें कुण्ठाओं को जन्म दे बैठा है। इसी के आधार-भूत आत्महीनता ग्रन्थि प्रबल होकर उसे क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया के बावजूद डाकू बना बैठी है। वह बहुत पढ़ा लिखा है किसी सरकरी अफसर का पुत्र है और साहस की सजीव प्रतिमा भी है। उसके कैदी बनने का एक मात्र कारण प्रतिगमन है। जन्मजात इड् की प्रवृत्तेच्छाओं की कामुकी प्रवृत्ति को वह अपनी जवानी मे पूर्ण करना चाहता है। उसका यह मनोवेग ही उसे प्रतिगमन की ओर अग्रसर किये हुए है। ये सब जवानी के छाया चित्र हैं। जवानी के उद्दाम आवेग जब शान्त हो जाते है तब कैदी की यह मनोग्रस्तता स्वतः ही शिथिल पड़ जाती हैं। और उसे वे जवानी स्मृति एवं विचार के विभ्रममय छाया पात्र विलीन होते हुए स्वयं में आत्मसात् ज्ञात होते हैं—

आगन्तुक— तुम समझे वह कौन थी।

कैदी—हां, उस समय तो नहीं, अब समझ में आया कि वह मेरी 'जवानी' थी।

आगन्तुक—और दूसरी।

कैदी—स्मृति।

आगन्तुक—और मैं।

कैदी—तुम मेरे विचारक हो।[1]

छाया पात्रों के संवादों द्वारा रचनात्मक प्रक्रिया में आन्तरिक द्वंद्व की अभिव्यक्ति

★

अपने कामात्मक दिवास्वप्न में कैदी ने जिन छाया पात्रों के साथ अभिनय किया है, उनके हाव-भाव चेष्टायें भट्ट जी ने भूत-प्रेतों की भाँति कैदी को शरीर धारी के रूप में दिखायी हैं।

कैदी—ऐसा ज्ञात होता है कि एकदम किसी ने स्वर्ग मे नरक में से लाकर पटक दिया। कैसा स्वप्न था।

आगन्तुक—(विचारक)-(छाया पात्र) (सोचता हुआ) मैं सोच रहा हूँ कि तुम्हें क्या हो गया ?

कैदी—(आश्चर्य से) बिना मेरी बात सुने।

आगन्तुक—मनुष्य क्यों व्यर्थ की चिन्तायें, निकम्मी आशायें मोल लेकर अपने जीवन को विषमय बना देता है। तुम यही तो सोच रहे हो कि तुम्हारा साहस, तुम्हारा सौदर्य, तुम्हारा प्रेम, एकदम न जाने कैसे, कहां विलीन हो गये।

कैदी—पर तुमने कैसे जाना.......। न जाने वह सुन्दर कपड़े क्या हुए ? वह स्वर्ग-सा सुख, वह सुन्दर मूर्ति पर अपने आप ही तो मैंने खोया है। .... (एक दम विह्वल सा होकर आँखें बन्द कर लेता है और पागल की तरह चिल्लाने लगता है) क्या एक बार भी न आओगी ? (आँखें खोलकर) इस बार तुम्हें पा सकूं तो अपने सम्पूर्ण आराधना के प्रायश्चित से तुम्हारे सामने अपने को समर्पण कर दूं।[1] कैदी के विचार घुमड़-घुमड़ कर इतने प्रबल हो गये है कि उसे विभ्रम होता है और विचारों के स्थान पर एक वृद्ध आगन्तुक उसे दीखता है। इसी बीच में एक और वृद्धा उसे दृष्टिगत होती है यह उसकी स्मृति है जो छाया पात्र के रूप में भट्ट जी ने प्रस्तुत की है। स्त्री को देखकर कैदी प्रफुल्लित हो उठता है—

स्त्री—(मुग्ध होकर)[1] प्रिये यदि तुम मेरे पास रहोगी तो मुझे किसी सुख की आवश्यकता नहीं।

स्त्री—तुम कवि तो नहीं हो।

कैदी—उससे भी अधिक।

१—जवानी और छः एकांकी—भट्ट पृ० सं० २१

२—जवानी और छः एकांकी—पृ० सं० ६, ७

स्त्री—प्रेमी रहे हो।

कैदी—चोर प्रेमी। डाकू और न जाने क्या क्या।

आओ, मैं तुम्हारा आलिंगन कर लूँ। तुम मेरे हृदय का स्पन्दन हो, प्रिये। (आगे बढ़ता है)

स्त्री—(पीछे हटकर) क्या करते हो? याद रखो तुम मुझे पा नहीं सकते।

कैदी—अब मुझसे रहा नही जाता, आओ हम दोनों एक हो जायें। उठकर दौड़ता है, पर स्त्री उसके हाथ से बार-बार छिटक जाती है। वह बार-बार पकड़ने दौड़ता है पर पकड़ नहीं पाता। अन्त में हारकर दुष्ट, धूर्त।[1]

स्त्री—दुःखी मत हो। मैं तुम्हें वरदान देना चाहती हूँ। यदि मैं तुम्हें ही चाहूँ तो..........तुम में मेरी प्रियतमा की छवि है।[2]

कैदी अपनी प्रेयसी का तादात्म्य उस स्मृति छाया पात्र से कर बैठता है। इस तरह तादात्म्य में भी आन्तरिक द्वन्द का विलोड़न मात्र होने के कारण केवल विभ्रम ही विभ्रम है। तभी तो वह स्त्री कैदी को अपने मित्र आगन्तुक (विचारक) छाया पात्र को पुनः बुलाने को बाध्य करती है जिससे पुर्नविचार होते ही स्मृति और विचारो के समन्वय मे उसकी वास्तविक जवानी की झाँई उसमें सजग हो उठे। यही होता है, कैदी क्षीण—काय होता हुआ भी स्मृति के बल पर सुन्दर गठीले व्यक्ति के रूप में नवयुवक बन रंगमंच पर दर्शकों की दृष्टि में आता है। उसने अपने पराक्रम से सिंह को मार भगाया। उसके इस पराक्रम पर एक युवती आसक्त हो जाती है। यही युवती (जवानी) युवक का हाथ पकड़ कर खींचती है —

युवक—(स्वप्न से जागकर) यह मुझे क्या हो रहा है। बिजली सी दौड़ रही है। मेरा हाथ छोड़ दो। सब कुछ विचित्र है। अच्छा तुम्हें मालूम है मैंने अभी तक एक सिंह को पछाड़ा है..... .. ....तुम्हें मालूम है उस दिन डाका डाल कर गाँव से लौटते हुए मैने एक बरसाती नदी तैरकर पार की थी। उस दिन का हाल तुम्हें ज्ञात है जब मैंने अपने पड़ौसी बल्लभ की लड़की को कालेज से आते हुए उड़ा लिया था।

युवती—हाँ।

युवक—तुम्हें कैसे मालूम। क्या तुम जादूगरनी हो।

युवती—मैं वही थी। उस समय मैं तुमसे दूर न थी। (चलने लगती है)

१—जवानी और छः एकांकी—भट्ट पृ० सं० १०, ११, १२

२—जवानी और छः एकांकी—भट्ट—पृ० सं० १३, १४, १५, १६

युवक--तुम्हें बताना होगा कि तुम कौन हो। देवी, दानवी, परी या मानवी। मैं तुम्हारे सामने आत्म समर्पण करता हूँ।

युवती– विश्वास करो मैं तुम्हारी हूँ। मैं तुम्हारे हृदय की आराध्य भावना हूँ। जब तुम सिंह से लड़ रहे थे तब भी मैं तुम्हारे साथ थी। बल्लभ की लड़की को बचाने में मेरा ही हाथ था। विश्व का समस्त सौन्दर्य, सम्पूर्ण सुख, आत्मा का चमत्कार लेकर मैं तुम्हारे पीछे छाया की तरह चलूँगी।

युवक—आश्चर्य है। देखता हूँ। ऐसा पहिले कभी नहीं हुआ है।

युवती-- आओ तुम मेरा आलिंगन करो। मैं केवल एक बार ही जीवन में आती हूँ। मैं तुम्हारा वरदान हूँ। जीवन की आशा हूँ। आओ, मेरा चुम्बन लो। देखो, मैं मद हूँ पर मद से डरती हूँ। मैं वासना हूँ पर वासना से दूर रहने पर ही मैं तुम्हारे पास रह सकूँगी। लोग मुझे पापिन कहते हैं, पर पाप मेरा क्षय है।

युवक—आश्चर्य है। तुम्हारी सब बातें रहस्यमयी हैं।

युवती—हाँ, मैं रहस्यमय हूँ। भूलना नहीं भला। (युवक को मालूम होता है जैसे वह उसमें समा गयी हो।)

वह जब अपने आप को बल का अधिपीत दिग्विजयी समझता है। यौवन, शराब की बोतल ये दो ही चीजें उसे दीखती है। वह कामात्मक स्वप्न में उसी युवती से फिर मुलाकात करता है। डाकू युवक की मदमाती जीवन की छाया पुनः पुनः उसे आन्दोलित करती है। वह उससे स्थायित्व की याचना करता है। इसी बीच में थानेदार कुछ सिपाहियों को लेकर उपस्थित होता है। और डाकू नवयुवक का चित्र मिलाकर उसे बन्दी बनाता है। अभियोग चलने पर उसे यह दण्ड मिलता है जिसे वह कैदी बनकर भुगत रहा है। वहाँ कैद में कई बार मार पड़ी, बीमार हुआ, क्षीण-काय होने से बल पौरुष थक गये। इस असमर्थता में ही वह मनोग्रस्त है। ये संवेगाविष्ट मनोग्रन्थियाँ ही उसे विभ्रम की पगडन्डी पर चला रही हैं। कभी वह कामात्मक दिवास्वप्न देखता है तो कभी उसे कामात्मक स्वप्न ही आ घेरते हैं। कभी उसके समक्ष विचारक आगन्तुक का रूप रखकर आता है तो कभी स्मृति और विचार दोनों वृद्ध पुरुष-स्त्री के वेश में विभ्रम वश दृष्टिगोचर होते हैं। जब कैदी इन दोनों से पीछा छुड़ाता है तो युवती की छाया में जवानी अपनी मदमस्त क्रिया, प्रतिक्रिया एवं चेष्टाओं का प्रदर्शन करती है।

किं बहुना, पात्र केवल एक है जो रंगमंच पर एकाकी कैदी का अभिनय कर रहा है। परन्तु उसकी मनोग्रस्तता की चरम सीमा और आन्तरिक द्वन्द्व का विप्लव विभ्रम द्वारा क्रमशः आगन्तुक (विचारक वृद्धा स्मृति और युवती जवानी का छाया पात्र बनकर उसके अभिनयात्मक हाव, भाव, चेष्टाओं के लिए सहयोगी बने हुए हैं। इन छाया पात्रों का जितना मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण भट्ट जी ने अत्यन्त सफलता के

साथ किया है, उतना अन्य किसी नाटककार ने नहीं किया। इस एकांकी की कथावस्तु पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

काव्य रूपक 'रजत शिखर'

★

मानसिक संतुलन पर आधृत कथावस्तु—पन्त जी का काव्य-रूपक 'रजत-शिखर' मनुष्य की अन्तश्चेतना का प्रतीक है। इस काव्य रूपक में जीवन के ऊर्ध्व एवं समतल संचरणों का द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। मानव मन में विकास की वर्तमान स्थिति मे ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।[1] यही मानसिक प्रक्रम जीवन के लिये उपयोगी है। यह विधा मानसिक संतुलन की है जो जीवन के लिये श्रेय एवं प्रेय है। यही आधार गीति-नाट्य की कथावस्तु का है।

मनोविज्ञान से अनुप्रेरित पात्र—इस काव्य रूपक के प्रमुख पात्र युवक, युवती और मनोविश्लेषक सुखव्रत हैं। स्वयं पंत जी ने सुखव्रत पात्र को मनोविश्लेषक कहा है। सर्वप्रथम युवती मन शास्त्र की दुहाई देती हुई पाई जाती है। युवती मनोविश्लेषक से मिलने की इच्छुक है, क्योंकि उसने उसकी सुपात्मा को चेतना दी है। युवती के अज्ञात मन में डुबकी लगाकर मनोविश्लेषक छिपे हुये सत्यों को ऊपर लाने में समर्थ हुआ है।[2]

युवक मनोविश्लेषक सुखव्रत का बाल्यसखा है। युवती सुखव्रत से युवक की मन:शास्त्र की अज्ञानता पर आश्चर्य करती है। सुखव्रत मनोविज्ञान के आधार पर युवक को साधक एवं प्रेमी बतलाता है, जिसकी समानता पागल और कवियों से की जा सकती है, क्योंकि ये सभी दिवास्वप्न और कल्पनाओं में ही खोये रहते हैं। उनकी उन्मत्तता प्रसिद्ध है। पर यदि वह अपने भावों का रेचन न करें तो निश्चित वे पागल बन जायें।[3]

युवती सुखव्रत से युवक की शिकायत करती है कि बचपन से ही मैं उनसे ममता रखती हूँ। पर वे मुझे नहीं समझ पाये। सफल मनोविश्लेषक की भाँति सुखव्रत प्रत्युत्तर में कहता है—

> इसमें इनका दोष नहीं है अवचेतन की,
> प्रबल शक्ति से ये संतत अनभिज्ञ रहे हैं।

१—रजत शिखर—सुमित्रानन्दन पन्त—पृ० सं० ३

२—युवती—मन:शास्त्र कुछ और बताता है, पर जो हो—पृ० सं० १८

३—रजत शिखर—पन्त—पृ० सं० १९

उच्च ध्येय से पीड़ित है इनकी सुप्तात्मा,
बोधात्मा पर पिय प्रभाव रहा छुटपन से।
अहमात्मा नित हीन भाव से रही प्रतारित,
दमित-भावना मार्ग खोजती क्षुधा पूर्ति का।
जिससे संघर्षण रहता नित चेतन मन में।।[1]

पन्त जी ने यहाँ चेतन, अचेतन अर्द्धचेतन मन और इड् की अतृप्तेच्छा एवं अहं का सुन्दर निदर्शन किया है। आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति एवं हीनत्व कुण्ठा का भी यहाँ अच्छा निर्वाह है। इसे सुनकर युवती कहती है।

युवती—कैसी अन्तर्दृष्टि तुम्हें है मानव मन पर।

युवती की इस प्रशंसा से सुखव्रत प्रोत्साहित होता हुआ पुनः आगे कहता है—

मेरे मित्र युवक की यह स्टेज आत्म पलायन के स्वप्नों पर आसक्त है। ऐसी स्थिति के उपरान्त ही व्यक्ति प्रायः उन्नयन की ओर प्रवृत्त होता है। वास्तविकता उसके पास नहीं भटकती, उससे पृथक् होकर वह काल्पनिक तुष्टि को ही आधार बना लेता है अर्थात् दिवा-स्वप्न, स्वप्न और कल्पना मात्र में ही तथाकथित अतृप्त दमितेच्छा की पूर्ति कर लेता है। यह उसका सुख केवल छायामात्र होता है।[2]

युवती—.......... किन्तु प्रेम कैसा होता ?
क्यों बंध जाते युगल हृदय अज्ञात सूत्र में।

सुखव्रत का प्रत्युत्तर है कि यह काम प्रवृत्ति प्रकृतेच्छाओं से सम्पन्न इड् के मौलिक नियमों द्वारा गतिशील होती है। विषय लिंगी स्वभाव से एक दूसरे पर आसक्त होते है। पर जब सामाजिक बन्धन इन प्रकृतेच्छाओं को पूरा नहीं होने देते तो ये दमित हो इड् से निसृत होकर अज्ञात मन की सामग्री बन जाती है। इन काम वृत्ति के आवेगों को हम अंध समर्पण मात्र नहीं कह सकते। इस काम प्रवृत्ति की गतिविधि का संचालन करने वाला अज्ञात मन ही है।

रचनात्मक प्रक्रिया में अज्ञात मन की हीनत्व कुण्ठाओं का उपचार—अचेतन मन का रहस्य जानने के लिए अतृप्त दमित इच्छाओं की स्वच्छन्दता अपेक्षित है, अज्ञात में जो ग्रन्थियाँ उलझी हुई पड़ी हैं उन्हें खोलना, हीनत्व कुण्ठाओं को मिटाना, गुह्य वासनाओं को प्रत्यक्ष में चेतन मन के समक्ष रखना अर्थात् अचेतन मन के आलोड़न विलोड़न को चेतन के अन्दर पहुँचना ही उसके दुरवगाह्य रहस्य से परिचित

१—रजत शिखर—पन्त—पृ० सं० २०
२—रजत शिखर—पन्त—पृ० सं० २०

होना है।[1] इसको सुनकर युवक कहता है :—

युवक—तब क्यो शुक की भाँति रटें। हम अवचेतन के उपभेदों को, उच्छृंखलताओं से प्रेरित हों, यदि उन पर अधिकार नहीं है चेतन मन का।

सुखव्रत मनोविज्ञान को एक सामाजिक पक्ष बतलाता हुआ कहता है कि मनोविज्ञान से ही अनागत काल में मनुष्य को अपने रागात्मक सम्बन्ध निर्धारित करने होंगे क्योंकि मनोविज्ञान उनके अचेतन मन की गुह्यता को बाहर निकाल कर रख देगा। रीति और रूढ़िवादिता के बन्धन अचेतन के ज्वार के समक्ष ढीले करने होंगे क्योकि मानव के प्राणों का प्रवाह इसे अब सहन नहीं कर पावेगा।[2]

सम्वादों में गतानुभूत फ्राइडियन स्वच्छन्दतावाद का फ्राइड द्वारा विरोध का निरूपण - युवक मनोविश्लेषक सुखव्रत की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को सुनकर इसके विपक्ष में फ्राइड के उस संशोधन की मान्यता सामने रखता है जब फ्राइड ने अपने गत लम्बे अनुभव से विचार कर जिन्हें अपनी भारी भूल माना था। फ्राइड द्वारा उद्घोषित अज्ञात मन की संतुष्टि के लिए यूरोप में, इन विचारों के आरम्भिक रूप को, अपनी दुर्वासनाओं की स्वच्छन्द पूर्ति का पोषक मानकर, युवा और प्रौढ़ स्त्रियाँ और पुरुषों ने, बहुत अनाचार शुरू कर दिया था, जो अब तक नहीं रुका है बल्कि जिसको, विगत और प्रवर्त्तमान विश्व युद्धों ने 'परस्परानुग्रह न्याय' से और भी उत्तेजना दी है। डाक्टर होमरलेन ने इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने का अथक् प्रयास किया है।[3] पन्तजी का युवक भी उसी की संपुष्टि करता हुआ कहता है कि यह सत्य है, आजकल मनुष्य के चेतन मन पर अचेतन मन का अद्भुत आकर्षण है। इन्द्रियों की यह रोम-रोम हर्षित करने वाली घाटी मनुष्य के प्राणों की करुणार्द्र कथा ज्ञात होती है। अज्ञात मन का अधः पतित नगर केवल अन्धकार से परिपूर्ण है। वह अतृप्त-दमित स्वतन्त्र प्रकृतेच्छाओं का आसुरी साम्राज्य है। इस अज्ञात और ज्ञात मन के वैषम्य के कारण मनुष्य का मन देवासुर का युद्ध स्थल बना हुआ है। ये अतृप्तेच्छायें ही इन दोनों को निरन्तर द्वन्द्व के लिए प्रेरित करती रहती है।

फ्राइड द्वारा संशोधित उपपत्ति के अनुसार दमित काम का उदात्तीकरण—अज्ञात मन के अन्धकार में आधुनिक-युग का मानव मन अपनी नैतिकता के बल की

१—अंध समर्पण मात्र नहीं वह आवेगों का,
अवचेतन परिचालित करता उसकी गतिविधि—पृ० सं० २१

२—सामाजिक भी एक पक्ष है मनः शास्त्र का—पृ० सं० २१

३—नवीन मनोविज्ञान (प्रस्तावना) डा० भगवान् दास पृ० सं० ३ (डा० लालजी-राम शुक्ल)

पूर्णाहुति देकर इधर-उधर विभ्रम में भटक रहा है।[1] इस अधः पतित अवचेतन के अनुप्राणित मानव कदापि मुक्ति को उपलब्ध नहीं कर सकता। उसका जीवन तभी मंगलमय बन सकता है जब वह अपनी अतृप्त दमितेच्छाओं का उदात्तीकरण कर सके" ""यह तो आज मानव का मन अपने अज्ञात मन पर वैसे ही मोहासक्त बना हुआ है। एक दिन मनुष्य को अवचेतन की अंध गुहा में ऊर्ध्वगमन (सब्लिमेशन) का आलोक बिखेरना होगा और उसी की विजय पताका फहरानी होगी तभी मानव की प्राण चेतना मुक्त होगी।[2]

उदात्तीकरण से सभ्यता, संस्कृति और कला का विकास—युवक के कथोपकथन में पन्त जी ने सभ्यता का विकास इसी ऊर्ध्वगमन से सिद्ध किया है। फ्राइड ने भी इस सम्बन्ध में अभिव्यक्त किया है कि सभ्यता का निर्माण जिन्दा रहने का संघर्ष करते हुए आदिम आवेगों की तृप्ति का त्याग करके ही हुआ है।[3] इसी फ्राइडियन उपपत्ति को युवक इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि सामूहिक जीवन का संचरण इसी ऊर्ध्वगमन से गतिशील है। यह उदात्तीकरण अज्ञात मन से शाश्वत संघर्ष करके

१—यह सच है, संप्रति मानव के चेतन मन पर,
आकर्षण है अधः प्राण अवचेतन मन का। पृ० सं० २५

० ० ० ०

रोमांचक है हाय, इन्द्रियों की यह घाटी,
करुणाजनक कथा है प्राणों के प्रदेश की।
घोर अँधेरी नगरी निस्तल निश्चेतन की,
मुक्त कामना तंत्र राज्य प्यासे असुरों का।
देवासुर संग्राम क्षेत्र है मानव का मन,
प्राण भावना समर स्थल है जिसका शाश्वत। पृ० सं० २४

० ० ० ०

निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू मन,
भटक रहा है, नैतिक मूल्यों का प्रकाश खो। पृ० सं० २३

२—अधः पतन में मुक्ति नहीं है? ऊर्ध्व गमन ही,
मुक्ति द्वार है?...... मोह मुक्त हो गया आज मन। पृ० सं० २३
एक रोज मानव को भू की अंध गुहा में,
ऊर्ध्व ज्योति की विजय ध्वजा फहरानी होगी।
तभी मुक्त होगी निःसंशय प्राण चेतना॥—रजत शिखर—पन्त पृ० सं० २४

३—मनोविश्लेषण—फ्राइड—पृ० सं० (विषय प्रवेश) ८

विजयी बन मनुष्य के सामाजिक जीवन को सुसंगठित बना सका है। वस्तुतः हम निश्चित रूप से सभ्यता का इतिहास ऊर्ध्वगमन के स्वर्ण अक्षरों में ही लिखा हुआ पाते हैं।[1]

स्त्री और पुरुष के सख्य भाव का मर्म ही अज्ञात मन अपने गुह्य कक्ष में और निभृत निकुंज में अन्तर्निहित किए हुए हैं, अज्ञात मन के ही अंध विवर में मनुष्यों का कलुषित विचार सन्निहित है। इसी विचार धारा को सुसंस्कृत बनाना है और यह तभी संभव है जब वह उदात्त भावों की ओर प्रवृत्त हो।

उत्पीड़क मनोग्रन्थियों का सृष्टा आधुनिक अहंवादी-युग—जब तक मानव जीवन में रागात्मक संतुलन नहीं आयेगा तब तक मनुष्य की नैतिकता अपने मुख से कलुषित घूंघट नहीं हटा सकेगी। धार्मिक एवं सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ नहीं हो पायेंगे। और न पृथ्वी अपने आप को कर्दम से विमुक्त कर पायेगी।[2] इन सब उच्छृंखलताओं का उत्पादक आधुनिक अहंवादी युग अपनी कूट मनोवृत्तियों का चारों ओर जाल फैला रहा है। इस बुद्धिवादी युग में मनुष्य अपने अहंभाव का संवर्धन अपनी मानसिक सीमा से अधिक करने के लिए उद्यत है। इस अहं भाव के कारण 'वह इतना अंधा हो रहा है कि उसे स्वयं की क्रिया प्रतिक्रियाओं पर कन्ट्रोल नहीं, तभी तो वह पौराणिक भस्मासुर का लबादा धारण कर पैशाचिक मनोवृत्ति से उत्तेजित हो मानवता के विनाश की ओर त्वरित गति से बढ़ा जा रहा है पर उसे ज्ञात नहीं कि उसके द्वारा प्रज्वलित विनाशाग्नि उसे स्वयं भी भस्मसात् करके ही बुझ सकेगी। आज व्यक्तिगत अहंवाद के अलावा समष्टिगत अहं भाव भी बल पकड़े हुए है। आधु-

---

१—ऊर्ध्व मान्यताओं का ही सामूहिक जीवन,
समतल गत संचरण—धरा के निश्चेतन से।
अविरत संघर्षण कर, नित ऊपर उठकर जो,
सामाजिक भू जीवन में संगठित हुआ है?
यही ऊर्ध्व इतिहास सभ्यता का है निश्चय।

—रजत शिखर, पन्त—पृ० सं० २४

२—रागात्मक संतुलन नहीं आयेगा जब तक,
प्राणों के जीवन में, तब तक मानव जग में।
नैतिकता के मुख से घूंघट नहीं हटेगा। रजत शिखर पृ० ३०
धर्मो के सिंहासन पर भूकम्प रहेगा,
सामाजिक सम्बन्ध सजीव न हो पावेंगे,
धरती के अङ्गों का कर्दम धुल न सकेगा॥ रजत शिखर—पृ० ३३

निक साम्राज्यवादी और पूँजीवादी राष्ट्र इसी शिकंजे में खिंचे हुए हैं इस विकृत अहंभाव के व्यापक रोग का निवारण अपेक्षित है।

युग का समष्टि अचेतन, तथा मानवीय संयम की महत्ता—पन्त जी का युवक इसी मानसिक व्याधि के दूर करने में प्रयत्नशील हैं। वह युग के समष्टि अचेतन से प्रेरित हो ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मैं सत्य का अमृत स्पर्श मनुष्यों के मन के भावों के स्तर पर जीवन की प्रत्येक दिशा और रूप में अनुभव करने में समर्थ हो सकूँ, क्योंकि आज अपनी ही छाया के पीछे मनुष्य भटक रहा है। पारस्परिक स्वार्थ, स्पर्धा, पराभव से जीवन कटु बना हुआ है। परिणाम स्वरूप कुण्ठित मनुष्य मन संसार में जीवन से विरक्त है। पर इस मन के उदात्तीकरण द्वारा ही उदात्त प्रवृत्तियाँ पनप सकी है। पन्त जी के ये समस्त पात्र मानव मनोवृत्तियों के सच्चे प्रतीक हैं। उन्होंने मानव की मनोवृत्तियों के ताने-बाने से ही रजत-शिखर का रूपहला प्लोट निर्मित किया है जो पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

काम प्रवृत्यात्मक वर्ग—काम प्रवृत्ति पर आधारित लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'राजयोग' और 'सिन्दूर की होली' डा० वृन्दावनलाल वर्मा का 'मंगल सूत्र' और 'खिलौने की खोज', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'भंवर' चिरंजीत का 'महाश्वेता' ध्वनि नाट्य, उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगन्धा' भाव नाट्य और दिनकर जी का काव्य नाट्य 'उर्वशी' पूर्ण मनोवैज्ञानिक नाट्य कृतियाँ हैं, जिनका विश्लेषण क्रमशः यहाँ प्रस्तुत है—

राजयोग—'राजयोग' मिश्र जी का सफल मनोवैज्ञानिक नाटक है। इसकी कथावस्तु, पात्र, संवाद और रचनात्मक प्रक्रिया मनोविज्ञान से अनुप्रेरित हैं।

मनोग्रस्तता पर अवलम्बित कथावस्तु—कथावस्तु में मानसिक घटनाओं का प्रवाह गजराज, चम्पा, नरेन्द्र और शत्रुसूदन की मनोग्रन्थियों पर आश्रित है। चम्पा, गजराज की अवैध सन्तान हैं। चम्पा के पिता बिहारीसिंह में रति शक्ति-हीनता थी। अतः उसकी पत्नी का सम्बन्ध गजराज से हो गया था। बिहारीसिंह की हत्या चौबीस वर्ष पूर्व उसकी पत्नी और गजराज की यौन-वर्जना का परिमाण थी।

चम्पा और नरेन्द्र की घनिष्टता विद्यार्थी जीवन से ही चली आ रही थी। शत्रुसुदन ने धन और जन-शक्ति से उन दोनों को जीवन साथी नहीं बनने दिया और, चम्पा का विवाह उसके साथ सम्पन्न हो गया। इस यौन वर्जना के फलस्वरूप नरेन्द्र और चम्पा में मानसिक द्वन्द्व प्रबल हो उठता है। चम्पा में मानसिक कुण्ठा होने के कारण शत्रुसूदन की उमसे न बन सकी। दोनों का जीवन भार हो गया। नरेन्द्र कामोन्नयन से प्रवृत्त होकर स्वयं ही उदात्त-वृत्ति का न बन सका अपितु

गजराज और शत्रुसूदन का भी मानसिक रोग दूर करने की उसने चेष्टा की। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में गजराज की काम-सम्बन्धी मनोग्रस्तता चम्पा के कामात्मक द्वन्द्व में आभांकी है जिससे नरेन्द्र और शत्रुसूदन भी नहीं बच सके। यौन-वर्जना के कारण चम्पा में प्रतिगमन और नरेन्द्र में ऊर्ध्वगमन की मनोवृत्ति कथावस्तु को विकासोन्मुख बनाने में सफल हुई है।

मनोवैज्ञानिक पात्र—नरेन्द्र की काम प्रवृत्ति का शोधन संसार के हित के लिए हुआ है। उसका उदात्तीकरण हिर्शफील्ड की कृच्छ तथा जप तप की जटिल एवं दुरूह साधना योग का अनुयायी प्रतीत होता है। हिर्शफील्ड ने उन्हीं व्यक्तियों को उन्नयन के लिए उपयुक्त बतलाया है जो कृच्छ तथा जप-तप से योग साधना करते हैं।[1] नरेन्द्र में भी योगबल पूर्व है तदुपरान्त कामोन्नयन की प्रवृत्ति जागृत हुई है। नाटक का प्रत्येक पात्र उसके इस आत्मसंयम से लाभान्वित है। गजराज की अपराध ग्रन्थि का प्रायश्चित, चम्पा की हीनत्व कुण्ठा का भयंकर प्रतिशोध और शत्रुसूदन का नरेन्द्र के प्रति ईर्ष्या के भ्रम की निवृत्ति स्वयं नरेन्द्र के मनोविश्लेषण से हो जाती है।

मनोग्रस्त गजराज अपनी अवैध पुत्री चम्पा के प्रति शत्रुसूदन में चम्पा की भाँति हार्दिक स्नेह रखता है। उसके अज्ञात मन में निहित यह तादात्म्यीयकरण की प्रवृत्ति सहसा सांकेतिक चेष्टा के रूप में उसकी आँखों में शत्रुसूदन को दीख पड़ती हैं—

शत्रुसूदन—क्यों, तुम्हारी आँखें कह रही हैं कि तुम कुछ कहना चाहते हो।

गजराज—नहीं तो सरकार.........कुछ नहीं..........मैं क्या.........(चुप हो जाता है।)

शत्रुसूदन—तुम्हें भी मेरी नजर बचाने की आदत पड़ गई है, जिधर देखता हूँ सन्देह.........मनुष्य जो बात छिपाकर रखता है, वह विष से भी भयंकर और छुरी से भी तेज होती है।[2]

शत्रुसूदन से ही नहीं वरन् अपनी अवैध-पुत्री चम्पा को देखकर भी उसका अज्ञात मन कराह उठता है। प्रायः वह विक्षिप्त होकर चम्पा से अपने चौबीस वर्ष पूर्व के पाप का लेखा देता है। उसे वही पश्चाताप रह रहकर विक्षिप्त बनाती है। वह शत्रुसूदन, नरेन्द्र, दीवान और चम्पा की मनोग्रस्तता का कारण स्वयं अपने आप को सिद्ध करता है। शत्रुसूदन के समक्ष भी उसकी यह अव्यक्त मन की

१—साइकालोजी आफ सेक्स—हैवलाक् एलिस—पृ० ३३९, ३४०

२—राजयोग—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ११

गुप्तेच्छा कई बार फूट पड़ी है। लेकिन उसके पूछने पर वह हँसकर टालता रहा है उसका कोई कारण नहीं बतलाता। शत्रुसूदन और चम्पा के गजराज की विक्षिप्तता सम्बन्धी संवाद अत्यन्त हृदयस्पर्शी एवं पूर्ण मनोवैज्ञानिक हैं—

चम्पा—हाँ, मैं जानती हूँ—"दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।"

शत्रुसूदन—इसका दुःख भी एक समस्या है। यह भी किसी अभाव का अनुभव करता है अथवा इसके भीतर भी कोई घाव छिपा पड़ा है।

चम्पा—इसीलिए तो मैं बराबर कहती हूँ कि मनुष्य के हृदय का रहस्य समझा नहीं जा सकता। ऊपरी ठाट-बाट और बोली सुनकर लोग भीतर का पता लगाना चाहते हैं। (अपनी छाती पर दोनों हाथ रखकर) इस आठ अंगुल की जगह में एक समुद्र भरा पड़ा है—कोई जानता ही नहीं।[1]

इन कथोपकथनों में मिश्र जी ने अज्ञात मन की कितनी आकर्षक अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः उसका अज्ञात मन अपराध ग्रन्थि के प्रायश्चित से मनोग्रस्त है तभी उसकी उद्विग्नता कभी कम नहीं होती। गजराज के मानसिक रोग से कभी कभी उसके शरीर में दर्द तक हो जाता है। योगीराज नरेन्द्र के सामने जब वह समस्या जाती है तो वह सफल मनोविश्लेषक की भाँति उसका निदना ढूढ निकालने का सद्प्रयास करता है।।

रचनात्मक प्रक्रिया में संमोहन सिद्धान्त से अनुप्रेरित संवाद और अचेतन मन का सांकेतिक रूप—मनोविश्लेषण पद्धति के अनुसार नरेन्द्र और गजराज आपस में वार्तालाप करते हैं। प्रायः मनोविश्लेषक चीर फाड़ करने वाले जर्राह की भाँति मानसिक घाव को कुरेद कुरेद कर एवं साफ करके पुनः पुनः अतीतानुभूति के दमित रूप को अज्ञात मन से चेतन मन पर लाने का प्रयत्न करता है। परन्तु मानसिक रोगी को वह प्रश्न जिनसे अव्यक्त मन की तहें खुलती हैं किंचिदपि पसन्द नहीं आते और वह डाक्टर से ऐसा करने के लिए निषेध करता है। मिश्र जी ने इसी मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को यहाँ रखा है—

नरेन्द्र—यह दर्द तुम्हें कितने दिन से है। (गजराज सिर नीचे की ओर कर चुपचाप खड़ा रहता है।) गजराज। हूँ, तो तुम अपनी बीमारी से प्रेम करते हो।

गजराज—महाराज, आज मुझे छोड़ दीजिये।

नरेन्द्र—दूसरे दिन नहीं जी आज मैं तुम्हारी बीमारी निकाल दूँगा।

गजराज—तब रहने दीजिये मुझे इसी तरह।

नरेन्द्र—तुम्हारा दुःख मेरा दुःख है। सारे संसार का दुःख है। मैं उसे

१—राजयोग—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ४९

रहने नहीं दूँगा । इसीलिए पूछ रहा हूँ । तुम्हार रोग कितना पुराना है । उसके अनुसार उपचार करूँगा ।

गजराज—मेरा रोग बहुत पुराना है महाराज । उसके लिए कोई दवा है ही नहीं ।

नरेन्द्र—मैं फिर कहता हूँ, तुम अपने रोग से प्रेम कर रहे हो । आत्मा का रोग मनुष्य नहीं समझता, उसके लिए भी शारीरिक औषधियाँ रखता है, गजराज मैं तुम्हारी व्याधि निकालूँगा ।

गजराज—जो तबियत हो, कीजिए महाराज । मुझसे कुछ न पूछिये ।

चम्पा—तो इसी तरह बीमार रहोगे ।

गजराज—इसी तरह तो बहुत दिनों से हूँ । वैसे ही रहूँगा ।

नरेन्द्र—रोगी का यही तो स्वभाव है रोग पड़ा रहे, प्राण चला जाय, लेकिन रोग निकालने में कोई कष्ट न उठाना पड़े । यह सब का स्वभाव है गजराज, तुम्हार ही नहीं । (शत्रुसूदन और चम्पा की ओर देखकर) ये लोग भी रोगी है ।[1]

मनोविश्लेषक की भाँति नरेन्द्र गजराज से जितना प्रश्न करता है वह उतना ही निरुत्तर होकर निषेध को ही अपनाता है । यह बात नहीं कि वह अपनी इस मनोग्रस्ता से व्यग्र न हो, पर करे क्या । मनोग्रस्तता में व्यक्ति को यहाँ परेशानी होती है, वह अपने मानसिक रोग का उपचार चाहता है, लेकिन उससे उसके सम्बन्ध में कहते नहीं बनता । इस मौन और हठवादिता से मनोविश्लेषक डाक्टर का निदान और भी पक्का हो जाता है । अतः वह समोहन की विधा से यह सब जानने को उद्यत होता है । मिश्र जी ने नरेन्द्र द्वारा गजराज के इस मानसिक रोग को दूर करने के लिये इसी सम्मोहन पद्धति को ग्रहण किया है । यहाँ नरेन्द्र निर्देशक बना हुआ है और गजराज विषय या माध्यम ।

मिश्र जी ने सम्मोहन क्रिया का यहाँ अच्छा निर्वाह किया है । "सम्मोहन की दशा मोह निद्रा की दशा है जिसकी उत्पति किसी व्यक्ति में निर्देश के कारण होती है । व्यक्ति को 'विषय' या माध्यम कहते हैं । जो व्यक्ति उसे मोह निद्रा में डालता है उसे निर्देशक (आपरेटर) कहते हैं । विषय (सब्जैक्ट) अंग को फैलाकर और पेशियों को ढीला करके लेटता है । धीरे धीरे निर्देश की शक्ति से अभिभूत होकर वह मोह निद्रा की अवस्था में पहुँच जाता है । उसकी सब वाह्य वस्तुओं की चेतना लुप्त हो जाती है । केवल निर्देशक के निर्देशों का उसे ज्ञान रहता है । निर्देशक उसे जिन विचारों का भी सुझाव देता है उन्हें वह बिना समझे बूझे मान लेता हैं । उसके आदेशों का वह यन्त्रवत पालन करता है । यह चेतना के विच्छेद की स्पष्ट अवस्था

१—राजयोग—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ५६, ५७

है जब माध्यम मोह निद्रा से उठता है तो उसमें उसने जो कुछ किया है उसे वह भूल जाता है। कभी कभी निर्देशक 'माध्यम' को मोह निद्रा की अवस्था में किसी काम को करने का निर्देश देता है और माध्यम मोह निद्रा से उठकर नियुक्त समय पर अचेतन बाध्यता के वशीभूत होकर यन्त्रवत् उसे कार्यान्वित करता है।[1] इसी को सम्मोहन निर्देश कहते है।

सम्मोहन क्रिया का रहस्योद्घाटन एन्टन मेस्मेर (१७३४–१८१५) ने किया था और उसी के नाम पर उसे मेस्मेरिज्म भी कहा जाने लगा। नरेन्द्र इसी मेस्मेरिज्म का ज्ञाता है। जिसके सम्बन्ध में स्वयं उसने भी कहा है और चम्पा के लिए वह जादूगर है।[2]

मिश्र जी ने फ्राइडियन सम्मोहन पद्धति का बहुत ही सुन्दर निर्वाह (निर्देशक) और गजराज (माध्यम) द्वारा किया है। दोनों के संवादो में भी मनोविश्लेषणात्मक ढंग पर सम्मोहन विधि-विधानों का निरूपण पाया जाता है—

नरेन्द्र—अच्छा तुम यहाँ लेट जाओ। मुँह सीधे आकश की ओर रहे।

गजराज – (अनिच्छापूर्वक) महाराज।

नरेन्द्र—आँख बन्द करो तो अब। (गजराज की आँखें दोनों हाथो से छूकर) सो जाओ ? खूब गाढ़ी नीद में सो जाओ। गाढ़ी नीद, गाढ़ी नींद। गज-राज : गजराज।

गजराज—(धीमे स्वर मे) हाँ।

नरेन्द्र—नींद आ रही है न।

गजराज—(और भी धीमे स्वर में) हाँ। (गजराज गहरी साँस लेने लगता है, जिससे मालूम होता है कि वह सो गया)।

नरेन्द्र—गजराज। गजराज। गजराज। सो गया।

चम्पा—सो गये।

नरेन्द्र—इस समय तो सुई चुभाने पर भी इसकी नींद नहीं खुलेगी। (शत्रुसू-दन से) बच्चे की तरह क्यों घबरा रहे हो। इसने कभी कोई न कोई बुराई की। उसका पश्चात्ताप इसे अब भी होता है। जब तक कि बात प्रकट नहीं हो जाती.... इसका पश्चात्ताप कम भी नहीं होगा।

चम्पा—यह तो नहीं बतलावेंगे।

नरेन्द्र—देखो अभी बतलाता है या नहीं। मनुष्य अपने हृदय को कितना ही छिपा कर रखें, मेरी दृष्टि उसके भीतर चली जायेगी।.......... गजराज।

१—मनोविज्ञान—डा० यदुनाथ सिन्हा पृ० सं० ३४६, ३४७

२—राजयोग—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ५४, ५५

गजराज—जी.........।

नरेन्द्र—देख रहे हो।

गजराज—हाँ, देख रहा हूँ।

चम्पा—होश हो गया क्या ।

नरेन्द्र—जो होश बराबर रहता था, वह बाहरी होश तो अभी होगा नहीं, जब तक मैं चाहूँगा नहीं, लेकिन यह भीतरी होश मैने पैदा कर दिया है। मैं पूछता जाऊँगा और यह उत्तर देता जायेगा, और इस तरह मैं इसकी बीमारी.......उसकी जड़ से निकाल लूँगा।

नरेन्द्र—तुम्हारे कितने बच्चे हुए है।

गजराज—एक..........

रघुवंश—हे भगवान इसकी तो शादी हुई ही नहीं।

नरेन्द्र— गजराज तुम्हारी शादी हुई थी।

गजराज—नही ।

नरेन्द्र—तब तुम्हें बच्चा कहाँ से हुआ ?

गजराज—एक लड़की हुई थी, दूसरे की स्त्री से। मेरा उससे बुरा सम्बन्ध हो गया ।

नरेन्द्र—वह स्त्री अभी जीवित है।

गजराज—मर गयी ।

नरेन्द्र—और वह लड़की ।

गजराज—वह तो है।

नरेन्द्र—कहाँ है वह इस समय।

गजराज—यही है। यही खड़ी है। यही चम्पा ?

नरेन्द्र—जिस स्त्री से चम्पा पैदा हुई थी, उसकी शादी किससे हुई थी।

गजराज—ठाकुर बिहारी सिंह से।

नरेन्द्र—चम्पा तुम्हारी लड़की है।

गजराज—हाँ।

नरेन्द्र—ठाकुर बिहारीसिह को यह बात मालूम थी ?

गजराज—हाँ।

नरेन्द्र—तुम्हारे पास इस बात का कोई सबूत है।

गजराज—हाँ..........

नरेन्द्र— क्या है ?

गजराज—दुलहिन जी की चिट्ठी। चम्पा की शादी के बाद उन्होंने बुलाया था। (सम्मोहनोत्तर में)

चम्पा—(गजराज का हाथ पकड़कर) मैं तुम्हारी लड़की हूँ।

गजराज—(चौंक कर) कौन कहता है।

चम्पा—अभी तुमने कहा है।

गजराज—झूठ है. झूठ है, मैं नहीं...... मैं नहीं............।

चम्पा—और यह अम्मा की चिट्ठी है। (गजराज घबराकर हाथों में मुँह छिपा लेता है।[१])

इस भांति फ्राइडियन सम्मोहन विधि द्वारा गजराज के मानसिक रोग का निवारण हो जाता है जो सन्देह, पश्चात्ताप और प्रायश्चित की मनोग्रन्थि से सम्पन्न था, उसकी अपनी ही छाया उसके लिए भूत बनी हुई थी, उसी मोग्रस्तता को नरेन्द्र ने छिन्न-भिन्न कर दिया।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन नरेन्द्र के पिता रघुवंश को हेत्वारोपण मनोवृत्ति-वश पुश्तैनी नौकरी में युग के अनुसार कमी बतलाकर गद्दी से अलग कर देता है। उसका सन्देह नरेन्द्र पर है, क्योंकि ऐसी दशा में आगे चम्पा उसकी होकर नहीं रहेगी। इस हेतु को भी मिश्र जी ने मनोवैज्ञानिक ढंग पर रघुवंश से कहलवा दिया है जिससे वह अपने ईर्ष्या के भ्रम को समझ जाता है। वह अपनी इस मनोग्रस्तता से छुटकारा पाने की इच्छा चम्पा के समक्ष रखता है, पर अपने रोगी मन के कारण ऐसा नहीं कर पाता।

मनोग्रसित चम्पा जब किसी भी प्रकार प्रतिशोध ग्रन्थि को नहीं खोल पाती तब उसकी परपीड़न वाली वृत्ति 'स्वपीड़क परितोष' में परिवर्तित हो जाती है। वह आत्म हत्या करने के लिए अपने आपको प्रेरित करती है।[२] अन्त में चम्पा का अतृप्त-दमित काम, कामात्मक फेटिशवाद से उत्तेजित होकर नरेन्द्र के चित्र पर पड़ी माला को उसके गले में डलवा देता है। शत्रुसूदन ईर्ष्यावश कह उठता है—

शत्रुसूदन—माला के साथ खिलवाड़ कर लो, तुम्हारे नेत्र मेरे पैरों की ओर रहे............लेकिन तुम्हारा हृदय।

चम्पा—उसमें मेरा दोष नहीं। मैं कोशिश तो करती रही। अपनी ओर से मैंने कुछ नहीं उठा रखा।[३]

निदान, चम्पा की कामात्मक मनोग्रस्तता ने उसे शत्रुसूदन की नहीं बनने

१—राजयोग—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१, ६४, ६६, ६७, ६८

२—राजयोग—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ७७

३—राजयोग-लक्ष्मीनारायण मिश्र पृ० सं० ७६

यह मनोविकृति चन्द्रकला और मनोरमा में स्वच्छन्द काम की ओर प्रवृत्त हुई है, और मुरारीलाल तथा माहिरअली में इसने अपराध ग्रन्थि का रुख ले लिया है। सम्पूर्ण कथावस्तु अपराध ग्रन्थि की मनोग्रस्तता, कामात्मक उन्माद और प्रतिशोध ग्रन्थि के विलक्षण विभ्रम से विकसित हुई है।

मनोवैज्ञानिक पात्र—रजनीकान्त की अपेक्षा चन्द्रकला का सच्चा प्यार मनोजशंकर से था। किन्तु मनोजशंकर की प्रतिशोध ग्रन्थि ने उसे शिथिल बना दिया। चन्द्रकला आहत तृतीय पक्ष अर्थात प्रतिगमन मनोवृत्ति के कारण रजनीकान्त की ओर मुड़ गई। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यदि रजनीकान्त जीवित रहता तो वह अपना विवाह मनोजशंकर से ही करती, क्योंकि आहत तृतीय पक्ष की यौन विच्युति रजनीकान्त के संगम से पूरी होते ही वह मनोजशंकर की हो जाती।

मनोरमा बाल विधवा है। वह अब विवाह नहीं चाहती। चन्द्रकला विवाह चाहती है, पर उसके अज्ञात मन मे निहित यौन विच्युति अर्थात् आहत तृतीय पक्ष या कहिये प्रतिगमन मनोग्रन्थि का निवारण, विवाह से पूर्व ही अपेक्षित है। तात्पर्य यह है कि ये दोनो नवयुवती फ्राइडियन स्वच्छन्दता से विशेषतया आन्दोलित है, क्योकि मनोरमा शादी के समय इतनी अबोध थी कि उसे अपने पति की आकृति तक का भी किंचित ध्यान नही। फिर पुनर्विवाह करने मे उसे झिझक क्यो है? मनोविज्ञान का सीधा उत्तर है कि वह जब मनोज को दूल्हा बनाने को तो तैयार नहीं अपितु उसके साथ उन्मुक्त खिलवाड़ कर सकती है, तब वह निश्चित स्वतन्त्र प्रेम की अभिलाषिणी है। यही ढंग चन्द्रकला का है। वह भी शादी मनोज से चाहती है पर अपनी प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिए वह रजनीकान्त को केवल मन बहलाव के लिए चाहती है। यह प्रतिगमन का विकृत रूप है जिसमें निषिद्ध काम और स्वच्छन्द प्रेम के अंकुर विद्यमान हैं।

मनोरमा—चित्र में तो वह मरा नहीं। लेकिन तुम तो इतनी विकल हो रही हो, जैसे तुम अपने प्रेम में…………।

चन्द्रकला—तुम जानती हो मैं किसे प्रेम करती हूँ………… प्रेम दो चार से तो हो नहीं सकता। उसके साथ प्रेम की नहीं……… विनोद की बात हो सकती थी………… उसके साथ खिलवाड़ हो सकता था…………तबीअत बहलाई जा सकती थी …… …।[1]

चन्द्रकला रजनी कान्त को मनोरंजन के लिए चाहती है उसे उसके साथ केवल अठखेलियाँ करती है जिससे तबियत मात्र कहलाई जा सके। यही आहत तृतीय पक्ष

१—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ३९

प्रतिरूप है। जिसमें प्रकृत काम की उन्मुक्त उड़ान अंगडाई ले रही है। यदि स्वच्छन्द काम की अभीप्सित मांग चन्द्रकला की रजनीकान्त के साथ खिलवाड़ करने की हो जाती तो मनोज उसका था और वह मनोज की होकर रहती। जब उसे अपनी प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिए सहारा देने वाले रजनीकान्त का विनाश दीखता है तो वह मनोजशंकर के प्रति भी अपनी प्रेम-ग्रन्थि को शिथिल कर डालती हैं, क्योंकि उसका प्रतिगमन शादी या प्रेम के पूर्व किसी आहत तृतीय पक्ष को चाहता है। उसे रजनीकान्त का अभाव अखरता है। और उसकी मानसिक अशान्ति शारीरिक व्याधि के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

मनोरमा—ऐं। तुम तो रो रही हो।

चन्द्रकला—(छाती पर हाथ रख कर) यहाँ दर्द हो रहा है......सांस लेने को जी नहीं चाहता।

मनोरमा—मनोजबाबू से तुम्हारा चित्त टूट गया है क्या।

चन्द्रकला—लेकिन उनसे मेरा चित्त लगा कब ?

मनोरमा—ऐं। कभी नहीं। तब तुमने क्यों कहा कि मैं जानती हूँ, तुम किसे प्रेम करती हो।

चन्द्रकला—लेकिन उस समय तो किसी प्रकार जीवन के साथ समझौता करना था...........।[1]

चन्द्रकला के समक्ष जब ऐसी स्थिति आती है तो वह मनोजशंकर में सन्देह का हेतु मान बैठती है, क्योंकि हेत्वारोपण (रेशनलाइजेशन) द्वारा ही उसे मनोज से पूर्ण छुटकारा मिल सकता है। आहत तृतीय पक्ष रजनीकान्त की मोहमयी मनोग्रस्तता उसमें स्थायी बन जाती है।

मनोरमा—ओह ? तो तुम्हारा मनोज बाबू से समझौता नहीं हो सका। तुम अब भी उसी मोह में...........।

चन्द्रकला—आग और पानी का समझौता कैसा ? मनोज सब तरह से योग्य है, लेकिन उनके भीतर एक प्रकार का संदेह, एक प्रकार का अन्धकार है जो मैं समझ नहीं सकती। वे स्वयं अपना विश्वास नहीं कर सकते।[2]

यह दोनों की मानसिक विवशता है। चन्द्रकला को इस हेत्वारोपण द्वारा अत्यधिक मानसिक शान्ति मिलती है। उसकी यह मानसिक ग्रन्थि अतृप्त-दमित

१—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ३९
२—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ८४

कामेच्छा के बावजूद एक साथ स्वच्छन्दता की ओर करवट बदलती है जो प्रकृत काम का वास्तविक रूप है। उसका अज्ञात मन अपनी गुप्त बातों को तुरन्त कह डालता है—

मनोरमा—तुम्हारे सिर पर सिन्दूर कैसा ?

चन्द्रकला—मेरा विवाह जो हुआ है…………

मनोरमा—कहाँ…………

चन्द्रकला—अस्पताल में…………

मनोरमा—अस्पताल में ? अरे।

चन्द्रकला—क्या अरे, अरे कर रही हो……इसमें विस्मय क्या है ? यह मेरी सुहागरात है……कितनी सूनी……लेकिन कितनी व्यापक। इसका अन्त नहीं है। मेरा पुरुष मुझे गुलामी में न रख सका………… मुझे सदैव के लिए स्वतन्त्र कर गया। मुझे जो अवसर कभी न मिलता वह मिल गया।[1]

यह उसके स्वच्छन्द काम की पुकार है। जो एक पुरुष के बन्धन से भागकर निर्बन्ध रहने की इच्छुक है। परन्तु वह इसे छिपाती है और सबको एवं अपने आपको धोखे में डालने के लिए आत्म-रति का स्वांग रचती है :—(दायें हाथ में शीशा लेकर चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्रकला आगे बढ़कर बायें हाथ से लालटेन उठाकर अपने मुँह के सीध में कर लेती है और शीशे में अपना मुँह देखने लगती है। मनोरमा आती है।)

मनोरमा—इस समय तुम्हारा शीशा देखना……तुम्हारा वैधव्य तो अमर रहे और तुम अपने ही रूप पर रीझती भी रहो।

चन्द्रकला—मैं केवल शीशे में अपना सिन्दूर और सौंदर्य देखती रही हूँ। मेरा व्यक्तित्व, मेरी अपनी इच्छा और प्रवृत्ति……[2]। यह उसका दोहरा व्यक्तित्व है जो मनोज को चाहता था, किन्तु रजनीकान्त की खिलवाड़ भी उसे सुरुचिकर थी। अब वह न रहा तो आत्मरति की आड़ में स्वच्छन्द क्रीड़ा-विलास ही सही उसका यह आन्तरिक द्वन्द्व बहु व्यक्तित्व से ओत-प्रोत ही है। चन्द्रकला इसको माने न माने पर मनोरमा का मनोविश्लेषण उसके लिये अक्षरशः सत्य है :—

मनोरमा—(मनोज शंकर से) चन्द्रकला यह जानती थी कि मुरारीलाल उसका विवाह तुम से करना चाहते हैं……तो लेकिन यह जानकर भी वह उस लड़के की सुन्दरता और सरलता पर अपने को खो बैठी। समाज में तो ऐसी कोई व्यवस्था

१—सिन्दूर की होली—मिश्र पृ० सं० ८७

२— ,, ,, ६०–६१

नहीं है, जिससे उसका सम्बन्ध उससे हो सके। इसके अतिरिक्त उसका विवाह भी हो चुका है। यह सब जानकर, समझकर उसने अपना सर्वनाश किया है। उसके कल्याण और उसके रमणीत्व की मर्यादा का तो केवल एक रास्ता रह गया है वह है उसका अविवाहित रहना। उसका विवाह तो अब व्यभिचार होगा.......अगर वह सम्हली नहीं तो उसके एक नहीं, अनेक व्यभिचारों का श्री गणेश आज हो गया।

मनोज—(चौंककर) व्यभिचार।

मनोरमा—आवेश क्यों? शारीरिक व्यभिचार से कहीं भयंकर है, मानसिक व्यभिचार।[1]

चन्द्रकला के मानसिक व्यभिचार की गतिविधि क्रमानुसार सर्वप्रथम मनोज पर आसक्त होना तदुपरान्त अपनी प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिये रजनीकान्त पर डोरे डालना और उससे अपने काम की तृप्ति न देखकर हेत्वारोपण द्वारा मनोज में सन्देह बतलाकर अपना पीछा छुडाना तथा अपने को विधवा सिद्ध करके निर्बन्ध स्वच्छन्द काम के प्रवाह में बहना व्यभिचार की व्युत्पत्ति का ही मनोविकृत रूप है। फ्राइडियन जीवन की मूल शक्ति वाले काम ने उसमे बहु व्यक्तित्व को जन्म दे डाला है। वह चाहती थी मनोज को, पर उसकी प्रतिगमन वाली प्रवृत्ति ने उन दोनों के बीच में रजनी को ला खड़ा किया। जब वह न रहा तो स्वच्छन्द काम सजग हो उठा। इसी स्वच्छन्द काम-प्रवृत्ति से अनुप्राणित होकर चन्द्रकला अब अपने पिता के घर में भी रहना अनुपयुक्त समझती है, क्योंकि पिता का घर तो उन्मुक्त जीवन का विरोध करेगा और उसकी मनोवृत्ति ठीक इसके प्रतिकूल बन चुकी है—

चन्द्रकला—जी..........

मुरारीलाल—तुम यहाँ रहना भी नहीं चाहतीं।

चन्द्रकला—नहीं। यहाँ रहने पर मैं आपके लिये आपकी मर्यादा के लिये, कलंक रहूँगी और यहाँ से हट जाने पर ".....और फिर पिता के घर में रहना अब तो उचित भी नहीं .... ।[2]

इस भाँति चन्द्रकला का सैक्स भी पुरुष की तरह प्रेम के साम्राज्य में उन्मुक्त क्रीड़ा-विलास का अधिकारी बन गया है जो फ्राइड के सैक्सवाद की एक विलक्षण देन है।

यद्यपि ऐसी ही मनोग्रस्तता मनोरमा में है पर उसमें इतनी भिन्नता है कि वह कभी कभी इस स्वच्छन्द काम-प्रवृत्ति से उत्तेजित होती है तो क्षणिक ही उसके भयंकर मानसिक द्वन्द्व का उपचार कला के भावरेचन द्वारा करने में तल्लीन हो जाती

१—सिन्दूर की होली—मिश्र पृ० सं० ४६-५०

२—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ६६

है। वह इसी द्वन्द्व के कारण मुरारीलाल और मनोजशंकर दोनों के लिए टेढ़ी समस्या है और एक है ऐसी उलझन जो सुलझाने पर और उलझती जाती है।

मुरारीलाल—तुम भी एक समस्या हो..........

मनोरमा—यह आपको कैसे मालूम।

मुरारीलाल—इसलिए कि मैं तुम्हें समझ नहीं पाता।

* * *

मनोजशंकर—तुम मेरे साथ खिलवाड़ कर रही हो।

मनोरमा—मैंने तुम्हारे साथ किसी तरह का खिलवाड़ नही किया। मैं तुम्हें चाहती हूँ.......... तुम्हारे साथ एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव मैं करती हूँ...........लेकिन तुम जिस मोह में पड़ गये हो......... वह तो भयंकर है।[1]

मुरारीलाल उसको समझ नहीं पाता, किन्तु मनोजशंकर उसके जिस मोह में पड़ा है वह भयंकर है अर्थात् वह उसे काम की स्वच्छन्द तृप्ति के लिए चाहती है विवाह के लिए नहीं। मनोजशंकर को भी उसका समझ लेना कठिन है। वह एक मनोविश्लेषक की भाँति अपने तटस्थ रहने वाले समस्त मानसिक रोगियों का चिट्ठा खोल डालती है। उसके मत से स्पष्ट है कि नाटक के सभी प्रमुख पात्रों में इस मानसिक वैषम्य का घुन लगा हुआ है—

मनोजशंकर—तुम्हें समझ लेना कठिन है।

मनोरमा—डिप्टी साहब के लिए भी मैं समस्या हूँ, और तुम्हारे लिए भी। मैं क्या करूं? किस किसके लिए रोऊं? अपने लिए, तुम्हारे लिए, साहब के लिए अथवा चन्द्रकला के लिए? चन्द्रकला की दवा के लिए, डाक्टर आये हैं। हम मरीजों की दवा कौन करेगा। चन्द्रकला का रोग असाध्य है, लेकिन हम तीनों का तो संघातक हो गया है।[2]

उसका जब मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहता तब चित्र बनाकर भाव रेचन करती रही है। इसी कारण वह अभी तक उन्मादिन होने से बची है—

मनोरमा—केवल अपने को भूल जाने के लिए मैंने अब तक रंग और कलम से खिलवाड़ किया है। अपने निर्जीव चित्र के लिए मैं सदैव जीवन की कामना करती रही....... उसके साथ मुझे एक प्रकार का सुख और सहवास मिला है।[3] जब कला

१—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ४१-४८

२—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ५१

३—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ६९

के भाव-रेचन द्वारा उसे मानसिक शांति नहीं मिल पाती हो पुनः पुनः दिवा स्वप्नों से ही राहत पाने का प्रयत्न करती है।

मुरारीलाल—लेकिन तुमने तो अपने प्रेमी का मुख भी नहीं देखा।

मनोरमा—इन आँखों से तो कभी नहीं देखा..........लेकिन कल्पना की आँखों मे नित्य देखती हूँ..........नित्य। बीस वर्ष का स्वस्थ, सुन्दर, सम्मोहक, शरीर, चन्द्रमा-सा मुख, कमल सी आखें, कमान सी भौहें, घने काले नीलम से चमकीले बाल (आँख बन्द कर) वह स्वरूप इस समय मेरे सामने आ गया है।[1]

मुरारीलाल उस पर बहुतेरे पासें फेंकता है किन्तु असफल। मनोज से उसकी आत्मीयता है केवल काम की तृप्ती के लिए, विवाह की नहीं, कारण स्पष्ट है, उसे स्वच्छन्द काम की संतुष्टि रुचिकर है। बन्धन में बंधकर उसकी मनोवृत्ति की संतृप्ति असम्भव है।

मनोविश्लेषणात्मक विन्यास शैली—मनोज शंकर में दो प्रबल प्रवृत्ति सन्निहित है। एक दिशा में काम प्रवृत्ति का प्रवाह है और दूसरी ओर प्रतिशोध ग्रन्थि उसे ग्रसित किए हुए है। उसमे अन्तर्द्वन्द्व की पराकाष्ठा प्रतिशोध की वजह से हुई है। इसी के कारण उसे हिस्टीरिया के दौरे पहले है तथा उस मानसिक द्वन्द्व-वश्यता से वह दो दो घण्टे अचेत पड़ा रहता है। वह चन्द्रकला के बेहोश होने पर डाक्टर से साफ-साफ कह देता है कि इसकी बीमारी शारीरिक नहीं वरन् मानसिक है। मनोविज्ञान के आधार पर ही वह अधिकाश बीमारियों का कारण मानसिक विक्षोभ ही बतलाता है, क्योंकि वह स्वयं इस मानसिक रोग से आक्रान्त है। अतः उसका उपचार स्वच्छन्द वातावरण के आधार पर अनुभव करके कहता है जो कि एक मनोवैज्ञानिक है कि उसके पिता के विषय में डिप्टी मुरारीलाल ने बताया है कि उसने आत्महत्या की थी। पर उसकी हत्या स्वयं मुरारीलाल ने की थी जिसमें माहिरअली भी शामिल था। इसी निर्मम हत्या के कारण इन दोनों में अपराध-ग्रन्थि बलवती है। वह अपने रोग का कारण स्वयं इसी हत्या को बतलाता है—

मनोजशंकर—मेरा रोग तो तब तक अच्छा नहीं होगा, जब तक मैं जान न जाऊं कि उन्होंने आत्म हत्या क्यों की। इस हत्या का असर केवल मनोज पर ही नहीं बल्कि मुरारीलाल पर उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। वह मनोग्रस्त होकर प्रायश्चित-ग्रन्थि से बैचेन रहता है—

मुरारीलाल—देखना कहीं उसे मालूम न हो जाय।

माहिरअली—किसे..........सरकार..........

१—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ४१

मुरारीलाल—मनोजशंकर को..........यह बात केवल तुम्हीं जानते हो।

माहिर अली—लेकिन आप यह बार-बार क्यों कहा करते हैं ? उसमे भी तो मैं ही..........

मुरारीलाल—मुझे इस बात का बड़ा दुःख है। मनोज अगर जान जायेगा कि उसके पिता ने मेरी ही वजह से आत्म हत्या की थी........(चुप होकर जैसे किसी गहरी चिन्ता में पड़ जाता है, दस वर्ष का समय निकल गया........ अभी तक तो बात छिपी हुई है। तबीयत बेचैन हो जाती है तो कभी कभी ऐसी बात निकल जाती है। तुमको और मनोजशंकर को प्रसन्न रखने में अगर मेरा सब कुछ बिगड़ जाय, तब भी मुझे चिन्ता नहीं।[1]

मनोजशंकर को खुश करने के कारण वह अधिक से अधिक धनराशि उसके आराम के निमित्त भेजता है। रजनीकांत की हत्या में भी उसकी वही अपराध ग्रन्थि बोल रही है। वह उसके लिए धन एकत्रित करने के निमित्त भगवन्तसिह से रिश्वत लेता है। यद्यपि दौहरे व्यक्तित्व के अनुसार उसमें अपराध ग्रन्थि के बिल्कुल प्रतिकूल प्रायश्चित ग्रन्थि स्थानापन्न है। तभी उसमें परपीड़न से स्वपीड़न की प्रवृत्ति जाग उठती है। और वह उपवास रखने का निश्चय करता है—

मुरारीलाल—आज मैं भोजन नहीं करूँगा.... ....मुझे इसका रंज है। क्या देख रहे हो ? जाओ इस तरह आज उपवास कर जाने से मुझे संतोष होगा।[2]

मनोज शंकर अपनी मानसिक बेचैनी के कारण पढ़ना छोड़कर भाग जाता है। उसके अन्तर्द्वन्द्व की प्रबलता अज्ञात मन से निकल कर स्वप्नों में सांकेतिक रूप से निकलती है। इससे उसका मानसिक रोग और बढ़ता नजर आता है। इस वृद्धि को देखकर उसे अपने जीवन तक की आशा नहीं रहती।

मनोजशंकर—आज पन्द्रह दिन से बाबू जी को बराबर स्वप्न में देखता हूँ। मेरा मानसिक रोग बढ़ गया है..........(जोर से साँस लेकर) कलेजे से लौ उठकर जैसे आँख फोड़कर निकल जाना चाहती है। यही दशा रही तो दस पाँच दिन भी नहीं जी सकता। दस वर्ष का समय निकल गया आप रुपये के बल पर मुझे विनोद और ऐश्वर्य में अन्धा बना देना चाहते हैं, जिससे मैं आपसे न पूछूँ कि उन्होंने आत्म हत्या क्यों की। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है यह रहस्य मुझसे दूर होता चला जा रहा है। लेकिन मेरे मन में; मेरी अन्तरात्मा में जो आग लगी है,

---

१– सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० १७–१८

२—सिन्दूर की होली—मिश्र—पृ० सं० ३३

वह कितनी दारुण है, आप उसे देखना नहीं चाहते। इस तरह कब तक मेरे प्राण बचेंगे।[1]

एक सफल मनोविश्लेषक की भाँति मनोजशंकर मनुष्य की कमजोरियों की बड़ी निष्ठुरता से आलोचना करता है। अपनी, चन्द्रकला, मुरारीलाल और मनोरमा के मन की गतिविधियों का पयर्वेक्षण वह इस शैली से बड़े ही स्पष्ट रूप में कर बैठता है। प्रतिशोध के वशीभूत होकर वह वंशी के स्थान पर पिस्तौल लेना चाहता है। विधवा मनोरमा की बाँह पकड़ने में एवं चन्द्रकला को न अपनाने में भी मुरारीलाल से प्रतिशोध लेने की अज्ञात इच्छा है, क्योंकि डिप्टी साहब मनोज और चन्द्रकला का विवाह चाहते थे और मनोरमा के साथ प्रेम करने की उनकी उन्मुक्त माँग थी। पर मनोज की प्रतिशोध ग्रन्थि के समक्ष ये दोनों इच्छा निष्फल हुईं। चन्द्रकला के हृदय को न जीतने का कारण अपने मन में जलती विषाद की आग को उसने बतलाया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि में "प्रेम स्वतः स्वभाव है, प्रकृति है...... वह तो चरित्र का गुण है अवगुण नहीं। इस कटु आलोचना के साथ उसने चन्द्रकला और रजनीकांत के प्रेम की व्याख्या की। चन्द्रकला के मानसिक रोग की चिकित्सा विधि वह मनो-विश्लेषण पद्धति से उपयुक्त बतलाता है। डाक्टर महोदय से उसका कथन है कि चन्द्रकला का रोग शारीरिक नहीं मानसिक है। उसके मस्तिष्क के चेतन कीटाणु आकस्मिक आघात से सहसा क्षुब्ध हो उठे हैं। चन्द्रकला और मनोज का विरोध स्पष्टतया मानसिक है।

मनोजशंकर—हमारे विरोध आज सदैव के लिए मिट जायें। जो साधारणतः प्रकट तो कभी नहीं हुए लेकिन हम दोनों की आत्मा में व्याप्त हो चुके थे। तुम्हारी आँखों में अभी सन्देह है उसे निकाल डालो।[2]

मनोजशंकर की मानसिक व्याधि का उपचार और उस मनो-ग्रन्थि का विनाश मिश्र जी ने मनोविश्लेषणात्मक ढंग पर रखा है। मनोज अपनी उस उलझी हुई ग्रन्थि का समाधान स्वयं ढूंढ निकालता है—

मनोजशंकर—तो उन्होंने आत्महत्या नहीं की..............आपने उन्हें मरवा डाला।

मुरारीलाल—(सन्न होकर) मैंने ? कौन कहता है ।

मनोजशंकर—आपने। आपने उन्हें मरवा डाला। सबूत चाहिए तो माहिर खड़ा है खून करने में उसने भी आपकी मदद की थी।

मुरारीलाल—माहिर..........तुमने।

१— ,, ,, ,, ४५-४६

२—सिन्दूर की होली--मिश्र—पृ० सं० ६७-६८

(मुरारीलाल कुर्सी से गिर पड़ते है)

मुरारीलाल—मनोज (धीमे स्वर में हाँपते हुए) मैं बराबर प्राय निश्चित करता रहा हूँ······· ।

मनोज शंकर—आपने स्वीकार कर लिया। मेरी आत्मा का बोझ उतर गया। ओह ? मैं क्या था ? इसी चिन्ता मे मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया, मानसिक बीमारी हो गयी। बराबर रात को मै उन्हें स्वप्न मे देखता था और सारा दिन उसी स्वप्न की भावना में पड़ा रहता था।[1]

अपने बाप के प्रतिशोध के लिए प्रयत्नशील वह मनोग्रस्तता से जकड़ा रहा। उसने एक मनोविश्लेषक की भाँति अपने मानसिक रोग का उपचार किया और संमोहन पद्धति से सबको भी स्वस्थ बनाना चाहा, तभी वह कहता है—

मनोजशंकर—बजा दूँ, आप लोगों को नींद आ जाय।[2] संमोहन मे भी नींद का आह्वान किया जाता है। उसे अपनी बाँसुरी से स्वयं को राहत मिली है, क्योंकि मनोविकारों का यह मार्गान्तरीकरण और मनोरमा भी इसे मानती है। इसी कारण वह सभी का इससे मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराने का इच्छुक है। इस प्रकार मनोविश्लेषण के आधार पर नाटक की रचना विन्यास शैली में हुई है।

मंगल सूत्र

★

डा० वृन्दावन लाल वर्मा का 'मंगल सूत्र' नाटक 'विकृत स्ना-युगत रतिशक्ति-हीनता' की मनोवैज्ञानिक अवधारणा पर स्थित है। नाटक का प्रधान पात्र कुन्दनलाल इसी विकृति से ग्रसित हैं। उसमें प्रारम्भ से ही 'पूर्ण यौन अनुभूति' हीनता (अनेडोनिया) पाई जाती है। प्रायः मैथुनिक शीतलता शारीरिक अथवा मानसिक गतिविधियों के बहुत बढ़ जाने से हो सकती है, जिनमें शरीर की सारी अतिरिक्त शक्ति खप जाती है। यौन-भावना की अति और उसकी त्रुटियाँ दोनों ही नपुंसकता पैदा करने में योग दे सकती हैं। कुछ लोगों के मन में शादी को लेकर भारी आतंक छाया रहता है, ऐसा कुछ तो इस कारण होता है कि उन्हें अपनी रति-शक्ति पर सन्देह रहता है। जब रति शक्ति का अभाव अपेक्षाकृत निरवच्छिन्न होता है तो कर्त्ता अत्यधिक सशंकित हो जाता है। स्नायविक आतंक का यह प्रभाव होता है कि पुरुष अपनी रति शक्ति के विषय में निरन्तर चिन्तित रहता है, और शाश्वत गति से उसे उद्दीप्त करने की चेष्टा करता है। कुन्दनलाल पात्र में यही मानसिक प्रक्रम है।

कथावस्तु में भय का संवेग—नाटक के प्रधान पात्र कुन्दनलाल की मानसिक

१—सिन्दूर की होली—मिश्र—९६—९७

२— „ „ ९८

अवस्थिति भय संवेग के कारण रतिशक्ति हीनता से अनुप्राणित है। मनोविश्लेषक गोपीनाथ इसको भली भाँति जानता है कि कुन्दनलाल का जिस अलका नाम की लड़की से विवाह रचा गया है वह उससे प्रारम्भ से ही भयभीत है। कुन्दनलाल में यह यौन शीतलता का स्नायविक आतंक आगे चलकर उसके जीवन में प्रबल हो उठता है।

मनोवैज्ञानिक पात्र—कुन्दनलाल की इस हीनता के सम्बन्ध मे मनोविश्लेषक गोपीनाथ भली भाँति जानता है। उन दोनों मे वैज्ञानिक वार्तालाप इस प्रकार होता है—

कुन्दनलाल—आप विवाह नहीं करेंगे।

गोपी नन्दन—कर लिया, मनोविज्ञान की रसायन शाला के साथ। तुम अपनी कठिनाई बतलाओ, शायद हल कर सकूँ।

कुन्दन लाल—मुझको कुछ दिन से बड़ी निर्बलता अवगत होती है।

गोपीनाथ—डाक्टर ने क्या कहा।

कुन्दन लाल—दवाइयाँ खाये जाओ, बहुत-सी खाई, कुछ नही हुआ। आप मनोविज्ञान के शास्त्री है, बतलाइये क्या करूँ?

गोपीनाथ—पत्नी को उसके मायके जाने दो और फिर कभी मत बुलाओ। उसके जी में जो आवे करने दो।[1]

कुन्दनलाल इस रति शक्ति हीनता के कारण 'स्वाक्रमण प्रेरणावेग' वश आत्महत्या तक की सोचता है। अलका सैक्स के वशीभूत होकर सर्वप्रथम बुद्धामल से अपना सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छुक है, तदुपरान्त वह अपना गठबन्धन मनोविज्ञान-वेत्ता गोपीनाथ से करती है।

रचनात्मक प्रक्रिया में यौन विच्युति और यौन संगठन--यौन विच्युति के परिणाम स्वरूप अलका कुन्दनलाल का परित्याग कर गोपीनाथ को अंगीकार करती है। यौन-संगठन के आधारभूत कान्ता और होरीलाल एक मन प्रतीत होते हैं। अलका ने कान्ता को कई बार होरीलाल की उदण्डता की ओर संकेत किया पर वह केवल छोड़ो कहकर ही चुप हो गई। यह मौन उसमें अव्यक्त मन की प्रेरणा से ही था। गोपीनाथ इन दोनों का मनोविश्लेषण अति सुन्दर एवं हृदयस्पर्शी शब्दों में करता है। उसका कथन है कि कान्ता पर कीचड़ फेंकने वाला होरी ही था। कान्ता उसकी कीचड़ का स्वागत आँखें मींचकर करती है जबकि अलका भाग छूटती है। कान्ता का यह मानसिक नियतिवाद उन दोनों के गृहस्थी जीवन को स्वर्ण बना चुका

१—मंगल सूत्र—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० १९-२० और ४४

है। कुन्दनलाल का मानसिक नियतिवाद अलका को हेय दृष्टि से देखता रहा है, फलतः इन दोनों का जीवन पूर्णतया असफल रहा।

संवादों में मनोविज्ञान का प्रयोग—नाटक का गोपीनाथ पात्र मनोविश्लेषक बनकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है। वह बात बात पर मनोविज्ञान की शरण लेता है। एक लड़की का स सा साइकिल से गिर जाने का ही वह विलक्षण विश्लेषण कर डालता है।[1]

गोपीनाथ के अतिरिक्त डा० वर्मा ने बुद्धामल, आचार्य और अलका तथा रोहन पात्र में मनोविज्ञान का बाहुल्य दिखलाया है। किन्तु इन पात्रों के संवादों में मनोविज्ञान शब्द की प्रचुरता के अतिरिक्त कहीं-कहीं सार्थकता का अभाव भी अखर उठता है:—

आचार्य—मैंने मनोविज्ञान पढ़ा है और पढ़ाता भी हूँ।

गोपीनाथ—परन्तु मैं मनोविज्ञान की अपनी रसायनशाला को तलाक नहीं देना चाहता।

बुद्धामल—यही मनोविज्ञान पढ़ाया करते हो लड़कों को क्यों ?

होरीलाल—ये श्री गोपीनाथ मनोविज्ञान शास्त्री है। (बुद्धामल से) गोपीनाथ आप ही सरीखे मनोविज्ञानी हैं।

रोहन—आपकी रुचि मनोविज्ञान में है। अलका का यह खास विपय रहा है।[2]

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि डा० वृन्दावन लाल वर्मा ने मंगल सूत्र नाटक को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। नाटक पर नवीन मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित है। मनोवैज्ञानिक शैली के कारण कथावस्तु पात्रों के संवाद अस्त-व्यस्त प्रतीत होते हैं।

"खिलौने की खोज"

काम प्रवृत्यात्मक कथावस्तु—वृन्दावन लाल वर्मा की यह नाट्यकृति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने में अनूठी है। इसकी कथावस्तु मनोवैज्ञानिक समस्या पर आधारित है। फ्राइड की काम प्रवृत्ति से इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। डा० सलिल और सरूपा की किशोरावस्था से ही सांठ-गांठ है। वह एक दूसरे से अत्यन्त घुलमिल गये हैं। प्रकृत काम की यह उन्मुक्त माँग उनके जीवन में दिन प्रतिदिन दृढ़ होती गयी

१—मंगल सूत्र—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ५७

२— ,, ,, ,, ८, २०, ४७, ५७, ७०, ७८, ७९

है। पर फ्राइडियन इस स्वच्छन्द काम प्रवृत्ति के विरुद्ध एक सामाजिक विषमता आ खड़ी होती है, जो सलिल और सरूपा अपने जीवन को एक साथ बिताने के अभिलाषी थे उन्हें सर्वदा के लिए जुदा कर दिया जाता है।

यह अतृप्त दमित कामेच्छाओं की प्रबलता अपना बाँध तोड़ कर अव्यक्त मन से मार्गान्तरीकरण कर बैठती है। सरूपा में एक सजीव कसक, बेहद बेचैनी का दर्द एवं अन्य शारीरिक व्याधियाँ इसी मनोग्रन्थि के परिणाम स्वरूप हुई हैं। सलिल भी इस भयंकर कुण्ठा से अपने आपको बचा नहीं पाया। यद्यपि वह डाक्टर है, पर मन की गतिविधि से पूर्ण अनभिज्ञ है। मन की गुप्तकामेषणा ने ही तो उसे क्षयरोगी बनाया है। एक दिन जब डाक्टर सलिल सरूपा के इलाज के लिए घर पहुँचा है तो सरूपा उसके समक्ष अपनी अर्द्धचेतन मन की पूर्व प्रसुप्त समस्त स्मृतियों का अनावरण कर डालती है, जो उसके एक खिलौने को देखकर जिसको सलिल सरूपा के यहाँ से चुरा ले जाता है, होता है। अतृप्त दमित काम वासनाओं का दमन विस्फोटित होकर क्षय रोग में परिवर्तित होता है। यह मनोवैज्ञानिक उपपत्ति है कि प्रायः अन्तर्द्वन्द्व की जब हद नहीं रहती तब मनुष्य किसी न किसी शारीरिक रोग से आक्रान्त हो जाता है, जिससे उसके स्वजनों का झुकाव स्वभाव से उसकी बीमारी के बावजूद उसी ओर हो जावे। यही इस नाटक में हुआ है।

मनुष्य में जब कोई शारीरिक रोग होता है तो उसके फलस्वरूप रोगी की मानसिक प्रतिक्रियाओं में भी परिवर्त्तन हो जाते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रिया में परिवर्तनों के उदाहरण हमें अनेक स्पष्ट शारीरिक रोगों में मिलते है, क्षय अथवा तपेदिक के अधिकतर रोगियों में आशावाद, अतिकाम और उत्साह, स्नायविक दुर्बलता आदि के मानसिक लक्षण पाये जाते हैं।

इस धारणा के अनुसार कुछ शारीरिक रोगों के मानसिक कारण हो सकते हैं। मानसिक कारण का तात्पर्य उन कारणों अथवा घटनाओं से है जिनमें ठोस जीवन की कठिनाइयों तनावों तथा भार ने प्रति संवेगात्मक प्रतिक्रिया के रूप में कोई शारीरिक रोग उत्पन्न होता है। मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं के घनिष्ट सम्बन्ध को समझने के लिए हमें मानसिक रोगों के सबसे महत्वपूर्ण मूलाधार, संवेग की स्थिति को अच्छी तरह से जान लेना चाहिए—"जिसे हम संवेग कहते हैं, हमारे शारीरिक ढाँचे में उसका निवास स्थान थैलमस में होता है। जिस क्षेत्र को हाइपोथैलमस कहा जाता है, उस क्षेत्र में चलकर स्नायविक आवेग शेष शरीर को जाते हैं और रास्ते में हृदय-स्पन्दन (हार्ट बीट) रक्तचाप (ब्लड प्रेशर) अन्तर्ग्रन्थियों (एन्डोक्राइन ग्लैण्ड) के स्राव तथा रक्त की रसायनिकता को प्रभावित करते जाते हैं। इस तरह से बृहत् मस्तिष्क (सेरे ब्रम) से चलने वाले आवेग माँस-पेशियों में तनाव पैदा कर सकते हैं।"

ऐसा संवेग का शारीरिक प्रभाव होता है।"[1] अन्ततोगत्वा नवीन मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार हम (हैल्दी माइण्ड हैज ए हैल्दी बोडी) शरीर का स्वास्थ्य मन के स्वास्थ्य पर निर्भर कह सकते है। बहुत से रोगियो को ऐसे बड़े बड़े जटिल रोग इस लिए पकड़े लेते है कि वे ऐसे रोगो का आह्वान करते है। कुछ रोग ऐसे होते है जो रोगी को नहीं पकड़े रहते किन्तु रोगी पकड़े रहता है। 'खिलौने की खोज' के डा० सलिल डा० भवन ऐसे ही रोगी है वे स्वयं रोग को पकड़ हुए है।

मानसिक रोग से शारीरिक रोग के प्रक्रम द्वारा पात्रो में मनोवैज्ञानिकता का आभास—डा० भवन को गठिया का रोग है। यह शारीरिक रोग बिल्कुल मानसिक है। इसका कारण वह स्वयं बतलाते है, क्योकि वे मरीजों से अधिक पैसा लेते रहे हैं। इसी से उनकी पत्नी की मृत्यु हुई और उन्हे भी दुःख भोगने है। यही मानसिक अवस्थिति उन्हें मनोग्रस्त करके गठिया रूप मे परिवर्तित हुई है। डा० सलिल इस मानसिकता को ताड़ जाता है और मनोविश्लेषण के ढंग पर इसका निवारण करता है। उपचार ठीक बैठता है।

डा० सलिल का क्षय रोग भी मानसिक रोग से सम्बन्धित है। उसमे आशावाद, अतिकाम, उत्साह और स्नायविक दुर्बलता सभी मानसिक दशायें क्षय-रोग के कारण विराजमान है। यह क्षय रोग किस प्रकार मानसिक रोग से शारीरिक बना। इसका अनुक्रम नाटक की विषय वस्तु से स्पष्ट है। सर्वप्रथम सरूपा की चांदी की मूर्ति जो उसके प्रतिकृत थी, डा० सलिल पिगमेंलियनवाद से प्रभावित होकर चुरा ले जाता है। सरूपा की शादी सेतूचन्द के साथ हो जाती है। डा० सलिल में पिगमैलियनवादी मनोवृत्ति से सरूपा की अपेक्षा उस मूर्ति से प्यार हो जाता है। किन्तु हीनत्व कुन्ए से प्रतवाड़ित होकर वह फौज में चला जाता है, और अपने सर्वनाश पर तुल जाता है। यह मनोग्रस्तता प्रबल होती जाती है, उसमें पिगमैलियनवाद के स्थान पर स्वाक्रमण प्रेरणावेग का मनोवेग सजग हो उठता है। जब उसका कुछ नहीं बिगड़ पाता तो उसे इस मानसिक व्याधि से शारीरिक क्षयरोग अपनना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्षयरोग ने उसे नहीं जकड़ रखा प्रत्युत वह स्वयं क्षय रोग को इसलिए अपनाये हुए है कि उसकी आत्म भर्त्सना से परिपूर्ण 'स्वआक्रमण प्रेरणावेग' की मनोवृत्ति अपने में सफल हो। डा० सलिल स्वयं समझता है कि उसे यह बीमारी मानसिकता के कारण ही है। डा० सलिल की जब यह मनोग्रन्थि खुल जाती है तो उसका यह क्षयरोग स्वयं ठीक होता चला जाता है:—

केवल—(सलिल से) आपमें परिवर्तन कैसे हुआ।

१—रोगी मन—सूरजनारायण मुन्शी–सावित्री एम०निगम पृ० सं० ३७६-७७-७८

सलिल—खिलौने की खोज से।

केवल—मेरी माँ ने उसको..............

सलिल—(तुम कुछ मत बताओ, मैं इन सबको समझाये देता हूँ।) मैं खिलौने को 'केवल' अनजाने ले गया। बिना सचेत इच्छा के भी लोग कैसे काम कर डालते हैं, यह बहुत थोड़े लोग जानते है। पर यह नित्य होता रहता है। अपने-अपने जीवन की घटनाओं में लोग असली कारण को ढूँढ़ें तो समझ में आ जायेगा।

खिलौने के मिल जाने से नहीं, खिलौने की मानसिक खोज के कारण यह सब हो सकेगा। और (भवन से) तुमको स्वस्थ करने की दृढ़ प्रेरणा से मैं अच्छा हो रहा हूँ। (नन्दिनी से) और नन्दिनी ने मेरा सिगरेट पीना छुटाया, उससे। और जब इन्होंने थर्मामीटर तोड़ डाला तब उसके वास्तविक कारण की तलाश से असल में मैं सजग हुआ।

भवन—आप इस शास्त्र के पारंगत है, फिर भी आप यक्ष्मा के रोग से कैसे दबा दिये गए। आप कहते है कि यक्ष्मा मानसिक संघर्षों के कारण अधिकांश लोगों को हो जाता है। आपने अपने को क्यों नहीं बचाया।

सलिल—क्योंकि मनोविज्ञानी भी बेवकूफ हो सकते हैं, क्योकि मैंने मरने की ठान ली थी न कि अपने को बचाने की। इसीलिए सेना में भर्ती हुआ था, तुरन्त थोड़े दिन ही रहा। इसलिए यक्ष्मा ने दबा लिया, क्योंकि यक्ष्मा मेरे स्वभाव के बिल्कुल अनुकूल बैठ गया।[1]

डा० सलिल की बीमारी का आदि कारण निश्चित मानसिक उलझन रही, इसमें दो मत नहीं। और क्षयरोग का उपचार मानसिक ग्रन्थि के अनावरण करने से ही हुआ न कि किसी शारीरिक रोग की औषधि के खाने से।

मनोवैज्ञानिक शैली में अतृप्तेच्छाओं की अभिव्यक्ति द्वारा मानसिक संतुलन—जिस प्रकार डा० सलिल मनोग्रस्त थे उसी भांति शादी के उपरान्त सरूपा भी थी, क्योंकि उसका सम्बन्ध डा० सलिल से था और अनचाहे जीवन दूसरे के साथ बिताना पड़ा। फलतः मनोग्रन्थि ज्यों की त्यों बनी रही। अपने गर्भ से पुत्र 'केवल' को भी जन्मा, पर वह उससे प्यार तनिक भी नहीं करती थी जैसे मां का वात्सल्य उसमें लेश मात्र भी न था। स्वभाव में चिड़चिड़ापन इसी कारण उसमें रहता था। वह अपने से लड़ती-झगड़ती। लड़के केवल को मारती-पीटती और नाना रोगों का घर भी बनी हुई थी। पर यह सब था मनोग्रस्तता के कारण जो उसमें अभाव के स्थान पर बन चुकी थी। उसकी यह मनोग्रन्थि भी इसी खिलौने से खुल गई और सरूपा ने स्वयं को स्वस्थ अनुभव किया:—

१—खिलौने की खोज—डा० वृन्दावनलाल वर्मा—पृ० सं० ७२, ७५

सरूपा—खिलौना ? चांदी का खिलौना ?

रामटहल—हां, चाँदी का खिलौना, किसी देवी की मूर्ति।

सरूपा—(अचेत सी होती हुई) चाँदी का खिलौना, देवी की मूर्ति ?? हे राम ??? (वह अचेत हो जाती है।)

° ° ° °

सलिल—अब बतलाइये।

सरूपा—कह तो दिया। बीमारी की बात पूछिये।

सलिल—आपने उस खिलौना को देखा था (सरूपा धक्का-सा खाती है। हड़बड़ा जाती है। उसकी आंखें विस्फारित हैं।)

सलिल—यह अवस्था कब से खराब चली आ रही है।

सरूपा—जब से केवल गर्भ में आया।

सलिल—आपने उसे जन्म से ही नहीं चाहा।

सरूपा—चाहा तो है, मेरी सन्तान है, पर कम चाहा है अब बहुत चाहती हूँ।

सलिल—परन्तु आप चाहती थीं कि सन्तान होवे ही नहीं।

सरूपा—आप कहते क्या है।

सलिल—बतलाइये, स्मरण कीजिए (सरूपा सोचने लगती है।)

सरूपा—(कुछ क्षण उपरान्त) मैं नहीं चाहती थी।

सलिल—अब सिर की पीड़ा कैसी है।

सरूपा—(माथे को टटोलती हुई) कुछ कम है।

सलिल—आपको आपके माता-पिता कैसा चाहते थे ? स्मरण कीजिए।

सरूपा—पहले भाई के उत्पन्न होते ही माता-पिता का स्नेह कम हो गया फिर भी पिता चाहते रहे थे।

सलिल—आपका ब्याह आपके मन का नहीं हुआ।

सरूपा—अपने पति या विवाह के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहूँगी।

सलिल—कहिये एक शब्द भी नहीं, परन्तु स्मरण हर एक बात का कर लीजिए। आप सलिल कुमार नाम के एक नटखट लड़के को जानती थीं, जिसने एक लड़की का खिलौना चुरा लिया था।

सरूपा—(सलिल को एक क्षण के लिए ध्यान के साथ देखकर फिर नीचा सिर करके विश्वास के साथ) जानती थी। यही तो वह खिलौना है।

सलिल—और वह सिड़ीकुमार जो अब डा० सलिल हो गया है, सामने बैठा है। (सरूपा मुस्करा जाती है।)

सरूपा—आपको यक्ष्मा कैसे हो गया। आप तो डाक्टर हैं।

सलिल—उन्हीं दिनों आपका विवाह हो गया। आप चली आईं। मैं खिलौने को छिपा कर रखे रहा। फिर मन में परिताप हुआ। लौटाने का संकल्प किया। चोरी और परिताप की स्मृति का दमन कर दिया। ब्याह नहीं कराया। डाक्टरी पढ़ कर प्रैक्टिस की। एक दिन यकायक मन में मर जाने की आई। सेना में भर्ती हो गया। लड़ाई में न मर पाया। सेना से, छटनी में, छुटकारा मिल गया तो दक्षमा ने दबा लिया। (सरूपा उसे देखकर रो पड़ती है।)

सरूपा—आप बड़े वीर हैं।

सलिल—बिल्कुल नहीं। जब तक खिलौना सामने रहा, सब भूला रहा, जब वह खो गया, सारी बातें याद आ गयीं, अच्छा होने लगा। (सरूपा आंसू पोंछ डालती है और माथे को टटोलती है।)

सरूपा—अब सिर में बिल्कुल पीड़ा नहीं है।

सलिल– जिन पुरानी स्मृतियों को आपने बिलकुल दबा डाला है, उनको अपनी चेतना में लाइये, आप शीघ्र स्वस्थ हो जायेंगी।

सलिल—कौन सी दबी हुई स्मृतियां।

सलिल—वह खिलौना कैसे और क्या बना था। उस सलिल ने खिलौने को क्यों लिया।[1]

डा० सलिल और सरूपा के ये सम्वाद मनोविश्लेषणात्मक उपचार पद्धति परिचायक हैं। सलिल और सरूपा दोनों की मानसिक ग्रन्थियां यहाँ खुली हुई विदित होती हैं। मनोग्रस्तता का उपचार दमोच्छाओं को अचेतन मन से निकाल कर चेतन मन में लाना होता है। इन संवादों में भी यही हुआ है। स्वयं नाटककार ने इस मनोविश्लेषणात्मक उपपत्ति का प्रतिपादन किया है—

सलिल—दमन की हुई स्मृतियां जहाँ तुम्हारी चेतना में आईं कि अच्छे होने की घड़ी तुरन्त सामने आ खड़ी हुई।[2]

इस संवाद से स्पष्ट है कि नाटककार पर मनोविश्लेषण पद्धति का प्रत्यक्ष प्रभाव है। तभी वह डा० सलिल और सरूपा को अचेतन मन में पड़ी अतृप्त दमितेच्छाओं को चेतन मन में उपस्थित कर मानसिक कुण्ठा का निवारण कराते हुये पाया जाता है। 'केवल' पात्र में भूलों का मनोविज्ञान भी इसी प्रत्यक्ष प्रभाव का द्योतक है। 'केवल' कहता है—

१—खिलौने की खोज—डा० वृन्दावनलाल वर्मा—पृ० सं० २८ और ९०, ९१ ९२, ९३ और ९४

२—खिलौने की खोज—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ४२

केवल—अजीब है, यह खिलौना मेरा पीछा ही नहीं छोड़ना चाहता था। उस दिन चला था देने के लिए, पर पहुंच गया वह फिर मेरे सन्दूक में। एक मजा और हुआ—ताला बन्द करके चाबी खो दी।[1]

'केवल' अपनी मां की मूर्ति के प्रति इतना आसक्त है कि उसे देना ही नहीं चाहता, तभी आन्तरिक द्वन्द्व वश उसमें यह मूलों का मनोविज्ञान मिलता है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया पर नवीन मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव है। नाटक की कथावस्तु, पात्र और कथोपकथन मनो-विश्लेषण के ही आधार पर संघटित हैं।

भंवर

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु—'अश्क' जी ने 'भंवर' की कथावस्तु को यौन-वर्जना के आधार पर मनोवैज्ञानिक बना दिया है। प्रतिभा की मानसिक घटनायें कथावस्तु के विकास का संबल बनी है। यौन वर्जना के कारण प्रतिभा में मनोग्रन्थि बन गयी है। 'प्रतिभा' 'नीलाभ' पर आसक्त है, पर नीलाभ भुक्त भोगी है, अतः मनोग्रस्तता के कारण उसका उसके प्रति आकर्षण नहीं है। इसी यौन वर्जना से प्रतिमा में आन्तरिक द्वन्द्व बन गया है। सुरेश के साथ वैवाहिक जीवन का निभना अथवा ज्ञान और हरदत्त का उसके विचारों से न मिलना केवल इसी मानसिक द्वन्द्वावश्यता का परिणाम है। प्रतिमा के लिए 'जगन' सुन्दर सुडौल है पर निर्बुद्धि, ज्ञान सुयोग्य है, किन्तु निर्बल। इस प्रकार उसके लिए कोई अच्छा नहीं लगता, जबकि नीलाभ को छोड़कर उसे सब चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जगन के लिए उसकी प्रेमिका 'प्रतिभा' और 'निर्मल' की 'नीहार' का सौंदर्य 'प्रतिभा' में ही आ झांका है। 'हरिदत्त' को अपनी मरी हुई दोनों पत्नियों की स्मृति साक्षात उसी से हरी बना लेता है, तभी वह बार-बार मनोविज्ञान की दुहाई देकर 'प्रतिभा' के अज्ञान मन की गुप्त हरकतों को सांकेतिक चेष्ठाओं द्वारा पाकर कुरेदता रहता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कथावस्तु प्रतिमा के कामात्मक द्वन्द्व से आन्दोलित है। प्रतिमा की मानसिक घटनायें ही कथावस्तु को विकासोन्मुख बनाने में तत्पर है।

''भंवर'' नाट्य कृति के मनोवैज्ञानिक पात्र—अश्क जी ने भंवर एकांकी में मनोवैज्ञानिक पात्रो की रचना की है। डा० महेन्द्र ने भी इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि इसमें चरित्रगत जटिलताओं, त्रुटियों, चरित्र की गुत्थियों भावनाओं

१—खिलौने की खोज—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ५४

तथा मनोवेगों का कुशल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।[1]

भंवर की "प्रतिभा" बहुव्यक्तित्व की पुतली है। स्वयं नाटककार ने उसके व्यक्तित्व में तीन पात्रों का समावेश स्वीकार किया है।[2] प्रतिभा अपने प्रकृत काम की स्वच्छन्दता के वशीभूत होकर क्रमशः नीलाभ, सुरेश, जगन, ज्ञान, हरदत्त की ओर आकर्षित हुई, किन्तु इस आकर्षण में उसको आत्मवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। मनोग्रन्थि वश वह किसी को अपना सच्चा प्रेमी नहीं बना सकी। प्रत्यावर्त्तन के आधारभूत वह सुरेश के साथ अपना वैवाहिक जीवन सफल नहीं बना सकी, और सुरेश ने छः माह के उपरान्त शकुन्तला से विवाह कर लिया। यह प्रतिभा का दोष नहीं, प्रत्युत इसमें उसकी मनोग्रस्तता की विवशता है। वह चाहती हुई भी किसी को नहीं चाहती। वह एकान्त वास चाहती है पुनरपि ऐसा नहीं कर पाती। उसका अनियन्त्रित इड् काम की स्वच्छन्द तृप्ति चाहता है, तभी वह 'ज्ञान' के समक्ष फ्राइडियन उपपत्ति को हेतु मानकर अपने सम्बन्ध में पुष्ट करती है—

ज्ञान—फ्राइड का कहना है.......

प्रतिभा—मैंने फ्राइड पढ़ा है।

ज्ञान फ्राइड कहता है—पवित्र प्रेम केवल कपोल-कल्पना है। हर प्रेमी अपने हृदय की किसी गहन गुफा में यौन-भावना को छिपाये होता है। स्थायी प्रेम उतना शारीरिक नहीं होता जितना आध्यात्मिक।

प्रतिभा—स्थायी प्रेम अतृप्ति का दूसरा नाम है।

ज्ञान—आदमी अपने प्रेमी के साथ अपनी यौन भावना की तृप्त नहीं कर पाता, और जिन्दगी भर उस अतृप्ति की आग में जलता रहता है।

प्रतिभा—अन्तर में सुलगने वाली चीज प्रेम नहीं, वल्कि सैक्स की वह सुलगती चिनगारी होती है जो कभी धधक कर ज्वाला न बनी।[3] इस प्रकार ज्ञान और प्रतिभा में फ्राइड के स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव अश्क जी ने स्पष्टतया दिखलाया है।

मनोविश्लेषणात्मक रंग संकेत, स्वोक्तिपरक संवाद और सांकेतिक चेष्टायें—प्रतिभा के भिन्न व्यक्ति के कारण नाटककार ने उसके प्रेम की तुलना रंग संकेत में उस नदी से की है जो एक ओर मार्ग न पाकर दूसरी ओर, और दूसरी ओर रुकावट मिलने पर तीसरी ओर बढ़ती है। जब वह गति के अवरुद्ध होने पर पलटती हैं तो

१—हिन्दी एकांकी—उद्भव और विकास—डा० महेन्द्र—पृ० सं० १७१

२—आदि मार्ग—अश्क—(मैं नाटक कैसे लिखता हूँ) पृ० २१, २२

३—आदि मार्ग—अश्क—(मैं नाटक कैसे लिखता हूँ) पृ० सं० १७०, १७१

अपने ही किनारों को तोड़ती हुई चली जाती है ।[1]

यही गति प्रतिभा की है । वह नीलाभ, सुरेश, ज्ञान आदि से सम्पर्क स्थापित करके प्रतिगमन कर बैठती है । जीवन की असफलता के कारण निर्मित उसकी यह प्रतिगमन की ग्रन्थि भावरेचन पद्धति से मार्गान्तरीकरण चाहती है, तभी वह अपनी सब उदासी, घुटन और बैचैनी को कागज पर उतार देने की इच्छुक है ।[2] उसका यह प्रत्यावर्त्तन जब विरेचन विधि से परिवर्तित नहीं हो पाता तब वह अपने अज्ञात मन के द्वन्द्व को स्वोक्तिपरक संवाद द्वारा स्पष्ट करती है :—

प्रतिभा— (धीरे-धीरे अपने आप बदबदाती है ।) अपने खोल के अन्दर हर एक आदमी एक बच्चा है । क्या अपने खोल के अन्दर मैं भी सिर्फ एक बच्ची हूँ, बच्ची जो चाँद को चाहती है और खिलौनो से जिसे संतोष नही मिलता । (दीर्घ निःश्वास लेती है ।) लेकिन चांद बहुत ऊँचा है— बहुत दूर है—नीलाभ— नीलाभ—उफ ? (मुख को दोनो बांहों से छिपाकर सिसकने लगती है ।[3])

इस भांति प्रतिभा की सांकेतिक चेष्टायें उसके कामात्मक दिवास्वप्न को स्पष्ट कर रही हैं । और काम तृप्ति के मार्ग में मिली असफलता ने उसे प्रतिगामिनी बना डाला है जिससे रचनात्मक प्रक्रिया पूर्ण मनोवैज्ञानिक बन गई है ।

महाश्वेता—मनोवैज्ञानिक कसौटी पर "चिरंजीत" जी का "महाश्वेता" एकांकी खरा उतरता है । इसकी विषय वस्तु पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है । और संवादों में मनोविश्लेषणात्मकता का पुट है । सुधाकर पात्र में यौन विच्युति एवं कामात्मक प्रतीकवाद के अन्तर्गत पिगमैलियनवादी मनोवृत्ति का प्रयोग अति हृदयस्पर्शी बन पड़ा है । और साथ ही साथ उसकी पत्नी कमला के नारी मनोविज्ञान ने उसे चिरंजीत जी की उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक कृति बना दिया है ।

प्रायः लोग यौन विच्युति के मनोविक्षेप में मूर्त्तियों से भी यौन रूप से आकर्षित होते हैं । प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता हैवलाक् 'एलिस के कथनानुसार 'ऐसा एक तरफ उस मनोवैज्ञानिक कारण से होता है जिसे लोग "पोनोग्राफी" कहते हैं । (इसका शाब्दिक अर्थ वैश्या लिखन अर्थात् पोनों (वेश्या) और ग्राफी (लिखना) है, पर इसका प्रचलित अर्थ अश्लील साहित्य प्रेम है । दूसरी तरफ ऐसा उस यौन विच्युति के कारण होता है जिसे पिगमैलियनवाद कहते है । पिगमैलियन एक मूर्तिकार था, जो अपनी बनायी हुई मूर्त्ति के प्रेम में गिरफ्तार हो गया था ।

१— ,, (भंवर) ,, ,, पृ० सं० १५२
२—आदि मार्ग— (भंवर) अश्क पृ० सं० १७०
३— ,, ,, ,, २१४, २१५

यौन दृश्यों तथा यौन चित्रों में दिलचस्पी स्वाभाविक तथा साधारण है, दशर्ते कि वह एक बहुत ही भयंकर मनोवेग के रूप में परिणत न हो जाये। पिगमैलियनवाद एक रोगग्रस्त प्रवृत्ति है, क्योंकि प्रशंसित वस्तु स्वयं अपने में लक्ष्य हो जाती है। पिगमैलियनवाद मुख्यतः पुरुषों में पाया जाता है। इस समय चित्रों के प्रति कामुक आकर्षण बहुत बड़े पैमाने पर सिनेमा के जरिये अभिव्यक्त होता है।[1]

कथावस्तु में पिगमैलियनवादी मनोवृत्ति—सुधाकर शर्मा में पोनोग्राफी के लक्षण पूर्णतः विद्यमान है, क्योंकि वह महाश्वेता और पुण्डरीक के उस कामात्मक दिवा स्वप्न में तल्लीन है जो यौन आवेग की उन्मुक्तता के बावजूद अश्लील साहित्य प्रेम माना जा सकता है। इसमें सुधारक स्वयं पुण्डरीक बनकर तादात्म्य स्थापित कर चुका है, अतः यहाँ प्रशंसित वस्तु स्वयं अपने में लक्ष्य हो गयी है। पिगमैलियन मूर्तिकार की भांति वह भी सफेद स्फटिक पत्थर की महाश्वेता की सुन्दर मूर्त्ति पर आसक्त है। इससे हैवलाक् एलिस की दूसरी स्थापना पिगमैलियनवाद की रोगग्रस्त प्रवृत्ति भी उस पर संघटित होती है।

इसको सुधारक की आत्मरति मनोवृत्ति भी कहा जा सकता है, क्योंकि आत्मरति मे हैवलाक् एलिस ने दमित यौन सक्रियता के वे सब रूप सम्मिलित किये हैं जो किसी रोगग्रस्त दशा के घटक हैं। साथ ही इसके अन्तर्गत कला और कविता की स्वाभाविक और स्वस्थ्य अभिव्यक्तियां भी आ जाती हैं। और वे न्यूनाधिक रूप से वास्तव में सम्पूर्ण जीवन को अपने रंग में रंग देती हैं। 'डिकिन्सन' कहते है कि व्यापक अर्थ में आत्म मैथुन के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की आत्माभिव्यक्ति में व्यक्त होने वाला आत्म प्रेम सम्मिलित है।[2] सुधारक में बाणभट्ट की कादम्बरी के पात्र पुण्डरीक से तादात्म्य करते हुए आत्माभिव्यक्ति का संकेत विद्यमान है। उसकी अतृप्त दमिते काम वासनायें किसी पूर्व परिचित रूपसि की प्रतिकृति महाश्वेता में पाकर भाव-रेचन न करती हुई आत्म प्रेम में विभोर हो गई है।

सुधाकर पात्र में कामात्मक पिगमैलियनवाद—सुधाकर शर्मा के एक में बाणभट्ट की कादम्बरी है। और दूसरे हाथ में सफेद स्फटिक पत्थर की एक बड़ी सुन्दर मूर्त्ति है। उसकी ओर वह निर्निमेष मुग्ध दृष्टि से देख रहा है। उसकी आँखों में कुछ ऐसी चमक है, जिससे हृदय के उल्लास के साथ-साथ कुछ विक्षिप्तता का भाव भी व्यक्त होता है। वह अस्वस्थ है। शारीरिक दुर्बलता के कारण उसके हाथ जरा काँप रहे है। कुछ देर बाद जब वह मूर्त्ति को सम्बोधित करते हुए अपने आप बातें करने लगता है, तो उसकी वाणी भी कांपती-सी जान पड़ती है।

१—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस—पृ० सं० ७९

२—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस—पृ० सं० १०८

पागलों की भांति वह हँसता है। हंसी की आवाज सुनकर अस्त-व्यस्त सी उसकी पत्नी कमला उसके सिरहाने की ओर खड़ी हो जाती है। कमला के चेहरे पर भय मिश्रित चिन्ता की कालिमा पुती हुई है। वह पूर्ववत् मूर्त्ति से बातें करता है—

सुधाकर—(महाश्वेता की मूर्त्ति से) मुझे ध्यान से देखो, वीणावादिनी। सुधाकर शर्मा के रूप मे पुंडरीक ही हूँ। सुनती हो महाश्वेता । मैं सुधाकर शर्मा नहीं, पुण्डरीक हूँ। वीणा छोड़कर अपने पुण्डरीक से अपने पुण्डरीक से दो बातें कर लो। देखो, मैं कब से अभ्यर्थना कर रहा हूँ। बोलो, महाश्वेता ? महाश्वेता ??। (स्वर ऊंचा हो जाता है, फिर अचेत हो जाता है)

कमला—रामू। उन्हें फिर दौरा हो गया। (डाक्टर कश्यप टेलीफोन पर घबराहट भरे स्वर में) मैं कमला बोल रही हूँ—हाँ, जल्दी आइये—बिल्कुल बेहोश पड़े हैं—हाँ उसी मूर्त्ति से बातें करते करते बेहोश हो गये। (रामू नौकर से) बीमार हो गये इस सत्यानाशिनी मूर्त्ति के कारण। पता नहीं, किस चुड़ैल का वास है इसमें। किसी को भी नहीं देखते । पता नही क्या मोहिनी है इस हत्यारी मूर्त्ति में। (डाक्टर का प्रवेश)

डाक्टर—(सोचते हुए) बीमारी का कहीं दिमाग पर असर न हो गया हो।

कमला—यह दौरा इन्हें बार बार पड़ता है।[१]

अपनी पत्नी कमला के होते हुए सुधाकर का यह मूर्त्ति प्रेम कामात्मक पिग्मैलियनवादी मनोवृत्ति से सम्बन्धित है। उसमें सहबोधावस्था दोहरे व्यक्तित्व के कारण बन गई है। वह इसी कुण्ठा के कारण अपने आपको महाश्वेता का चाहने वाला बाणभट्ट का पुण्डरीक मानता है। इसी मानसिक द्वन्द्ववश्यता से उद्विग्न होकर वह पुनः पुनः अचेत हो जाता है।

रचनात्मक प्रक्रिया में भिन्न व्यक्तित्व, उन्माद और हतसंज्ञता—नाटककार ने सुधाकर के संवादों तथा पात्र निर्देशों और रंग संकेतों में मनोविश्लेषणात्मक ढंग पर भिन्न व्यक्तित्व, उन्माद और अचेतावस्था का सुन्दर निर्वाह किया है। ये मानसिक अवस्थितियाँ सुधाकर, कमला और डा० कश्यप के कथोपकथनों में उपलब्ध होती हैं—

सुधाकर—(कमला के सिसकने पर) पगली, मैं बिल्कुल भला चंगा हूँ।

कमला—(रुंधे स्वर में) मैं इस मनहूस मूर्त्ति को घर में नहीं रहने दूँगी। यह बीमारी इसी की लायी हुई है।

डाक्टर—कमला, तुम्हें तो अकारण ही इस मूर्त्ति से चिढ़ हो गयी है। यह तो रूप और प्रेम की देवी महाश्वेता है!

१—रंगारंग—चिरंजीत—पृ० सं० १०१, १०२, १०३

डाक्टर—(हंसकर) आप पुण्डरीक ।

सुधाकर—(मूर्ति की ओर मुग्ध दृष्टि से देखता है) अरे आपने मेरे मन की बात कैसे जान ली ।

डाक्टर—आपका हाथ कांप रहा है, शर्मा जी मूर्त्ति को ऊपर ... ...

सुधाकर—नहीं डाक्टर साहब, मैं इसका वियोग नहीं सह सकता । एक दिन कमला ने जल भुनकर इसे कहीं छिपा दिया था । मुझे लगा, जैसे किसी ने मेरे प्राण ही हर लिए हों । उसी दिन से मैं बीमार हूँ । ओह, (कराहता है) ।

डाक्टर— क्या हुआ शर्मा जी । सिर दर्द ....।

सुधाकर—नहीं, कुछ नहीं (हाँफता है) और जब कमला ने मुझे यह वापस दे दी, तब जाकर कहीं मुझे चैन पड़ा ।

डाक्टर-- विलक्षण है आपका यह लगाव ।

सुधाकर लगाव । यह जन्म जन्मान्तर का लगाव है । हो सकता है कि महाश्वेता के प्रेमी पुण्डरीक की आत्मा अब मेरे शरीर में वास कर रही हो । मेरा मन कहता है ....(एकाएक रुक जाता है ।)

डाक्टर-- क्या हुआ, शर्मा जी ?

सुधाकर—(कराहकर) सिर में चक्कर आ रहा है, और (वाक्य पूरा नहीं कर पाता धड़ाम से लेट जाता है ।) (पागलों की तरह छटपटाते हुए) वह कहाँ है । (मूर्ति को भुजपाश में खींचते हुए, विक्षिप्त भाव से) महाश्वेता ? महाश्वेता ?? आखिर मैंने तुम्हें पा लिया ।

कमला—यह फिर प्रलाप करने लगे ।

(सुधाकर के हाथ से मूर्त्ति छीनने का प्रयत्न करती है)

सुधाकर—(पूर्ववत् प्रलाप करते हुए) महाश्वेता, हमारे मिलन में आज कौन बाधा डाल रहा है । कौन तुम्हें मुझसे छीन रहा है । कौन तुम्हें मुझसे छीन रहा है ? संसार की कोई शक्ति ....महाश्वेता को पुण्डरीक से ....अलग नहीं कर सकती । मैं पुण्डरीक ....मैं ।[1]

सुधाकर का यह मूर्त्ति से लगाव पिगमैलियनवादी है और प्रशंसित पात्र को उसने स्वयं में लक्षित भी कर रखा है । दोहरे व्यक्तित्व के कारण सहबोधावस्था, उन्माद और हतसंज्ञता उसमें मिलती है । उसकी इन मानसिक घटनाओं के बीच कमला की भी एक मनोवैज्ञानिक स्थिति भय आदि संवेग से विदित है । लेकिन इस एकांकी के अन्तिम दृश्यों में महेन्द्र, भैरवनाथ और इन्सपेक्टर के चरित्रों में चिरंजीत जी इतना मानसिक द्वन्द्व नहीं दिखला पाये हैं जितना सुधाकर और कमला में । वैसे

१—रंगारंग—चिरंजीत—पृ० सं० १०५, ६, ९, १०, ११, १२

मनोविज्ञान का पुट इन पात्रों में भी है ।

मत्स्यगन्धा--गीति-प्रधान भाव नाट्य 'मत्स्यगन्धा' में प्रकृत काम की स्वच्छन्दता का भव्य निदर्शन हुआ है । भट्ट जी ने इसकी कथावस्तु पूर्णतया मानसिक प्रक्रम पर प्रस्तुत की है ।

कथावस्तु का मनोवैज्ञानिक आधार—सम्पूर्ण भाव नाट्य में प्रकृत काम का दुर्दाम इड् मत्स्यगन्धा में हिलोरें ले रहा है, वहाँ सामाजिक अहं और नैतिकाहं की एक नहीं चलती । कामोद्वेग और समाजगत नैतिक बन्धन ने मत्स्यगन्धा में मानसिक संघर्ष का चूड़ान्त विकास कर डाला है, जिसके द्वारा कथावस्तु विकासोन्मुख हुई है ।

मत्स्यगन्धा में मनोविकृति—मत्स्यगन्धा में प्रकृत काम छाया पात्र बनकर उपस्थित हुआ है । वह कामावेग के विभ्रम वश किसी को अपने साथ सोता और जागता हुआ पाती है । उसको अपने इस भिन्न व्यक्तित्व पर मनोग्रस्तता के लक्षण विदित होते हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह छाया पात्र काम प्रवृत्ति का मूर्त्तिमान रूप है जो मत्स्यगन्धा का मनोविकार बनकर उसके सामने आता है । इसी मनोविकृतिवश मत्स्यगन्धा में सहबोधावस्था मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं ।[1]

मत्स्यगन्धा और पराशर में मनोविकृतियों के प्रेरक तत्व मत्स्यगन्धा अतृप्त दमित काम वासना से प्रादुर्भूत अज्ञात मन की मनोग्रन्थि से अनमनी एव उदास (नाव का डांट लिए) दीखती है । पर अन्तर्तम की उद्विग्नता उसे चैन नहीं लेने दे रही । वह इस उलझी हुई काम की मनोग्रन्थि को सुलझाने की इच्छुक है, परन्तु उसको शंका है कि यह ग्रन्थि इतनी उलझ गई है जो स्यात् सुलझ न पाये । काम का वह क्षणिक तृप्तिकर प्रवेग आज उसके लिए कंठ अवरोध करने वाला दाहक किन्तु सुखद तृषा बना हुआ है । उसका प्राण आज भी उसे नहीं समझ पाया जिसने उसे अपनी संतृप्त लोहश्रृङ्खला में जकड़ रखा है ।[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इड् की तृप्तिहीन असीम माँग का भला किसको पता होता है । स्त्री के अन्दर वह अज्ञात में अन्तः प्रयाण कर बैठा है । उसके अतृप्त अज्ञात मन को विषमलिंगी के यौवन का उपहार चाहिए । भट्ट जी ने महर्षि पराशर को पुरुष के प्रतीक रूप में यही अवतारणा की है । सम और विषम लिंगी स्त्री पुरुष के छाया पात्रों का यौवन काम से आन्दोलित होकर अठखेलियां करने को आतुर है । पराशर उन्मुक्त काम के सामने पूर्ण समर्पण कर बैठे हैं । उन्हें इड् के अबाध प्रवाह ने इतना वश में कर लिया है जिससे समाज गत अहं और नैतिकाहं

१—विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—उदय शंकर भट्ट
कौन जागता है, कौन सोता मेरे पास छिप·········पृ० सं० ४७

२—विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—उदय शंकर भट्ट पृ० सं० ५६
यह ग्रन्थि, यह ग्रन्थि सुलझेगी या कि नहीं ··· ···

मौनव्रत धारण किये हुए से ज्ञात होते हैं, लेकिन भट्ट जी की मत्स्यगन्धा के अहं और आदर्शाहं दमित कामावेग के प्रवेग को आगे बढ़ने में रोक लगाते हैं। यह ज्ञाताज्ञात मन का द्वन्द्व स्त्री के लिए स्वाभाविक है। महर्षि पराशर इड् के वशीभूत होकर मत्स्यगन्धा से रति से भींख माँग बैठते हैं। मत्स्यगन्धा का अहं इसे अनीति बतलाता है। नाटककार ने मत्स्यगन्धा में यहाँ अहं निसर्ग वृत्तियों और कामात्मक द्वन्द्व को उच्चकोटि का दिखलाया है।[1]

मनोवैज्ञानिक संवादों से युक्त रचनात्मक प्रक्रिया—महर्षि पराशर इड् की स्वच्छन्दता का उपमान छोटी छोटी नदियों में पाते हैं। मत्स्यगन्धा को यह उदाहरण अतृप्त काम की तृप्ति के लिए प्रेरित करता है। यहाँ उसके सामाजिक अहं एवं नैतिकाहं की पराजय होती है। वह समर्पण की आवाज में बोल उठती है—

मत्स्यगन्धा—(घबराकर) किन्तु ऋषि कान्यकात्व।
पराशर—वह भी कलंक हीन।
मत्स्यगन्धा—माननीय होगा क्या।
पराशर—री नर तो सदा अदोष।
मत्स्यगन्धा—(हाथ जोड़ कर) नाथ? वह इष्ट मुझे।
पराशर—एवमस्तु, एवमस्तु।
मत्स्यगन्धा—एवमस्तु, एवमस्तु।[2]

मत्स्यगन्धा की एवमस्तु में संगम का उन्माद है। इस उन्माद में डुबकी लगाने के उपरान्त उसको यौवन की पूर्ण तृप्ति मिली है। मत्स्यगन्धा के स्वकथन में इस यौन परितृप्ति की अनुभूति हैवलाक् एलिस के समान प्रतीत होती है।

हैवलाक् एलिस के कथनानुसार पूर्ण मैथुन से मांस पेशियों को विश्राम मिलने, रक्तचाप के कम होने से गहरे सन्तोष की भावना और एक मधुर आलस्य की भावना का उदय होता है। सन्तोष जनक मैथुन के पश्चात् स्त्रियां कई घण्टों तक मादकता का अनुभव कर सकती है।[3]

मत्स्यगन्धा भी अकेली नदी के किनारे यौन परितृप्ति की मादकता में स्थित है। उसका रोम रोम अनन्त मधुरिमा के नवचेतन में बहा जा रहा है। उसे ऐसा भान होता है मानो उसके शरीर में मद भर दिया हो। वह सन्तोषजनक मैथुन प्राप्त करके

१—**विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—भट्ट पृ० सं० ५६, ६१**
२— ,, ,, ,, ६१, ६३
३—**साइकोलोजी आफ सैक्स—हैवलाक् एलिस—(हि० सं०) पृ० ४०**

घन्टों तक इसी मादकता का अनुभव कर रही है ।[1]

इस भांति नाटककार द्वारा यौन स्फीति से लेकर काम-तृप्ति तक का निर्वाह इस भाव नाट्य में हुआ है । इसकी रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक संबल तभी प्राप्त हो जाता है जब मत्स्यगन्धा में कामोद्वेग वश सह बोधावस्था भिन्न व्यक्ति का रूपान्तर बन कर उपस्थित हुई है । इसी समय नाटककार का छाया पात्र निर्देश भी मनोवैज्ञानिक शैली का प्रतिपादक है । पराशर और मत्स्यगन्धा के संगम सम्बन्धी कथोपकथन भी इसको पूर्ण मनो-वैज्ञानिक बनाने में सफल हुए है ।

उर्वशी—काव्य नाट्य 'उर्वशी' की कथावस्तु बाह्य घटनाओं की अपेक्षा मानसिक घटनाओं से ओत-प्रोत हे । इसमें पाँच अंक है, प्रत्येक अंक में काम प्रवृत्ति की सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी अवतारणा हुई है । नाटक का प्रारम्भ भी सूत्रधार और नटी के कामात्मक संवादों से ही हुआ है ।[2]

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु--सूत्रधार ने काम प्रवृत्ति का आधार सुरपुर और वसुधा पर रहने वाले दोनों प्राणियों के लिए समान बतलाया है । नाटक की कथावस्तु का प्रमुख सूत्र भी यही है जिसमें सुरपुर निवासिनी उर्वशी और मर्त्यलोकवासी पुरूरवा के कामात्मक मनोभावों का विशद विवेचन मिलता है ।

इस काव्य नाट्य की प्रधान मानसिक घटना का उद्देश्य है कि मानवीय प्रेम का पर्यवसान शरीर पर ही समाप्त नहीं हो पाता प्रत्युत मानवीय धरातल पर उसके भोक्ता मन, मनोविज्ञान और अध्यात्म भी हैं । इसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर दिनकर जी ने सनातन नर और नारी के प्रेम को पुरवा और उर्वशी के चरित्र में अभिव्यंजित किया है । इन दोनों पात्रों की प्रेममयी लीलाभूमि शरीर तक ही सीमित नहीं रही अपितु वह मन के गहन, गुह्य लोकों तक चली गई है । पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है, उर्वशी पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है । पुरूरवा की वेदना समग्र मानव जाति की चिरन्तन वेदना से ध्वनित है । वह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि

१—क्या हुआ हा, कैसा यह, याद पड़ता न कुछ
रोमरोम बहा नवचेतन अनन्त मधु
और लगता है जैसे विश्व अभिनव ने ही
मद का उदधि भर डाला मानो देह में
विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—भट्ट पृ० सं० ६५, ६६

२—सूत्रधार—सारी देह समेट निबिड़ आलिंगन में भरने को
गगन खोलकर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है ।
नटी—सुख की''''''लगता है !—उर्वशी—दिनकर पृ० सं० ५

आत्मा का धरातल मनुष्य को ऊर्ध्वगमन की ओर खीचता है और जब धरातल का आकर्षण प्रतिगमन की ओर प्रेरित करता है। इसी आन्तरिक द्वन्द्व और कुण्ठाओं की परिष्कृति के लिए आज अभिनव मनोविज्ञान इस साधना का सकेत देने लगा है, वह वैराग्य नहीं वरन् रागों से मैत्री का संकेत है। वह निषेध नहीं अपितु स्वीकृति और समन्वय का संकेत है। वह संघर्ष नहीं प्रत्युत सहज, स्वच्छ, प्राकृतिक जीवन की साधना है।[1] नाटक की कथावस्तु इसी संतुलन पर आधृत है।

मनोविज्ञान के इसी आधार पर पुरूरवा और उर्वशी को सनातन नर-नारी का प्रतीक मानकर इस काव्य नाट्य की कथावस्तु का निर्माण हुआ है। उर्वशी, अभिलाषा, वासना, इच्छा अथवा कामना की प्रतिकृति है। वह चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है। पुरूरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से आक्रान्त मानव है। यौन मनोविज्ञान द्वारा पुरूरवा की इन मानसिक प्रक्रियाओं का समर्थन भी प्राप्त होता है। हैवलाक् एलिस ने यौन स्फीति में स्पर्श, गन्ध, श्रवण और दृष्टि को सर्वोपरि माना है।[2] पुरूरवा का मानसिक प्रक्रम इन्हीं सुखानुभूतियों से आक्रान्त है। कथावस्तु को विकासोन्मुख बनाने के लिए उर्वशी और औशीनरी नारी मात्र के भिन्न व्यक्तित्व लेकर उपस्थित हुई हैं।

उर्वशी और पुरूरवा में मनोविज्ञान— उर्वशी मानव मात्र की उन्मुक्त वासना है, पुरूरवा इस वासना में लय होने वाला सनातन पुरुष है। इसी आधार पर उर्वशी अपने आपको 'जन जन के मन की मधुर ध्वनि'' बतलाती है, और पुरूरवा उसको अपनी बाँहों में भरने वाला रसिक पुरुष कहता है।[3] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन के अन्तर्गत आने वाली विषमता का आदि कारण मन ही है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वयं उर्वशी स्पष्ट करती हुई पाई जाती है।[4]

उर्वशी की अभिलाषा है कि पुरूरवा उसको अपने आलिंगन में खीचे रहे और अपने कठोर चुम्बन द्वारा उसके अधरों को निरन्तर जलाता रहे। उर्वशी की यह स्पृहा यौन स्फीति से सम्बन्धित है। पुरूरवा में प्राक्क्रीड़ा की अनुभूति के साथ-साथ सादवाद की मनोवृत्ति प्रबल हो उठती है। उर्वशी उसके प्रगाढ़ आलिगन से सहसा

१—उर्वशी—(भूमिका)—दिनकर—पृ० (छ)

२ – साइकालोजी आफ सैक्स—हैवलाक एलिस (हिं० सं०) पृ० ५१

३—उर्वशी—दिनकर—(तृतीय अङ्क) पृ० सं० ९६ और १०१

४—तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।
काम नहीं, बस वैपरीत्य का भी मन ही कारण है।
—उर्वशी, दिनकर (तृतीय अङ्क) पृ० सं० ८४, ८५

छटपटा जाती है तथा उससे आलिंगन पाश को शिथिल करने को प्रार्थना करती है।[1]

यहाँ पुरूरवा अपनी प्रेमिका को पीड़ा देकर काम तृषा मिटाने का अभिलाषी है। (फलतः उसमें सादवाद की मनोवृत्ति स्वभावतः आगई है।) इस काव्य नाट्य में यह "सह यौन सुख दुःखास्तित्ववाद" का अत्युत्तम उदाहरण है।

काम की द्वन्द्वात्मक स्थिति में सादवाद के अतिरिक्त पुरूरवा में प्रत्यावर्त्तन का भी आलोड़न-विलोड़न इस प्रकार मिलता है:—

याद आता है निशा के ज्वार में उन्माद का सुख
कामनायें प्राण को हिलकोरती हैं।
चुम्बनों के चिन्ह जग पड़ते त्वचा में।
फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती
मैं न रुक पाता कहीं
फिर लौट आता हूँ पिपासित
बेचैन जा गिरता अकुण्ठित
तीर सा सीधे प्रिया की गोद में।[2]

इस प्रत्यावर्त्तन मनोवृत्ति से विवश पुरूरवा जब कहीं सहारा नहीं पाता तो वह शिशुवत् मां की भाँति अपने को असहाय समझकर प्रिया की गोद में जा लेटता है। उस समय प्रिया ही उसे मां के समान नजर आती है, तभी प्रतिगमन उपपत्ति की पुष्टि उसके इस संवाद में मिल जाती है—

बालको सा मैं तुम्हारे वक्ष में मुँह को छिपाकर इस नींद की निस्तब्धता में डूब जाता हूँ।[3] इस नीद की निस्तब्धता में मां का प्यार संबल बना हुआ है। वही मातृ प्रणय ग्रन्थि उसे प्रतिगमन की ओर झुका देती है। इसी आधार पर काम सम्बन्धी द्वन्द्वात्मक मानसिक अवस्थिति का प्रस्फुटन पुरूरवा के संवाद में अति सुन्दर बन पड़ा है—

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,

१—किन्तु, आह ? यों नहीं, तनिक तो शिथिल करो बाँहों को,
निष्पेषित मत करो, यद्यपि, इस मधु निष्पेषण में भी।
मर्मान्तक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है।
—उर्वशी, दिनकर (तृतीय अङ्क) पृ० सं० ६५

२— ,, ,, ५१

३—उर्वशी—दिनकर पृ० ५१

घूँट या दो घूँट पीते ही।
न जाने, किस अतल से नाद यह आता,
"अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है ."
टूट गिरती हैं उमंगे,
बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है।
अप्रतिम मैं फिर उसी दुर्गम जलधि मे डूब जाता,
फिर वही उद्विग्न चिन्तन,
फिर वही पृच्छा चिरन्तन,
रूप की आराधना का मार्ग।
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार।
रस चुम्बन नहीं तो और क्या है ?[1]

यहाँ नाटककार ने परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति के सहारे अज्ञात मन में छिपे दोहरे व्यक्तित्व, कामात्मक प्रवृत्तियों का अहं निसर्ग वृत्तियों से द्वन्द्व, यौन स्फीति के आलिंगन और चुम्बन को प्रदर्शित किया है। मानसिक वृत्तियों का उतार-चढ़ाव द्वन्द्व के कारण हृदयस्पर्शी बन गया है।

संवादों में मानसिक द्वन्द्व तथा सांकेतिक चेष्टाओं द्वारा शारीरिक अन्तर्दाह की अभिव्यक्ति—दिनकर जी ने मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया का निदर्शन उर्वशी से 'आयु' नामक पुत्र के प्रजनन और तत्सम्बन्धी स्वप्न को पुरूरवा द्वारा सुनाने में किया है।

स्वप्न के अनुसार राजा पुरूरवा के प्रांगण में प्रतिष्ठानपुर के निवासी कहीं से नवीन वट-वृक्ष लाकर आरोपित कर रहे है। राजा स्वयं उस नवीन विरवे को दूध से सींच रहे हैं। तदुपरांत उस जन समुदाय को छोड़कर राजा अपने हाथी पर बैठ वन में चले जाते है। क्षण भर में ही न वहां हाथी रहता है और चारों ओर सूना ही सूना दीखता है। वे अकेले भटकते भटकते च्यवन आश्रम पर पहुँचते हैं।

जब यह स्वप्न सुनाया जा रहा है, उस समय राजा पुरूरवा के समीप उर्वशी भी बैठी हुई थी। यह स्वप्न सुनते ही वह मानवीय आन्तरिक द्वन्द्व से पीड़ित हो उठती है। यहाँ उर्वशी देवी से मानवी हो गई है अत: उसके मानसिक द्वन्द्व के

२— ,, ,, (तृतीय अङ्क) पृ० सं० ४६

अन्तर्दाह ने इस रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बनाने में पूर्ण योग दिया है। वह च्यवनाश्रम का नाम सुनते ही अपाला दासी को पुकार बैठती है।

उर्वशी—च्यवनाश्रम ? हा ? हन्त ? अपाले, मुझे घूंट भर जल दे।

अन्तर्द्वन्द्व की पराकाष्ठा के अन्तर्दाह के कारण उर्वशी अपाला दासी से एक घूंट पानी मागती है। जिसके द्वारा अचेतन मन की सांकेतिक चेष्टा उसकी मुख मुद्रा में आ झांकती है।

पुरूरवा उर्वशी की इस चेष्टा को देखकर आश्चर्य में भर जाते है और पूछते हैं कि देवी आप क्यो सहम गयीं। सचमुच स्वप्न में मैंने जो देखा था वह च्यवनाश्रम ही था। वहां मैंने एक दिव्य एवं प्रशान्त बालक को धनुष की प्रत्यंचा मांजते हुए देखा। इसको सुनकर उर्वशी के मानसिक द्वन्द्व से उद्भूत अन्तर्दाह और अधिक धधक उठा। और अकस्मात् वह पुनः अपाला से पानी माँग बैठी। इस दाह प्रशान्त की प्रक्रिया को देखकर पुरूरवा ने उर्वशी को सान्त्वना दी और स्वप्न की शृङ्खला को आगे बढ़ाते हुए बतलाया कि उस आश्रम में हे देवि ! तुम्हारा कुसुम आनन ही चारों ओर मुझे विकसित होता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। किन्तु ज्योंही मैंने उसे स्पर्श करने के लिए हाथ बढ़ाया त्योंही वह मुख पुष्प पत्रों की हरियाली में विलीन हो गया। तत्पश्चात् मैं अधीर होकर अवनीतल को छोड़ ऊर्ध्वगमन में पहुँच गया। नाटककार ने "विश्वमना" ज्योतिषी से स्वयं फ्राइडियन आदेशात्मक स्वप्न सिद्ध कराया है, जिसमें पुत्र "आयु" का प्रकट होना स्पष्ट होता है।[1] यही पर नाटककार ने रंग संकेत में उर्वशी के अन्तर्दाह की अनुभूति को दिखलाकर रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बना डाला है। इस सम्बन्ध में उर्वशी का संवाद भी अचेतन मन के द्वन्द्व को सांकेतिक चेष्टा को स्पष्ट करता हुआ प्रतीत होता है।

उर्वशी—आह ? क्रूर अभिशाप। तुम्हारी ज्वाला बड़ी प्रबल है।
अरी, जली, मैं जली, अपाले। और तनिक पानी दे।
महाराज। मुझ हतभागी का कोई दोष नहीं है।
पुरूरवा उर्वशी के आन्तरिक द्वन्द्व को निखारते हुए उत्तर देते है:—

पुरूरवा—किसका शाप ? कहां की ज्वाला ? कौन दोष कल्याणी।
आप खिन्न होकर निज को हतभागी क्यों कहती हैं ?
आप न जाने किस चिन्ता से चूर हुई जाती हैं।[2]

इस प्रकार पुरूरवा का स्वप्न और उर्वशी के आन्तरिक द्वन्द्व का अन्तर्दाह

१—**उर्वशी—दिनकर, (पंचम अङ्क) पृ० १३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३९**
२—**उर्वशी—दिनकर, (पंचम अङ्क) पृ० १३९**

दोनों ही मनोवैज्ञानिक शैली के पूरक है। पुरूरवा ने जो स्वप्न में देखा है वह यथार्थ जीवन में आगे संघटित हुआ है। फलतः वह फ्राइडियन आदेशात्मक स्वप्न से संबंधित है। उर्वशी के आन्तरिक द्वन्द्व का कारण पुत्र के मिलने पर पति का वियोग है जो तुरन्त अन्तर्दाह बन गया है। उसकी अतृप्त दमित कामेच्छायें अचेतन मन के निर्माण में विदित होती हैं।

आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण वाला वर्ग

★

"औरङ्गजेब की आखिरी रात"—इस वर्ग में आन्तरिक द्वन्द्व की सांकेतिक चेष्टाये मनोविकृति के रूप में "औरङ्गजेब की आखिरी रात" एकांकी में मिलती हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने आन्तरिक द्वन्द्व के मार्गान्तरीकरण को औरंगजेब के चरित्र में मनोवैज्ञानिक शैली में अंकित किया है।

मानसिक विभ्रम पर आधृत कथावस्तु—इस एकांकी की कथावस्तु में औरंगजेब के मानसिक विभ्रम, सांकेतिक चेष्टाओं और अपराध ग्रन्थि का प्रस्फुटन मानसिक प्रक्रम बनकर आया है, जिससे एकांकी की कथावस्तु पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है।

मनोवैज्ञानिक पात्र औरंगजेब—डा० वर्मा ने औरंगजेब के अन्तर्द्वन्द्व की सांकेतिक चेष्टा (सिम्टमैटिक एक्ट) का हृदयस्पर्शी उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह सांकेतिक चेष्टा एक प्रकार की आत्म संरक्षणात्मक चेष्टा (डिफेंस रिऐक्शन) है। ज्ञात मन की अत्यधिक बाह्य शुद्धि का प्रयत्न अज्ञात मन में स्थित अशुद्धि का ही प्रतिफल होता है। औरंगजेब के अन्तस् मे यही मनोवृत्ति काम कर रही है। वह कभी शाहजहां और कभी दारा को अचेतनावस्था में देखता है:—

आलम—(कांपते हुए स्वर में) कौन........अब्बाजान ? (आंखें फाड़कर) तुम, तुम........जीवित हो। अब्बाजान कहाँ गये। अभी तो यहां आये थे। (सोचता हुआ) जर्द था उनका चेहरा.......आँखों में आंसू थे........।[1]

× × ×

आलम—बचपन में दारा भी इसी तरह शोर करता था (रुक कर) कुछ वैसी ही आवाज आ रही है। (सुनते हुए) वह देखो, यह आ रही है। इस खौफनाक अँधेरे में यह आवाज जैसे मुँह फाड़कर खाने को दौड़ रही है।[2]

१—चार ऐतिहासिक एकांकी—डा० राम कुमार वर्मा पृ० सं० ८८

२— ,, ,, ,, ८९

इन विभ्रममयी सांकेतिक चेष्टाओं ने एकांकी की रचनात्मक प्रक्रिया को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना दिया है।

मनोवैज्ञानिक शैली – औरंगजेब में मानसिक विभ्रम से उत्प्रेरित अरूप ध्वनि एवं सांकेतिक चेष्टाओं से युक्त आन्तरिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति पूर्ण मनोवैज्ञानिक शैली में हुई है। वह अपराध ग्रन्थि अपने मानसिक संतुलन को खोता हुआ कहता है:—

आलम—(घबराहट से कुछ उठकर) कोई चीख रहा है। (संकेत कर) यह देखो, अँधेरे में यह कौन झाँक रहा है। यह खिड़की के पास कौन है, अरे दारा……(काँपता हुआ) दारा तुम हो, हमने तुम्हारा खून नहीं किया।[1]

० ० ०

आलम—जीनत, हमने सैकड़ों बार अपने दिल को दिलासा देने की कोशिश की। हमने गुनाह कहाँ किये। लेकिन कोई आवाज कानो में कहती है कि आलमगीर, तूने इस्लाम का नाम लेकर दुनियाँ को धोखा दिया है।[2]

निदान डा० वर्मा ने आलम पात्र में अपराध ग्रन्थि से उद्भूत आत्म भर्त्सना और तत्सम्बन्धी द्वन्द्व का भव्य निदर्शन मनोवैज्ञानिक शैली में किया है।

हीनभावनात्मक वर्ग

'डाक्टर'—हीनत्व कुण्ठा का विकसित रूप विष्णु प्रभाकर के 'डाक्टर' नाटक में उपलब्ध है। एडलर के अनुसार मानसिक स्नायविक व्याधियों का मूल कारण हीनत्वकुण्ठा ही हैं। यही हीन भाव क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रियावश आत्महीनता से ग्रसित व्यक्तियों मे लौकिक ख्याति के कारण बन जाते हैं। इस ग्रन्थि का प्रमुख वास शारीरिक या लिंग सम्बन्धी न्यूनता का द्योतक है। एडलर इसी कारण स्त्रियों में आत्महीनता ग्रन्थि का विद्यमान रहना स्वाभाविक बतलाते है। प्राय: वे ग्रन्थि सुशिक्षित महिलाओं के मन में अवश्य रहती हैं।

'डाक्टर' नाटक में अपमानिता मधुलक्ष्मी की अहं स्थापन की इच्छा, तदनन्तर उसका दमन, हीन भावना को उत्पन्न करके मानसिक स्नायविक व्याधियों का कारण बनी है। मधुलक्ष्मी का विवाह सतीशचन्द्र शर्मा इन्जीनियर से हुआ है किन्तु उसे वह परित्यक्त करके दूसरा विवाह कर लेता है। मधुलक्ष्मी परित्यक्ता बनकर आत्महीनता ग्रन्थि से ग्रसित होगयी और क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया से अनुप्राणित होकर वह एक उच्चकोटि की लेडी डाक्टर बन गयी।

१—चार एतिहासिक एकांकी—डा० राम कुमार वर्मा पृ० सं० ८९, ९०
२— ,, ,, ,, ८४, ८५

'डाक्टर' नाटक की कथावस्तु का प्राण मानसिक प्रक्रम— डा० अनीला का भिन्न व्यक्तित्व, सहबोधावस्था, मानसिक द्वन्द्ववश्यता, आत्महीनता ग्रन्थि, क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया और प्रतिशोध ग्रन्थि की मानसिक वृत्तियाँ कथावस्तु मे सारगर्भित घटनायें बनकर उपस्थित हुई है। सईदा के अचेतन मन के सामान्य कार्यो ने कथा-वस्तु में पूर्ण योग दिया है। डा० केशव और दादा पात्र ने सफल मनोविश्लेषक की भाँति डा० अनीला के रोगी मन का विश्लेषण करके कथावस्तु को पूर्ण मनो-वैज्ञानिक बना दिया है। परित्यक्ता मधुलक्ष्मी में आत्महीनता ग्रन्थि से क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया है। सतीशचन्द्र इन्जीनियर को नीचा दिखाने के लिये मधुलक्ष्मी (अनीला) का डाक्टरी पास करके अस्पताल चलाना, अपनी सौत मरीजा को अस्पताल में दाखिल न करते हुए भी दाखिल करने पर स्वीकृति देना, आपरेशन न करना चाहते हुए भी आपरेशन करने को तत्पर होना और आपरेशन को असफल बनाने की अभि-लाषा रखते हुए भी सफल बनाना आदि मानसिक घटनायें नाटक की कथावस्तु की एकमात्र आधार बनी है।

मनोवैज्ञानिक पात्र मधुलक्ष्मी में बहुव्यक्तित्व – मधुलक्ष्मी अन्तर्द्वन्द्व के विप्लव में स्थिर न रहकर एक कदम आगे बढ़ गई हैं। वह इस अवस्थिति की चरम सीमा पर सब सुध-बुध बिसार कर केवल शरीर मात्र को लिए जा पहुंची है। उसे मधुलक्ष्मी नाम से घोर घृणा है, क्योंकि उसका तिरस्कार हुआ है अतः भिन्न व्यक्तित्व की इस अवस्थिति के अनुसार उसने अलग-अलग व्यक्तित्व के अलग-अलग नाम भी रख लिये हैं। उसका एक व्यक्तित्व जो सतीश द्वारा अपमानित और परित्यक्त हुआ है वह मधुलक्ष्मी के नाम वाला है और जिस व्यक्तित्व में क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया अपराध एवं प्रतिशोध ग्रन्थि तादात्मय किये हुए बैठे हैं, उसका नाम डाक्टर अनीला है। वह मधु-लक्ष्मी जिसका परित्याग कम पढ़ी लिखी होने के कारण हुआ था उसमें आत्म-हीनता की प्रेरणा द्वारा सतत अध्यवसाय करने से प्रतिभा को द्विगुणित करने का अवसर मिला है। वही मधुलक्ष्मी डाक्टरी का कोर्स करके आज सफल और ख्याति प्राप्त डाक्टर बन कर बैठी हुई है।

यह तो रहा प्रतिक्रिया का परिणाम, लेकिन मधुलक्ष्मी डाक्टर अनीला भी बनकर अपने आन्तरिक द्वन्द्व से पीछा नहीं छुड़ा सकी। उसके सामाजिक अहं ने अपनी अन्तर कचोट को शान्त करने के लिए बाह्य रूप में सद्व्यवहार, उदारता, दया, नैतिकता, कर्तव्यपरायणता और आदर्शवादिता से अनेकों कार्य किये जिसकी सुप्रसिद्धि से अपनी आत्म-ग्लानि पर वह झीना सा आवरण डाल सका। पर उसकी अन्तश्चेतना हीनत्व कुण्ठा की कदर्मता, दुःशीलता और कुरूपता पर कुढ़ती ही रही तभी उसका अव्यक्त मन-मर्यादा विद्रोह के लिए तड़पता रहा। इस विरोध के फलस्वरूप उसमें अपराध, प्रतिशोध और परस्पर विरोधी भाव प्रवणता अंकुरित हो उठे। इस प्रकार

दो विरोधी प्रवृत्तियाँ उसके अन्तर्तंग को सहलाती और कुरेदती रहीं। प्यार और घृणा का अनुपात उसमें समान रहा। उसमें एक ओर अपनी सौत मरीजा उषा के प्रति आकर्षण है तो दूसरी ओर विकर्षण भी। यहाँ उसमें (लव एण्ड हैट आर बेसिबिली दी सेम काइन्ड आफ रैस्पोन्स) अर्थात् प्यार और घृणा, तनाव और खिचाव, आकर्षण और विकर्षण दोनों विरोधी भावों के मूलगत एकता की मनोवृत्ति का स्वाभाविक निर्वाह, उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक शैली मे हुआ है।

डाक्टर अनीला मरीजा के इलाज के लिए ही अपने सब प्रोग्राम को रद्द करके आई है: —

अनीला—मरीजा के लिये ही तो आयी हूँ।

(मरीजा के दस वर्षीय पुत्र गोपाल को देखकर अनीला देखती देखती ध्यानस्थ-सी हो जाती है।)

सईदा—क्या सोचने लगी, दीदी।

अनीला—कुछ नहीं सईदा—ऐसा लगता है कि जैसे इसे पहले भी कहीं देखा है।

सईदा—सच दीदी! मुझे भी ऐसा ही लगा था। शशि और इसकी आँखें....

अनीला—(कांपकर) शशि और इसकी आंखें। वही तो, वही तो मुझे भी भ्रम हुआ, और आँखें ही क्यो। (तेजी से कागज पटकती है) क्या नाम है इसके पिता का, (पढ़ती है) सतीजचन्द्र शर्मा—(अनीला हठात् पीली पड़ जाती है।)

सईदा—दीदी, दीदी, क्या बात है? क्या हुआ आपको?

अनीला—मैं पूछती हूँ कि इसे किसने दाखिल किया? किसकी आज्ञा से......

सईदा—क्षमा करें दीदी। यह सब दादा ने किया है। एक बार तो उन्होंने मना.......

अनीला—(पूर्वतः तेज) मैं कहती हूँ कि इन्हें निकाल दो।

सईदा—लेकिन दीदी? सोचो तो दाखिल करने के बाद.......

अनीला—(धम्म से बैठ जाती है) ओह, ओह, तो उससे कहो कि वह खुद चली जायँ। ओह मैं क्या करूँ (सिर मेज पर रख देती है।)

सईदा आपकी तबियत शायद कुछ अधिक खराब है।

अनीला—(एक दम उठकर) नहीं, नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूँ, अभी आती हूँ.... मैं अभी मरीजा को देखूंगी। कृपाकर किसी से कुछ न कहना (तेजी से अन्दर जाती है। सईदा ठगी से बाहर जाती है।[1])

१—डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—पहला अङ्क पृ० सं० ३७, ३८

इस "रंग-संकेत" से स्पष्ट है कि इन विरोधी भावों या ज्ञाताज्ञात के दाव-पेचो से केवल अनीला ही उद्विग्न नही बल्कि सईदा भी इस रहस्य में अपने स्वयं को तो खो बैठी है। सहायक डाक्टर सईदा देखती है कि अनीला ने लगातार सात दिन उस मरीजा की देखरेख और इलाज मे इतनी तल्लीनता दिखलाई कि वह अभूतपूर्व सेवा है। यद्यपि वह अपने बड़े भाई दादा के सामने मरीजा को अपना दुश्मन बतला चुकी है। स्वयं दादा के अन्दर भी इतनी प्रतिक्रिया है कि वह सतीश के सामने आते ही पिस्तौल का निशाना बना डालते। अनीला की प्रतिक्रिया पर उन्हें भी विश्वास है। मानो वह अनीला की मनोवैज्ञानिक स्टडी कर चुके है।

दादा—ठहरो अनीला। तुम्हें जितना जान पाया हूँ उससे मुझे विश्वास हो गया कि तुम इसका इलाज करोगी। तुम और कुछ कर ही नहीं सकती।

अनीला—(एक दम) मै कहती हूँ दादा। आप नहीं जानते, आप मुझे नहीं जानते। आपने·······

दादा—मैं तुम्हें बहुत अच्छी तरह जानता हूँ।

अनीला—(और भी तीव्र) नहीं, आप बिल्कुल नहीं जानते। आप नारी को नहीं जानते, आप चोट खाई हुई नागिन को नहीं जानते·······(तिल-मिलाकर) नहीं, नहीं, नहीं करूँगी, मैं उसका इलाज नहीं करूँगी मैं उसे मार डालूँगी।

दादा—मार डालोगी ? सात दिन में तुमने उसका रूप पलट दिया है। उस लाश में जीवन डाल दिया है तुमने। उसे मारोगी।

अनीला—हां मार डालूँगी।

यह है अनीला का घृणा और प्यार, आकर्षण और विकर्षण। मिस जोसेफ भी जानती है कि अनीला मरीजा को काफी प्यार करती है इसी कारण उसके दौरे से व्याकुल होकर वह दौड़ी अनीला पर आती है। प्रत्युत्तर मिलता है कि इस समय वह नहीं आती, उसकी तबियत खराब है, वह उसे अच्छा नहीं कर सकती। लीला जोसेफ हैरान, परेशान वापिस लौटती है, पर रहस्य कुछ समझ में नहीं आता। किन्तु तुरन्त मरीजा के पुत्र गोपाल के आग्रह से विवश होकर वह चीख उठती है:—

अनीला—(एक दम) ओह, परेशान कर दिया तुमने और तुम्हारे पिता जी ने (जोर से चीखकर) चले जाओ यहां से निकल जाओ·······।

लेकिन इस आवाज की भयंकर ध्वनि के साथ ही (तेजी से गोपाल का हाथ पकड़े हुए निकली चली जाती है। पीछे-पीछे लीला जाती है। दादा फिर जोर से हँस पड़ते हैं।) उठते हुए कहते है:—

१—डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—दूसरा अङ्क पृ० सं० ५०, ५१, ५२

दादा—दुर्बल इन्सान ? इसी दुर्वलता मे से दया, करुणा, परोपकार····इसी में से यह पिस्तौल निकली है। मैं दुर्वल न होता तो भला पिस्तौल क्यों लिये रहता ········।

यही परस्पर विरोधी भाव प्रवणता हैं। सईदा जानती है कि अनीला ऊपर से जितनी जोर से हंसती है भीतर उतनी ही जोर से उबलती है। उसने आत्म हत्या अभी इसीलिए नहीं की कि उसे हत्या करके प्रतिशोध लेना है। दादा अनीला को इसी बजह से बीमार बतलाते हैं:—

दादा—अनीला ? तुम बीमार हो········

अनीला—मैं बीमार नहीं हूँ।

दादा—आदमी शब्दों की भाषा जानता है उसके पीछे सचाई को छिपा सकता है, लेकिन आँखों की भाषा में झूठ के लिए कोई जगह नहीं है। इस समय तुम्हारी हालत ऐसी है कि तुम मेरी पिस्तौल लेकर मरीजा को, उसके बेटे को, उसके पति को, मुझे और अपने आपको, सबको मार सकती हो।[1] यह अनीला की अपराध ग्रन्थि का रूप है।

"अनीला" और "दादा" के संवादों से स्पष्ट है कि अनीला की मानसिक ग्रन्थियां प्रतिशोध ग्रन्थि के विभिन्न रूप हैं। मनोग्रस्ततावश वह किसी कार्य को चाहती हुई भी नहीं कर पाती। यह उसके बहुव्यक्तित्व का परिणाम है।

मनोवैज्ञानिक पात्र निर्देश, आन्तरिक द्वन्द्ववश स्वोक्ति एवं

अरूप ध्वनि और मनोविश्लेषणात्मक संवादों से युक्त रचनात्मक प्रक्रिया—मरीजा के आपरेशन पर डा० अनीला के बहुव्यक्तित्व का मार्मिक रूप सामने आता है। वह आन्तरिक द्वन्द्व वश परिश्रान्त, त्रस्त होकर कई क्षण हाथों में सिर पकड़े आपरेशन के सम्बन्ध में सोचती सोचती स्वयं बोल उठती है:—

अनीला—आखिर आपरेशन करना ही होगा, पर वह आपरेशन नहीं करूँगी। लेकिन······ (एक दम गिर जाती है) ओह मैं क्या करूँ······ मैं क्या करूँ········

आवाज—करती क्या भाग जाओ (सहसा एक आवाज गूँजती है। अन्तर्द्वन्द्व से अनीला कांपकर उठती है, चारों ओर देखती है।)

अनीला—कौन, कौन हैं ?, कौन बोलता है।

पहरुआ—खबरदार होशियार, पाँच बज गये हैं। खबरदार होशियार········ (अनीला एक दम चौंकती है।)

१—**डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—दूसरा अङ्क—पृ० सं० ५४, ६१, ६७, ६८**

२—**डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—दूसरा अङ्क—पृ० सं० ८१, ८२, ८५, ८६**

अनीला—ओह पहरुआ था। मैंने समझा·······(बैठ जाती है। आवाज फिर गूंजती है।)

आवाज—तुमने खाक समझा। यह पहरुआ की आवाज नहीं है।

अनीला—तो किसकी है।

आवाज—अपने अन्दर झाँको, अपने को टटोलो, तुम्हें पता लगेगा कि यह आवाज तुम्हारी है। (अनीला फिर काँपती है।)

अनीला-मेरी आवाज····यानी मैं बोली थी·······मैं भाग जाना चाहती हूँ। मै······मैं·······(एक दम तेज होकर) मै कायर·······नहीं, नहीं, मै कायर नहीं हूँ। मुझे वह आपरेशन करना है। अवश्य करना है। (किन्तु पुनः भाग उठने का आवेग आ धर दबाता है फिर वही अन्तर्द्वन्द्व की धर पकड़ होती है।) (रामू से)

अनीला—जल्दी जाकर एक टैक्सी ले आ।

रामू—जी अभी।

अनीला—हाँ अभी। (दरवाजे पर पहुँचते ही फिर बुलाती है।)

अच्छा, अच्छा, अभी रुको। देखो·······।

रामू—जी।

अनीला—नहीं, जाओ, जल्दी लेकर आना। (वह मुड़ता है फिर पुकारती है) रामू, रामू,

रामू—(पास आकर) जी।

अनीला—कुछ नहीं, कुछ नहीं, जाओ।[1]

यह प्रतिशोध ग्रन्थि का आन्तरिक द्वन्द्व है। इस प्रतिशोध ग्रन्थि का मूल कारण डा० केशव ने अनीला में अन्तर्निहित केवल सतीश की चुनौती मात्र वतलाया है। सफल मनोविश्लेषक की भाँति डा० केशव मानसिक घाव को जब कुरेदता है तब अनीला घायल की तरह तड़प उठती है। अनीला का यह द्वन्द्व पन्द्रह वर्ष से चल रहा है। वह इसका सामना अकेले ही करती चली आयी है पर डा० केशव इसका श्रेय 'चुनौती' को देता है। बस इस चुनौती रूपी मानसिक घाव के कुरेदते ही अनीला छटपटा जाती है—

अनीला—(बैठकर) मैं··········मैं चुनौती के कारण यह सब कर सकी। चुनौती के कारण मैंने इतने कष्ट उठाकर इतनी वेदनायें सहकर इस नर्सिंग होम का निर्माण किया, आज का दिन देखा।

केशव—आज का दिन ही तो इस सचाई को प्रकट कर सका है।

१—डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—दूसरा अङ्क—पृ० सं० ८१, ८२, ८५, ८६

यह नर्सिंग होम में ठण्डा तूफान आया है। यह जो तुम्हारी आत्मा कचोट रही है, यह सब इसी कारण है।

अनीला—(टूटी हुई सी) काश कि तुम सत्य को जानते, काश कि तुम मेरे दर्द को पहचानते।

केशव—पहचानता हूँ अनी, पाँच वर्ष से तुम्हें पहचान रहा हूँ। तुम तिल-तिल कर जलती हो, तुम्हारे हृदय में टीसें उठती हैं, तुम्हारी छाती आहों से छलनी हो रही है। और इस सत्य को छिपाने के लिए तुम अनथक प्रयत्न करती हो।

अनीला—(काँपकर) ओह, ओह ??

केशव—(वही दृढ़ स्वर) अन्दर जितनी गहरी पीड़ा होती है। ऊपर तुम उतनी ही करुणा बनती हो, उतनी ही हँसती हो। लेकिन तुम्हारी करुणा तुम्हारी मुस्कान, तुम्हारा हास्य, इन सबका आधार है वही चुनौती। इसी ने तुम्हें कायर बनाया क्यों कि तुम्हारे भीतर बदला लेने की भावना जाग उठी है (अनीला काँपती है..........लेकिन जब तक इसका रूपान्तर नहीं होगा।

अनीला—(काँपकर एक दम) बस, बस केशव इतने निर्दयी न बनो! ओह केशव ?? मुझे जाने दो। मुझे यहाँ से भाग जाने दो। मैं उसे मार डालूँगी। मैं उसकी हत्या कर दूंगी। सच कहती हूँ मैं, मेरे अन्दर कोई घुसा बैठा है जो मुझसे उसकी हत्या करवा देगा।

केशव—इसी को कहते हैं बदले की भावना जो चुनौती के कारण पैदा हुई है।[1]

डा० केशव का यह हृदयस्पर्शी मनोविश्लेषण अत्युत्तम है। अनीला अज्ञात मन मे छिपा बैठा चुनौती रूपी मानसिक घाव जब केशव द्वारा चेतन मन पर लाया जाता है अर्थात् शारीरिक घाव की भाँति जब उसकी चीड़ फाड़ की जाती है तब अनीला की पीड़ा अतिशय रूप धारण कर लेती है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि उसकी आत्मा की कचोट इसी चुनौती पर निर्भर है। केशव ने सिद्ध मनोविश्लेषक बनकर अनीला के तिल तिल जलने उसकी आन्तरिक टीसों और आहों द्वारा छाती का छलनी बनना देखा है। और देखा है। आत्म हीनता ग्रन्थि के सिद्धान्त का वह रूप जिससे परवश होकर अनीला इस आन्तरिक वेदना को भुलाने का अनथक प्रयास करती है। बस, यही हीनत्व कुण्ठा का कपट रूप है। अनीला जितनी गहरी पीड़ा से आकुल होती है उतनी ही बाहर से करुणा, मुस्कान, हास द्वारा अपने आपको छलती है। यह सब चुनौती के ही वाबजूद हो रहा है। डा० केशव जब उसकी

१—डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—दूसरा अङ्क—पृ० सं० १०१, १०२, १०३

डा० अनीला में जिन मनोग्रन्थियों का आरोपण ऊपर दिखलाया गया है। विष्णु प्रभाकर ने अनीला के अन्तर्द्वन्द्व की पराकाष्ठा पर आकर उन्हें बिल्कुल सुस्पष्ट कर दिया है। डाक्टर अनीला मरीजा के आपरेशन समय मे कई बार चौंकती है यहाँ तक कि आपरेशन करते समय तो उसका हाथ तक भी कपकपा जाता है जिसके लिए डा० केशव उसे सावधान करता है। उसी समय आन्तरिक द्वन्द्व को अन्तिम, पर भयंकर शरारत एवं प्रतिहिंसा पूर्ण ध्वनि नेपथ्य में गूंज उठती है। डाक्टर अनीला का व्यक्तित्व मधुलक्ष्मी का नाम सुनकर सहसा काँप सी जाती है। फिर तुरन्त दृढ हो जाती है—लेकिन इतने पर भी उसके अज्ञात-मन का प्रबल द्वन्द्व बाँधने पर भी न बँध सका—

आवाज—डा० अनीला ? शाबास, यही सुनहरी अवसर है। अपनी इच्छा पूरी करो। अपना बदला लो, नारी के अपमान का बदला लो।........सुनो अनीला। सुनो ? मै मधुलक्ष्मी हूँ, मुझे भूलो मत। मैं ही तुम्हारे जन्म का, तुम्हारी प्रगति का, तुम्हारी शोहरत का कारण हूँ। मैं नारी का बदला चाहती हूँ। मैं पुरुष को तड़पते देखना चाहती हूँ।

बह जाने दो रक्त........ निकल जाने दो प्राण.........नस नाड़ियों को बन्द मत करो। सईदा को परे हटा दो, वह तुम्हारी शत्रु है। तुम सुनती नहीं........ सुनती नहीं, अनीला ? अनीला ?? देखो, केशव की ओर न देखो। इस गाल ब्लेडर को देखो, कैसा खराब है, न, न इसे काटो मत, इसे काटो मत,

(तीव्र स्वर) नहीं, नहीं, रुको, रुको, तुम सुनहरी अवसर खो रही हो, तुम सुनहरी अवसर खो रही हो, तुम आत्म हत्या कर रही हो, तुम शत्रु को प्राण दे रही हो, तुमने इसे मार डालने का निश्चय किया था, तुमने—

(हताश क्रोध) ओह काट दिया, तुमने गाल ब्लेडर काट दिया, तुमने सईदा को नहीं हटाया, तुमने केशव की बात मानी।

(अल्प विराम जैसे धौंकनियाँ चलती हों। फिर एकदम तेज) अब भी अवसर है, छोड़ दे, फोरसेप्स अन्दर छोड़ दे. सीं मत, सीं मत, ओह, ओह, तू नहीं सुनती, नहीं सुनती, ओह, ओह, तूने मुझपर ही छुरी चला दी, तूने मधुलक्ष्मी की हत्या कर दी, तू अपने अपमान को भूल गई, अपनी प्रतिज्ञा को भूल गई।[1]

डाक्टर अनीला का यह आन्तरिक संघर्ष प्रतिशोध ग्रन्थि की दुहाई देता है। यह प्रतिशोध नारी मात्र का प्रतिनिधित्व कर रहा है। उसकी प्रगति और शोहरत

१—डाक्टर—विष्णु प्रभाकर—अङ्क तीसरा—पृ० सं० १२५, १२६

आत्महीनता से अनुप्राणित है। यह प्रतिशोध अत्यन्त हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक है। अनीला ने अपने पति सतीश से वह मानसिक प्रतिशोध लिया है जिसका प्रतिकार सतीश पर नहीं। इसी प्रतिशोध के आधार पर नाटक की कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया को नाटककार ने पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना दिया है।

निदान, नाटक निस्सदेह मनोवैज्ञानिक है इसमे दो मत नहीं हो सकते, पर नाटककार को मनोवैज्ञानिक संबल स्वभावतः प्राप्त है, अथवा नहीं। इसका निर्णय नाटक के उपसंहार ने स्वयं दे दिया है। विष्णु प्रभाकर ने लिखा है कि इस मरीजा की हत्या अपेक्षित थी। ऐसा किसी मित्र का अनुरोध उनसे था। लेकिन उनकी अन्तश्चेतना के साथ बहुमत भी हो गया और डाक्टर अनीला का आपरेशन द्वारा मरीजा के जीवन रक्षा से एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की भी संसिद्धि हुई।

सफल मनोवैज्ञानिक नाटककार विष्णु प्रभाकर ने 'प्रति सम्बन्ध के स्थापन' द्वारा नाटक का उपसंहार किया है। प्रायः किसी मनोग्रन्थि को छिन्नभिन्न करने के लिए इस विरेचन पद्धति को अपनाना होता है। मनोविश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा संवेग-रैचन के साथ-साथ संवेग से सम्पर्क रखने वाले विपय का किसी प्रतिकूल संवेय से सामंजस्य स्थापित किया जाता है। जहाँ मनुष्य के प्रति घृणित भाव के मूल कारण की जानकारी आवश्यक है, वहां घृणित व्यक्ति के प्रति प्रेम-भावना का अभ्यास भी उससे अधिक महत्वपूर्ण हैं। उसके दुर्गुणों की अपेक्षा सद्गुणों का चिन्तन मनोग्रन्थि के भेदन करने के लिए परमोपयोगी है। डा० अनीला ने मरीजा को जीवन दान देकर अपने घृणित भावों को प्रेम-भावना में इसलिए विलीन कर दिया है, क्योंकि डा० केशव ने भी इस प्रतिशोध ग्रन्थि का रूपान्तर ही उसके मानसिक स्वास्थ्य के लिए कल्याण प्रद माना है।[1] और यदि डा० अनीला में यही अपराध ग्रन्थि अपनी सीमा पर पहुँच जाती तथा मरीजा का प्राणान्त भी कर दिया जाता तो डा० अनीला मानसिक ग्रन्थि और भी उलझ जाती। जिसका परिणाम उसके प्राणों का बलिदान चाहता। नाटक के इस मनोवैज्ञानिक निर्वाह को नाटककार ने भली प्रकार निभाया है। डा० अनीला की उक्ति (शर्मा से) आपकी पत्नी का आपरेशन सफल हुआ, जल्दी तगड़ी हो जायेंगी बधाई।[2] इस व्यंग भरी बधाई में 'प्रतिसन्बन्ध-स्थापन' की पूर्ण संपुष्टि हुई है।

१—डॉक्टर—विष्णु प्रभाकर—दूसरा अङ्क पृ० सं० १०२
२— ,, ,, तृतीय ,, १३०

सप्तम अध्याय

गौण नाट्य कृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु प्रधान नाट्य कृतियाँ

अहंकारात्मक वर्ग—मनोवैज्ञानिक कथावस्तु प्रधान पौराणिक नाटक 'चक्रव्यूह' में मिश्र जी ने मानवीय मनोविज्ञान का सफल निर्वाह किया है। नाटक की कथावस्तु प्रतिशोध ग्रन्थि पर अवलम्बित है। उस ग्रन्थि का मूलस्रोत अहंवाद है। द्रौपदी की एडलरीय अहं स्थापन वाली मनोवृत्ति से इस अहंवाद को प्रेरणा मिली है। इस नाटक का प्रत्येक मनोवैज्ञानिक पात्र इसी अहंवाद की परिक्रमा करता हुआ दृष्टिगत होता है।

नाटककार ने अभिमन्यु, लक्ष्मण, दुर्योधन, जयद्रथ, अर्जुन, कृष्ण, सुमित्र और द्रोणाचार्य में मानवीय मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति द्वारा इस घिसी-पिटी कथावस्तु को नवीन मनोविज्ञान के साँचे में ढाल दिया है। कहीं कहीं भारतीय दर्शन के बेजोड़ संवादों ने भी नाटक को मनोवैज्ञानिक बनाने मे महत्वपूर्ण योग दिया है। इस नाटक की कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाने के कारण ही नाटककार द्वारा इतिहासगत सत्यता की अवहेलना प्रतीत होती है। मानसिक प्रक्रम के ही कारण नाटक की कथावस्तु मानसिक घटनाओं द्वारा विकसित हुई है।

चक्रव्यूह नाटक की मनोवैज्ञानिक कथावस्तु प्रारम्भ में मानसिक नियतिवाद से अनुप्रेरित है। पितामह का अभिमन्यु और लक्ष्मण के समक्ष बड़बड़ाना और अस्फुट शब्दों में कुछ कहकर दोनों को होने वाले युद्ध में सम्मिलित होने के लिए निषेध करते करते अश्रुपात करना मानसिक नियतिवाद से आन्दोलित है। इसी मानसिक नियतिवाद की पुष्टि उत्तरा के आदेशात्मक स्वप्न मे उपस्थित है। अभिमन्यु के युद्धोन्मुख होने के साथ ही साथ अज्ञात में उत्तरा के वलय का पहुँचे से सरक कर गिरना इसी मानसिक नियतिवाद द्वारा अपशकुन का परिपूरक सिद्ध हुआ है। इसी

मानसिक अवस्थिति के आधारभूत उत्तरा में उन्माद और विभ्रम का भी समावेश पाया जाता है।[1]

मानसिक नियतिवाद ने ही समष्टिगत अहं से अद्भुत प्रतिशोध ग्रन्थि को जन्म दिया। अभिमन्यु को यही प्रतिशोध ग्रन्थि बलवती होकर युद्धस्थल की ओर ले गयी है। जयद्रथ इसी मनोग्रन्थि-वश शिव की घोर तपस्या में लीन हुआ था जिससे वह पाण्डवों पर विजय प्राप्त कर सके। दुर्योधन का सुपुत्र लक्ष्मण यद्यपि अभिमन्यु से अभिन्नता रखता था किन्तु प्रतिशोध ग्रन्थि वश वह भी युद्ध मे अभिमन्यु से आ टकराया। किन्तु लक्ष्मण की प्रतिशोध ग्रन्थि में मानसिक नियतिवाद प्रबल है। वह बाह्य रूप मे अभिमन्यु को रण मे देखकर यह कहता हुआ युद्ध में तत्पर होता है कि उसे भी युद्ध मे काम आना है। लेकिन अज्ञात मन में उसके भी प्रतिशोध ग्रन्थि है। सुयोधन में अनियन्त्रित इड् के विनाश चिह्न विद्यमान है। उसमें इसी इड् द्वारा प्रतिशोध ग्रन्थि बनी है। किन्तु लक्ष्मण के मर जाने पर कुछ समय तक उसकी प्रतिशोध ग्रन्थि भयंकरता धारण करती है। स्थानान्तरण मनोवृत्ति द्वारा उसे उसका नैतिकाहं अभिमन्यु से प्यार के लिए प्रेरित करता है, जिससे वह अभिमन्यु के सिर को गोद में लेकर बैठ जाता है। यह मानवीय मनोविज्ञान का उच्च उदाहरण है। अर्जुन में यही प्रतिशोध ग्रन्थि है। जयद्रथ की हत्या का दृढ संकल्प इसी मनो-ग्रन्थि पर निर्भर है। सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु इसी प्रतिशोध ग्रन्थि से ओत प्रोत है जो अहंवाद से प्रेरित है।

मनोवैज्ञानिक कथावस्तु प्रधान ऐतिहासिक नाटक 'दशाश्वमेघ'- में मिश्र जी ने इड् के प्राण प्रकृत काम और विनाशात्मक मनोवृत्ति को एक सूत्र में पिरोने का सफल प्रयत्न किया है। कौमुदी कुषाण राजपुत्रो के इड् के द्वारा नाटककार ने जिन मानसिक घटनाओं को सर्जित किया है वे सब मिल कर नाटक की कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाने में योग देती हैं। कौमुदी में भार-शिव नाग वीरसेन के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति है। कौमुदी की मानसिक नियतिवादिता ही कुषाण सम्राट के क्षत्रय अंगारक से घृणा और वीरसेन से प्रेम करने के लिए तत्पर हुई है। इसी मानसिक नियतिवादिता ने वीरसेन में उदात्त भाव और अंगारक मे अहं निसर्ग वृत्तियों एवं कामात्मक द्वन्द्व की अवतारणा की है। अतः नाटक की कथावस्तु कौमुदी, वीरसेन और अंगारक के अबाध काम प्रवाह पर आधारित है। कौमुदी की परिचारिका यवन कन्या नन्दिनी और कुषाण सैनिक चट्टान और मद्धन भी इसी काम को केन्द्र विन्दु मानकर प्रवाह मान है। इन पात्रो की मानसिक अवस्थिति भी कौमुदी की काम

१—चक्रव्यूह—लक्ष्मी नारायण मिश्र—प्रथम अङ्क पृ० ४७

प्रवृत्ति से आन्दोलित है। नाटक की कथावस्तु का प्रारम्भ कौमुदी को लक्ष्य बनाकर इन्हीं कुषाण सैनिकों के कामात्मक दिवा स्वप्न में होता है। नन्दिनी भी कौमुदी के इड् का पूरक बनकर उपस्थिति हुई है। अंगारक की मोतियों की माला का उपहार कौमुदी के नन्दिनी द्वारा प्रस्तुत करना इसी मानसिक उपक्रम का द्योतक है।

कुषाण राजपुत्री कौमुदी का जन्म मथुरा में हुआ था। जिस प्रकार गोपियो को गोपाल प्रिय था, उसी भाँति कौमुदी वीरसेन को गोपाल ही मानने लगी थी। राज पुत्रियाँ उसकी दृष्टि में ब्रजवनितायें बन गयीं और वीरसेन ब्रजनन्दन। बस, इसी तादात्म्यीकरण द्वारा उसमें मनोग्रन्थि पड़ जाती है तथा दिवास्वप्न, विभ्रम, स्थानान्तरण और भूलों का मनोविज्ञान कथावस्तु में मानसिक घटना बनकर उपस्थित होते है।[1]

वीरसेन मे गोपाल के सभी गुणों का समावेश होने के कारण कौमुदी मे मानसिक नियतिवाद प्रबल हो उठा है। अंगारक स्वयं अपने गुणों का प्रदर्शन करने के कारण हीनत्व कुण्ठा से ग्रसित प्रतीत होता है। अतएव कौमुदी उसे हेय दृष्टि से देखती है। यही मानसिक नियतिवादिता राजपुत्री कौमुदी में अपने राज्य की भी चिन्ता नहीं करने देती और अंगारक की हत्या सुनकर इतनी हर्षित हो उठती है कि मानसिक संतुलन भी ढीला पड़ जाता है। वह वीरसेन के अनुराग मे फ्राइडियन अधैर्य-स्वप्न द्वारा अपनी इस मानसिक अवस्थिति का परिचय देती हुई पाई जाती है।[1]

निदान, कौमुदी के कामात्मक मानसिक नियतिवाद, वीरसेन के काम-ऊर्ध्व-गमन और अंगारक की प्रतिशोध ग्रन्थि से इस नाटक की कथावस्तु अनुप्रमाणित है। नाटककार ने शृंगार, वीररस और मनोविज्ञान का अद्भुत सम्मिश्रण नाटक में दिखलाया है।

उदयशंकर भट्ट में गीति प्रधान भावनाट्य "विश्वामित्र" की कथावस्तु उर्वशी, मेनका और विश्वामित्र के मानसिक प्रक्रम द्वारा पूर्ण मनोवैज्ञानिक बन गयी है। विश्वामित्र में एडलर की अहं स्थापना है। वह अहं प्रधान पुरुष है। अहं प्रधान पुरुष के समक्ष नारी है। उस नारी का भी दोहरा व्यक्तित्व है। एक व्यक्तित्व पुरुष का जीवन साथी बनाने, उसकी पिपासा को शान्त करने को उद्यत है। दूसरे व्यक्तित्व का प्रतीक उस नारी में मिलता है जो पुरुष के शासन में अपने को विवश अनुभव करने वाली है। वह मानव की शक्ति, बल और दर्प से टक्कर लेने को प्रस्तुत है।

१—दशाश्वमेघ—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ४२ से ४५
२—दशाश्वमेघ—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० सं० ६८, ६९

मेनका और उर्वशी के रूप में नाटककार ने यह दोहरा व्यक्तित्व प्रदर्शित किया है।

मेनका विश्वामित्र की अहंवादी प्रवृत्ति से परिचित है। वह उर्वशी को बतलाती है कि यह मनुष्य अहं की कच्ची नींव पर स्थित है। आज मैं उस क्षुद्र जीव को नाच नचाकर उसकी कमजोरियों को दिखलाये देती हूँ। मेनका के तीक्ष्ण कटाक्ष से विश्वामित्र अप्रतिम हो जाते हैं। उनके हाव-भाव एवं चेष्टायें सभी कामुक सी हो जाती है। उनका अहं उन्हें पुनः सावधान करता है। वे यह कहते कहते तप के लिए फिर तत्पर होते है कि ब्रह्म ज्ञानी को कोई वेग नहीं सताता। बस, आन्तरिक द्वन्द्व की यहीं सुन्दर अवतारणा होती है। उनके अहं पर अज्ञात अतृप्त दमित कामेच्छाओं का प्रबल वेग अपना आधिपत्य जमा लेता है। मेनका विश्वामित्र के प्रेम को ठुकरा कर अन्तर्धान हो जाती है। कामात्मक द्वन्द्व के कारण विभ्रम मनोग्रन्थि से उत्पीड़ित विश्वामित्र अपनी इच्छा पूर्ति के लिए बहुत छटपटाते है और 'स्वाक्रमण प्रेरणावेग' की मनोवृत्ति से उद्वेलित हो आत्म हत्या के लिए पर्वत पर चढ़ जाते है। इसी समय मेनका आकर आत्म समर्पण कर बैठती है। किन्तु साथ ही साथ यह बतलाती है कि ऋषिवर मेरे वियोग से आपका रहा सहा अहंकार भी चूर चूर हो गया। तुम प्रेम कादम्ब की कण्ठ तक पान कर सकते हो।

यौन स्फीति के आधार पर मेनका आँखें बन्द करके कामातुर ऋषि का आलिंगन कर लेती है। विश्वामित्र नारी को काम केलि के समय जीवन की गति, मधुरता, श्वास और प्राण सभी मान बैठते हैं। यहाँ निसर्ग वृत्तियों और काम प्रवृत्ति का सघर्ष है जिसमें प्रकृत काम की विजय होती है। विश्वामित्र मधुरस से भरे तालाब की कमलिनी मेनका की कमनीयता को सर्वस्व अर्पण कर बैठते हैं।[1] मैथुन के समय में मेनका की कामनीयता हैवलाक् एलिस के यौन मनोविज्ञान से मेल खाती है।[2] ऐसी ही मानसिक घटनाओं से कथावस्तु का भट्ट जी ने मनोवैज्ञानिक गुम्फन किया है।

मानसिक नियतिवादी वर्ग

★

"जय पराजय"—उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के इस नाटक की कथावस्तु मानसिक नियतिवाद पर आधृत है। लक्षसिंह में हंसाबाई को पाने के लिए मानसिक नियतिवाद है। और चंड में उसके प्रति मातृ प्रणय ग्रन्थि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हंसाबाई का इड् चण्ड पर आसक्त है, उसे अपने पति के प्रेम केवल दूसरों पर शासन

१—विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—उदय शङ्कर भट्ट—पृ० २८ और ३०

२—साइकोलोजी आफ सैक्स—हैवलाक् एलिस पृ० सं० ३६

करने के कारण प्रतीत होता है। जब चण्ड उसके प्रेम को ठुकार देता है तो उसमें प्रतिशोध ग्रन्थि इस नाटक की कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाने मे पूर्ण सफल उतरी है। हंसा बाई का दोहरा व्यक्तित्व नाटककार ने इस द्वित्व द्वारा स्पष्ट किया है—

हंसाबाई—मस्तिष्क मे क्यो हलचल मची हुई है, रोम रोम में क्यो आग धधक रही है। चन्ड, ऊंह, उनके साथ जीवन की कल्पना ही क्यो? तैयार करना होगा, अपने आपको कर्त्तव्य पथ पर चलने के लिए तैयार करना होगा। हृदय दुःखी होगा, पर मुख प्रसन्न दिखाई दे, रोने की इच्छा हो, पर अधर हस पड़े।[1]

इसी द्वित्व के ताने-बाने मे कथावस्तु का पूर्ण विकास हुआ है। हंसाबाई का प्रतिशोध निषिद्ध प्रेम की इच्छा वाले इड् का विनाश चिह्न लेकर प्रतिगमन की ओर अग्रसर हुआ है जहाँ विध्वंस के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता।

मनोविकृतियों के प्रेरक तत्वों का वर्ग

"छलावा"—परितोष गार्गी का प्रतीकात्मक "छलावा" नाटक अपनी कथा की व्यापकता में मानव जीवन की कोई रहस्यपूर्ण झाँकी एवं अचेतन मन की भावना छिपाये हुए है। 'छलावा वास्तव मे हमारे मन के कोनो किनारो मे छिपा हुआ रहता है। इसका रूप और आकार बाहर से नहीं बल्कि मानव मन की अवगत तहों से अवतरित होता है, इसीलिए इसका अपना कोई रूप नहीं और यह हर रूप धारण करने की क्षमता रखता है।[2] प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु आद्योपान्त इसी छलावा रूपी मानसिक विभ्रम से अनुप्राणित है कथावस्तु का विकास मानसिक विभ्रम के इसी प्रक्रम से हुआ है। परिणाम स्वरूप समस्त घटनायें मानसिक ही है। वाह्य घटनाओं का यदि कोई सर्जन भी हुआ है तो उसकी प्रेरणा विभ्रम के मनोविकार से अद्भुत होती पाई गई है।

कथावस्तु का केन्द्र विन्दु 'लालू' की प्रेमिका 'बेला' है। बेला और लालू की प्रेम कहानी नगर मे सर्वत्र व्याप्त है। लेकिन लालू का इड् बेला से तृप्त होकर किसी दूसरी प्रेमिका की तलाश में संलग्न होता है। और बेला के साथ विवाह करने के लिये इसलिये निषेध करता है कि उसका पिता शादी में धन नहीं दे सकेगा। इस हेत्वा-रोपण के सहारे वह बेला से छुटकारा पाने के लिए उद्यत होता है पर विवाह के दिन बेला उसी के घर जहर खाकर मर जाती है।

१—जय पराजय—उपेन्द्र नाथ 'अश्क'—पृ० स० ९५, १००

२—छलावा—पारितोष गार्गी—(दो शब्द)

नाटककार ने लालू की मृत प्रेमिका 'बेला' का ही छलावा, परिवार और पड़ौस के सभी आदमियो में मनोविभ्रम के रूप में रखा है। लालू की नव विवाहिता पत्नी की मनोग्रस्तता, लालू की मनोवृतियों की शोधन पद्धति, जमीदारशाह की पत्नी अथवा अम्मा के हीन भाव, राज का खोया खोया मन और कारिन्दा विश्नू द्वारा प्रत्यक्ष मे देखा गया 'छलावा' आदि सभी बेला की आत्म हत्या के मनोविकृत रूप है। लालू की पत्नी अन्जली को पड़ोसिन पार्वती और कुन्ती द्वारा ऊपर जाने के लिए मना करना भी इसी मनोविकार से सम्बन्धित है। स्वयं लालू यदि कभी उस कमरे में जाता है, जहाँ बेला ने आत्म हत्या की थी, तो वह भी अपने दम का घुटना महसूस करता है। शहर कोतवाल यद्यपि शाह के दिये हुए रिश्वत के उपहारों के बधन में बांध कर लालू के बचाने के पक्ष में ही प्रयत्न करता है पर बिशनू द्वारा बतलाये छलावा की विकृति उसे भी उद्विग्न कर डालती है। वह अपनी मन:शान्ति के लिए बेला की भोली आकृति को याद करता हुआ पाया जाता है। बेला की मां और पिता दोनों के अन्तस् में भी बेला के प्रतिशोध की मनोविकृति घर किये हुए है। स्वयं अंजली बेला की प्रतिकृति बनकर मानसिक ग्रन्थि वश बेला के मां-बाप के सामने उपस्थित होती है। किन्तु केस के समाप्त होते ही वह बेला के प्रतिशोध मे लालू को छोड़कर चली जाती है। लालू उसका पीछा करता है पर लालू के सामने एक काली परछाई आ जाती है, जो बेला का छलावा रूप मनोविभ्रम बन कर उसे रोक लेता है। जिस मनोग्रन्थि से अंजली आबद्ध है उसी मनोग्रन्थि के बावजूद लालू में विभ्रम दृष्टिगत होता है। लालू की मृत प्रेमिका बेला अकस्मात् उसके समक्ष आ खड़ी होती है।

बेला—(एक नीरस हंसी हंसते हुए) नये सिरे से खेल शुरू करने लगे हो।

लालू—है।-मुर्दे जागते है.........है........ यह क्या हो रहा है मुझे क्या हो रहा है ....

बेला—क्या ? (तनिक हंस कर) तुम्हारे सामने खड़ी नही क्या।

लालू—नहीं...... यह नहीं हो सकता[1]।

लालू के मन में यही बेला का विभ्रम छलावा बनकर बैठा है जिसको जमींदार शाह का कारिन्दा 'बिशनू' भी देखता है—

बिशनू– रात मुझे यहां छलावा दिखाई दिया। वह देखते ही देखते, बाड़ फांद गया और पुच्छल तारे की तरह, बढ़ता बढ़ता, कहीं का कहीं, हवा में लोप हो गया।

राज—तुझे तो वैसे ही कोई न कोई नई से नई चीज दिखाई देती है चाचा[2]।

१—छलावा—पारितोष गार्गी—पृ० सं० ५०
२— ,, ,, ,, ८५, ८६

इसके अतिरिक्त अन्जली की मनोग्रस्तता का भी कारण मृत बेला का छलाना उसके मन में घर किये हुए है—

अंजली—जब से मैंने इस घर मे पांव रखा है मुझे हर वक्त एक बू सी आती रहती है। जैसे इसकी जड़ों में खण्डहर दबे पड़े हों, जैसे इसके कोने-कोने में क्वारा प्यार सड़ रहा हो।[1]

इस प्रकार पूरे नाटक की कथावस्तु में बेला का मानसिक छलावा बनकर पूरे पात्रों को अनुप्रेरित करता रहा है। तभी वहां मानसिक घटनायें अधिक हैं जिससे कथावस्तु मनोवैज्ञानिक हो गयी हैं।

'परदे का ऊपर पार्श्व'—गणेश प्रसाद द्विवेदी ने इस एकांकी की कथावस्तु में मन के ऊपर पार्श्व अर्थात् अचेतन मन को प्रश्रय दिया है। उर्मिलादेवी और रमेशचन्द्र की हार्दिक इच्छा थी कि वे जीवन साथी बनकर रहें, पर उर्मिला का विवाह एक जमीदार के साथ ही हो गया। रमेशचन्द्र ने विवाह नही किया। उसने काम का पर्युत्थान वकालत की ख्याति में किया। इतने पर भी उसके आंतरिक संघर्ष की सांकेतिक चेष्टायें इस अपूर्ण कामोन्नयन की परिधि का बांध तोड़ कर 'भूलों' आदि के रूप में प्रस्फुटित होती रहीं।

उधर उर्मिलादेवी में भी कामात्मक संघर्ष की प्रबलता हो उठी। उसकी अतृप्त दमितेच्छायें अचेतन मन में पड़ी हुई रमेशचन्द्र के पास पत्र डलवाती रहीं। रमेशचन्द्र कामात्मक मनोग्रस्तता वश फाड़ फाड़ कर पत्रों को जलाता रहा, क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रेम समाज-परिस्थितियों और मनुष्यता के जालपाश में बंधने वाली चीज नहीं वरन् वह इनसे सदैव परे है। जब उर्मिला इनके सामने झुक गयी तो उसमें प्रेम कहां, उसका यह कोरा छल है। यह सब होते हुए भी वह उर्मिला देवी के प्यार को भुलाने पर भी नहीं भुला सका। उर्मिला देवी भी दिखावे में पति को प्यार करती हुई रमेशचन्द्र की याद में घुलती रही।

इन दोनों के अचेतन मन के संघर्ष को नाटककार ने रामेश्वरसिंह के संवाद में रखा है जिसमें परदे का अपर पार्श्व अर्थात् ज्ञाताज्ञात मन में छिपी 'परस्पर विरोधी भाव प्रवणता' की मनोवृति को दिखलाया गया है—

रामेश्वर सिंह—पट के दोनों ही ओर जीवन की सामग्री है। एक ओर अगर प्रेम के दृश्य हैं, तो दूसरी ओर घृणा के।

इसी मनोवृत्ति के सहारे ज्ञाताज्ञात मन में निहित प्रेम और घृणा को नाटककार ने कथावस्तु की सामग्री बनाया है। मरणासन्न उर्मिलादेवी का 'परदे का अपर

१—छलावा—परितोष गार्गी—पृ० १०२, १०३

पार्श्व' अर्थात् अचेतन मन की अतृप्त दमितेच्छायें पति के समक्ष फूट पड़ती हैं और रमेशचन्द्र उसके मरने पर पत्रोत्तर न देता हुआ भी सहसा वहाँ पहुंच कर रो पड़ता है। इस प्रकार एकांकी की कथावस्तु आकर्षण से विकसित हुई है।

राजसिंह—आचार्य चतुरसेन ने इस नाटक के 'सौभाग्य सुन्दरी' और 'रत्न-सिंह पात्रों में मानसिक ग्रन्थिया दिखलाई है जिनसे नाटक की कथावस्तु ने मनोविज्ञान की ओर मोड़ खाया है।[1]

रत्नसिंह युद्ध की तैयारी के पूर्व 'सौभाग्य सुन्दरी' से भेंट करता है। जिस भाँति नवीन मनोविज्ञान के अनुसार युद्धकालीन मातायें योद्धाओं की अजर अमर विभूति को अपने गर्भ में संजोकर रखने को रमणी को आलिंगन पाश मे बांध कर उसके साथ संभोग के लिए आतुर हो उठता है। यही मानसिक प्रक्रम नाटककार ने इन पात्रो के बीच दिखलाया है। यह मानसिक घटना कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाने में उपयुक्त प्रतीत होती है।

रत्नसिंह के 'ईष्या के भ्रम' ने एक और मनोवैज्ञानिक मोड़ कथावस्तु में दिया है। वह फ्राइडियन 'ईर्ष्या के भ्रम' की मनोवृत्ति से आक्रान्त होकर युद्ध से विमुख हो जाता है। रानी इसकी प्रतिक्रिया ये 'स्वपीड़क परितोप' के आधार पर 'स्वाक्रमण प्रबल आवेग' से आत्महत्या कर बैठीती है।[2] इस भाँति मनोविकृतियों के प्रेरक तत्वों से नाटक की कथावस्तु ओत प्रोत है। निदान, इस वर्ग के उक्त सभी नाटक मनोवि-कृतियों के प्रेरक तत्वों से अपनी कथावस्तु का विकास किए हुए हैं।

मानसिक संतुलनात्मक वर्ग

राधा—राधा भाव नाट्य की कथावस्तु मनोवैज्ञानिक है। भट्ट जी ने नारी प्रतीक राधा में मनोविज्ञान का चरम विकास दिखलाया है। राधा में मत्स्यागन्धा की भाति काम का न तो उच्छृंखल प्रवाह है और न मेनका की तरह हीनत्व कुण्ठा से उत्तेजित क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया का उद्वेग है। इस के अतिरिक्त उर्वशी की प्रतिहिंसा की प्रतिशोध ग्रन्थि भी उसमें नही है। वह नारी मनोविज्ञान का सच्चा प्रतीक है। उसके इड् की प्रकृतेच्छा का दमन तो हुआ है, पर वह दमित वासना को उदात्त (सब्लिमेट) रूप मे परिवर्तित कर बैठी है। उसमें स्वच्छ-न्दता है किन्तु पूर्ण आत्म-नियन्त्रण के साथ। उसमें पुरुष के प्रति आत्म-समर्पण है पर तादात्म्यीकरण के साथ। उसमें इड् का अतृप्त विप्लव है लेकिन उदात्तीकरण के साथ। वह समझती है कि काम का उन्मुक्त प्रवाह केवल मनोविकार की जड़ है। नारी को

१—नव नाटक निकुंज—सम्पादक—चन्द्रमौलि शुक्ल—पृ० सं० ५३, ५४

२—राजसिंह—आचार्य चतुरसेन—पृ० सं० १२२

इस मनोग्रस्तता से छुटकारा पाने के लिए काम का उदात्त रूप अपनाना अपेक्षित है। भट्ट जी के इन चारों नारी प्रतीको मे फ्राइडियन काम प्रवृत्ति का विशद विवेचन है। काम के स्वच्छन्द प्रवाह के परिणाम मत्स्यगन्धा और मेनका के मनोग्रस्त एवं अस्त-व्यस्त जीवन समाज में वर्तमान है। होमरलेन की काम के क्षेत्र मे उदात्त वाली उपपत्ति राधा भारतीय नारी में शंखनाद कर रही है। वह सामाजिक अहं के बन्धन तोड़ चुकी है परन्तु व्यभिचार के लिए नहीं। वह एकाकी स्वच्छन्द परिभ्रमण पसन्द करती है लेकिन पुश्चली एवं स्वैरिणी बनने के लिए नहीं। उसमें हैवलाक् एलिस के आत्म नियन्त्रण का संबल है। यौन पवित्रता को ही एलिस महोदय आत्मनियन्त्रण मानते है। उनके मत में कभी-कभी इसमें संयम भी आ जाता है, पर इसमें इन्द्रिय तृप्ति भी रहती है। इस का सार यह है कि मानसिक आवेग को हम एक सामंजस्य युक्त तथा ऐच्छिक ढंग के अन्दर ग्रहण करते है।[1] राधा का अन्तर्द्वन्द्व पुकारता है कि वह कुछ चाहती है पर न मालूम क्या चाहती है। पुनः कुछ नही चाहती लेकिन अन्तश्चेतना बरबस फूट पड़ती है कि कृष्ण एक तुम, एक वंशी को मैं सुनती रहूँ। मैं यह सब पाप के वशीभूत हो कर मांग नहीं करती प्रत्युत अनन्त, मतिबल शुद्ध सत्य के लिए ऐसा कर रही हूँ। यही राधा का सत्य आत्म नियन्त्रण का प्रतिरूप है। उसको कृष्ण के प्रेम के प्रतिदान की अभिलाषा नहीं। उसके लिए कृष्ण महान् विभूति हैं और वह एक लघु प्राणी है। यदि कृष्ण एक नदी हैं तो वह उसकी लहर केवल बनना चाहती है।[2] अर्थात् उसका यह मानसिक आवेग सामंजस्य युक्त ऐच्छिकता की अवतारणा कर रहा है जो पातिव्रत का एक पुनीत पर्व है जिस में आत्मनियन्त्रण संयम स्वभाव से विलीन हो जाते हैं। फलतः इस भाव नाट्य में कथावस्तु का विकाश मानसिक संन्तुलन के आधार पर हुआ है।

१—यौन मनोविज्ञान—हैवलाक् एलिस—पृ० सं० २९७—२९८

२—चाहती क्या चाहती हूं, कुछ नहीं पर चाहती हूं।
एक तुम हो, एक वंशी, मैं सुनूं, सुनती रहूं,
है न मुझ में पाप कोई, शुद्ध तत्य, अनन्त अतिबल।। पृ० सं० ९८

० ० ०

राधा—चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके
वे महान् विभूति मैं लघु, वे सरित में लहर उनकी
राधिका के प्राण माधव राधिका के प्राण—पृ० १२३-१२४

काम प्रवृत्यात्मक वर्ग

★

"पत्थर में प्राण"—मिश्र जी के 'पत्थर में प्राण' एकांकी में मनोवैज्ञानिक कथावस्तु है। प्रधान शिल्पकार त्रिलोचन का ऊर्ध्वगमन एवं मानसिक नियतिवादिता और दन्ति दुर्ग का इड् तथा हेत्वारोपण आदि मनोवृत्तियों की विषय वस्तु मानसिक घटनायें बनाने में तत्पर हुई हैं।

चम्पक माला महारानी भवनागा की प्रधान प्रतिहारी की पुत्री है जिसको महारानी त्रिलोचन को पूर्ण समर्पित करने की दृष्टि से भेजती है, किन्तु स्पष्ट में मनोविनोद के लिए उसका भेजना बतलाया जाता है। यही मानसिक उपक्रम हेत्वारोपण मनोवृत्ति की घटना से कथावस्तु को विकसित करता है। त्रिलोचन उसके सौंदर्य पर मुग्ध है लेकिन कैलाशनाथ के मन्दिर का निर्माण उसके समक्ष प्रथम है जिसमें अपनी कला को प्रस्फुटित करने की लगन उसे कचौट रही है। त्रिलोचन का अचेत मन काम की अतृप्ति दमितेच्छाओं को अपने में छिपाए हुए हैं पर प्रत्यक्ष में वह और कुछ हैं। फलतः काम का पर्युत्थान होता है। वह चम्पक माला के संगीत से अपनी कला और कल्पना को उद्दीपित करता है। चम्पक माला के प्राण पत्थर बना दिए जाते हैं, उधर मन्दिर के पत्थरों में प्राण डाला जाता है। अर्थात् कला का उद्दाम भाव चम्पकमाला के इड् को नहीं उठने देता प्रत्युत उसमें नैतिकाहं का पूर्ण आधिपत्य दृष्टिगत होता है। वह सात वर्ष तक इसी मानसिक ग्रन्थि का सहारा लेकर पत्थर की मूर्ति की भांति सरस्वती बनी रहती है किन्तु उसके अज्ञात मन में काम का अबाध प्रवाह है जो त्रिलोचन पर पूर्णतया न्यौछावर हो चुका है।

कैलाशनाथ का मन्दिर पूरा होने के उपरान्त त्रिलोचन और चम्पक माला का संयम शिथिल पड़ जाता है। इर्स[illegible]ण्य युवराज का इड् चम्पकमाला का हेत्वारोपण के सहारे अपहरण करके, यह तु ब[illegible]लाता हुआ भागता है, कि चम्पकमाला को सात वर्ष के अग्नि कुण्ड में फेंक रखा है, मैं इसे अब संतुष्ट करूँगा।

चम्पक माला के इस अपहरण में युवराज आनुवंशिक पूर्व प्रवृतिगत माँ भवनागा की मनोग्रन्थि से ग्रसित है। भवनागा भी कृष्णराज के साथ इड् से आन्दोलित होकर विवाह के समय भागीं थी। नाटककार ने इस मनोवृत्ति को मानसिक नियतिवाद के आधार पर इस कथावस्तु में स्थान दिया है।

चम्पकमाला को त्रिलोचन ने सरस्वती मानकर पूजा है, फलतः उसमें काम का पर्युत्थान पाया जाता है। उसमें मानसिक नियतिवादिता है। वह अपने नैतिकाहं की पुष्टि के लिए यह हेत्वारोपण प्रस्तुत करता है कि चम्पकमाला तीन दिन दन्ति

दुर्ग के यहाँ रही, अतः यह मेरे योग्य नहीं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैसे यह काम उसे उसका नैतिकाहं नहीं करने दे रहा, परन्तु इसका हेतु वह चम्पकमाला की अपवित्रता में ढूंढता है । त्रिलोचन की मानसिक नियतिवादिता की मनोग्रन्थि का प्रस्फुटन उस समय पूर्णतया स्पष्ट विदित होता है जब चम्पकमाला ने यह बतलाया है कि उसने पार्वती के स्थान पर उसकी पूजा की थी, अतः वह उसका भोग पहले से ही नहीं करना चाहता था । निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि एकांकी की सम्पूर्ण कथावस्तु में मानसिक कामात्मक नियतिवाद की मनोवृत्ति का सम्यक् निर्वाह हुआ है ।

'खण्डहर'—इस एकांकी में युंगीय समष्टि व्यष्टि अचेतन का आन्तरिक संघर्ष है और इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति मे फ्राइडियन प्रत्यावर्त्तन की झलक है । वैसे पूरी विषयवस्तु फ्राइड की काम प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है । नन्दलाल और मकबूल अहमद दोनों ही यौन विकृति से उद्विग्न हैं । भरी जवानी में मकबूल अहमद का सच्चा प्रेम नरगिस से था । किन्तु सामाजिक वैषम्य ने न गिस को मुबारक अली खाँ की बीबी बना डाला । इसी प्रकार नन्दलाल का पूर्णतया झुकाव नलिनी की ओर था जबकि वह भी स्व० नारायण की धर्मपत्नी बनी । ये दोनों एक दूसरे से अपनी लगी की कहानी कहते रहे पर वैवाहिक बन्धन में ये चारों बंध गये । मकबूल अहमद और नन्दलाल क्योंकि काम विकृति से ग्रस्त थे । अतः उन दोनों की पत्नी भी चिड़चिड़ी बन जाती थी । संयोग से मकबूल अहमद का जिस अपनी प्रेयसी नरगिस से सम्बन्ध रहा था वह उसी प्रेस के मालिक खाँ साहब मुबारक अली खाँ की पत्नी थीं जिसके यहाँ फ्रूफरीडरी का काम पन्द्रह वर्ष से वह कर रहा था । नन्दलाल भी अपनी प्रेमिका नलिनी के पति स्व० नारायण के कार्यालय में काम कर रहा था । इस मनोविकृति का भण्डाफोर तब हुआ जब ये चारों खानाबदोशों का नाच गाना देखने के लिए आये । नन्दलाल के दफ्तरी 'युसूफ' ने इन अव्यक्तमन की अतृप्त दमितेच्छा को उभारा । उधर अमीना ने यही दबी घुटी वासना नरगिस और नलिनी में जागृत की । यहीं से प्रत्यावर्तन के लक्षण इन सब में प्रादुर्भूत हुए ।

मैमूना—इड् की स्वच्छन्दता के फलस्वरूप कभी कभी विवाह किसी से सम्पन्न होता है और शारीरिक सम्बन्ध किसी ओर से । 'मैमूना' एकांकी की कथावस्तु इसी काम विकृति पर आश्रित है ।

'आमना' का उन्मुक्त काम समाज की सीमाओं का उल्लंघन कर क्रमशः साजिद, अरशद और माजिद पर भागा भागा डोला है । आमना ने एक के साथ विवाह किया है तो दूसरे से यहाँ तक लगाव रखा है कि बच्चा भी उसी के सम्पर्क से रह गया है । एक के बाद एक के साथ विवाह करके उसने शारीरिक सम्बन्ध

दूसरे से ही रखा है। यही काम की उन्मुक्तता कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बना पाई है।

पापी—अश्क जी के 'पापी' एकांकी में काम प्रवृत्ति का दूसरा रूप पाया जाता है। 'शान्ति' की पत्नी 'छाया' राज्यक्ष्मा से इसलिए पीड़ित है कि वह अपने पति को अपनी छोटी बहिन 'रेखा' से सम्पर्क स्थापित करते हुए देख लेती है। वह जब शान्ति को अपने वश में नहीं कर पाती तब स्वपीड़क परितोष मनोवृत्ति से उसमें यह रोग बढ़ जाता है और मरणासन्न स्थिति में भी वह खिचड़ती हुई वहाँ पहुँच जाती है जहाँ शान्ति और रेखा दोनों अठखेलियाँ कर रहे थे। वह यह सब देखकर पर्दा डाल देती है और इसी मानसिक घुमड़न में उसकी मृत्यु हो जाती है। नाटक-कार ने इसी कामात्मक कुण्ठा से एकांकी की कथावस्तु को निर्मित किया है।

आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरणात्मक वर्ग

"छटा बेटा"—अश्क जी का 'छटा बेटा' नाटक मानव की उस आकांक्षा का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती। पं० बसन्तलाल का पुत्र दयालचन्द उनके समक्ष नहीं है इस कारण वे अपने अवचेतन मन में इस विचार को धारण किये हुए हैं कि यदि उनका यह छटा बेटा यहाँ होता तो अवश्य उनकी सेवा करता जबकि यथार्थ में उनके स्वभाव के कारण ऐसा नहीं हो पाता। इस दृष्टि से नाटक का आधार भूत तत्व सूक्ष्म हेत्वाभास ही प्रतीत होता है।

प्राय: हेत्वारोपण में चेतन मन अचेतन मन के वशीभूत होता है। उसमें औचित्य सिद्धि के हेतु सर्वदा मिथ्या हुआ करते हैं। बसन्तलाल में यही मानसिक प्रक्रम विद्यमान है। यह हेतु बसन्तलाल जागृतावस्था में उपस्थित नहीं करते प्रत्युत स्वप्न में इसकी अभिव्यक्ति होती है।

फ्राइड से पूर्व के० ए० शर्नर ने स्वप्नों का प्रादुर्भाव शारीरिक उद्दीपनों से सिद्ध किया है।[1] बसन्तलाल के स्वप्न में अपने बेटे हंसराज, हरिनाथ, देवनारायण, कैलाशपति, गुरुनारायण और दयालचन्द आन्तरिक उद्दीपन में सहयोगी हुए हैं। तात्पर्य यह है कि हम स्वप्नों के आधार भूत कारणों के मूल में जाग्रत अवस्था का अनुभव, सुषुप्तावस्था के शारीरिक विकार, मानव की दमितेच्छायें, अभ्यास का प्रतिकार और अन्तस् आदेश पाते हैं। प्रात: ये कारण अचेतन मन में अन्तर्निहित हो जाती है और इन गुप्त एषाओं को व्यक्त करने के लिए स्वप्न में अचेतन मन प्रयत्नशील होता है।

१—मनोविश्लेषण—फ्राइड (हि० सं०) पृ० १३०, १०८, १९८, १९९

मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० बसन्तलाल का स्वप्न में अपने छठे बेटे की वापसी देखना उनके अवचेतन मन की इच्छाओं का अमूर्त रूप है। जीवन में जिन वस्तुओं अथवा प्रिय व्यक्तियों को पाने की इच्छा प्रायः हमारे अवचेतन मन में दबी छिपी रहती है, हमारे स्वप्नों में वे ही वस्तुयें अथवा व्यक्ति प्रायः अपने धुंधले रूप में हमारे सम्मुख आ उपस्थित होते हैं और हमें ऐसा भास होने लगता है, जैसे हमने उन्हे सचमुच ही छिपा लिया है।

अपने छठे बेटे दयालचन्द द्वारा सुख प्राप्ति की अतृप्त इच्छा पण्डित जी के अवचेतन मन मे छिपी हुई थी, वही इच्छा अमूर्त्त रूप में स्वप्न द्वारा साकार होकर थोड़ी देर के लिए पण्डित जी को वह सुख पहुँचा देती है जितनी आकांक्षा पण्डित जी को..............अपने यथार्थ जीवन में थी। और पण्डित जी को (स्वप्न में ही सही) वह सुख मिल जाता है, जो उन्हें जीवन में कभी न मिल सकता था, क्योंकि दयालचन्द यदि लापता न भी होता और बराबर उनके सामने ही बना रहता, तो वह भी अन्त में अपने अन्य भाइयों की तरह अपने पिता की ओर से मुँह मोड़ लेता।[1] पं० बसन्तलाल को यही हैत्वारोपणात्मक स्वप्न आता हैं। यद्यपि वे दयालचन्द का हेतु अपनी आत्मतुष्टि के लिए असाधारण किये हुए हैं, जिससे उनके आन्तरिक द्वन्द्व की अवस्थिति स्वप्न में आ झाँकती है। लेकिन वास्तव में उनका व्यवहार ऐसा है जो छठा बेटा भी उनका न होता।

वैशाली में बसन्त—मनोवैज्ञानिक कथावस्तु प्रधान ऐतिहासिक नाटक 'वैशाली में बसन्त' की मानसिक घटनाएँ सेनापति वीरभद्र के कामोन्नयन, अम्बपाली नगरवधू की हीनत्व कुण्ठा के विकसित रूप क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया, रोहित के हैत्वारोपण, देवदत्त के निषिद्ध संभोग और जयन्ती के आदेशात्मक एवं प्रतीकात्मक स्वप्न पर पूर्णतया अवस्थित हैं। इन्हीं पात्रों की मानसिक अवस्थिति ने नाटक की कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाया है।

वीरभद्र का अम्बपाली के स्पर्शमात्र से ही आत्मभर्त्सना करके काम के उदात्तभाव की ओर प्रवृत्त होना कथावस्तु को उदात्तीकरण की तरफ अग्रसर करता है। 'चन्ड' के विषभुजे बाण की सोने की नोंक के चुभने से वीरभद्र की मृत्यु में चन्ड की प्रतिशोध ग्रन्थि ने कथावस्तु में मनोवैज्ञानिक मोड़ दिया है। चन्ड का अपने अहं की दृढ़ता के कारण वीरभद्र के पक्ष द्वारा मरने की अपेक्षा स्वआक्रमण प्रेरणा-वेग मनोवृत्ति वश आत्म हत्या करना भी कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक बनाने में अच्छा योग देता है। काम के ऊर्ध्वगमन के अनुयायी वीरभद्र जब रथ पर बैठकर अज्ञात

१—छठा बेटा—उपेन्द्र नाथ अश्क—(विवेचन) पृ० सं० १४

वास के लिए तत्पर होते हैं और अम्बपाली रथ के आगे लेट जाती है तब अहं निसर्ग वृत्तियाँ और काम द्वन्द्व वश्यता का विलक्षण मानसिक द्वन्द्व कथावस्तु को मानवीय मनोविज्ञान के अतिनिकट पहुंचा देता है। रोहित के साथ रम्भा का गठ बन्धन होने पर भी वर्तमान भौम की पुत्री जयन्ती का रोहित द्वारा, इस हेतु को देकर वरण करना कि जयन्ती उसके पिता की वाग्दत्ता पत्नी है—कथावस्तु को हेत्वारोपण की ओर प्रेरित करती है। इस हेत्वारोपण में मानसिक नियतिवादिता के दर्शन पाये जाते हैं।

मानववादी एवं सांस्कृतिकतावादी मनोविश्लेषणात्मक वर्ग

★

कामदा—अश्क जी ने इस एकांकी में काम प्रवृत्ति की स्वच्छन्दता, काम और अर्थ का समन्वय और "आत्मरति" की काम विकृति को दिखलाया है। सम्पूर्ण कथावस्तु इन्हीं मनोविकृतियों से व्याप्त है। कामदा सच्चा प्यार मुकुन्द को करती है, किन्तु अर्थहीन विवाह को वह विवाह नहीं मानती। वह कान्त के साथ विवाह और मुकुन्द के साथ रहकर काम की दृष्टि चाहती है।

कामदा के पिता दीवान साहब कान्त से कामदा का विवाह नहीं होने देते। उसमें मनोविकृति के कारण आत्म-प्रेम प्रबल हो उठता है। वह काम विकृति वश कह उठती है।

"मैं केवल अपने आप से प्रेम करती हूँ।[1]"

इस आत्म-प्रेम के शिथिल होने पर वह इड् की स्वच्छतावश मुकुन्द की ओर अधिक झुक जाती है और उसका उसके साथ गठबन्धन भी हो जाता है। किन्तु वह छोड़ना कान्त को भी नहीं चाहती, क्योंकि अर्थ की सहायता उसे वहां से मिल सकती है। इस प्रकार नाटककार ने इस एकांकी को कथावस्तु का विकास काम और अर्थ के सामंजस्य में दिखलाया है। जिसमें इड् की स्वच्छन्दता अर्थ से मेल करती हुई पायी जाती है। डा० एरिक फ्राम की सामाजिक आवश्यकता वाले अर्थ की कथावस्तु में महत्वपूर्ण योग मिलता है।

रीढ़ की हड्डी—प्रस्तुत एकांकी में जगदीशचन्द्र माथुर ने डा० केरेन हार्नी के सांस्कृतिकतावादी मनोविश्लेषण (कल्चरलिस्ट साइकोऐनालिसिस) को 'उमा' में दिखलाया है। 'उमा' में हार्नी का आत्मत्व (सेल्फ) है। उसमें हार्नी का चरित्र संगठन है। प्रायः सुसंगठित तथा समन्वित सामाजिक जीवन के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं। फलतः भावना ग्रन्थियां जड़ पकड़ जाती हैं।

१—पक्का गाना—उपेन्द्रनाथ अश्क—पृ० सं० १५४

उमा में यही भावना ग्रन्थियां आन्तरिक द्वन्द्व बना बैठी हैं। उसके इस आन्तरिक द्वन्द्व को 'ग्राह्—त्याज्य—द्वन्द्व' (एडियन्ट एवायडेन्ट कानफ्लिक्ट) कह सकते है। इसमें दो पारस्पर विरोधी प्रतिक्रियायें होती है, एक ग्राह्य और दूसरी त्याज्य। ग्राह्य का विषय, कार्य अथवा उत्तेजना हमारी पूर्व निर्मित मनः शक्ति प्रेरणा, तथा मूलवृत्ति के मानसिक ढाँचे के अनुकूल होती है। और त्याज्य की प्रतिक्रिया इसके प्रतिकूल होती है।

"रीढ़ की हड्डी" एकांकी की कथावस्था इसी ग्राह्यत्याज्य द्वन्द्व से विकासोन्मुखी हुई है। इस आन्तरिक संघर्ष को डा० करेन हार्नी के चरित्र संगठन से उत्तेजना प्राप्त है। राम स्वरूप अपनी पुत्री उमा का विवाह, गोपाल प्रसाद के पुत्र शंकर के साथ करने के अभिलाषी हैं। शंकर की कमर झुकी हुई है वैसे उसके पिता की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है। शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा शंकर में चरित्र सौंदर्य और भी हीन है। उमा का चरित्र संगठन सुष्ठु प्रकारेण हुआ है। अतः उसमें मनोविकृति लेशमात्र भी नहीं। इसी चरित्र बल से वह ग्राह्य त्याज्य द्वन्द्व में कामान्ध होकर किंचित् भी नहीं बहकती वरन् कुछ समय मौन धारण कर सब सुनते हुए भी कुछ नहीं कहती, और अन्त में शंकर की मनोविकृतियों का भण्डाफोर कर डालती है। और उसे अपना जीवन साथी बनाने के लिए निषेध कर देते है। यद्यपि उसने त्याज्य को छोड़ दिया परन्तु उसके इस आन्तरिक संघर्ष में ग्राह्य पक्ष की विजय होते हुए भी उसकी प्रसन्नता सिसकियों में परिणित हो जाती है, क्योकि इससे उसके माँ बाप को दुखः पहुंचने की सम्भावना थी। इस प्रकार सम्पूर्ण कथावस्तु में चरित्र संगठन और ग्राह्य त्याज्य द्वन्द्व का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

प्रतीभा का विवाह—मिस्टर मोहन की पुत्री 'प्रतीभा' का प्रेम 'महेन्द्र से है। उसके पिता भी महेन्द्र से उसका विवाह चाहते हैं। मि० वर्मा मिस्टर मोहन के साथी हैं। इन दोनों का साथ बहुत दिन से है। मि० वर्मा धनवान है। धन होने के कारण प्रतिभा का आकर्षण मि० वर्मा की ओर हो जाता है। और वह उसमें पिता का स्थानान्तर कर बैठती है। मि० वर्मा उसे अपनी भावी पत्नी के रूप में चाहने लगते हैं। प्रतिभा के पिता ऐसा करने के लिए निषेध करते हैं और उसका विवाह महेन्द्र के साथ निश्चित बतलाते हैं। प्रतिभा महेन्द्र के प्रति प्रेम को अपने भाई जैसा सिद्ध करके अधेड़ मि० वर्मा की ओर इसलिए झुक जाती है कि वह धनवान हैं। कथावस्तु में यही हेत्वारोपण, स्थानान्तरण, तादात्म्य, एलेक्ट्राग्रन्थि का रूपान्तर मानसिक घटना बनकर आया है। इस काम विकृति में डा० एरिक फ्राम की सामाजिक आवश्यकता के पूरक 'अर्थ' की मनोवैज्ञानिक उपपत्ति अपना उच्च

स्थान रखती है तभी प्रतिभा महेन्द्र युवक को त्याग कर मि० वर्मा से सम्बन्ध जुटा बैठती है जो अवस्था में उसके पिता के समान है।

एक साम्यहीन साम्यवाद—इस एकांकी में भी काम प्रवृत्ति और डा० एरिक फ्राम की अर्थ सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक मान्यता का प्राधान्य है। 'पार्वती' के उन्मुक्त इड् ने इसी धन की ओर आकर्षित होकर 'सुन्दर' युवक का साथ छोड़ कामरेड उमानाथ मिश्र को अपना लिया। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' अधिकांश में अर्थ और काम सम्बन्धी एकांकियों से सम्पन्न है। उक्त एकांकी की कथावस्तु इसी समन्वय का प्रतीक है।

शैतान—इस एकांकी की कथावस्तु काम और अर्थ का समन्वित रूप है। प्रायः अर्थ के बिना काम का स्वच्छन्द प्रवाह पंगु है। अतः फ्राइडियन काम प्रवृत्ति और डा० फ्राम की सामाजिक आवश्यकता का पूरक अर्थ, भुवनेश्वर के शैतान एकांकी में दोनों मिलते है।

हरदेव सिंह की स्त्री 'राजेन' पर आसक्त है। वह अपने पति से प्रेम केवल सामाजिक बन्धन के कारण करती है। जब वह देखती है कि 'राजेन' उसके पति हरदेव के स्थान पर बन्दी होने को स्वतः ही उद्यत है तो उसके इस अदम्य साहस पर वह विमुग्ध हो जाती है। नारी मनोविज्ञान के इस हैत्वारोपण में अर्थ की ओर हरदेव की स्त्री की गहरी दृष्टि है। वह 'राजेन' की ओर अर्थ के कारण अधिक आकर्षित प्रतीत होती है, क्योंकि अब वह अपनी स्टेट का स्वय अधिकारी है। हरदेव से अपनी स्टेट के सब अधिकार राजेन ने छीन लिए हैं। फलतः हरदेव पूर्णतया निर्धन बन चुका है।

सार्जेन्ट के साथ जाने के पूर्व 'राजेन' स्त्री की ओर जाकर उसके हाथों को अपने अधरों तक ले जाता है, किन्तु स्त्री का इड् काम और अर्थ में अन्धा होकर राजेन के गले में बाहें डलवा देता है। और वह उसके अधरों को चूमकर हतसंज्ञ हो जाती है।[1]

भुवनेश्वर प्रसाद से स्त्री की बेहोशी में अहं निसर्ग वृत्तियों और काम प्रवृत्ति के द्वन्द्व का अच्छा निर्वाह किया है। यही संघर्ष एकाकी की कथावस्तु को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बनाने में अत्युत्तम बन पड़ा है जिसमें अर्थ और काम का सामंजस्य है।

अपनी विश्लेषणात्मक वर्ग—'शैतान' एकांकी की कथावस्तु को एक स्थल पर सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान का भी संबल मिला है। सम्पूर्णतावाद पूर्णता को मानता है। खण्ड का वहाँ कोई अस्तित्व नहीं, क्योंकि खण्ड स्वयं पूर्ण नहीं होता

१—कारवाँ—भुवनेश्वर प्रसाद पृ० सं० ५८

किन्तु पूर्ण वह है जो खण्डों का अस्तित्व मिटाकर तथा अपने में एक रूप करके पूर्ण की संज्ञा देता है। किसी भी प्रकार का विचार अथवा भाव खण्डित नहीं होता, सब जगह पूर्णता ही पूर्णता है। यही पूर्णता राजेन के इस संवाद में मिलती है—

राजेन—मैं सृष्टि से भी पुरातन हूँ, मैं सन्त हूँ, मैं चित्त हूँ। मैं यदि सृष्टि बनाता तो उसे इतनी अपूर्ण न बनाता, मैं स्वयं जीवन हूँ, विश्वात्मा मेरी आत्मा का अंश है। मैं स्वयं विश्व की व्यापक आत्मा हूँ, क्योंकि मैं ही उसे पूर्ण बनाता हूँ।

राजेन अपनी आत्मा को पूर्णता का रूप देता है क्योंकि खण्ड का कोई अस्तित्व नहीं। भुवनेश्वर प्रसाद ने 'शैतान' एकांकी की कथावस्तु में जहाँ तक एक ओर मनोविश्लेषण के अर्थ और काम का पूर्ण निर्वाह किया है वहाँ एक झलक गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान की भी दिखलायी है जो एक मानसिक घटना बनकर कथा-वस्तु के विकास का कारण बनी है।

मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान नाटक

अहंकारात्मक वर्ग—'चरवाहे' एकांकी की 'रत्नी' में अश्क जी ने अनियन्त्रित इड् का आधिपत्य दिखलाया है। रत्नी के सामाजिक अहं की इड् पूर्णतया अवहेलना करता है। गोविन्द चरवाहे के निर्बन्ध जीवन से रत्नी प्रभावित है। गोविन्द के सामने उसकी 'कान्त' की काल्पनिक स्वच्छन्दता और 'राजा' का अदृश्य शौर्य किंचित् भी पसन्द नहीं। इसके इड् के तृप्ति गोविन्द द्वारा ही सम्भव प्रतीत होती है। 'कान्त' उसके इड् के इस प्रबल मनोवेग का विश्लेषण मनोविश्लेषण के ढंग से करता हुआ कहता है—

पंछी को पर लग गये हैं, वह अब बहुत देर तक घोंसले में नहीं रहेगा।[२]

'कान्त' का यह मनोविश्लेषण अक्षरशः सत्य बैठता है, और रत्नी परिवार की आँख बचाकर एक दिन गोविन्द चरवाहे के साथ ट्रेन में बैठकर भाग जाती है। अश्क जी ने इड् की उन्मुक्तता का उत्कृष्ट उदाहरण रत्नी के चरित्र में दिखलाया है।

रंग और रूप—"रंग और रूप" रूपक में सिद्धनाथ कुमार ने माइकेल एंजिलो को मनोवैज्ञानिक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। काम के पर्युत्थान में एंजिलो कलाओं को अपनी पत्नियाँ सिद्ध करता है—

१— ,, ,, पृ० सं० ४७, ५०, ५२ ५४

२—चरवाहे—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—पृ० सं० ४१

एंजिलो—पगली हो तुम, मेरी शादी कला से, कला से नहीं, कलाओं से हुई है ।[1]

एंजिलो में यह कामोन्नयन है ।

कादम्ब या विष—डा० रामकुमार वर्मा ने इस एकांकी में इड् का निरंकुश शासन अनन्तदेवी में दिखलाया है । बहुधा इड् में जीवन मरण प्रवृत्तियों का संघर्ष चला करता है ।[2] अनन्तदेवी के इड् मे यही संघर्ष पाया जाता है । जब स्त्री का आत्म समर्पण पुरुष के मनोविज्ञान का अंग बनता है तो जीवन मृत्यु के सामने घुटने टेक देता है ।[3] डा० वर्मा का यह मनोवैज्ञानिक तथ्य अनन्तदेवी के संवादों में मिलता है—

अनन्तदेवी—मैं अपना कार्य उसी भाँति कर सकती हूँ जिस प्रकार अंगारों से अपने आप ज्वाला उठ जाती है ।[4]

यह अनन्तदेवी के इड् में 'जीवन-मरण प्रवृत्ति' का संघर्ष है । उसमें मैसोचिज्म के लक्षण विद्यमान हैं । वह अपने प्रियतम कुमारगुप्त को पीड़ा देकर ही मैथुनिक तृप्ति में विश्वास करती है । अन्त में अपने पति को विष देकर हत्या कर देती है । इस मनोवृत्ति से उसमें 'स्वमरण प्रवृत्ति' 'परमृत्यु' में परिवर्तित दीखती

विनाशात्मक प्रवृत्ति से पूर्ण इड् से आन्दोलित होकर अनन्तदेवी अपने आप को राक्षसी मानती है ।[5] प्रायः इड् का साम्राज्य विलास एवं विनास का प्रेरक होता है । अनन्तदेवी का इड् स्वयं अट्टाहास करता हुआ इसकी सिद्धि करता है—

अनन्तदेवी—स्कन्द कहता है कि मगध का शासन विलास की छाया में नहीं हो सकता । मैं कहती हूँ कि मैं विलास की छाया में ही मगध का शासन करूँगी ।[6]

तात्पर्य यह है कि अनन्तदेवी ने विलास और विनाश के लिए ही अपने इष्ट प्रिय की बलि चढ़ा दी ।

मानसिक नियतिवादी वर्ग

नव प्रभात—विष्णु प्रभाकर ने इस नाटक में 'अशोक' पात्र के दोहरे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक ढंग पर की है । उसमें मुमूर्षात्मक मनोवृत्ति के कारण

१—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार (रेडियो नाट्य संग्रह) पृ० सं० ४
२—मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें—डा० पद्मा अग्रवाल—पृ० सं० २६
३—ऋतुराज—डा० रामकुमार वर्मा—(संकेत) पृ० सं० ३
४— ,, ,, ,, १२
५— ,, ,, ,, ३३
६—ऋतुराज—डा० रामकुमार वर्मा—(संकेत) पृ० ३९

आक्रमण प्रवृत्ति बल पकड़ गई है। संघ मित्रा द्वारा उसकी इस मानसिक कुन्ठा का स्पष्टीकरण इस प्रकार मिलता है—

. **संघ मित्रा**—बचपन से आपको पहिचानती हूँ। राजगद्दी भी तो आपने बड़े भइया सुशीम से सिर का सौदा करके जीती है, औरों की भाँति विरासत में नहीं आई।

अशोक—(छटपटाकर) गद्दी की तो यहाँ कोई चर्चा नहीं थी, संघमित्रा।

संघमित्रा—गद्दी तो गौण है, भइया। चर्चा आपके स्वभाव की है। कुमार को प्राणदण्ड देकर आपने राजसत्ता की ही नहीं, अपने स्वभाव की मर्यादा की भी रक्षा की है।[1]

इस प्रकार अशोक में स्वमृत्यु की भावना परमृत्यु में परिवर्तित हो चुकी है। उसमें रचनात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा विनाशात्मक प्रवृत्ति प्रबल है। उसकी जीवन मरण प्रवृत्ति ने उसको पर हत्या की ओर प्रेरित करके विक्षिप्त कर डाला है। फलतः उसमें विभ्रम हो उठता है। वह कभी सांकेतिक रूप में अपने हत्यारे हाथों को मलता है। और कभी संगीत के प्रिय स्वर भी उसे नर संहार का चीत्कार जैसे प्रतीत होते है।

अशोक—(सहसा कहीं आहट होती है, वह चौंक पड़ता है।) (चौंक कर) कौन। (कोई उत्तर नहीं) कोई नहीं, कोई तो था। (देखकर) ओह छाया थी, मेरी छाया। मैं समझा कोई सैनिक है।[2]

अन्त में इस विक्षिप्तता की मनोदशा के उपरान्त मानसिक संतुलन के लिए उसमें जिजीविषात्मक प्रवृत्ति प्रेम के रूप में नाटककार ने दिखलाई है।

कलिंग विजय—इस (एकांकी) में जगदीशचन्द्र माथुर ने पात्रों का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया है। एकांकी का 'अशोक' मुमूर्षात्मक एवं आक्रमण' प्रवृत्ति से ग्रसित है। उसमें जिजीविषात्मक मूल प्रवृत्ति और जीवन मरण प्रवृत्ति का सम्मिश्रण है। इन विरोधी तत्वों के समन्वय में आन्तरिक द्वन्द्व का भी मनोवैज्ञानिक उपक्रम एकांकी में वर्तमान है। अशोक के महामात्य की पुत्री 'रेखा' में आत्महीनता ग्रन्थि है। वह स्त्री मात्र का प्रतिनिधित्व करती हुई अशोक की जीवन संगिनी बनकर पुरुष वर्ग को अपने हाथ की कठपुतली बनाने की अभिलाषिणी है। उसकी हीनत्व कुण्ठा का उन्नयन क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया में पाया गया है। यद्यपि अशोक स्वयं स्वभाव से मुमुर्षात्मक प्रवृत्ति के कारण विनाश की ओर झुक गया है।

१—नवप्रभात—विष्णु प्रभाकर—पृ० सं० ३९, ४०

२—नव प्रभात—विष्णु प्रभाकर—पृ० सं० २६, २७

लेकिन उस प्रवृत्ति को उत्तेजित करने का एक मात्र श्रेय रेखा को है। वह अशोक के भाई सुशीम को तक्षशिला मे स्थानापन्न देखकर प्रसन्न है। 'बीतशोक' को उसने इसलिए निर्वासित कराया है कि अशोक उसका परामर्श मानता था। वह 'रेखा' के साथ बलात्कार का दोषी ठहरा कर देश से बाहर किया जाता है। ये षडयन्त्र केवल 'रेखा' की हीन भावना का ही था। वह अपनी असलियत स्वयं बखान करती है—

रेखा—रेखा पैदा हुई है, शासन करने के लिए—शक्ति के लिए सम्राट ? मेरी आत्मा में आंधी, भीषण आंधी चलती रहती है। ऐसी जबरदस्त आंधी चलती रहती है, जिसके आगे प्रेम के कोमल किंशुक ठहर नहीं सकते। मैं इस तूफान के बद्ध पर जीती हूँ।[१]

यह तूफान क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया ही है जो हीनत्व कुण्ठा का उदात्त रूप है। 'अशोक' के लिए 'रेखा' मनोविकृति का सन्देश लायी है। राजा के मानसिक रोग का उपचार हम कलिंग राजकुमारी में पाते हैं। वह छद्मवेष धारण कर गायका के गाने में ही राजा तन्मय हो जाता है। और अब गाना उसे स्वयं अपना जीवन इतिहास-सा ज्ञात होता है तो वह एक साथ सजग सा हो जाता है। मनो-विश्लेषण भी रोगी के अतीत में पड़े इतिहास की माँग करता है, क्योंकि अज्ञात मन में पड़ी हुई दमितेच्छायें चेतन मन पर आने से ही यह मनोविकार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। जब गाना समाप्त होता है तो गायका स्वयं मन्त्र मुग्ध हुए अशोक कें सामने से हटाना चाहती है, जबकि राजा सम्मोहित होकर ऐसा करने में असमर्थ है। रेखा उसे बार बार सावधान करना चाहती है, परन्तु वह और अधिक तन्द्रिल होता जाता है।

रेखा— आप उससे भीख माँग रहे है सम्राट।

अशोक—मुझे कुछ नहीं सूझ पड़ रहा है। रेखा..........जैसे रास्ता भूल गया हूँ।[२] इड् का प्रतीक रेखा निराश हो जाती है। अपना सब राज खुल जाने से वह राजा को छोड़कर चली जाती है मानो रोगी के मन से कुण्ठायें किनारा कर गई हों। रेखा के हटते ही राजा राजकुमारी से तादात्म्य करना चाहता है। वह सावधान होकर अपना भाई बना डालती है।

मनोविकृतियों के प्रेरक तत्व वाला वर्ग

चिलमन— इस एकांकी में 'किरण' और 'हरि' पात्र में मनोविकृति है। किरण और हरि के बीच में शशि का आना मनोविकृति का कारण बना है।

१—भोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर—पृ० सं० ६०
२—भोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर—पृ० सं० ५६

'किरण' शशि' को हरि के अधिक समीप देखकर मानसिक संतुलन खो बैठी है, और इस मनोग्रस्तता ने उसमें शारीरिक रोग बढ़ा दिया है। वह मरते मरते भी शशि को अपने जीवन के अन्धकार का कारण बतलाती है।

एकांकी में किरण हीनत्व कुण्ठा के कारण असमर्थ, विवश और चुपचाप अगणित अरमानों के ताने-बाने बुनती पाई जाती है। वह मानसिक घुमड़न से आक्रान्त होकर तन्द्रिल अवस्था में ऐसे भयंकर दृश्य देखती है जिन्हें फ्राइड ने अपने स्वप्नों की उपपत्ति में मृत्यु का सन्देशवाहक बतलाया है। वह मरती है पर मरते मरते भी अपनी मृत्यु का कारण सांकेतिक रूप में चिक रूपी (शशि) को अभिव्यंजित करती है। हरि का अज्ञात मन भी अपनी आत्म प्रवंचना को सबके समक्ष रख डालता है—

राधे—शशि ने पूछा है कि मैं यहाँ आ सकती हूँ।

हरि—(उन्माद के स्वर में) वह नहीं आ सकती। वह कभी नहीं आ सकती देखते नहीं मैंने चिक उतार दी है। मैंने चिक उतार कर फेंक दी है..........।[1]

अश्क जी ने हरि के अचेतन मन में छिपे हुए शशि के प्रति प्यार को चेतन मन पर लाकर मनोविकृति का निवारण किया है। यदि यह मनोग्रन्थि किरण के सामने ही सुलझ जाती तो मानसिक रोग से ग्रसित किरण की मृत्यु भी असम्भव थी।

रेडियो फैंटेसी 'अभिशप्त' में दो युगों की उपलब्धियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। नाटककार ने अश्वत्थामा को मनोवैज्ञानिक पात्र रूप रखा है, अश्वत्थामा अभिशप्त था, उसने प्रतिशोध वश द्रौपदी के पांचों पुत्रों की हत्या की, युद्ध में अवैध साधनों का प्रयोग किया, ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से सृष्टि चीत्कार कर उठी, पुनरपि उसने उस ब्रह्मास्त्र को उतरा के गर्भ के लिये लक्षित किया। फलतः उसे आत्म भर्त्सना करनी पड़ी। नाटककार ने इस रेडियो की अतिकल्पना में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आज तो यह समस्त वर्जनायें मनुष्य को मान्य हैं वह यह सब कुछ करते हुए भी मनोग्रस्त भले ही हो जाय पर उसे अश्वत्थामा की तरह अभिशप्त होकर भटकना नहीं पड़ता।

रेडियो नाटक में भाव और विचार भी मानव शरीर धारण कर प्राणवन्त बन जाते हैं और रंगमंच पर अस्वाभाविक लगने वाले मानवीकृत जड़ पदार्थ भी चेतन बन उठते हैं।[2] रेडियो रूपान्तर ममता में नाटककार ने खण्डहर और यात्रा के संवादों में रह मनोवैज्ञानिकता ला दी है। ममता में अतीतानुभूति के स्मृति दृश्य भी मनोवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं।

१—चरवाहे—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० १२७
२—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार—प्राक्कथन

रेडियो नाटक "वे अभी भी क्वारी है" में सिद्धनाथ कुमार 'माधव' पात्र को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बनाया है। माधव कवि में समष्टि व्यष्टि अचेतन मन का अन्तर्द्वन्द्व है। इसी द्वन्द्व के कारण उसमें उन्निद्र रोम, विभ्रम और फ्राइग्रडियन आदेशात्मक स्वप्न के दर्शन होते है। रेखा, माधव को सोने के लिये कहती है किन्तु वह कहता है कि मुझे नींद नहीं आ रही और विभ्रम वश वह ऐसे स्वर सुनता है जिन्हें रेखा नहीं सुन पा रही। रेखा को नीद आ जाती है और तन्द्रिल अवस्था में माधव स्वप्न देखता है। दिवा स्वप्न की भाँति वह सोचता सोचता कल्पना लोक में डूब जाता है और स्वप्न देखता है कि वह महर्षि दुष्यन्त के आश्रम पर अपनी कल्पना के साथ पहुँच गया है। वहां प्रियवंदा और अनुसूया की अतृप्त दमित कामेच्छाओं के सांकेतिक रूप की झांकी उसे मिलती है। अनुसूया अपनी काम-कुण्ठाओं का मार्गान्तरीकरण, चित्र चित्रित करके कर रही है जो मनोग्रस्तता निवारण का प्रमुख सूत्र है। माधव कवि जब अनुसूया का मनोविश्लेषण करने को उपस्थित हुआ तो वह कहती है—

अनुसूया— लेकिन प्रसन्नता है कि तुमने मेरे अन्तर में हुई भावनाओं को पहचान लिया है।[1]

प्रियंवदा का अतृप्त दमित काम भाव तो माधव में दुष्यन्त का स्थानान्तरण पाता है तभी वह कहती है—

प्रियंवदा— शायद तुम प्रतीक्षा कर रहे थे कि कोई भौंरा हमारे मुख पर उड़ उड़ कर हमें सताये, तब तुम हमारी रक्षा के लिये प्रकट हो।[2]

अनुसूया तो साफ कह डालती है कि हमारी इच्छायें यहाँ घुट-घुट कर मिट रही हैं। फलतः वे दोनों माधव के साथ चलने को तैयार होती हैं और समष्ठि अचेतन भाव के एक साथ माधव के कानों में आते है कि ये अभी भी क्वारी हैं।

रेडियो रूपक "विजेता" में "अशोक" पूर्ण मनोवैज्ञानिक पात्र है। रेडियो में उपलब्ध मनोवैज्ञानिक चित्रण की सुविधा के द्वारा अशोक के महान व्यक्तित्व की व्याख्या रूपक में नये ढंग से करने की कोशिश की गई है।[3] अशोक में नाटककार ने दोहरे व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया बड़ी ही सफलता से प्रदर्शित की है। रूपक का प्रारम्भ इसी दोहरे व्यक्तित्व के विभ्रम में होता है। अशोक की महत्वाकांक्षा प्रतीक अहंकार अर्द्धरात्रि में उसको जगा देता है—

स्वर—अशोक ? सम्राट अशोक ? जागो सम्राट।

१—रेडियो नाटक शिल्प—सिद्धनाथ कुमार (वे अभी क्वारी हैं) पृ० १७५

२— ,, ,, पृ० १५४

३—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार—(प्राक्कथन) अन्तिम पृ०

अशोक—(जैसे नींद में हो) जागू ? मैं जागू । कौन जगा रहा है मुझे ।

स्वर—मैं जगा रहा हूँ तुम्हें । जागो ।

अशोक—कौन हो तुम ? मेरी निद्रा भंग करने वाले कौन हो तुम ।

स्वर—(हल्की हंसी) पहले आँखें खोलो, चेतना संभालो, तब पूछना ।

अशोक—(जैसे अच्छी तरह जग गया हो) यह क्या रहस्य है । निस्तब्ध वातावरण, कहीं तो कोई दिखाई नहीं देता । लेकिन, अभी कोई मुझे जगा रहा था ।

स्वर—हाँ, हाँ मैं जगा रहा था । इसमें चकित होने की क्या बात है । तुम मुझे देखते नहीं, पहचानते नहीं । (हँसी)

अशोक—हँसो मत । सामने आओ, परिचय दो ।

स्वर—अपना परिचय अपने से ही दिया जाता है ।

अशोक—तात्पर्य ।

स्वर—अपने को पहचानो अशोक । मैं अशोक हूँ । तुमसे भिन्न नहीं । तुम्हारी आत्मा का अंश हूँ, तुम्हारा एक खण्ड हूँ । तुम्हारे बाहर से नहीं, भीतर से बोल रहा हूँ मैं । समझो ।[1]

अशोक मानसिक द्वन्द्व-वश्यता से प्रादुर्भूत दोहरे व्यक्तित्व की इस प्रेरणा को समझता है । और परस्पर विरोधी भाव प्रवणता से टक्कर लेता हुआ युद्ध करता है । इस मनोवृत्ति में भी उसकी मानसिक अवस्थिति द्वन्द्वात्मक ही रहती है । इसी द्वन्द्व में इड् की विनाशात्मक प्रवृत्ति धधक उठती है । एक ओर अशोक की आदर्शाहं ऐसा करने से रोकता है दूसरी ओर इड् का विध्वंसात्मक मानसिक प्रारूप आन्दोलित करता है और कहता है कि मगध पर तुम्हारा पूर्ण राज्य नहीं, क्योंकि कलिंग, जो कभी तुम्हारे मगध साम्राज्य का भाग था, अभी तुम्हारी सीमा के बाहर है । यह अन्तश्चेतना का स्वर अशोक को पुनः विचलित कर देता है और परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति के बावजूद अशोक कलिंग पर आक्रमण का आदेश दे देता है । पूर्ण आधिपत्य के उपरान्त पुनः आन्तरिक द्वन्द्व का ज्वार अशोक के अन्तस में आता है जिसमें नाटककार ने इड् की विनाश प्रवृत्ति पर नैतिकाहं की विजय दिखलाई है—

स्वर—यह तुम्हें क्या हो गया है । अशोक ? तुमने कलिंग को जीता है, तुम विजेता हो ।

अशोक—नहीं, वह मेरा जय घोष नहीं, तुम्हारा है, तुम्हारा, जो मेरे अन्तर के पशु हो, मेरे मन के दानव हो, जिससे हिंसा है, रक्तपात किया है, असंख्य

१—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार—पृ० सं० ८६, ६०

मनुष्यों के प्राण लिए हैं।[1]

बस, यहीं से अशोक के व्यक्तित्व का समष्टि अचेतन जागृत होता है जिसमें दया, करुणा, अहिंसा को प्रोत्साहित करने की शक्ति है। यह विरोधी प्रवृत्ति बौद्ध धर्म के उदात्त भावों में सन्निहित हो जाती है। रूपक में अशोक के अन्तर्द्वन्द्व का मानवीय चित्रण मनोवैज्ञानिक शैली पर अति सुन्दर बन पड़ा है।

मानसिक संतुलनात्मक वर्ग

"मछली के आँसू"—रेडियो रूपक संग्रह "मछली के आँसू" में श्रीकृष्णकिशोर श्रीवास्तव ने आन्तरिक द्वन्द्व को मनोवैज्ञानिक शैली में अभिव्यंजित किया है। नाटककार का कथन है कि मछली के आँसू पराई आंखों से नहीं दीखते, बहाने वाली आँखें ही उन्हें देख पाती हैं। इन आँसू वालों की व्यथा कोई नहीं जान पाता, उनकी प्रच्छन्न व्यथा, पराई आँखों में उल्लास का रूप ले लेती हैं।[2] इस संग्रह के सभी नाटक ऐसे हैं। प्रत्येक रूपक में एक या दो पात्र ऐसे हैं जिसमें व्यथा मरोड़ खाती मिलती है। 'मछली के आँसू" रूपक का कैलाश पात्र ऐसा ही है। अपनी पत्नी रानी के मरने पर उसमें आन्तरिक द्वन्द्व इतना बढ़ चढ़ गया है कि बातें करते करते वह रानी से वार्तालाप करता है। नाटककार ने रानी के संवादों द्वारा कैलाश को मानसिक द्वन्द्ववश्यता को और भी प्रबल बना दिया है। कैलाश के आँसू मछली के आँसू की भांति हैं जिन्हें वह स्वयं जानता है। 'लेखा' में उन आँसूओं के प्रति कुछ हमदर्दी है तथा वह उसकी पत्नी बनने को तत्पर है।

रेडियो रूपक 'आँख, आँसू और आग' में 'गीता' नर्स भी अपने अन्तस में मछली के आँसू संजोये बैठी है। वह अस्पताल के रोगियों की सेवा बड़ी लगन से करती है किन्तु चरित्र का ध्यान बहुत रखती है। सेवा-भाव में वह अपनी प्रच्छन्न व्यथा को भूल जाती है। यद्यपि डा० मगन और घायल सतीश का इड् नर्स गीता को अपने जाल पाश में बाँधने को प्रयत्नशील है तो भी वह अपने पति के समक्ष उन्हें कुछ नहीं समझता जबकि उसका पति जुआरी था और आफिस का दस हजार रुपया और जुआ में हार कर भाग जाता है। और अन्त में पागल अवस्था में अस्पतौल के बाहर मिलता है। गीता चाहते हुए सतीश में प्रतिगमन की मनोवृत्ति जागृत हुई पाई जाती है वह गीत को अपने साथ माँ का सा-व्यवहार करने को कहता है।

१—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार—पृ० सं० ९६ (रेडियो नाट्य संग्रह)

२—मछली के आँसू—श्री कृष्ण किशोर श्रीवास्तव—(विश्लेषण) पृ० ५

गीता जब पागल पति को पाती है तो वह अस्पताल छोड़कर उसके साथ हो लेती है। समाज उसे चाहे भ्रष्ट कहे किन्तु मछली के आँसू की भाँति उसके आँसुओं की जानकारी उसे ही है।

'टूटा हुआ आदमी' रेडियो नाटक में एक व्यक्ति की उलझी हुई मानसिक स्थिति का चित्र है। रेडियो नाटक में मनोवैज्ञानिक चित्रण की जो सुविधा है उसका इस ना.क में उपयोग करने का प्रयत्न है। पात्र की मानसिक उद्विग्नता प्रदर्शित करने के लए विभिन्न गूँजते हुए स्वरो की सृष्टि की गयी है।[1]

नाटककार ने 'विमल' पात्र को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना डाला है। विमल की मनोग्रस्ता के आधार दो हैं—प्रथम अपनी प्रेमिका शीला का दूसरे के साथ विवाह होना। दूसरा काफी पढ़ लिखकर भी बेकार घूमना। मनोग्रस्ता के दोनों आधारो को वह मन से निकालना चाहता हुआ भी नहीं निकाल पाता। इस मनोग्रस्तता ने उसे इतना कमजोर बना दिया है कि उसका जर्जर टूटा हुआ-सा विदित होता है।

विमल की बुढ़िया माँ चाहती है कि वह शादी कर ले तो उसका यह गुमसुम रहना बन्द हो जाय। वह एक फोटो भी दिखाती है और उसे बाध्य करती है कि इस लड़की के साथ शादी करले। विमल के समक्ष अतीत के स्मृति दृश्य आते हैं और लुप्त होते जाते हैं। किन्तु शीला की स्मृति को दबाता हुआ वह बुढ़िया मां की आज्ञा का पालन करता है और भेंट करने वालों के लिए नाश्ता का सामान लेने बाजार जाता है। यहाँ नाटककार ने उद्घोषक से कहलवाया है:—

> टूटा हुआ आदमी चलता है, शायद इसलिए कि कहीं जाग उठे
> अन्तर का वैज्ञानिक, और, आदमी फिर से जुड़ जाये
> उसको चलाने वाला ही उसमें सोया है, इसलिए शायद
> यह टूटा हुआ आदमी, रुकता नहीं, चलता चला जाता है।[2]

माथुर जी का 'कोणार्क' नाटक प्राचीन, नवीन नाट्यकला का अत्यन्त मनोरम सामंजस्य है। सहनशील विशु तथा विद्रोही धर्मपद में जैसे कला के प्राचीन और नवीन युग मूर्तिमान हो उठे हैं। विशु और धर्मपद का पिता पुत्र का नाता और तत्सम्बन्धी करुण कथा जैसे इतिहास के गर्जन में मानव हृदय की धड़कन भी घुल-मिल कर नाटक को मार्मिकता प्रदान करती है। धर्मपद में आधुनिक कलाकार का विद्रोह ही जैसे व्यक्तित्व ग्रहण कर लेता है।[3] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यहाँ यह कहा

१—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार—प्राक्कथन

२—रंग और रूप—सिद्धनाथ कुमार—पृ० सं० ६६

३—कोणार्क—जगदीश चन्द्र माथुर—(सुमित्रा नन्दन पन्त) पृ० ४

जा सकता है कि एक ही व्यक्तित्व के दो रूप विशु और धर्मपद में आकर घुलमिल गये हैं। पिता विशु का उदात्तीकरण पुत्र धर्मपद में तादात्म्य स्थापित करके पूर्णतया सफल ऊर्ध्वगमन कर बैठा है।

धर्मपद का जन्म क्वारी चन्द्रलेखा से हुआ था। जब धर्मपद चन्द्रलेखा के गर्भ में था तभी विशु उसको छोड़कर चला आया था। धर्मपद उन्नीस, बीस वर्ष की आयु का जब तक हुआ तब तक विशु ने कामोन्नयन से अनुप्रेरित होकर प्रधान शिल्पी का कार्य किया। नाटककार ने इस उदात्तीकरण का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है:—

विशु—तुमने अचानक ही एक भूली अंधेरी कोठरी में प्रकाश की किरण डाल दी।

मुकुन्द—वही मैं चाहता हूँ तुम्हारे भूले यौवन, भूले उत्साह, भूली प्रेरणा को ज्योतित करना जिससे कोणार्क अधूरा न रहे।

विशु—उसका वियोग मेरी कला का उद्गम हुआ, और मेरे हाथों का पत्थर उसी ताप से मुलायम होकर साकार सौन्दर्य हो चला। उस भग्न रागिनी का विषाद मेरी कला का वैभव था।[1]

इस कामोन्नयन के अतिरिक्त प्रधान शिल्पी विशु में कामात्मक फेटिशवाद पाया जाता है। वह चन्द्रलेखा द्वारा दिये हुए भुज बन्ध को अभी तक भुजा पर बांधे है जसको बीस वर्ष उपरान्त अपने मित्र मुकुन्द को वह दिखलाता है।[2]

जिस समय विशु को यह परिज्ञान हो जाता है कि धर्मपद उसकी प्रेयसि चन्द्रलेखा के गर्भ से पैदा है तब उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रहती, क्योंकि उसका स्थानान्तरण वह अपने पुत्र में पा लेता है। धर्मपद के बतलाने पर उसे ज्ञात होता है कि उसकी माँ चन्द्रलेखा विशु में अपार श्रद्धा रखती थी। नाटककार ने धर्मपद और विशु दोनों में चन्द्रलेखा का विभ्रम दिखलाया है—

धर्मपद—उसकी ओजमयी वाणी मेरे कानों में गूँज रही है—
आप सुन पाते हैं आर्य ?

विशु—(रुंधे कण्ठ से) मैं सुन पा रहा हूँ।[3]

इसी विभ्रम की किरणें उन दोनों को कोणार्क मन्दिर के निर्माण में सहायक हुई हैं। इस सम्बन्ध में विशु कहता है:—

१—कोणार्क—जगदीशचन्द्र माथुर (प्रथम अंक) पृ० सं० २५, २६, २७
२— ,, ,, ,, २८
३—कोणार्क—जगदीशचन्द्र माथुर (तृतीय अंक) ७०

विशु—(रुंधे कण्ठ से) मैंने भी इन्हें देखा है। मन्दिरों का निर्माण करते-करते कभी-कभी सहसा मेरी आंखों के आगे अंधेरा छा जाता था। उस अंधेरे में न तो मैं मूर्तियां गढ़ सकता था और न पत्थरों को जीवित कर सकता था। तभी तुम्हारी मां की मनोरम और तेजस्वी मूर्ति की झलक मिलती और उन किरणों से मुझे प्रकाश मिलता।[1]

इस प्रकार विशु और धर्मपद दोनों पात्र एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू प्रतीत होते हैं जो एक के हट जाने पर दूसरे का आना स्वभावतः हो जाता है। धर्मपद का अपने जीवन का बलिदान भी विशु के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक ज्ञात होता है।

काम प्रवृत्यात्मक वर्ग

'वत्सराज'—मिश्र जी का 'वत्सराज' मनोवैज्ञानिक पात्र प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक में उदयन के सम्बन्ध की घटनाओं का मनोवैज्ञानिक मानवीय और बौद्धिक रूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।[2] फलतः इस नाटक का 'उदयन' पात्र पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। महासेन में मानवीय मनोविज्ञान और वासवदत्ता एवं पद्मावती में नारी मनोविज्ञान स्वभावतः आ गया है।

उदयगिरि पर्वत पर जन्म लेने के कारण वत्सराज का नाम 'उदयन' पड़ा। उसकी जन्म कथा भी मानसिक कुण्ठाओं का प्रतीक ज्ञात होती है। जब सहस्नीक राजा ने अपनी गर्भवती रानी मृगावती से उसकी किसी प्रकार की लालसा के सम्बन्ध में पूछा जिसका कि प्रभाव मनोविज्ञान के अनुसार भावी राजपुत्र पर संस्कार गत अभावग्रस्तता के कारण पड़ सकता था तो वह किसी मनोग्रन्थि वश अपराध के सांकेतिक रूप में नर रक्त में, स्नान करने की मांग हँसी में राजा से कर बैठी। राजा ने इस मानसिक घटना का अर्थ मनोग्रस्तता से संबंधित माना और रानी के अचेतन मन में बसी अपराध ग्रन्थि के प्रति स्थापन के लिए उसे उदयगिरि पर्वत पर भेज दिया। रानी मृगावती ने महर्षि जन्मदाग्नि के आश्रम मे रहकर वहीं उदयन पुत्र को जन्म दिया। आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत अपनी मां मृगावती की भाँति मानसिक ग्रन्थियां उदयन में भी पायी गयी हैं। पर उनका परिशोधन काम तृप्ति द्वारा मार्गान्तरित हुआ है। तपोभूमि में रहने के कारण उदयन में तप और भोग का सुन्दर समन्वय है। नाटक के प्रारम्भ में उदयन बन्दीगृह में पड़ा। सर्व प्रथम काम के उन्नयन का प्रमाण प्रस्तुत करता है। महासेन और उसकी पुत्री वासवदत्ता के चाहते हुए भी वह काम

१— ,, ,, ,, ७३
२—वत्सराज—लक्ष्मीनारायण मिश्र—विभूति चिन्ता) पृ० ११

के उदात्तभाव से प्रेरित होकर उसे स्वीकार नहीं करता। वह अपने बल पौरुष से उसे अपहृत कर ही अपनी मानने को तैयार है। काम के ऊर्ध्वगमन के बल पर उसे विश्वास है कि महासेन की बहुत बड़ी सेना के बीच से भी वह वासवदत्ता का अपहरण कर डालेगा। इसी उदात्तीकरण का प्रतिरूप आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्तिगत होकर उदयन के पुत्र कुमार में प्रतिबिम्बित हुआ है। इस बोधि कुमार में काम का शोधन फ्राइड के अनुसार सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म निर्माण के निमित्त हुआ है। उदयन में कामोन्नयन तपोभूमि में रहकर तप के प्रभाव से आत्म संयमी बनने का परिणाम है। परस्पर विरोधी भाव प्रवणता से वह काम शोधक के बिल्कुल प्रतिकूल प्रतीत होता है और काम के संवेगों से समाविष्ट होकर वह वासवदत्ता को स्वप्न में भी देखता है। वासवदत्ता अपने संवाद में उदयन की अतृप्त दमित कामेच्छाओं का सांकेतिक रूप उसके स्वप्न में अभिव्यक्त करती हैं।

वासवदत्ता—यह समझ कर कि पद्मावती सो गयी है—मैं भी उसी पलंग पर लेटने लगा कि स्वप्न में आपके मुँह से अपना नाम सुनकर विह्वल हो गयी।[1] उदयन का स्वप्न में वासवदत्ता को बड़बड़ाहट के शब्दों द्वारा याद करना अव्यक्त मन में दबी कामेच्छाओं का प्रस्फुटन मात्र है। वासवदत्ता का स्वप्न में अपनी स्मृति पाकर आनन्द विभोर होना उदयन के अचेतन मन से परिचित होने का सूत्र वाहक है। इस भाँति उदयन में तप का उन्नत रूप और भोग की दमित साँकेतिकता व्याप्त रही है।

वासवदत्ता में मनोवैज्ञानिक पात्र की दृष्टि से अतृप्त दमित कामेच्छाओं का प्रबल मानसिक प्ररूप भूलों के मनोविज्ञान और हेत्वारोपण की मनोवृत्ति में सुस्पष्ट है। वह उदयन द्वारा प्रियतमा कहलाने की इच्छुक है।[2] तभी अचेतन मन की दबी घुटी अतृप्त काम वासना भूल से अपनी बात कहलवा देती है—

वासवदत्ता—आर्य पुत्र ? अरे क्या कह गयी मैं·······

उदयन—देवी ? भूल कर इस शब्द से मुझे पुकारा पर·······।[3]

यहाँ फ्राइडियन भूलों के मनोविज्ञान के अनुसार वासवदत्ता ने अपने अचेतन मन की सही बात कह डाली है। इसी प्रकार हेत्वारोपण का उदाहरण भी मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। वासवदत्ता के पिता चाहते हैं कि यदि और कोई साधन उदयन के साथ वासवदत्ता के विवाह का नहीं होता, तो उदयन वासवदत्ता का चोरी से अपहरण कर ले जिस प्रकार सुभद्रा का हरण अर्जुन ने किया था। यद्यपि इस कथन द्वारा

१—वत्सराज—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ७० (दूसरा अंक)
२— „ „ „ ५१
३— „ „ „ ५६

महासेन मृगावती को एक मार्ग वासवदत्ता के वरण का बतला रहे हैं किन्तु इस हेतु के सुनते ही वासवदत्ता भागने की इच्छा करती है।[1] जो हेत्वारोपण मनोवृत्ति से मेल खाती है। महासेन में मानवीय मनोविज्ञान और पद्मावती में नारी मनोविज्ञान का निर्वाह अच्छा हुआ है।

मेघदूत—भट्ट जी के 'मेघदूत' ध्वनि रूपक में यक्ष पात्र मनोवैज्ञानिक है। उसमें कामात्मक द्वन्द्व के कारण फ्राइडियन भूलों का मनोविज्ञान मिलता है। वह काम क्रीड़ा में अनुरक्त होकर शासन के कार्य की अवहेलना कर डालता है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अन्तश्चेतना की कोई मनोवृत्ति सजग होकर जब अपने किसी प्रिय कार्य में तल्लीन रहती है, तब उसे दूसरा प्रमुख से प्रमुख कार्य भी विस्मृत हो जाता है। यही चेतन अचेतन का द्वन्द्व विचारों में विप्लव मचा देता है। फलस्वरूप साधारण, असाधारण एवं आकस्मिक भूलों की उत्पत्ति हो जाती है। प्राय: असाधारण भूलें मानसिक संघर्ष के कारण होती हैं और यह आन्तरिक संघर्ष चेतन, अचेतन मन के पारस्परिक विरोध से होता है। जब अचेतन मन का अबाध प्रवाह चेतन मन को धर दबाता है तभी भूलें निर्बाध गति से निकल पड़ती हैं।

यक्ष में यही भूल कामात्मक द्वन्द्व के कारण पाई जाती हैं। चेतन का शासन के कार्य में जुट जाना चाहता है, परन्तु अतृप्त दमित कामेच्छाओं से परिपूरित अचेतन मन वासना तृप्ति चाहता है। फलत: वहां अहं निसर्ग वृत्तियों और काम प्रवृत्ति का द्वन्द्व हो जाता है। और यक्ष मानसिक संघर्ष के कारण शासन के कार्य से च्युत होकर कुबेर की दैनिक परिचर्या को भूल जाता है।[2] भट्ट जी ने इस ध्वनि रूपक में यक्ष के चरित्र-चित्रण द्वारा फ्राइडियन भूलों के मनोविज्ञान का सफल निर्वाह किया है।

चुम्बक—अश्क जी के 'चुम्बक' एकांकी में गौतम, गोपा, सरिता, गुणेन्द्र और असीमा प्रकृत काम से अनुप्राणित हैं। 'सरिता' का अनियन्त्रित इड् सामाजिक अहं की पूर्णतया अवहेलना कर चुका है। वह केवल 'गोपा' के हाथ से ही 'गौतम' को नहीं छीन पाई अपितु उसकी सहेली 'असीमा' भी अपने प्रिय को पाने के लिए इतनी छटपटाई कि वह उन्मादिन बन गयी। इतने पर भी सरिता ने उसके प्रिय गुणेन्द्र पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह उसी से विवाह प्रस्ताव कर बैठा। ऐसी स्थिति में 'असीमा' का प्रताड़ित अहं 'सरिता' के उन्मुक्त इड् का मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत कर बैठता है—

१— ,, ,, ,, ६८

२—मेघदूत—उदय शंकर भट्ट—पृ० सं० ४२

असीमा · तुम चाहे उससे विवाह न करो, पर तुम उससे खेलना अवश्य चाहती हो।[1]

"सरिता" के समान ही "गौतम" अपने निर्बन्ध इड् से आक्रान्त है, वह भी स्वच्छन्द होकर कभी किसी के साथ खिलवाड़ करना चाहता है तो कभी किसी के साथ। उसकी इस मानसिक स्थिति का स्पष्टीकरण गोपा के संवाद में मिलता है—

गोपा तुम 'सरिता' से सिर्फ खेल रहे हो, या फिर उससे नहीं तो मुझसे खेल रहे हो। और न जाने, और कौन कौन तुम्हारे इस भयानक खेल के खिलौने बने हुए हैं।[2]

निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि गौतम की उन्मुक्तता का अनुसरण सरिता और गोपा द्वारा हुआ है। पर सरिता उसमे तादात्म्य कर बैठी है, गोपा नहीं, उसमें आत्म संयम है।

गणेश प्रसाद द्विवेदी के 'सोहाग बिन्दी' एकांकी में 'प्रतिभा' 'विनोद' से गठबन्धन चाहती है। जब ऐसा नहीं हो पाता तब उसका दमित काम मानसिक रोग में परिवर्तित हो जाता है। जब इड् का अबाध प्रवाह अहं के वश से बाहर हो जाता है। तब प्रतिभा उन्मादिनी हो उठती है। अन्त में उसकी मृत्यु का कारण यही मानसिक रोग होता है।

द्विवेदी जी के 'वह फिर आई थी' एकांकी 'मनोरमा' अपने प्रकृत काम-वश अपने प्रेमी से मिलने जाती है। इसी भाँति 'दूसरा उपाय ही क्या है' एकांकी में भी द्विवेदी जी ने युवक और युवतियों के प्रकृत काम की स्वच्छन्दता दिखलाई हैं। उनके 'शर्मा जी' एकाँकी में एक डिप्टी कलेक्टर के छात्र जीवन में इसी काम प्रवृत्ति का प्रवाह है। 'तारा' में यही कामात्मक कुण्ठायें हैं, और 'आथाना' के वैवाहिक जीवन की गुत्थी इसी प्रवृत्ति पर आधृत है।

'सर्वस्व समर्पण' एकाँकी में द्विवेदी जी ने 'विनोद' और उसके मामा की लडकी 'निर्मला' में निषिद्ध प्रेम की इच्छा इड् की उन्मुकता के आधार पर दिखलाई है। उन्होंने 'कामरेड' में रमेश और रनजीत की आसक्ति 'शीला' पर दिखलाई है। इन तीनों का प्रकृत काम अपने अपने सामाजिक अहं की अवहेलना करता पाया जाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गणेश प्रसाद द्विवेदी के प्रतिभा, विनोद, मनोरमा, तारा, आथाना, निर्मला, रमेश, शीला और रनजीत पात्र सभी मनोवैज्ञानिक हैं।

१—चरवाहे—उपेन्द्र नाथ 'अश्क'—पृ० सं० ६६—६७
२— ,, ,, ,, १०७

'लमसेना'—श्री किशोर श्रीवास्तव के रेडियो रूपक 'लमसेना' में 'बेदी' और 'मोदी' दोनों ही मनोवैज्ञानिक पात्र हैं। ये दोनों पात्र काम प्रवृत्ति से अनुप्रेरित पात्र हैं। 'बेदी' 'मोदी' से विवाह चाहती है। 'बेदी' का पिता ऐसा नहीं चाहता, क्योंकि मोदी धनवान नहीं है और वह उसकी इच्छा के अनुसार धन भी नहीं दे सकता।

जब बेदी और मोदी का विवाह इस विरोध में भी हो जाता है तब वहाँ के रीति रिवाज के अनुसार मोदी को बेदी के पिता 'मासा' के यहाँ लमसेना (घरजमाई) रहकर धनोपार्जन करके धन की शर्त को पूरा करना पड़ता है। किन्तु यह विवाह पिता की इच्छा के प्रतिकूल हुआ था, अतः 'मासा' 'मोदी' को नित्य प्रति तंग करता है। अन्त में परपीड़क परितोष के स्थान पर वह स्वपीड़क परितोष की मनोवृत्ति को अपना कर स्वाक्रमण प्रेरणावेग के संवेग वश फांसी लगाकर आत्महत्या कर डालता है। इस भाँति 'मोदी' को यौन वर्जना के प्रतिफल में आत्म हत्या करनी पड़ती है।

हीन भावनात्मक वर्ग

'कच्चे धागे'—रेडियो रूपक 'कच्चे धागे' में श्रीकृष्ण किशोर श्रीवास्तव ने 'रेखा' की अतृप्त दमित कामेच्छाओं को मनोवैज्ञानिक ढंग पर अभिव्यक्त किया है। 'रेखा' अति सुन्दर कालिज छात्रा है जिसका प्रेमी 'परिमल' उसके मित्र 'उदय' के षडयन्त्र से मृत्यु का ग्रास बन जाता है। मरने के उपरान्त यही 'परिमल' 'रेखा' के आन्तरिक द्वन्द्व का कारण बना है, क्योंकि उदय रेखा के सौंदर्य पर रीझ कर परिमल को अपने मार्ग से हटा देने का इच्छुक था। फलतः रेखा को अपने सौंदर्य से घृणा हो जाती है। उसमें हीनत्व कुण्ठा समा जाती है। जब कभी उदय आकर रेखा को छेड़ता है उसमें सहबोधावस्था मनोवृत्ति तुरन्त जाग उठती है और अपने मृत परिमल को सत्परामर्श देता हुआ पाती है। उसकी द्वन्द्वात्मक स्थिति में परिमल का ही प्रधान हाथ होता है।

वकील हरिहर सौंदर्य के भिन्न व्यक्तित्व का प्रतीक ज्ञात होता है। वह जब से मोटर की दुर्घटना से असुन्दर हो गया है तभी से उसमें आत्महीनता आ जाती है। वह इस ग्रन्थि के कारण मानव मात्र से दूर रहना पसन्द करता है। यहां सौन्दर्य के भिन्न व्यक्तित्व को नाटककार ने प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। 'रेखा' सौन्दर्य होते हुए उसकी अवहेलना इसलिए करती है कि उसका प्रेमी इसी सौन्दर्य के कारण मारा गया। हरिहर पहले अति सुन्दर था किन्तु दुर्घटना के पश्चात् वह बदसूरत हो गया अतः हीन भाव उसमें आ गये। दोनों पात्रों में विरोधी प्रवृत्तियां हैं। एक सौन्दर्य से घृणा करता है तो दूसरा सौन्दर्य को प्यार करता है। इन दोनों पात्रों की मनोग्रस्तता अति प्रबल है। हरिहर अपना विवाह इसी कारण नहीं करता। अपने यह विचार वह इस संवाद में रखता है।

हरिहर—(साँस लेकर) आजकल सभी लड़कियाँ सुन्दर वर चाहती हैं। किसी की परिस्थितियों का लाभ उठा कर मैं उनके दिल की फाँस नहीं बनना चाहता।[1]

नाटककार ने रूप और कुरूप का तादात्म्य रेखा द्वारा कराया है।

रेखा—हरिहर मुझे मधुर बन्धन चाहिए, कच्चे धागे नहीं। मेरी सहायता तुम्हें करनी होगी।[2] इस रूपक में ये दोनों पात्र मनोवैज्ञानिक हैं।

मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया प्रधान नाटक

अहंकारात्मक वर्ग—

विद्रोहिणी अम्बा—इस नाटक की रचना एडलरीय आदेशात्मक स्वप्न से प्रारम्भ होती है। काशिराज का स्वप्न में अपनी तीनों कन्याओं का अपहरण, भविष्य में अक्षरशः सत्य बैठता है। इस आदेशात्मक स्वप्न के सम्बन्ध में एडलर की मान्यता है कि हमारे अन्तःकरण में स्थान पाने वाले विश्वास यद्यपि जागृतावस्था के कार्यों के एक मात्र आधार होते हैं। किन्तु हमारे चेतन मन को उनका ज्ञान नहीं होता। हम कल के लिए जो सम्भावना करते है वह हमारे चेतन की नहीं अपितु अचेतन मन की भावना या अन्तःप्रेरणा है। जब अचेतन मन से निकलकर स्वप्न चेतना में यह अपरोक्ष आदेश आ जाते हैं तभी आदेशात्मक स्वप्न का प्रजनन होता है।[3]

यह एडलरीय आदेशात्मक स्वप्न काशिराज ने देखा है। स्वप्न में उसकी तीनों पुत्रियों का अपहरण एक गोरे रंग के विकट आदमी द्वारा हुआ है जो आगे भीष्म पर संगठित होता है।[4] अम्बा और शाल्व एक दूसरे पर आसक्त होते हुए भी इस अपहरण द्वारा पृथक हो जाते हैं। शाल्व का अहंकार चूर चूर हो जाता है। परन्तु जब वह सहसा अम्बा को अपने सामने देखता है तो उसकी अहं निसर्ग वृत्तियाँ काम प्रवृत्ति के समक्ष एक बार समर्पण कर बैठती है। नाटककार ने शाल्व के संवाद में रचनात्मक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए पात्र—निर्देशों में मानसिक संघर्ष को अत्युत्तम शैली में रखा है।

शाल्व—(चौंककर) हैं, यह क्या, अम्बा तुम आ गई, कैसे आ गई, मेरे हृदय की गति बोलो। (आलिंगन का हाथ बढ़ाता है।) नहीं, ठहरो (कुछ सोच कर) तुम उच्छिष्ट हो। स्त्री संसार में एक ऐसा पदार्थ है जो एक बार स्पर्श किया जाता है। तुम जाओ।[5]

१—मछली के आँसू—श्री कृष्ण किशोर श्रीवास्तव—पृ० ८४
२— ,, ,, पृ० ९८
३—इनडिविज्वल साइकोलोजी—एडलर—पृ० सं० २१६
४—विद्रोहिणी अम्बा—भट्ट—पृ० १७, २०
५— ,, ,, ७८

अपनी समस्या के बल पर अम्बा आगे शिखण्डी के वेश में प्रतिशोध लेती है। और भीष्म से अपनी इस प्रतिशोध ग्रन्थि का प्रस्फुटन करती हुई पागल होकर हतसंज्ञा हो जाती है।[1] रचनात्मक प्रक्रिया में भीष्म का विभ्रम रंग-संकेत में सुस्पष्ट है। वह यह कहते कहते मर जाते है कि लाल लाल आखें क्यों दिखाती है। मैं जानता हूँ मेरा अपराध है।

मनोविकृतियों के प्रेरकतत्वात्मक वर्ग की नाट्य कृतियाँ

केवट—इस नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया मनोविकृतियों के प्रेरक तत्वों से अनुप्रेरित है। इसमें हिमानी और गोदावरी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की दो असंयत धारायें हैं। हिमानी में विनाशात्मक प्रवृत्ति इड् के प्रतिगमन से हुई है। गोदावरी में समाज सेवा ऊर्ध्वगमन का प्रतिरूप है। हिमानी की अपराध ग्रन्थि निर्धनता का प्रतिनिधित्व कर रही है। वह धनी नही बनना चाहती पर धनवानों को सुखी भी देखना नहीं चाहती। इसी कारण उसने गोदावरी के सामने 'तुला' की हत्या की। डा० वृन्दावनलाल वर्मा ने गोदावरी में 'सौमनेम्ब्यूलिज्म' (स्वप्नावस्था में विचरण) मानसिक रोग दिखला कर नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बना दिया है।

"सौमनैम्ब्यूलिज्म" का रोगी निद्रावस्था में अपनी शैय्या से उठकर दूर कही निकल जाता है। और अपनी इच्छाओं की किसी प्रकार पूर्ति कर लौट आता है। इस समय प्रधान व्यक्तित्व हट जाता है और भावना ग्रन्थियाँ स्वच्छन्दता से अपना कार्य सम्पादन करती हैं। सुप्तावस्था में चलने वाले व्यक्ति को अपनी विभिन्न क्रियाओं को कुछ भी स्मरण नहीं रहता। यही मानसिक स्थिति गोदावरी की है। वह आधीरात के पश्चात् सोती सी, ऊंघती सी आती है। उसका मनोविश्लेषण 'मुकुन्द' करता है—

> **हिमानी**—खैर हुई जो मिल गई, क्या अजब बीमारी है इन्हें।
> **मुकुन्द**—सौमनैम्ब्यूलिज्म— स्वप्नावस्था में विचरण कहते हैं इस बीमारी को।
> **हिमानी**—यह तो बेहोश सी मालूम होती है।
> **मुकुन्द**—नहीं सोने की एक अवस्था है।[2]

नाटककार ने मानसिक संघर्ष की पराकाष्ठा का मनोवैज्ञानिक शैली में विश्लेषण प्रस्तुत करके स्पष्ट कर दिया है कि उस पर मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव है। इस मनोवैज्ञानिक उपपत्ति का निर्वाह अत्यन्त सफलता के साथ हुआ है।

१— ,, ,, १०१, १०२

२—केवट—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ८३

इसके अतिरिक्त इस नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए नाटककार द्वारा दिये गये गोदावरी को पात्र निर्देश भी हृदय-स्पर्शी बन पड़े हैं। गोदावरी के मानसिक संघर्ष की चरम सीमा उसकी विभ्रममयी सांकेतिक चेष्टाओं से और भी निखर उठी है—

गोदावरी—तुला, ओ तुला, कहाँ गई। (हंसती है, फिर कान लगाकर कुछ सुनने का प्रयास करती है।) तुम यहाँ नहीं आई हो, जलूस निकालना है, आओ न, मेरे साथ चलो। (हृदय पर हाथ कसकर बैठ जाती है।) तुम खून में लतपत हो गयीं, फिर कहाँ गयीं तुम, (इस प्रकार हाथों से कुछ समेटती है जैसे किसी को गोद में भर लेना चाहती हो।[1])

गोदावरी के उक्त संवाद के पात्र निर्देश के अनुसार सांकेतिक चेष्टायें और उसकी विभ्रममयी अवस्था नाटक की रचना शैली को मनोवैज्ञानिक बनाने में पूर्ण सफल हुई हैं।

मुक्तिदूत—भट्ट जी के मुक्तिदूत में रचनात्मक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक ढंग पर प्रस्तुत की गई हैं।

सर्वप्रथम सिद्धार्थ का समष्टि अचेतन रंगमंच पर दीखता है—

सिद्धार्थ—यही अवसर है। यौवन सो रहा है, मातृत्व निद्रित है। शैशव जीवन के प्रथम प्रभात की वारुणी पीकर असंज्ञ है। यही अवसर है। गोपा तुम कितनी सुन्दर हो किन्तु तुम्हारी यह सुन्दरता मुझे प्रेरित कर रही है कि मैं प्राणी मात्र के जीवन, सौंदर्य के अक्षर पथ की खोज करूँ। अमृत में विष की गांठ की तरह फैली हुई जरा, व्याधि, मृत्यु का उपाय ढूंढूं। जैसे मेरे हृदय में बार बार कोई कह रहा है कि यही अवसर है।

(एक छाया चित्र) व्यष्टि अचेतन का प्रतीक।

छाया चित्र—नहीं, यौवन के लबालब चषक को छोड़ कर जाना प्रमाद है, हाथ में आये हुए अमृत को ठुकराकर, अदृश्य के लिए यत्न करना मूर्खता है।

यौवन का उपभोग करो। यौवन जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। सौंदर्य यौवन का राशि राशि उल्लास।

राज नर्तकी का नृत्य, सकेशी का गीत, गोपा का आकर्षण, गौतमी का वात्सल्य प्रेम सभी कुछ छोड़कर चले जाओगे।[1]

सिद्धार्थ में जहाँ समष्टि अचेतन बार बार उभार दे रहा है वहाँ विरोध रूप स्वार्थी, भोग परक व्यष्टि अचेतन अपनी इन्द्रिय लोलुपता की संतृप्ति के लिए मोह जाल फैलाने में कोई कसर नहीं उठाकर रख रहा। व्यष्टि अचेतन साध्वी गोपा का

१—केवट—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ८२, ८३

२—मुक्तिदूत—उदयशंकर भट्ट—पृ० सं० ५८ और ६२

प्रलोभन, गृहस्थ कर्त्तव्य से च्युत होने की कायरता, पिता का मोह, नवजात शिशु का ममत्व सभी तर्क संगत रखता है परन्तु समष्टि अचेतन के आगे उसकी एक नहीं चलती। सिद्धार्थ का यह आन्तरिक संघर्ष उनको बहु व्यक्तित्व में बदल देता है। इस अन्तर्द्वन्द्व से जैसे वे जाग उठते है—यह कौन है—यह कौन है, क्या है ? यह मेरा असामर्थ्य है। जो बार बार मुझे रोक रहा है। मैं नहीं रुकूँगा। सभी छोड़कर जाना होगा।[1] रंगमच पर देखते हैं कि सिद्धार्थ के बीसियों रूप उनके सामने आकर खड़े हो गये हैं, जिनमें वे एक दूसरे से उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होते चले गए हैं। और अन्तिम रूप में सिद्धार्थ परिपक्व ज्ञानी की तरह केवल विवेक का दीपक जलाये संसार त्यागी के रूप मे खड़े हैं।[2]

भट्ट जी का यह रंग सकेत सिद्धार्थ के बहु व्यक्तित्व का परिचायक है जिससे रचनात्मक प्रक्रिया पूर्ण मनोवैज्ञानिक बन गयी है। सिद्धार्थ के इन भिन्न व्यक्तित्वों का निर्माण परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति से विदित होता है।

नाटक में सिद्धार्थ के अतिरिक्त साधुक पात्र के संवादों में भी मनोवैज्ञानिक शैली की पुष्टि मिलती है। स्नायुव्यतिक्रमी की भाँति साधुक भी अपने आप को समझने में असमर्थ है। स्वयं पर अविश्वास रखने के कारण वह सिद्धार्थ से प्रश्न करता है—

साधुक—लोग मुझे पागल कहते है क्या मैं पागल हूँ।

सिद्धार्थ—तुम क्या चाहते हो।

साधुक—चाहता तो कुछ भी नहीं, पर न जाने क्या चाहता हूँ। मैं पागल हो गया हूँ युवराज। यह सब संसार पागल ही तो है।[3]

साधुक के सम्वादों से स्पष्ट है कि नाटककार ने मनोवैज्ञानिक गतिविधि से नाटक की रचनात्मक क्रिया को पूर्ण बनाने का सद्प्रयास किया है। छाया चित्र और रंग संकेत में बहुव्यक्तित्व की अवतारणा सहसा मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को उद्भासित कर बैठी है।

अन्धायुग—डा० धर्मवीर भारती के इस काव्यात्मक गीति नाट्य की रचनात्मक प्रक्रिया पूर्णतया मनोविकृतियों पर आधारित है। इस गीति नाट्य में महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओ का आश्रय लेकर ऐसी मनोवैज्ञानिक अवस्थितियों का सर्जन हुआ है जो किसी भी युद्ध सभ्यता में उत्पन्न बाह्य और आन्तरिक मानवीय संकटों को प्रतिध्वनित करती है। मानव की अन्तश्चेतना तथा उसके मद्धः व्यापारों, मनोभावों, अतृप्तेच्छाओं एवं मानसिक घात-प्रतिघातों का गतिमय तथा द्वन्द्वात्मक चित्रण इसमें है। 'अन्धायुग' के पात्रों की वृत्ति अन्तर्मुखी है, जो मानसिक जटिलताओं, अनैक्य, आन्तरिक भेद भाव, असंतोष, घातक तृष्णा नैराश्यपूर्ण आकांक्षाओं, मनोविकृति, प्रतिशोध ग्रन्थि और अहंवाद से ओतप्रोत है।

१—**मुक्तिदूत—उदयशंकर भट्ट—पृ० सं० ६२**
२— ,, ,, ५९
३— ,, ,, ४५

पात्र निर्देश, सांकेतिक चेष्टाओं से युक्त अश्वत्थामा के संवादों द्वारा नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना दिया है। उसके लिए किसी की हत्या करना स्वाभाविक हो गया है, वह प्रतिशोध मनोग्रन्थि से ग्रसित है। वह इतना विक्षिप्त है कि हत्या करके भी तुरन्त उसे भूल जाता है। और जब कुछ चेतनांह की हल्की लहर आती है तो इस बध करने से अपनी मांश पेशियों के तनाव को कुछ खुला सा महसूस करता है। उसकी इस मानसिक द्वन्द्व की स्थिति पाकर कृपाचार्य उसे अस्वस्थ बतलाते हैं।

अश्वत्थामा—मैं क्या करूँ ? मातुल ?
मैं क्या करूँ,
बध मेरे लिए नहीं रही नीति,
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि।

(दाँत पीसते हुए दौड़ता है। विंग के निकट वृद्ध को दबोच कर नेपथ्य में घसीट ले जाता है।)

बध केवल, केवल बध,
मेरा धर्म है।

(गला घौंटने की आवाज, अश्वत्थामा का अट्टहास)

कृपा चार्य—यह क्या किया,
अश्वत्थामा, यह क्या किया।

अश्वत्थामा—पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल मैंत क्या किया,
क्या मैंने कुछ किया।
मैं क्या करूँ,
इस बध के बाद,
माँस पेशियों का सब तनाव

कृपाचार्य—(अश्वत्थामा) (को लिटाकर) सो जाओ,
तुम हो अस्वस्थ आज।[1]

पिता की हत्या से अश्वत्थामा की यह मनोविकृति पराकाष्ठा पर पहुंची है। उसे प्रतिशोध के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं।

मानसिक संतुलनात्मक वर्ग

कालिदास—भट्ट जी का कालिदास ध्वनिरूपक मनोवैज्ञानिक शैली पर आश्रित है। इसमें यक्ष और यक्षणी का चरित्र मनोविकृतियों से व्याप्त प्रतीत

१—अन्धा युग—डा० धर्मवीर भारती—पृ० ३८, ४३, ४४,

होता है। नाटककार ने मेघ द्वारा यक्ष का सन्देश और यक्षिणी का प्रत्युत्तर फ्राइ-डियन स्वप्न पद्धति, उनिद्र रोग और विभ्रम की मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया में रखा है—

जब जब स्वप्नों में पसारकर बाहु तुम्हें मिलाने को आतुर—
उद्यत दक्ष यक्ष होता है।
तब तब वन देवियाँ मध्य में, किसलय, पुष्पों से ओसों के,
स्थूल बिन्दु बरसा देती है।
और इस तरह प्रति निशि उसका, वह आलिंगन स्वप्न अधूरा,
छिन्न भिन्न हो रह जाता है।[1]

उक्त संवाद मे यहां फ्राइडियन कामात्मक अधैर्य स्वप्न की अभिव्यक्ति अत्युत्तम बन पड़ी है। प्रत्युत्तर में यक्षिणी उन्निद्र रोग की अपनी मानसिक स्थिति बतलाती है—

मुझको नींद नहीं आती है,
जो प्रिय को स्वप्न में देखूँ।[2]

इस मानसिक रोग में चेतन मन यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति सोने का अभिलाषी है, पर उसका अचेतन मन ऐसा नहीं करने देता यह मानसिक विक्षिप्तता का सहगामी रोग है। यक्षिणी इसी रोग से ग्रसित है। इसके अतिरिक्त यक्षिणी का अपने प्रिय का जड़ चेतन में देखना विभ्रम का परिचायक है। नाटककार ने उक्त स्थल मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया है।

काम प्रवृत्त्यात्मक वर्ग के नाटक

आधी रात—मिश्र जी का यह नाटक प्रकृत काम के स्वच्छन्दवाद पर अवलम्बित है। 'मायावती' स्वच्छन्दगामिनी है, उसके पीछे एक साथ दो दो प्रेमी अपनी काम तृप्ति के लिए डोलते हैं। इसी कामासक्ति में मायावती का एक प्रेमी उसके दूसरे प्रेमी में गोली निकाल देता है। यह मृत्यु प्राप्त प्रेमी ही प्रकाशचन्द्र के मानसिक रोग का कारण बना है।

प्रकाशचन्द्र विवाहित है। वह अपनी स्त्री को इसलिए नहीं चाहता कि वह अपनी ओर किसी को आकर्षित करने की क्षमता नहीं रखती। 'प्रत्यावर्तन' मनोवृत्ति के कारण उसने मायावती से अपना सम्पर्क स्थापित कर लिया। लेकिन जब वह यह सुनता है कि उसके एक प्रेमी को उसी वृक्ष के नीचे दूसरे प्रेमी ने गोली से मार

१—कालिदास—भट्ट—पृ० सं० १३
२— ,, ,, ,, १४

दिया तब उसमें भय के संवेगवश मानसिक रोग हो जाता है। वृक्ष को देखते ही वह सांकेतिक चेष्टायें करता है, और मानसिक संघर्ष के कारण स्वप्न में तो उसकी हत्या करने के लिए मायावती मृत प्रेमी प्रकाशचन्द्र को नित्य प्रति दीखता है—

राघवशरण—अरे इस तरह कांप क्यों रहे हो, उस पेड़ पर ऐसा क्या है कि तुम्हारी नजर उसी पर अड़ गई है।

प्रकाशचन्द्र—मैं सो गया था। मालूम हुआ जैसे कोई आदमी यहाँ बैठकर मेरे मुंह के पास झुककर कहने लगा। नहीं जाओगे तुम यहां से—भाग जाओ, इस स्त्री को छोड़कर भागो, नहीं तो तुम्हारी छाती चीर कर कलेजा निकाल लूँगा।[1]

सर ओलिवर के प्रेत सम्बन्धी विचारों को मायावती मनोविश्लेषणात्मक शैली में रखती हैं—

मायावती—प्रेतात्माओं के सम्बन्ध में सर ओलिवर लाज सरीखे प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने बहुत कुछ कह दिया है। कदाचित् सभी मानसिक बीमारियों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रेत से है।[2]

प्रकाशचन्द्र में भय संवेग से मानसिक नपुंसकता आ गई है। प्रेत की धारणा का आधार यही मनोग्रस्तता है। नाटककार ने मनोवैज्ञानिक ढंग में उसकी इस मनोग्रस्तता का विश्लेषण संवादों में करा दिया है—

मायावती—विशेषत: उस पेड़ के नीचे—उस जगह जब कभी जा पड़ते हैं, दौरा आ जाता है।

राघवशरण—मानसिक बीमारियाँ ऐसी ही होती हैं।

मायावती—कदाचित् सभी मानसिक बीमारियों में कोई न कोई ऐसी ही परिस्थिति होती होगी।[3]

इन कथोपकथनों से विदित होता है कि नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया का झुकाव मनोविज्ञान की ओर प्रत्यक्ष रूप में है। यह बात दूसरी है कि नाटककार ने अन्धानुसरण नहीं किया वरन् विषय की गम्भीरता की अपेक्षा उसने मानवीय मनोविज्ञान की स्वाभाविकता को यहां स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

प्रकाशचन्द्र में इस भय संवेग वश यौन शीतलता का आधिपत्य हो जाता है। मायावती उसको अपने प्रकृत काम से उद्विग्न होकर पुन: पुन: संभोग के लिए उत्तेजित करती है, पर वह मानसिक नपुंसकता के कारण स्नायु व्यतिक्रमी बन गया है, अत: यह काम उसकी सामर्थ्य से बाहर है। मायावती अतृप्त दमित काम के महान संघर्ष के

१—आधी रात—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ६४, ६५
२— ,, ,, ,, ६०
३—आधी रात—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० सं० ५६

कारण स्वाक्रमण प्रेरणावेग मनोवृति से आत्महत्या कर डालती है और प्रकाशचन्द्र भावरेचन एवं उदात्तीकरण की प्रवृत्ति से अपनी मनोग्रन्थि का निवारण नाटक के अन्त में करता पाया जाता है जो पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है।

आदि मार्ग—अश्क जी ने सैक्स की स्वच्छन्द प्रवृत्ति की अवहेलना का परिणाम 'मदन' और 'राज' के चरित्रों में अंकित किया है। कामात्मक द्वन्द्व के कारण 'मदन' 'राज' को हेय दृष्टि से देखता है, क्योंकि इन दोनों का विवाह अमनोवैज्ञानिक शैली पर हुआ है। 'राज' 'मदन' का मनोविज्ञान इस प्रकार रखती हुई पायी जाती है:—

राज - कभी जब मैं कहती—आप जिसे चाहें शौक से प्यार करें पर मुझे भी न ठुकरायें, तो मुझे बाँहों में भींच लेते, पर साफ लगता जैसे मन से नहीं मेरे रोने से मजबूर होकर प्यार करते हैं। और कभी इस तरह प्यार करते करते अपने बाल नोंचने लगते। उस समय जीजी, न जाने मेरे जी को क्या होने लगता, मैं उन्हें बांहों में भर लेती। पर मेरे स्पर्श में तो जैसे हजार विच्छुओं के डंक हों, वे हड़बड़ा कर उठ बैठते। पागलों की तरह चिल्ला उठते—तुम मुझसे क्यों चिपटती हो राज। लेकिन जीजी, न जाने क्यों, जितना वे मुझसे भागने की कोशिश करते उतना ही मैं उनके निकट रहना चाहती।[1]

नाटककार ने इस मनोवैज्ञानिक शैली में मदन और राज का सच्चा मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया है। मदन न चाहता हुआ भी राज को बाँहों में भरकर प्यार करता है। राज भी उसे बांहों में भरकर घृणा की अपेक्षा श्रद्धा और प्यार दिखलाती है। किन्तु इन दोनों का यह मानसिक प्रक्रम स्वयं को छलने के लिए है। वे दोनों एक दूसरे के समीप आने के इच्छुक हैं, पर अचेतन मन ऐसा नहीं चाहता।

उदयशंकर भट्ट के 'यह स्वतन्त्रता का युग' बार्गेन' और 'मायोपिया' एकांकियों में काम प्रवृत्ति है। 'यह स्वतन्त्रता का युग' की मीना के प्रकृत काम ने उसे पुंश्चली बना दिया है। अपने 'पति 'जयन्त' द्वारा मिली स्वतन्त्रता से वह गुलाब मिल्स के स्वामी 'मोतीलाल' का अभिसार स्वीकार कर चुकी है। नाटककार ने जयन्त और मीना के संवादों में इस स्वतन्त्रता का मनोविश्लेषण उत्तम ढंग में किया है। 'मीना' प्रकृत काम वश अपने बीमार शिशु और पति की चिन्ता न करती हुई जयन्त से कह बैठती है:—

मीना—मैं मजबूर नहीं हूँ कि एक ही दूकान से सौदा खरीदती रहूँ। तुमने मेरे मन को ही ठेस नहीं पहुँचाई, मेरे शरीर को भी अपरूप कर दिया है। मेरी

१—आदमार्ग—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० ५४

इच्छाओं को कुचल डाला है। मैं बच्चे नहीं पाल सकती, यह स्वतन्त्रता का युग है नारी की स्वतन्त्रता का।[1]

इस प्रकार 'मीना' अपने प्रकृत काम की स्वतन्त्रता समाज के बन्धन से पृथक् रहकर करना चाहती है।

'बार्गेन' में सम्पादक 'कैलाश' और उपसम्पादिका 'कान्ति' के प्रकृत काम की स्वतन्त्रता दिखाई गयी है। कैलाश कान्ति के गर्भ रह जाने पर 'सरोज' से सांठ-गाँठ करता है। सरोज एवं कान्ति के संवादों में इस उन्मुक्त प्रेम का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक शैली में मिलता है। कान्ति के पात्र निर्देश पूर्ण मनोवैज्ञानिक हैं:—

कान्ति –(सिहनी सी विकराल बनकर सुध-बुध खो बैठती है, और पेट की तरफ इशारा करके यह देखती है प्रणाय का फल)।[2]

न टककार ने ऐसा ही मनोवैज्ञानिक रंग संकेत दिया है—(कैलास तख्त पर बैठकर हंसने लगता है, हंसता ही रहता है। उसके अट्टहास से सारा कमरा गूँजने लगता है जैसे पागल हो जायगा। घूमता है, फिरता है, दौड़ता है। फिर गुम-सुम होकर तख्त पर गिर पड़ता है।[3] इस स्वतन्त्रता से दोनों का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है।

मायोपिया—उदयशंकर भट्ट ने इस एकांकी की रचनात्मक प्रक्रिया को कई स्थलों पर मनोवैज्ञानिक मोड़ दिया है। इसमें काम मूलक मानसिक संघर्ष और 'सुधी' के दोहरे व्यक्तित्व का निखार 'छाया मूर्ति' द्वारा हुआ है। प्रकृत काम की स्वतन्त्रता के वशीभूत होकर 'सुधी' विवाह को मानसिक शिथिलता बतलाती है। पुरुषों की उपेक्षा करने में उसे आनन्द का अनुभव होता है। केशव के गोली लगने पर भी कठोर हृदय नहीं पसीजा बल्कि अपनी शिष्या 'चन्द्रिका' से भी उसने पट्टी बाँधने के लिए निषेध कर दिया। चन्द्रिका यह कहकर कि मायोपिया न केवल आँखों में ही होता है वरन् वह बुद्धि का मानसिक रोग है, उसे मानसिक रोगी सिद्ध करती है जो मनोवैज्ञानिक कसौटी पर सही बैठता है।[1]

बहुधा नैतिकाहं और अचेतन मन में जब प्रचुर मात्रा में विरोध पाया जाता है तब व्यक्ति स्वयं से घृणा करने लगता है। केशव के प्रति इस असभ्य व्यवहार से सुधी में आत्मभर्त्सना और मानसिक संतुलन की विधि प्रेम और मित्रता द्वारा बतलाई है। यह दोनों मानसिक प्रक्रम 'सुधी' में मिलते हैं।

१—पर्दे के पीछे—भट्ट—पृ० सं० ७०, ७१
२— ,, ,, १३६
३— ,, ,, १४१
४—पर्दे के पीछे—उदयशंकर भट्ट—पृ० सं० ६०

आन्तरिक संघर्ष के कारण 'सुधी' के दोहरे व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। नाटककार सुधी के स्वोक्तिपरक संवादों को मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया के आधार पर छायामूर्ति द्वारा प्रस्तुत करता है:—

सुधी—(छायामूर्ति से) मुझे 'तारक' की उन्नति पर जलन हो सकती है, 'मनामा' के मुख से ईर्ष्या हो सकती है। 'मधु' के मुख पर चमकती प्रसन्नता से उद्विग्नता हो सकती है, पर अपनी धारणाओं से दुःख नहीं है, मैं पूर्ण हूँ।

छायामूर्ति—(सुधी से (हंसी) पूर्ण हो, पूर्ण (हंसी) यह जलन, ईर्ष्या और उद्विग्नता बतलाती है। तुम्हारे भीतर अपनी निष्ठा की गहरी नींव हिल उठी है सुधी, हृदय का संघर्ष बता रहा है कि तुम मार्ग खोजने को व्याकुल हो, तुम्हारा पहला पथ अन्धकारमय है, उसमें स्वच्छन्दता हो सकती है, उच्छृंखलता बढ़ सकती है, रसाभास भी उसमें मिल सकता है, पर वास्तविक शांति नहीं। तुमने हृदय की पुस्तक में से 'तारक' के सम्बन्ध के पत्र फाड़े नहीं हैं, उनकी स्याही धुंधली हो गई है। केशव······केशव किन्तु।

सुधी—किन्तु केशव, क्या केशव को अब पा सकूँगी। उसका दिल टूट गया है। मैंने ही उसे तोड़ा है।······ मुझे केशव के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। मैं वैसी हूँ, वैसी ही रहूँगी।

छायामूर्ति—(कुर्ते के भीतर जैसे उसके शरीर को पुष्टता— सामर्थ्य सौन्दर्य बरबस झांक उठता हो।) नहीं, तुम नहीं रह सकतीं। यह तुम्हारा हठ तुम्हारे ही जीवन के नाश का कारण बनेगा।[1]

निषेध करती हुई भी सुधी, अपने भूले हुए बटुए को लेने के लिए, केशव से विवाह प्रस्ताव कर बैठती है जबकि वह चन्द्रिका को वचन दे चुका है। इस प्रकार स्वगत कथनों के स्थान पर छायामूर्ति का अभिनय आन्तरिक संघर्ष की अभिव्यक्त के लिए, करके भट्ट जी ने एकांकी की रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बना दिया है।

छाया—प्रेमी जी ने इस नाटक में अपने अन्तस में स्वयं मनोग्रस्तता से आबद्ध आन्तरिक द्वन्द्व का धुँआ स्वीकार किया है।[2] इस धुँआ रूपी आन्तरिक घुमड़न का मार्गान्तरीकरण ही मनोवैज्ञानिक भाव रेचन है। नाटक में नाटककार द्वारा यही हुआ है।

'छाया' नाटक के प्रमुख मनोवैज्ञानिक पात्र रजनीकान्त ज्योत्स्ना और प्रकाश तथा माया हैं। यहाँ समस्या सैक्स की है, क्योंकि इन दोनों जोड़ियों का गठबन्धन

१—पर्दे के पीछे—उदय शंकर भट्ट—पृ० सं० ९३

२—छाया—हरिकृष्ण प्रेमी (प्रकाश) पृ० १

मनोवांछित रूप में नही हुआ है। अपने संवाद में रजनीकान्त अपनी पत्नी ज्योत्स्ना से इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए पाया जाता है:—

रजनीकान्त—तुम सुन्दर हो आकर्षण हो, फिर भी मैं तुम्हें प्यार न कर सका। कारण कि मैं मन ही मन एक प्रतिमा की पूजा करता था।[1]

इसी भांति 'माया' के संवाद में 'प्रकाश' और माया का लगाव पूर्व से ही विदित होता है:—

माया—सुनो कवि, यह एक प्रसिद्ध वकील का खूबसूरत लड़का था जिसने मेरे यौवन के प्रथम प्रातः में दर्शन देकर मेरे हृदय को छीन लिया था।

प्रकाश—उस युवक का नाम।

माया—प्रकाश।

प्रकाश—प्रकाश, प्रकाश।[2]

इन संवादों से स्पष्ट है कि माया और प्रकाश का सम्बन्ध किशोरावस्था से ही था।

रजनीकान्त मे ज्योत्स्ना के प्रति प्रेम का संचार जब हुआ जब प्रकाश का आना उसे अखर उठा। वह ज्योत्स्ना के समीप पहले प्रकाश को देखकर सहम जाता था, लेकिन जब उसकी प्रतिगमन वाली मनोवृत्ति शिथिल पड़ गई तब वह इसे सहन न कर सका।

प्रकाश के काम का पर्युत्थान और माया के काम का प्रत्यावर्त्तन नाटककार ने मनोवैज्ञानिक शैली में दिखलाया है। प्रकाश अपने काम मूलक आन्तरिक संघर्ष का रेचन कविताओं द्वारा करता है, परन्तु माया का काम सम्बन्धी मार्गान्तरीकरण प्रत्यावर्त्तन के कारण इड् की स्वच्छन्दता वश अनेक व्यभिचारों में हुआ है। प्रकाश के समीप आकर माया भी चाहती है कि वह भी अपनी प्रत्यावर्तन मनोवृत्ति का उपचार कविताओं द्वारा करे पर वह स्वैरिणी होने के कारण ऐसा नहीं कर पाती—

माया—मैं भी चाहती हूँ, मैं कविता करूं। अपने प्राणों में धधकने वाले ज्वालामुखी की लपटें गीतों में भर दूं, किन्तु मेरी वाणी का स्वर नही मिलता। (प्रकाश का हाथ अपने वक्षस्थल पर रखते हुए) यहां देखो।[3]

निदान : माया और प्रकाश का सामीप्य दिखला कर नाटककार ने कामात्मक मनोग्रन्थि का निवारण किया है। इस मनोग्रस्तता के उपचार में जिन उक्त मानसिक

१— ,, ,, पृ० ७१

२— ,, ,, पृ० ७६

३—छाया—हरिकृष्ण प्रेमी—पृ० सं० १६

घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है, वे पात्रों के भाव रेचन में रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बनाने में पूर्ण सफल प्रतीत होती हैं।

डा० वर्मा के 'परीक्षा' एकांकी के डा० राजेश्वर रुद्र ने एक सफल मनोविश्लेषक की तरह केदार और रत्ना का मनोविश्लेषण किया है। इस एकांकी की रचनात्मक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है। पात्रों के संवादों में मनोविज्ञान का पुट सुस्पष्ट है:—

केदार – क्या तुम इन सब बातों से कुछ खोज करना चाहते हो। तुम तो बड़े भारी साइकोलोजिस्ट हो। मन की बहुत सी नयी बात खोज निकालते हो।

रुद्र—तुमने कभी उन्हें अकेले सोचते हुए देखा है।

केदार—वे कभी अकेले रहते ही नहीं।

रुद्र—कभी तुमने उदास देखा है।

केदार—एक बार जब प्रो० उदय नारायण के यहाँ जन्मोत्सव से लौटीं थीं, तो कुछ दिन तक कहती रहीं कि मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। लेकिन यह सब कहने के बाद वे शायद सम्हलकर हँसने की कोशिश करती थीं।

रुद्र— बहुत सुन्दर केस है, केदार।

केदार— एक्सपैरिमैंट क्यों नहीं कर देखते। तुम तो बड़े भारी मनोवैज्ञानिक हो।

रुद्र—हां, मैं देखना चाहता था केदार, उनकी साइकालोजी क्या है।[1]

एकान्त में सोचना एवं उदासीकरण से डा० रुद्र मनोग्रस्तता एवं 'स्वरतिक अभिन्नीकरण' (नारसिस्टि आइडेन्डिफिकेशन) के कारण ढूंढ़ रहे हैं। केदारनाथ के कथनानुसार 'रत्ना' में ये दोनों लक्षण विद्यमान हैं। स्वरतिक अभिन्नीकरण से आक्रांत व्यक्ति प्राय: उदास, खिन्न चित्त और कुछ अनमना बना रहता है। परन्तु वह अपनी उदासी को छिपाने के लिए ऐसी सांकेतिक चेष्टाएँ करता है जो छल-छद्म से भरी होती हैं। यहाँ रत्ना का उदासी के साथ कृत्रिम हंसी से हंसना इसी लक्षण का द्योतक है। ऐसा प्राणी भीतर ही भीतर अपने को अत्यन्त फटकारता है और अपने प्रेमी के उस आलम्बन को अपने अहं पर ही आश्रित कर डालता है। यह मनोवृत्ति उसके समाज के भय अथवा किसी दोष के कारण बनती है। रत्ना इन्हीं लक्षणों से सम्पन्न है। तभी केदार उसके लिए प्रेम नहीं अपितु श्रद्धा का पात्र है। इस मनोविश्लेषण की महत्ता इन सम्वादों में मिलती है—

रुद्र—मैं केवल नारी का मनोविज्ञान चाहता था।

केदार—मुझे सुख और संतोष मिला।

१—रेशमी टाई—डा० रामकुमार वर्मा—पृ० सं० ३८ से ४२ तक

रत्ना—किन्तु इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई।[1] रत्ना की बात सही है, क्योंकि रोगी मन को उसका विश्लेषण नहीं आता।

भुवनेश्वर प्रसाद के 'लाटरी' 'रोमांस रोमांच' और 'श्यामा' : एक वैवाहिक विडम्बना' तीनों एकांकियों में मनोवैज्ञानिक शैली मिलती है। इनमें प्रकृत काम की उन्मुक्तता स्पष्ट पाई जाती है। 'लाटरी' की 'माया' में और 'रोमांस रोमांच' के मिस्टर सिंह में आहूत तृतीय पुरुष की मनोवृत्ति प्रबल है। 'माया' अपने 'किशोर' पति को छोड़ 'प्रद्युम्न' से इसी मनोविकृति के कारण सम्पर्क स्थापित करती है और इस विकृति के दूर होते ही वह पुनः पति की होकर रहती है। नाटककार ने यह मनोवृत्ति मनोवैज्ञानिक पात्र निर्देश और संवादों में स्पष्ट की है।[2]

इसी काम विकृति से आक्रान्त मिस्टर सिंह अपनी पत्नी का सम्बन्ध 'अमरनाथ' युवक से जानकर कोई ईर्ष्या नहीं करता। अमरनाथ में विवाहित स्त्री को अपनी बनाने एवं उसके सतीत्व को भ्रष्ट करने की मनोवृत्ति है। नाटककार ने इन काम विकृतियों को मनोवैज्ञानिक ढंग में प्रस्तुत किया है।[3]

यही मानसिक प्रक्रम 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' एकांकी में आहूत तृतीय पुरुष की अपेक्षा, प्रकृत काम की उन्मुक्तता के आधार पर मिलता है। मिसेज पुरी का सम्बन्ध मनोज से हो जाता है। नाटककार ने इस स्वच्छन्दता का स्पष्टीकरण मनोवैज्ञानिक पात्र-निर्देशों और संवादों में इस प्रकार किया है।

मनोज—(मानसिक विप्लव को भरसक दबाकर) मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ। 'श्यामा' आपकी नहीं मेरी है।

मिस्टर पुरी—(जैसे उन्हें अपने ऊपर विश्वास ही न हो) ठीक है, उसको सभी प्रेम करते हैं, वह ऐसी सुन्दरी है. ठीक है।[4]

नाटककार ने उक्त संवादों में पात्र निर्देश पूर्णतया मनोवैज्ञानिक शैली में लिखे हैं जिससे पात्रों की मानसिक ग्रन्थियां स्वयं खुलती हुई नजर आती है।

भट्ट जी का विक्रमोर्वशी ध्वनि रूपक मनोवैज्ञानिक शैली पर आधारित है। इसकी कथावस्तु मानसिक द्वन्द्व पर निर्भर है। इस द्वन्द्व का प्रमुख कारण काम प्रवृत्ति है। मेनका और उर्वशी दोनों सखि भय के संवेग से उद्विग्न पायी जाती हैं। उर्वशी राक्षस के बलात्कार से भयभीत है। इसी बीच में इन्द्र का मित्र पुरुरवा मूर्च्छिता उर्वशी को चित्रलेखा द्वारा चेतन करने के लिए कहता है। उर्वशी के होश सम्हालते

१—रेशमी टाई—डा० वर्मा—पृ० सं० ६२, ६३
२—कारवां—भुवनेश्वर प्रसाद—पृ० सं० ६४
३— ,, ,, ,, ८५, ८
४—कारवां—भुवनेश्वर प्रसाद—पृ० सं० १०, १

ही वेरुरवा और उर्वशी एक दूसरे पर आशक्त हो जाते हैं। उर्वशी जाते जाते भी नहीं जाना चाहती, और इस मानसिक विवशता को दिखाने के लिए वह अपने हार को झाड़ी में उलझाकर रुकने का हेतु प्रस्तुत करती है। उर्वशी का यह संवाद मनोविश्लेषणात्मक ढंग पर रखा गया है—

उर्वशी—निस्संदेह सुलझना दुष्कर,
कौन सकी है उलझा उसको
एक बार जो उलझ गया हो।[1]

यही मनोग्रन्थि की ग्रस्तता है। यही गति पुरुरवा की है। वह रानी उशीनरी को दिखावटी प्यार करता है। वैसे उसका मन उर्वशी के अन्तस् में जा बैठा है। उसमें कामात्मक फेटिशवाद है। उर्वशी के पत्र को वह बार-बार लेता है और रख देता है। उसके जीवन का आधार पत्र ही बन गया है।

(पवन से)—निराधार की एक आस वह पत्र कहाँ खो डाला,
मेरी वही निशानी देकर मेरे प्राण उबारो॥[2]

पत्र का इस प्रकार गुम हो जाना भी विदूषक ने भूलों के मनोविज्ञान से सम्बन्धित कर दिया है। वह राजा के इस प्रेम से घृणा करता है, क्योंकि इससे उशीनरी का जीवन नष्ट होता है।

सुरपुरी में भरत नाटककार द्वारा लिखित 'लक्ष्मी स्वयंवर' के अभिनय हेतु उर्वशी प्रस्थान करता है। उस रंगमंच पर मेनका देवोपम नर्तन दिखलाने में व्यस्त है। एव उर्वशी लक्ष्मी के अभिनय में तत्पर है। अभिनय में वारुणी लक्ष्मी बनी हुई उर्वशी से विष्णु का वरण करने का संकेत करती है। अभिनेत्री उर्वशी का मानसिक द्वन्द्व पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वह इस नाटक के अभिनय में लक्ष्मी पात्र और अपने आपके बीच कोई भेद नहीं समझती। फलत: इस तादात्म्यीकरण एवं मानसिक द्वन्द्व की कठपुतली बनकर वह वारुणी से कहती है—

(लक्ष्मी की वेष भूषा में) उर्वशी—(रुक-रुक कर)
पुरु, पुरु, पुरु—मैं देवि वरूँगी।

वारुणी—हाँ हाँ कहो चाहती क्या हो।
पुरुषोत्तम को नारायण को।

उर्वशी—(तन्मयता की अवस्था में) वरण करूँगी देवि,
सुचिंतित पुरुरवा नृपवर को।[3]

१—विक्रमोर्वशी—उदय शंकर भट्ट—पृ० सं० ८७
२—विक्रमोर्वशी—उदय शंकर भट्ट—पृ० सं० १००
३— ,, ,, ,, १०३

वारुणी इस अभिनय को देखकर कंप कंपा जाती है। दर्शक उर्वशी को पगली मान बैठे हैं। कोई उसे पागल, कोई प्रलापिनी, सम्बन्धों से पुकारते है। इस काम विकृति से आक्रान्त उर्वशी को भरत मर्त्यलोक जाने का शाप देते हैं।[1] मानसिक द्वन्द्व-वश्यता के कारण अभिनय की गलती में यहाँ मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति पायी जाती है।

यही दशा महर्षि पुरुरवा की है वह रानी उशीनरी पर गर्व करता है पर अज्ञात में उसका हृदय उर्वशी को खुला हुआ है। उसे स्वयं ज्ञात नहीं कि वह कब और कहां अपने आपको उर्वशी के लिए अर्पित कर चुका।[2] यह इड् की अतृप्त दमित काम वासना के अज्ञात मन की सक्रियता है। भट्ट जी ने इस ध्वनि रूपक के उक्त हृदय स्पर्शी स्थलों द्वारा रचनात्मक प्रक्रिया को पूर्ण मनोवैज्ञानिक बना दिया है।

श्री कृष्ण किशोर श्रीवास्तव द्वारा लिखित 'जीवन का अनुवाद' रेडियो रूपक मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया प्रधान नाट्य कृतियों में रखा जा सकता है। इस रूपक की मनोवैज्ञानिक रचना सहबोधावस्था के विभ्रम पर आधृत है। 'निखिल' विधुर की धर्मपत्नी 'कुमुद' का स्वर्गवास मनोग्रन्थियों के अधिक उलझ जाने का ही परिणाम है। निखिल की भाभी उमा ऐसा चाहती भी थी, क्योंकि उसे अपनी बहिन ऊषा से निखिल का विवाह की उत्कृष्ट इच्छा थी। मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर नाटककार ने तत्सम्बन्धी कथोपकथन में इस कुण्ठा को अभिव्यक्त किया है—

उमा पहिले हम लोगो से भूल हो गयी थी। हम लोगों को बाद में पता चला कि कुमुद आपको नही पसन्द थी, पर ऊषा……।

निखिल—(चीखकर) भाभी। फिर वही पुरानी रट। कब कहाँ, किससे कहा मैंने कि कुमुद मुझे पसन्द नहीं थी। (साँस लेकर) मुझे कुमुद के साथ ने नहीं पीसा। मुझे पीसा आपने, और उन सबने जिन्हें बड़ा मानकर मैंने सिर पर बैठाया था। आपके योग्य कुमुद को बनाने के लिए उस पर मैने इतना अन्याय किया कि मुझे रोकने के बदले उसने अपनी सांस रोक दी।[3]

१—विक्रमोर्वशीय—उदयशंकर भट्ट—पृ० सं० १०४

२—यह पागल है, यह प्रलापिनी ……जिस प्रलाप से, वाम काम से। मुझे गर्व है उशीनरी पर, किन्तु विवश हूँ हृदय न जाने, कहाँ उर्वशी के चिन्तन में अपने को अर्पण कर बैठा। पृ० सं० १०८

३—मछली के आँसू—(रेडियो नाटक संग्रह) श्रीकृष्ण किशोर श्रीवास्तव पृ० ५२

निखिल ने 'कुमुद' के स्वभाव की चिन्ता कभी नहीं की। प्रत्युत उसे दबाता ही रहा, फलतः मनोग्रस्त होकर वह रोगी हो गई। और मर गई। कुमुद के साथ किया हुआ। यही व्यवहार निखिल को सहबोधावस्था मनोवृत्ति द्वारा बारबर कचौंट कर आन्तरिक द्वन्द्व के दोहरे व्यक्तित्व में नाटककार ने प्रस्तुत किया है जो मनोवैज्ञानिक रचना पद्धति द्वारा अति सुन्दर बन पड़ा है।

नाटककार ने निखिल' में सहबोधावस्था की चरम परिणति को अत्यन्त हृदय-स्पर्शी तब बनाया है जब वह कुमुद के प्यार में डूब जाता है और कुमुद की उसको याद हो उठती है—

निखिल—(भावुकता से) मैं मुकुल को प्यार करूँ......प्यार........मेरा प्यार ....उसे ....नही ... ...नहीं.... .. मैं उसे प्यार नहीं करूँगा। आज किसी भी रूप मे आकर मुझे समझाओ कुमुद........बोलो मे क्या करूं ....। तुम्हारे मुकुल को मैं कैसे पालूँ ... घृणा से, प्यार से........कैसे........ (तेज स्वर मे) कैसे........ कुमुद कैसे, मुकुल भी तुम्हें बुला रहा है कुमुद।

कुमुद—(गूँजती आवाज में दूर से आते हुए) आपने मुझे बुलाया था। आप इस तरह साहस छोड़ेंगे तो मेरा मुकुल किसका आसरा पायेगा।

निखिल—कैसे बचाऊँ कुमुद........।

कुमुद—(सहसा) अपने प्यार से।

निखिल—(चौंककर) प्यार से। अपने प्यार से। कुमुद मेरे प्यार का नाम न लो।

कुमुद—तो उसे घृणा से पालियेगा।

निखिल—(हारकर) मेरा प्यार। कुमुद, तुम्हे भी तो मेरा प्यार मुझसे छीन ले गया। कैसे करूँ प्यार (हांफता-सा तेज स्वर में) बोलो कुमुद क्या करूँ ? उसे प्यार करूँ या घृणा करूँ।

कुमुद-(भरे स्वर में) मुझे नहीं मालूम, बस इतना चाहती हूँ कि मुकुल सुख में पले। (रोते हुए और दूर होते हुए) और मैं कुछ नहीं जानती (कुमुद की सिसकियों का रुकना, ।

निखिल—(भरे गले से) तुम भी चली गयी मेरा उत्तर दिये—

प्रमोद—ये क्या पागलपन है।

निखिल—जी कुछ नहीं।

प्रमोद—बहू की फोटो से बातें हो रही हैं पागल।[1]

१—मछली के आँसू—(रेडियो नाट्य संग्रह) श्रीकृष्ण किशोर श्रीवास्तव—पृ० ५९-६२

इस प्रकार नाटककार ने सहबोधावस्था का अत्युत्तम उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया है।

मृत कुमुद के संवाद निखिल के साथ साथ दिखलाकर नाटककार ने निखिल के भिन्न व्यक्तित्व को कुरेद डाला है जिसको मानसिक द्वन्द्व की पराकाष्ठा का विभ्रम भी कहा जा सकता है। निखिल अपने पुत्र 'मुकुल' के जीवन के सम्बन्ध में जब भी सोचता है तो उसे कुमुद की सहबोधावस्था का भान होता है। वही बहु-व्यक्तित्व की मनोविक्षिप्तता उसे घेर लेती है। नाटककार ने अपनी इस मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया में निखिल और कुमुद के संवादो को सहबोधावस्था की मानसिक अवस्थिति में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

निखिल—(करुण स्वर में) मैं तेरे लिए वह हाथ, वह गोद कहाँ से लाऊँ जिसमें तू हँस देता था ......चुप हो जा मेरे लाड़ले।

(ध्वनि लोप)

(पुचकारने और स्त्री पुरुष के हँसने की आवाज)

वाह बेटा, मां की गोद पहुंचते ही रोना बन्द हो गया। ये बात झगड़े की है। कोई बात नहीं। देखता हूँ कब तक मेरी गोद नहीं भाती इसे।

कुमुद—ये बात गलत है। जहाँ मन में प्यार उमड़ा कि आप फिर दौड़े आयेंगे। सारी हठ, सारा अभिमान प्यार पर बिकते देखा है मैंने.... ...।

निखिल—(कुछ भावुकता से) प्यार.......। कुमुद, यह शब्द पता नहीं क्यों मुझे झकझोर देता है।

(सांस लेकर) मेरा प्यार कितना घातक हुआ है।

कुमुद—बस शुरू हो गया आपका पागलपन।

(मुग्ध भाव से) देखिए ....मुझे तो कुछ नहीं हुआ। न जाने कितनी बार आपने कहा कि जिसे आपने प्यार किया वह....... ....।

निखिल—पर मेरे अनुभव तो कुछ और कहते हैं कुमुद।

अनुभव नहीं कहते। कहती है आपकी भावुकता।

(ध्वनि लोप)

सुरेश—(प्रवेश करते हुए) अमां यार तुम यहाँ बच्चे को गले से लगाये टहल रहे हो। तो वहां मंडप के नीचे तुम्हें खोज रहा था।[1]

परिवार वालों द्वारा एक ओर निखिल की शादी का प्रोग्राम है किन्तु उसके असीम अन्तर्द्वन्द्व में उसे दूसरी ओर अपनी मृत पत्नी कुमुद की सहबोधावस्था

१—मछली के आँसू—(रेडियो नाट्य संग्रह) श्रीकृष्ण किशोर श्रीवास्तव पृ० ५३-५५

का प्रत्यक्षीकरण होता है। यह सहबोधावस्था की विक्षिप्तता निखिल द्वारा तब भंग होती है। जब उसका मित्र सुरेश उसके पास आता है।

नाटककार ने मनोवैज्ञानिक रचनात्मक प्रक्रिया के आधार पर रूपक के रंग संकेत सहबोधात्मक पात्र और संवादों को अपनाया है। निखिल और कुमुद के कथोपकथन में कथावस्तु भी मानसिक घटनाओं पर आश्रित हो गई हैं। लेकिन सम्पूर्ण कथावस्तु में यह प्रवाह नहीं आया है, क्योंकि प्रमोद, उमा और सुरेश के संवाद पूर्णतया मनोवैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते। निखिल ही उसमें पूर्ण मनोवैज्ञानिक पात्र है।

अन्धा कुआं

★

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस नाटक में 'भगौती' के अहं सूका का अतृप्त दमित काम का हृदयस्पर्शी प्रतिशोध और 'लच्छी' में प्रकृत काम को मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया है। नाटक की कथावस्तु और पात्रों में मनोविज्ञान का शाश्वत प्रवाह परिलक्षित नहीं होता। किन्तु नाटककार ने नाटक के कुछ स्थलों को मानसिक घटनाओं से अनुप्राणित करके उसकी रचनात्मक प्रक्रिया को मनोविज्ञान की ओर मोड़ दिया है—

भगौती—खूब बदला लिया तूने मुझसे। लच्छी का इस घर से निकल जाना इससे कड़ा बदला और कुछ नहीं हो सकता।

सूका—अगर मुझे बदला ही लेना होता, तो मैं कुयें में डूबने नहीं जाती। यहाँ इन्दला आया था, मैं उसके संग भाग सकती थी। तुझे बहुत आसानी से कभी ही जहर दे सकती थी।

भगौती—वह उतना बड़ा बदला नहीं होता।

सूका—अगर मुझे बदला लेना होता तो आज मैं तेरे साथ इस खून, पीप और पखाने पेशाब में सनी न होती।

भगौती—यह भी एक तरह का बदला ही है। जो एक दिन मेरी दया पर जी रही थी, आज उसकी दया पर मुझे जीना पड़ रहा है, यह भयानक बदला है।[1]

भगौती और सूका का यह मानसिक प्रक्रम प्रतिशोध की मानसिक घटना के आधार पर नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बनाने में अत्यन्त मार्मिक योग देता है।

१—अन्धा कुआं—डा० लक्ष्मीनारायण लाल—पृ० सं० १३८, १३९

भगौती के दिवास्वप्न और स्वप्न दोनों फ्राइडियन मनोविश्लेषण पर अवलम्बित है। वह प्रतिशोध की मनोविकृति के कारण अपने आन्तरिक संघर्ष को स्वप्न में अभिव्यक्त करता है—

(सहसा भगौती अपनी नींद में बौखलाने लगता है। ···हू हू···हूँ···मार ····मार····हू····हू)

सूका—(पास जाकर) एक क्षण की नींद में भी मार-मार बन्द नहीं होती।

भगौती—(घबराया हुआ) आंय, आंय ····क्या हुआ। ··· ····सपना देख रहा था कि मैं लछिया को पकड़ कर लाया हूँ।[1]

भगौती के स्वप्न की मानसिक दशा के समान ही उनमें दिवास्वप्न भी पाया जाता है। उनकी सांकेतिक चेष्टाओं में इन्दरवा से प्रतिशोध लेने की भावना पाई जाती है—

भगौती—काका, सोखा से कहो कि वह इन्दरवा पर भूत हांक दे। (आवेश में) और मैं····और मैं········सूका।

सूका—क्या है, पागल तो नही हो गये।

भगौती—पागल तो तूने बना ही दिया। एक बात सुन, सरहाने मेरी कटार लाकर रख दे।

सूका क्यों।

भगौती—इन्दरवा जब मेरे सामने अन्धा होकर छटपटा कर गिरेगा, फिर मैं अपनी कटार से उसका कलेजा निकालूँगा।[2]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भगौती का काममूलक आन्तरिक संघर्ष इन्दरवा और सूका का प्रतिद्वन्द्वी है। सूका के अतृप्त दमित काम की प्रतिद्वन्द्वता भगौती को पराजित भी करना चाहती है। किन्तु सम्मान के साथ इस परस्पर विरोधी भाव प्रवणता में उसका दोहरा व्यक्तित्व काम कर रहा है। वह अपनी विरोधी वृत्ति से विवश है—

सूका—क्या करूँ बहिन, मुझसे यह सब होता ही नहीं, बस भीतर ही भीतर झुलस कर रह जाती हूँ। क्या करूँ, मैं तो अपने से ही मजबूर हूँ।[3]

—अन्त में यह निष्कर्ष निकलता है कि सूका भगौती को इन्दरवा के गंडासे सुरक्षित करने के लिए स्वयं टूक-टूक हो जाती है, पर उसे आंच नहीं आने देती।

१—अन्धा कुआं—डा० लक्ष्मी नारायण लाल—पृ० सं० १४

२— ,, ,, १४७

३— ,, ,, १३२

नाटक की रचनात्मक प्रक्रिया सूका और भगौती के मानसिक प्रक्रमों से उक्त स्थलों पर मनोवैज्ञानिक बन गई है।

आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण

★

तौलिये—इस एकांकी में उपेन्द्र नाथ 'अश्क' ने मनोग्रस्तता की एक झलक से मनोवैज्ञानिक शैली का प्रतिपादन किया है। 'वसन्त' में सनक है। 'मधु' उससे भी अधिक सनकी है। इन दोनों की सनक उनके पारस्परिक वार्तालापों एवं सांकेतिक चेष्टाओं से स्वतः प्रस्फुटित हो जाती है—

वसन्त—मैने तुमसे कितनी बार कहा है कि अपने भावों को छिपा लेना तुम्हारे बस की बात नहीं। तुम्हारी उपेक्षा, तुम्हारा क्रोध, तुम्हारी समस्त भावनायें, तुम्हारी आकृति पर प्रतिबिम्बित हो जाती है। आपको मेरी आदतें बुरी लगती है, पर मैंने अब तक तुम्हें अंधेरे में नहीं रखा। अपने सम्बन्ध में, अपने स्वभाव के सम्बन्ध में, सब कुछ बता दिया था।[1]

मधु की आन्तरिक घुमड़न बात-बात मे व्यंग्य और हंसी का प्रयोग कराती है। इसी मानसिक द्वन्द्व वश्यता से वह अपना स्वास्थ्य खो चुकी है—

वसन्त—तुम्हारी यह हंसी कितनी विषैली है। इसी तरह विष घोल-घोल कर तुमने अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर लिया है।[2]

यह विष क्या है जिसका पान करके मधु विषैली बन गई है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मधु की मनोग्रस्तता है। जिससे मुक्त होने की इच्छा रखती हुई भी वह मुक्त नहीं हो पायी। एकांकी के इस मार्मिक स्थल की मानसिक घटना ने रचनात्मक प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक बना दिया है।

हीन भावनात्मक वर्ग

★

'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'—डा० रामकुमार वर्मा ने इस एकांकी में आत्महीनता ग्रन्थि की क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया का रूप मनोवैज्ञानिक शैली में दिखलाया है। प्रायः हीन भावना वाला व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा ऊँचा उठने की चेष्टा करता है। हीनत्व भावना से मुक्त होने के लिए व्यक्ति इसका दमन करता है। दमन के फलस्वरूप कुछ व्यक्तियों में अतिशय गर्व हो जाता है जिसको हीनत्व कुण्ठा का कपट रूप कह सकते हैं। कबीरदास विधवा मां के पैदा होने के कारण इस

१—पर्दा उठाओ—पर्दा गिराओ—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० १४७
२— ,, ,, ,, १४८

मनोग्रन्थि से ग्रसित थे। उनकी 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' वाली गर्वोक्ति, हीनत्व भावना के दमन से अतिशय गर्व एवं कपट रूप में ही फूट पड़ी है।

मनोवैज्ञानिक शैली द्वारा एकांकी में नारी मनोविज्ञान की झलक भी इसी हीन भावना के आधार पर है। नारी में इस मनोग्रन्थि का प्राचुर्य स्वाभाविक होता है। 'नीमा' के संवादों में नाटककार ने इस कुण्ठा को मनोवैज्ञानिक ढंग में उपस्थित किया है—

नीमा—लेकिन मैं इसे कैसे ले लूँ।

नीरू- मैं इसे समझा नहीं।

नीमा—(शर्मा कर) अब कैसे समझाऊँ। तुम्हारे साथ पहली बार तो तुम्हारे घर चल रही हूँ। .... लोग क्या ....।

नीरू—(हँस कर) लोग क्या कहेंगे। शर्मिन्दा तो मुझे होना चाहिए।

नीमा—मर्दों की शर्म ही क्या, शर्म तो उनके तन तक ही रहती है। लेकिन औरतों की शर्म तो उनके मन की भीतरी तह तक छुपी रहती है।[1]

एकांकीकार ने नीमा के उक्त हीन भावों के आधार पर नारी-मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के वर्ग वाले नाटक—इस वर्ग के नाटकों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर यत्र-तत्र स्वाभाविक रूप में उपलब्ध होती हैं। प्रायः उन उपपत्तियों का प्रभाव कथावस्तु, पात्रों और रचनात्मक प्रक्रिया को अनुप्राणित नहीं कर पाता। इन नाटकों में केवल किसी संवाद से अथवा किसी पात्र की आकस्मित मानसिक घटना से मनोविज्ञान की झलक परिलक्षित होती है। फलतः पात्र और संवादो में उपलब्ध मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

जिन नाटकों में यह उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक क्रम मिलता है, उनका विश्लेषण संक्षेप में निम्न प्रकार से है—

मिश्र जी के 'देवगिरि में ग्रहण', एकांकी की विजया में आदेशात्मक स्वप्न,[2] एक दिन के निरंजन में मनोविकृति, 'भगवान मनु' के मनु में विभ्रम है। उनके 'गरुडध्वज' नाटक में कालिदास की उक्ति कि कवि की सन्तान तो उसकी रचना है। वासन्त से मैं काव्य उत्पन्न करूँगा........कोई दूसरी सन्तान नहीं।[3] यह काम के

१—ऋतुराज—डा० रामकुमार वर्मा—पृ० सं० ११८, ११९

२—कावेरी में कमल—मिश्र—पृ० सं० ८६, ८७

३—गरुडध्वज— ,, ,, १५१

पर्युत्थान का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'कौमुदी' मे हेत्वारोपण[1] वासन्ती में स्वाक्रमण प्रेरणावेग से आत्महत्या का प्रक्रम। मलयवती मे यौन विच्युति और इन दोनो स्त्रियों के संवादों में आन्तरिक संघर्ष काम विकृति का परिणाम है।[2] 'नारद की वीणा' नाटक की 'चन्द्रभागा' में यौन संगठन, मेनका में कुण्ठायें है।[3] नारद और नारायण कहीं-कहीं मनोविश्लेषण विधा को अपनाते पाये जाते हैं।

उपेन्द्र नाथ अश्क के 'खिड़की' एकांकी में 'नयना' का प्यार 'बदन' और 'कुन्दन' से है। वह बदन से विवाह और कुन्दन से काम तृप्ति की इच्छा रखती है। इस सम्बन्ध में 'नयना' का मनोविश्लेषण 'पारो' करती है।

हम नहीं जानते हमारे मन में क्या छिपा है,
अपने मन को टटोलो।[4]

इस संवाद से स्पष्ट है कि नयना वाह्य रूप में कुछ और है तथा आन्तरिक रूप में कुछ और। उनकी 'सूखी डाली' एकांकी की 'बेला' किसी प्रबल मनोवेग के अभाव से ग्रसित है। फलतः उसको मनोग्रस्तता ने आ घेरा है। इसीलिए वह चाहती हुई भी यह नहीं बतला पाती कि वह क्या चाहती है—

"न जाने मैं क्या चाहती हूं (सिसकने लगती है)
न जाने मैं क्या चाहती हूँ॥"[5]

'स्वर्ग की झलक' का 'रघु' 'उमा' से प्रभावित होकर ध्यानाकर्षण की मनोवृत्ति से व्याप्त है। 'रक्षा' को आकर्षण हीन होने के कारण वह नहीं चाहता। 'राजेन्द्र' के यह कहने पर कि ये आकर्षण उस मोती की चमक के समान है जिनकी चमक से आँखें चौंध सकती हैं, पर जीवन के खरल में पीस कर इन्हें काम में नहीं लाया जा सकता।[6] उसका मानसिक विकार दूर हो जाता है।

एकांकी संग्रह 'देवताओं की छाया में' अधिकार के रक्षक सेठ जी के अन्तर्गत मानसिक कुण्ठायें हैं। 'विवाह के दिन' 'परसराम' में यौन वर्जना के कारण उन्माद है। उसकी सांकेतिक चेष्टायें आन्तरिक संघर्ष की प्रतिपादक हैं।[7]

१— ,, ,, ,, १७८
२— ,, ,, ,, ३७ से ४४
३—नारद की वीणा—मिश्र—ती० अंक पृ० सं० १०६
४—चरवाहे—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—पृ० सं० १५८
५— ,, ,, २०१
६—स्वर्ग की झलक—अश्क ५७
७—देवताओं की छाया में—अश्क—पृ० सं० २४, २५

अश्क जी के 'अन्धी गली' एकांकी में प्रबल मनोवेग के अभाव 'द्वारा निर्मित मनोग्रस्तता है। 'रामचरण का यह कथन कि तबियत का खिलना मन से सम्बन्ध रखता है, और मन के लिए कोई न कोई नशा जरूरी है।[1] यह अभावग्रस्तता का ही पूरक है।

उदयशंकर भट्ट के क्रान्तिकारी नाटक में मनोहर, वीणा, दिवाकर और रेणु में आन्तरिक संघर्ष है। 'मुरली' परस्पर विरोधी भाव प्रवणता मनोवृत्ति की परिभाषा प्रस्तुत करता मिलता है—

"यह तो मनोविज्ञान की बात है कि कभी-कभी बुरे मनुष्य के हृदय में भी सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं।[2]" मनोवृति के कारण 'दिवाकर' शारीरिक रोग से पीड़ित है। वह भावरेचन को ही स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त बतलाता है।[3] रेणु में पिगमैलियनवादी मनोवृत्ति मिलती है।

'आज का आदमी' एकांकी संग्रह में भट्ट जी ने ऐसे पात्रों को रखा है जो मनोविकृत हैं, क्योंकि आज मानव समाज की परिस्थितियों की विवशताओं से निर्मित अचेतन मन का चिरन्तन पीड़क अंकुश उसकी दुर्भावनाओं एवं कुण्ठाओं को उर्वर कर रहा है। फलतः इस संग्रह में नाटककार ने आज के नाटक का मूल प्रश्न व्यक्ति मात्र को कुण्ठाहीन बनाने में माना है। 'आज के आदमी' के 'धनपतराय' मे यही मनोविकृति मानव मात्र का प्रतिनिधित्व कर रही है। वह कहता कुछ और करता कुछ है। स्वामी उसकी इस कुन्ठा का उपचार उसकी मनोग्रन्थि खोलकर ही सम्भव बतलाता है।[4]

डा० रामकुमार वर्मा के 'रंगीन स्वप्न' एकाँकी के 'कमल' में काम चौर्य की प्रवृत्ति है। 'एक तोले अफीम की कीमत' में 'मुरारी मोहन' और 'विश्वमोहिनी' में 'स्वपीड़क परितोष है। 'आशीर्वाद' में 'रिअक्शन फारमेशन' (जो मेरा नहीं तो किसी का नहीं) की मनोवृत्ति राजेश कुमार में मिलती है। अभावग्रस्तता के वशीभूत होकर 'चम्पक' एकांकी में 'चम्पक' कुत्ते से अनुरक्ति का उदाहरण पाया जाता है। 'नहीं के रहस्य' में प्रो० हरि नारायण का षोडशवर्षीया राधा रानी का आकर्षण स्थानान्तरण से वात्सल्य रूप में परिणत हो जाता है। 'एक्ट्रैस' की 'प्रभा' दोहरे व्यक्तित्व से प्रादुर्भूत 'अहबोधावस्था' की अन्तर्वृत्ति से अपने आपको अपने से भिन्न समझती है।

१—अन्धी गली—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० सं० १४१
२—क्रान्तिकारी—उदय शंकर भट्ट—पृ० सं० ४६
३— ,, ,, १३, १४
४—आज का आदमी—उदय शंकर भट्ट—पृ० सं० ३८

'शिवाजी' नाटक में शिवाजी पात्र प्रतिगमन, मातृप्रणय ग्रन्थि, स्थानान्तरण और तादात्म्यीकरण से प्रेरित है।[१] 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक' के 'धवलकीर्ति' मे काम-चौर्य, 'रत्नप्रभा' में स्थानान्तरण और समुद्रगुप्त द्वारा मनोविश्लेषक की भाँति संमोहन पद्धति को दिखलाया गया है। 'आँखो का आकाश' में सुलेखा और अविनाश पात्र में हेत्वारोपण, स्वाक्रमण प्रेरणावेग, परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्तियाँ मिलती हैं। '१८ जुलाई की शाम' के अशोक मे प्रकृत काम, उषा में इड् और अहं के द्वन्द्व के पश्चात् अहं की विजय और प्रमोद मे नैतिकाहं का प्राबल्य है। 'स्वर्ण-श्री' के सम्राट वृहद्रथ में इड् का आधिपत्य है।

वर्मा जी के 'रेशमी टाई' के नवीनचन्द्रराय में मनोविकृति है। 'कौमुदी महोत्सव' में चाणक्य की अहं निसर्ग वृत्तियों का यौन निसर्ग वृत्तियों से द्वन्द्व है। 'दीपदान' में 'पन्ना' का अहं 'चारुमित्रा' में अशोक की मुमूर्षात्मक प्रवृत्ति उल्लेख-नीय है।

डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'बीरबल' नाटक मे गोमती और जसवन्त पात्र मनोग्रस्तता से आक्रान्त है।[२] 'फूलो की बोली' की कामिनी और माया दोनों कला के हेतु द्वारा अपने अनियन्त्रित इड् की तृप्ति में संलग्न है। कामिनी कहती है—

"मैं सोचती हूँ मैंने आपके साथ अन्याय किया है। परन्तु विवाह नहीं करूँगी। अपनी कला को बन्दीगृह में भीतर नहीं जकड़ सकती।[३]"

माया भी ऐसा हेतु प्रस्तुत करती है—

"जब तक मन को अनेक प्रकार के बहलावों की उत्तेजना नहीं मिलती तब तक केवल स्वास्थ्य से कला को पूरा चैन नही मिल सकता।[४]

विष्णु प्रभाकर के माँ एकांकी में एलेक्ट्रा ग्रन्थि का आभास मात्र प्रतीत होता है। प्रभाकर माचवे के 'यदि हम वे होते' में नवीन मनोविज्ञान के अनुसार पात्रों में मनोविकृतियाँ हैं। अर्जुन चौबे काश्यप के रजनी गन्धा 'में यौन मनोविज्ञान' 'दोहरा व्यक्तित्व' में भिन्न व्यक्तित्व की अवतारणा आन्तरिक संघर्ष से हुई है। 'स्वप्नहार' में स्वच्छन्द प्रकृत काम है। काश्यप जी के एकांकियों में स्नायु व्यतिक्रम एवं उन्माद का सफल निर्वाह हुआ है। भुवनेश्वर प्रसाद के 'स्ट्राइक' के श्रीचन्द की पत्नी में

१—शिवाजी— डा० रामकुमार वर्मा—पृ० सं० ९२
२—बीरबल—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० ७६, ७८, ७९
३—फूल की बोली—डा० वृन्दावन लाल वर्मा—पृ० सं० १६
४— „ „ „ ३०

प्रकृत काम और श्रीचन्द में मैथुनिक शीतलता है। उसकी पत्नी का इड् 'निहाल साहब' के इड् से मेल खाकर संतुष्ट हुआ है।

आचार्य चतुरसेन के 'अजितसिंह' नाटक में 'जहादर शाह' बादशाह उन्निद्र-रोग' (इन्सोम्नियाँ) मानसिक रोग से उत्पीड़ित हैं। भय संवेगाविष्ट होकर उसमें विभ्रम है। वह विभ्रम वश नाना प्रकार की कल्पना करता है।[1] अजितसिंह का वैवाहिक गठबन्धन अपूर्ण प्रतीत होता है तभी वह 'रजिया' बिना जीवन की इति श्री समझता है।[2] रजिया का उन्माद पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

सेठ गोविन्द दास के 'फांसी' एकांकी में कवि, पूँजीपति और मजदूर मनो-विकृत हैं। कवि में सहयौन सुख दुःखास्तित्ववादी (सादवाद मासोकवाद) पूँजीपति में मानसिक नियतिवाद और मजदूर में प्रतिशोध ग्रन्थि है।[3] उनके 'अन्तःपुर का छिद्र' नाटक में पद्मावती में प्रकृत काम का आवेग, अभिताभ से प्रतिशोध, अचेतन मन की प्रेरणा से अभिताभ को पाने की इच्छा से दीवार मे छिद्र करना, परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति से हुए हैं। इसी अन्तर्वृत्ति से उसमें काम का पर्युत्थान हुआ है।

१—अजितसिंह—आचार्य चतुरसेन—पृ० १११, १२, १९

२— ,, ,, पृ० ५६

३—सेठ गोविन्द दास ग्रन्थावली (खण्ड तीन) पृ० सं० ५६: ५७

उपसंहार

★

प्रसादोत्तर युग के हिंदी नाटकों में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास और भविष्य

हिन्दी नाटकों में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास—बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक के उपरान्त पाश्चात्य मनोविश्लेषणात्मक नाट्य पद्धति का प्रभाव हिन्दी नाटकों में यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। जयशंकर प्रसाद की अन्तिम नाट्यकृति "ध्रुवस्वामिनी" (१९३३) से पूर्व ही परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप में पश्चिम के मनोविश्लेषणवादी मनस्तत्ववेत्ताओं की विचारधारा लक्ष्मीनारायण मिश्र के "संन्यासी" (१९३१) "राक्षस का मन्दिर" (१९३१) और "मुक्ति का रहस्य" (१९३२) नाटकों में उद्‌भासित है।

मिश्र जी ने इन नाटकों में यौन विकृतियों के आधारभूत-कामात्मक प्रतिवाद, बद्धता, प्रत्यावर्तन, विकृत काम का विलक्षण मानसिक प्रक्रम आहत तृतीय पक्ष, स्थानान्तरण, हेत्वारोपण, मातृ-प्रणय-ग्रन्थि, प्रकृत काम का रेचन, तादात्म्यीकरण, ऊर्ध्वगमन, हीनत्वकुण्ठा और हीन भावना के प्रतिक्रिया स्वरूप क्षतिपूर्ति आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को अत्यन्त सफलता के साथ प्रयुक्त किया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित इन नाटकों के पात्रों की अन्तःवृत्तियाँ कहीं कहीं तो पश्चिम की संस्कृति के अनुरूप ही प्रतीत होती हैं, जिससे वहाँ यह भेद करना कठिन हो जाता है कि ये पात्र पौर्वात्य नाटकों के हैं या पश्चिम के। मिश्र जी के ये नाटक प्रसाद जी के भावुक एवं कृत्रिम चरित्र निर्माण में मनोवैज्ञानिक भूलों के प्रतिक्रिया स्वरूप विदित होते हैं। परन्तु यहाँ यह अवेक्षणीय है कि आधुनिक हिन्दी नाटकों में आयी हुई मनोविश्लेषण पद्धति के फलस्वरूप अन्ततः पश्चिम के इस यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक प्रभाव से जयशंकर प्रसाद भी मुक्त न रह सके। अतएव पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नाटकों की भांति उन्होंने भी अपनी अन्तिम नाट्य कृति ध्रुवस्वामिनी के चरित्रगत वैचित्र्य, मानसिक द्वन्द्व-वश्यता, परस्पर विरोधी भाव प्रवणता, मानसिक नियतिवाद, स्व आक्रमण प्रेरणावेग, हेत्वारोपण और काम विच्युति से उद्‌भूत आहत तृतीय पक्ष एवं प्रतिगमन आदि मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों

का समावेश सफल मनोविश्लेषक की भांति किया है। इन मनोविकृतियों के सहारे नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक होती हुई भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक बन गई है। पात्रों में पाश्चात्य यथार्थवादिता के आधार पर सेक्स समस्या की मनोग्रन्थियों का पूर्ण विकृत रूप प्रदर्शित किया गया है। ध्रुवस्वामिनी नाटक के समकालीन एकांकी "प्रेम की वेदी" में प्रेमचन्द ने भी सैक्स की इसी उन्मुक्त उड़ान तथा कामात्मक और अहं निसर्ग वृत्तियों का आन्तरिक द्वन्द्व फ्राइडवादी स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर दिखलाया है।

इन मनोवैज्ञानिक नाटकों के अनुशीलन के परिणाम में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि प्रसाद युग के अन्तिम तीन वर्षों में मनोविश्लेषणात्मक नाट्य पद्धति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी नाटकों के अन्तर्गत पूर्णतया सन्निहित हो चुकी थी। आधुनिक हिन्दी नाटकों में इस पद्धति का यथार्थ रूप सर्वप्रथम लक्ष्मीनारायण मिश्र की मनोवैज्ञानिक नाट्य कृतियों में ही देखा जाता है।

यहाँ पर यह दृष्टव्य है कि जिस प्रकार मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर मनोविश्लेषणात्मक नाट्य धारा का उद्भव आधुनिक हिन्दी नाटकों में मिश्र जी द्वारा हुआ है, इसी भांति प्रसादोत्तर युग में इसको प्रौढ़त्व की ओर ले जाने वाले भी सर्वप्रथम लक्ष्मीनारायण मिश्र ही हैं। इस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को विकासोन्मुख बनाने वाली उनकी नाट्यकृतियाँ—"राजयोग" (१९३४) और "सिन्दूर की होली" (१९३४) हैं। मिश्र जी ने इन नाटकों की कथावस्तु, रचनात्मक प्रक्रिया और चरित्रों को यथार्थवादिता के आधार पर मनोविज्ञान के सांचे में ढाला है। इन दोनों नाटकों में फ्राइडियन काम प्रवृत्ति का हृदय स्पर्शी निदर्शन हुआ है। "राजयोग" में स्नायुगत-रति-शक्ति हीनता, यौन विच्युति, यौन वर्जना, ईर्ष्या के भ्रम की मनोग्रन्थि, आत्म-हीनता एवं अपराध ग्रन्थि, मनोग्रस्तता, ऊर्ध्वगमन, मोह निद्रा, सम्मोहन पद्धति एवं सम्मोहनोत्तर निर्देश और कामात्मक फेटिशवाद का मनोविश्लेषण की शैली में प्रयोग हुआ है। 'सिन्दूर की होली" में कामात्मक मनोग्रस्तता, विभ्रम, मनोविक्षिप्तता, मानसिक द्वन्द्व से उद्भूत हिस्टीरिया, आहत तृतीय पक्ष, प्रत्यावर्तन, हेत्वारोपण, आत्मरति, भिन्न व्यक्तित्व, मानसिक संतुलन के लिये चित्र बनाकर भावरेचन, प्रति-शोध ग्रन्थि, परपीड़न से स्वपीड़न की मनोवृत्ति, आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण, आदेशात्मक स्वप्न, उन्निद्र रोग आदि मनोवैज्ञानिक उपपतियों का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में मिश्र जी की इन नाट्यकृतियों के पश्चात् भुवनेश्वर प्रसाद के "कारवाँ" (१९३५) एकांकी संग्रह ने इस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की धारा में अच्छा योग दिया है। उनके "श्यामा एक वैवाहिक बिडम्बना" एकांकी में—यौन वर्जना और बुद्धित्व, "रोमांस रोमांच" में कामविकृतियाँ, "एक साम्यहीन

साम्यवादी" में काम तृप्ति के लिये आरोपण मनोवृत्ति का प्रयोग, "प्रतिभा के विवाह" में पारिवारिक एवं एलेक्ट्रा ग्रन्थि, और "शैतान" एकांकी में काम प्रबल आवेग के साथ साथ डा० एरिक फ्राम की जीवन के लिये उपयुक्त अर्थ सम्बन्धी मान्यताओं को ग्रहण किया है।

इसी दशक में "१८ जौलाई की शाम" (१९३६), आधी रात, मत्स्यगन्धा, कलिंग विजय (१९३७), विश्वामित्र दो भावनाट्य (१९३८) रीढ़ की हड्डी (१९३९) स्वर्ग की झलक, देवताओं की छाया में, और "अन्तःपुर का छिद्र" (१९४०) आदि नाट्य कृतियों ने मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को विकासोन्मुख बनाया है। इन नाट्य कृतियों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों का विकास इस प्रकार हुआ है —

डा० रामकुमार वर्मा के "१८ जौलाई की शाम" एकांकी में फ्राइडियन स्वच्छन्द काम की अभिव्यक्ति एवं फ्राइड और होमरलेन द्वारा उसस्वैरिणी प्रवृत्ति में सुधार का प्रस्फुटन हुआ है। मिश्र जी के "आधी रात" नाटक मे भी यही स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, किन्तु विन्यास शैली के कारण डा० वर्मा की भाँति यहां विरेचन नहीं हो सका है। उदयशंकर भट्ट के मत्स्यगन्धा भावनाट्य में प्रकृत काम का दुर्दाम इड् तथा विभ्रम के द्वारा सहबोधावस्था और यौन तृप्ति का पूर्ण समाहार हुआ है। उनके दूसरे भावनाट्य विश्वामित्र में अहंवादी युग के अनुसार अहं की स्थापना में आन्तरिक द्वन्द्व के कारण दोहरा व्यक्तित्व आ झांका है। जगदीशचन्द्र माथुर का 'कलिंग विजय' एकांकी आक्रमण एवं मुमूर्षात्मक प्रवृत्ति से समन्वित है। उनके दूसरे एकांकी 'रीढ़ की हड्डी' में सामयिक सैक्स समस्या के मनोविकार हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'स्वर्ग की झलक' और 'देवताओं की छाया' में क्रमशः अनियन्त्रित इड् और परस्पर विरोधी भाव प्रवणता है। सेठ गोविन्ददास के 'अन्तःपुर के छिद्र' में अचेतन मन के असामान्य कार्यों की मनोविकृति है।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित उक्त दशक के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि इन नाटकों में मनोविज्ञान के अप्रत्यक्ष प्रभाव के साथ-साथ कहीं-कहीं फ्राइड में मनोविश्लेषण का प्रत्यक्ष प्रभाव भी परिलक्षित होता है। परिणामतः तभी वहाँ मनोविश्लेषण सम्प्रदाय से अनुसार मनोविकृतियों के प्रेरक तत्वों का निर्वाह मनोवैज्ञानिक शैली में हुआ है। मानसिक संतुलन हेतु फ्राइडियन संमोहन विधा का प्रयोग, तदनुसार मोहनिद्रा में अचेतन मन की अतृप्त दमित कामेच्छाओं को चेतन मन के समक्ष उपस्थित करना एवं संमोहनोत्तर निर्देश में चित्रांकन से भावरेचन का मानसिक प्रक्रम मनोविश्लेषण के प्रत्यक्ष प्रभाव से ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त गम्भीर गवेषणाओं के उपरान्त निर्णीत फ्राइडियन स्वैरिणी प्रवृत्ति की फ्राइड और होमरलेन द्वारा संशोधित मान्यताओं का पात्रों के संवादों में मिलना भी मनोविश्लेषणवाद के प्रत्यक्ष प्रभाव का प्रतिपादक सिद्ध होता है।

बीसवीं शताब्दी के पंचम दशक में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास नाटकों की रचनात्मक प्रक्रिया में हुआ है। इस दशक में 'छाया' नाटक 'रेशमी टाई' एकांकी संग्रह 'राधा' भावनाट्य 'मकड़ी का जाला' (१९४१) 'चरवाहे' 'चिलमन' 'मेमूना' (१९४२), उड़ान(१९४३) 'अंजो दीदी' 'भंवर' (१९४४) 'प्रथम विवाह' 'स्वप्नहार' (१९४५) 'खण्डहर' (१९४६) 'बांस की फांस' आदिमार्ग (१९४७) 'यदि हम वे होते' (१९४८) 'कैद' 'मंगलसूत्र' 'रजनीगन्धा' (१९४९) 'खिलौने की खोज' 'वत्सराज' कालिदास, 'मेघदूत' विक्रमोर्वशी (१९५०) आदि नाट्य कृतियों ने मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को निरन्तर प्रवहमान किया है।

हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' नाटक में कामात्मक मनोग्रस्तता, यौन वर्जना और प्रबल मनोवेग के अभाव की प्रतिक्रिया है। डा० रामकुमार वर्मा के परीक्षा एकांकी में कामात्मक द्वन्द्व की मनोविश्लेषणात्मक विरेचन पद्धति, स्वरतिक अभिन्नीकरण (नारसिस्टिक आइडेन्टिफिकेशन) के कारण पात्र अनमने, उदास खिन्न चित्त, सांकेतिक चेष्टाओं से आन्तरिक द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधृत पात्रों के कथोपकथन, पात्रों में मनोविश्लेषक पात्र, मानसिक रोगी की भाँति अपने मन का विश्लेषण भी पात्रों को न भाने का निर्देशन और उदात्तीकरण की अन्तर्वृत्तियाँ मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण मिलती हैं। उदयशंकर भट्ट के भावनाट्य 'राधा' में तादात्म्यीकरण, जगदीशचन्द्र माथुर का 'मकड़ी के जाल' एकांकी में काम—आवेग (सैक्सुअल इम्पल्स) कामोन्नयन, अर्द्ध चेतन मन को छायामूर्त्ति पात्र द्वारा अभिव्यक्त करना, आन्तरिक द्वन्द्व की पराकाष्ठा में स्वप्न, विरेचन सिद्धान्त से मनोग्रस्तता का निष्कासन एवं मनोविश्लेषणात्मक विन्यास शैली का पूर्ण निर्वाह हुआ है। अश्क जी के 'चरवाहे' में इड् के समक्ष सामाजिक अहं की अवहेलना, 'चुम्बक' में प्रकृत काम, 'चिलमन' में अतृप्त दमित काम के फलस्वरूप आक्रमण प्रेरणावेग से आत्म हत्या, 'मैमूना' में स्वैरिणी प्रवृत्ति से निषिद्ध प्रेम, स्नायविक गड़बड़ी। 'उड़ान' में सामाजिक अहं द्वारा काम की परिष्कृति, सांकेतिक चेष्टायें, रंग संकेत में छाया पात्रों का निदर्शन हुआ है। अश्क जी का 'अंजो दीदी' नाटक आनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति गत अखण्ड अहं पर स्थित है। नाटक में मानसिक सनक, दौरे और स्नायु व्यक्तिक्रम का भी प्रयोग है। मनोविश्लेषण का कार्य भी एक पात्र में मनोविश्लेषक के हाव-भाव और चेष्टाओं को सम्पन्न बनाने में हुआ है। नाटक में मनोवैज्ञानिक विरेचन पद्धति एवं विन्यास शैली को पूर्णतया अपनाया है। 'भंवर' में बहुव्यक्तित्व, आत्म वंचना, मनोविश्लेषणात्मक रंग-संकेत और संवाद. पात्रों में फ्राइड को पढ़ने एवं समझने की लत, आन्तरिक संघर्ष से अनुप्रेरित स्वोक्तिपरक कथोपकथन और सांकेतिक चेष्टायें हैं। भट्ट जी के 'प्रथम विवाह' एकांकी में सोफोक्लीज के पात्रों से भी बढ़कर निषिद्ध संभोग और इडियप ग्रन्थि की स्वाभाविकता दिखलाई है।

अर्जुन चौबे काश्यप के 'स्वप्न हार' में नारी मनोविज्ञान, नारी के अव्यवस्थित इड् और पुरुष पात्रों में मनोविकृति मिलती है।

जगदीश चन्द्र माथुर के एकांकी 'खण्डहर' में अनैच्छिक विवाह से काम समस्या, प्रत्यावर्तन और समष्टि-व्यष्टि-अचेतन मन का द्वन्द्व है। डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'बांस की फांस' नाटक में कामात्मक मनोग्रन्थि मानसिक द्वन्द्व से हतसंज्ञ होना, संमोहन पद्धति द्वारा अज्ञात मन की बात चेतन मन पर लाना आदि मानसिक प्रक्रम हैं। 'आदि मार्ग' में अश्क जी ने काम प्रवृति (सैक्स) समस्या को मन के विरुद्ध विवाह पर आधारित किया है। यौन वर्जना के कारण मानसिक रोग, मूर्च्छा, अन्तर्द्वन्द्व का मार्गान्तरीकरण सांकेतिक चेष्टाओं में प्रकट किया गया है। प्रभाकर माचवे के 'यदि हम वे होते' में मानसिक वैषम्य से कुन्ठायें, नारी मनोविज्ञान और यौन विच्युतियों को अभिव्यक्त किया है। अश्क जी के 'कैद' मे इड् की उन्मुक्त काम पिपासा, मानसिक असंतुलन से शारीरिक रोग, आत्म भर्त्सना द्वारा मानसिक स्नायुविक व्याधियाँ, स्नायुगत रति शक्ति हीनता, मनोवैज्ञानिक रंगसंकेत में सांकेतिक चेष्टायें और प्रबल मनोवेग की अभाव ग्रस्तता मिलती है। डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'मंगलसूत्र' नाटक में भय संवेग, पूर्ण यौन अनुभूति हीनता (अनेडोनिया) हेत्वारोपण, मनोविश्लेषक पात्र तथा मनोविज्ञान से रुचि रखने वाले पात्रों के संवादों में मन:शास्त्र की विवेचना प्रस्तुत है। काश्यप जी के 'रजनीगन्धा' में यौन संगठन है। डा० वृन्दावन लाल वर्मा के 'खिलौने की खोज' नाटक में यौन वर्जना से मनोविकृतियां, मानसिक रोग से शारीरिक व्याधियां, काम विकृति का प्रति रूप पिगमैलियनवाद, मनोविश्लेषणात्मक संवाद, खिलौने द्वारा अज्ञात मन में पड़ी हुई स्मृतियों को चेतन मन पर लाना, पात्रों में मनोविज्ञान का विश्लेषण, संमोहन पद्धति के अनुसार मानसिक संतुलन विरेचन सिद्धान्त से अनुप्रेरित है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'वत्सराज' में भूलों का मनोविज्ञान अतृप्त काम, स्वप्न, हेत्वारोपण, अवचेतन मन में दबी कामेच्छाओं का प्रस्फुटन है। भट्ट जी के कालिदास ध्वनिरूपक में कामोन्नयन, इन्सोम्निया मानसिक रोग और साहित्य द्वारा भावरेचन है। उनके मेघदूत में भूलों का मनोविज्ञान. मूर्च्छा, विभ्रम और यौन स्फीति है। इसी भांति 'विक्रमोर्वशी' में भय संवेग, पात्रों के संवादों में मनोविश्लेषण शास्त्र की मान्यताओं का स्पष्टीकरण, अभिनय करते समय पात्र में अपने व्यक्तिगत अन्तर्द्वन्द्व वश रंगमंच पर अभिनय की विशेष स्थिति का ध्यान में न रखते हुए भूलों के मनोविज्ञान द्वारा अपने मन चाहे वर की मांग करना, पागलपन, मानसिक सन्तुलन की प्रक्रिया पायी जाती है।

इस भांति पंचक दशम में चतुर्थ दशक की अपेक्षा नाटकों की रचनात्मक प्रक्रिया पूर्ण विकास की ओर अग्रसर हुई है। पात्रों में स्नायु व्यतिक्रम-हत संज्ञता,

सनक दौरे, स्नायुविक व्याधियां, स्नायुगत रतिशक्तिहीनता, मूर्च्छा, पागलपन आदि मनोविश्लेषणात्मक वृत्तियों का प्रवेश प्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक प्रभाव द्वारा विदित होता है। कथोपकथनों में फ्राइड को पढ़ने और समझने की पात्रों द्वारा स्वीकृति तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी ही संवादों मे तर्क-वितर्क एवं पात्रों में मनोविश्लेषक पात्र की सृष्टि भी मनोविज्ञान के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण प्रतीत होती है। रचनात्मक प्रक्रिया में मानसिक द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने के लिए रंग-मंच पर नवीन मनोवैज्ञानिक नाट्य पद्धति के अनुसार छाया पात्रों को भी उपस्थित किया गया है। रस की अपेक्षा विरेचन सिद्धान्त और मनोविश्लेषणात्मक विन्यास शैली को इन नाटकों में प्रश्रय मिला है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अनन्तर मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास हिन्दी नाटकों में पूर्णता को पहुँच चुका है। इस दशक में 'ऋतुराज, 'कावेरी में कमल' 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ, एकांकी संग्रहों, काव्य रूपक' 'रजतशिखर' (१९५१) 'छठा बेटा' नाटक 'दोहरा व्यक्तित्व' एकांकी (१९५२), वितस्ता की लहरें (१९५३) दशाश्वमेघ, अन्धायुग' (१९५४) अन्धा कुंआ, नाटक रिमझिम एकांकी संग्रह, रेडियो नाटक संघर्ष (१९५५) वैशाली में बसन्त, वह आया (१९५६) मछली के आंसू (१९५७) रेडियो रूपक संग्रह, डाक्टर नाटक (१९५८), आज का आदमी (१९५९) एकांकी संग्रह रंग और रूप (१९६०) जवानी और छः एकांकी, काव्य रूपक उर्वशी छलावा (१९६१) आदि नाट्य कृतियों ने मनोवैज्ञानिक प्रवृति को शाश्वत गति दी है। इन नाट्य कृतियों में मानसिक प्रक्रम इस प्रकार मिलता है—

डा० राम कुमार वर्मा के ऋतुराज एकांकी संग्रह के 'स्वर्ग श्री' एकांकी में स्व आक्रमण प्रेरणावेग, कादम्ब या विष में जीवन मरण प्रवृत्तियां और 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' में हीन भाव, हेत्वारोपण और नारी मनोविज्ञान से युक्त कथोपकथन हैं। मिश्र जी के 'काबेरी में कमल' एकांकी में कथावस्तु प्रकृत काम से परिचालित है। 'अश्क' जी के 'पर्दा उठाओ और पर्दा गिराओ' संग्रह के 'तौलिया' एकांकी में पात्रों के संवादों द्वारा सांकेतिक चेष्टाओं की अभिव्यक्ति हुई है। कथावस्तु का आधार अनैच्छिक विवाह से आन्दोलित काम प्रवृत्ति (सैक्स) है। सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य रूपक 'रजत शिखर' में जीवन के ऊर्ध्वगमन एवं समतल सचरणों का द्वन्द्व मानसिक सन्तुलन के लिए हुआ है। पात्रों में मनोविश्लेसक नामक पात्र की भी सृष्टि हुई है। फ्राइडियन स्वच्छन्दतावाद और उसकी परिष्कार, कामोन्नयन, उदात्तीकरण द्वारा सभ्यता, संस्कृति और कला का विकास, मनोग्रन्थियों का सृष्टा आज का अहंवादी युग और युंगीय समष्टि अचेतन द्वारा अहंवाद का निराकरण दिखलाया गया है।

अश्क जी के "छठा बेटा" नाटक में हेत्वारोपण स्वप्न, अभावग्रस्तता एवं आन्तरिक द्वन्द्व के प्रतिरूप छायापात्र रंगमंच पर दिखलाये हैं। अर्जुन चौबे काश्यप

के "दोहरा व्यक्तित्व" में मानसिक द्वन्द्व के आधारभूत भिन्न व्यक्तित्व की अवतारणा हुई है। मिश्र जी के "वितस्ता की लहरें" नाटक में कथावस्तु काम प्रवृत्यात्मक और कामोन्नयन से परिपूरित है। उनके दशाश्वमेघ में कामोन्नयन और प्रतिगमन तथा 'चक्रव्यूह' में अहंवाद से प्रेरित प्रतिशोध ग्रन्थि का आद्योपान्त सफल निर्वाह हुआ है। डा० धर्मवीर भारती के अंधायुग में इसी प्रतिशोध ग्रन्थि का प्रणायन हुआ है। डा० लक्ष्मी नारायण लाल के 'अंधा कुँआ' नाटक में काम प्रवृत्ति को केन्द्र विन्दु बनाकर प्रतिशोध, स्वप्न और हीनत्व कुन्ठा का समावेश है। मिश्र जी के 'वैशाली में बसन्त' नाटक में आत्महीनता ग्रन्थि, क्षतिपूर्ति निषिद्ध संभोग और आदेश तथा प्रतीक स्वप्नों की अभिव्यक्ति हुई है। डा० रामकुमार वर्मा के 'रिमझिम' एकांकी सग्रह के रंगीन स्वप्न में भूलों का मनोविज्ञान दिवास्वप्न, काम चौर्य एवं 'एक तोले अफीम' में अतृप्त काम से स्व आक्रमण प्रेरणावेग पात्रों में मिलता है। सिद्धनाथ कुमार के सघर्ष रेडियो रूपक मे दोहरा व्यक्तित्व स्वोक्तिपरक संवादो द्वारा आन्तरिक वृत्तियों का प्रत्यक्ष रूप प्रदर्शित किया गया है।

चिरंजीत के रेडियो नाटक "वह आया" मे प्रतीक मूर्त्त मीत रोग और "महाश्वेता" में काम विकृति पिगमैलियनवाद, कामात्मक द्वन्द्व से मूर्च्छा, मनोविश्लेषणात्मक संवादों द्वारा रचनात्मक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक बन गई है। श्रीकृष्णकिशोर श्रीवास्तव के "मछली के आँसू" रेडियो रूपक संग्रह के सभी रूपक अतृप्त दमित काम की प्रतिकृति है। लम सेना, में यौन वर्जना के कारण स्वआक्रमण प्रेरणावेग से आत्महत्या, 'कच्चे धागे' में हीनत्व कुण्ठा और "तूफान के बाद" में सभी पात्र मनोविश्लेषण के अनुसार प्रतीक पद्धति पर आधृत है। विष्णु प्रभाकर के 'डाक्टर' नाटक में एडलरीय आत्महीनता ग्रन्थि क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया, प्रतिशोध ग्रन्थि, मनोग्रस्तता, अहं स्थापन, आत्मग्लानि, सहबोधावस्था, आन्तरिक द्वंद्व, दोहरा व्यक्तित्व, मनोविश्लेषणात्मक संवाद, कथावस्तु में मानसिक घटनायें और पात्र एवं रचनात्मक प्रक्रिया में मनोविज्ञान की प्रधानता है। इस नाटक में विरेचन सिद्धान्त का सफल निर्वाह विन्यास शैली में हुआ है।

उदयशंकर भट्ट के "आज का आदमी" में दोहरा व्यक्तित्व, विष कुम्भं पयोमुखं की मनोवृत्ति के अनुसार पात्र के कहने और करने में मनोविज्ञान की गूढ़ वृत्तियों का प्रस्फुटन है। इसमें इड् और सामाजिक अहं का द्वन्द्व सर्वोपरि दिखलाया गया है। भट्ट जी के "मायोपिया" एकांकी मे पात्रो के भिन्न व्यक्तित्व को रंगमंच पर छायामूर्ति द्वारा अभिनीत किया गया है। चेतन अचेतन मन के द्वन्द्व का प्रतिकार विरेचन पद्धति पर हुआ है। सिद्धनाथ कुमार के "रंग और रूप" रेडियो रूपकों मे युंगीय समष्टि व्यष्टि अचेतन मन का द्वन्द्व एवं दोहरा व्यक्तित्व स्पष्ट करने के लिये अरूप ध्वनि का प्रयोग किया है। जो पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। दिनकर जी के

"उर्वशी" काव्य नाट्य में मानवीय प्रेम को शरीर से उठाकर उसके भोक्ता मन, मनोविज्ञान और अध्यात्मक तक पहुँचा दिया गया है। मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर यौन स्फीति, प्रत्यावर्त्तन, परस्पर विरोधी भाव प्रवणता, सह यौन सुख दुःखास्त्विवाद (सादवाद, मासोकवाद) आन्तरिक द्वन्द्व के महत्व के कारण अन्तर्दाह से उत्पीड़त होकर मनोवैज्ञानिक पात्र निर्देशों द्वारा बार-बार पानी माँगने की सांकेतिक चेष्टायें और रंग संकेतों में पूर्ण मनोवैज्ञानिकता पायी जाती है। परितोष गार्गी के "छलावा" नाटक में विभ्रम वश मृत पात्र को छाया रूप में दिखलाया गया है। कथावस्तु में सेक्स का अथक् प्रवाह, चरित्र-चित्रण मे हेत्वारोपण, स्व आक्रमण प्रेरणावेग द्वारा आत्महत्या, मानसिक ग्रन्थियाँ और आदेशात्मक स्वप्न हैं। मनोविश्लेषणात्मक विरेचन सिद्धान्त से मनोविकृतियों का परिष्करण किया गया है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रथम दशक में मनोवैज्ञानिक नाट्य कृतियाँ "डाक्टर" "रजत शिखर" "संघर्ष" "वह आया" और "उर्वशी" की कथावस्तु, पात्र, रचनात्मक प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विकास महत्वपूर्ण हुआ है। मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के अनुसार मानसिक संतुलन के लिये जीवन के ऊर्ध्वगमन और समतल संचरणों का संघर्ष, उदात्तीकरण द्वारा सभ्यता, संस्कृति और कला का विकास, आन्तरिक द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिये स्वोक्तिपरक संवाद, संवेगाविष्ट होकर पात्र का प्रतीक मूर्त भीति रोग से आक्रान्त होना, और यौन विकृति से पिगमैलियनवादी मनोवृत्ति का प्रस्फुटन यहां नाटकों में पाया जाता है।

इस दशक में एडलरीय प्रतिपत्ति "आत्महीनता ग्रन्थि" एवं "क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया" का पूर्ण निर्वाह कथावस्तु, पात्र और रचनात्मक प्रक्रिया में अभूतपूर्व हुआ है। विरेचन सिद्धान्त के आधार पर मनोविश्लेषणात्मक विन्यास शैली को यहाँ पूर्णतया अपनाया गया है। पात्रों में विष कुम्भं पयोमुखं की मनोवृत्ति, भिन्न व्यक्तित्व द्वारा छाया पात्रों का रंगमंच पर अभिनय, दोहरा व्यक्तित्व स्पष्ट करने के लिये नेपथ्य में अरूपध्वनि, मानवीय प्रेम को मानव शरीर की अपेक्षा उसके भोक्ता मन, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म तक पहुंचाना, रंग संकेतों में मानसिक द्वन्द्व से अन्तर्दाह और जल पीकर उस दाह को शान्त करने की सांकेतिक चेष्टाओं का निदर्शन, मृत पात्र को छलावा रूप में प्रदर्शित करके छाया द्वारा संवाद आदि मानसिक प्रक्रम नाटकों की गति विधि में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिकता से सारगर्भित प्रमाण हैं।

अन्ततोगत्वा, इस अनुशीलन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विकास प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों में क्रमशः उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है जिसमें मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का सर्वोपरि स्थान है।

भविष्य—प्रसादोत्तर युग के हिन्दी नाटकों पर मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव परोक्ष या अपरोक्ष रूप में स्पष्ट है। परन्तु अब मनस्तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में फ्राइड की मनोविश्लेषण सम्बन्धी प्रतिपत्तियों की मान्यता घटती चली जा रही है। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित हिन्दी नाट्य साहित्य का भविष्य विचारणीय है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आज फ्राइड ही अपूर्ण नहीं प्रत्युत मानव मात्र अपूर्ण है। आज मनुष्य स्वयं मनुष्य के लिये अज्ञेय हो गया है। वह स्वयं एक भूल भुलैयां एवं रहस्यमय है। उसकी कौन प्रवृत्ति कब, क्या रूप धारण कर लेगी, इसके प्रति उसे स्वय विश्वास नहीं। ऐसा विदित होता है जैसे मनुष्य में अन्तश्चेतनावादी यथार्थ का प्राबल्य हो उठा है, तभी वह अतृप्तेच्छाओं के कारण मनोग्रस्त बनता जा रहा है। सामाजिक मर्यादा और राजनीतिक विषमता से उसमें कुण्ठायें बल पकड़ गई हैं। आज नाट्य साहित्य का काम इन्हीं मनोविकृतियों के कारण और निवारण प्रस्तुत करना है।

परिस्थिति और वातावरण के अनुसार नाटककारों का झुकाव स्वभावत: मनोविज्ञान की ओर होता जा जा रहा है। फ्राइड, एडलर, युंग की मान्यताओं के साथ-साथ इतर मनोविज्ञान शास्त्र की उपपत्तियों से वह अपना परिचय बढ़ाने का इच्छुक है। नाटककारों की इस प्रवृत्ति का समर्थन करते हुए महान् नाटककार उदय-शंकर भट्ट ने लिखा है कि इधर मनोविज्ञान शास्त्र के बहुव्यापी विस्तार के कारण मनुष्य के जीवन की प्रवृत्तियां भी बहुवंगी होकर स्पष्ट ही है। सोचता हूँ, यदि उन्हीं मुख्य प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन में नाटकों में कर सकूँ तो मानव सम्बन्धी बहुत सी समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि नाटककार भविष्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन अपनी नाट्य कृतियों में निर्देशित करके ही अपने प्रमुख उद्देश्य की पुष्टि करेगा, इसी प्रकार अन्य नाटककार भी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का प्रयोग अपने नाटकों में भविष्य में अवश्य करेंगे।

फलत: न सही फ्राइड, एडलर, युंग की मान्यतायें, उनके स्थान पर अन्य आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से हिन्दी नाट्य साहित्य के माध्यम द्वारा मनुष्य की मनोग्रन्थियों को भविष्य से खोला जा सकता है और मनोग्रस्तता का निष्कासन करके उसका मानसिक संतुलन बनाया जा सकता है।

प्राय: युग की परिस्थिति और वातावरण के अनुसार मनुष्य में परस्पर विरोधी भाव प्रवणता की मनोवृत्ति दृष्टिगत हो रही है। वह जो कुछ बाहर से दृष्टिगोचर हो रहा है, वही वह नहीं है। उसमें बहुत कुछ और भी निहित है। उसका

१—साहित्य के स्वर—उदय शंकर भट्ट पृ० सं० १०६

मन अधिक संश्लिष्ट ग्रन्थिमय तथा गुम्फित होता जा रहा है। अपनी न्यूनताओं को अदृश्य रखने का कौशल स्वप्रवंचन, हेत्वारोपण और आरोपण मनोवृत्ति द्वारा वह करता हुआ दीखता है। उसके इस मानसिक वैषम्य मे साम्य स्थापित करने के लिए नाटककारों को मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का आश्रय लेना अपेक्षित होगा। इस दृष्टि से हिन्दी नाट्य साहित्य से निहित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

भारत में औद्योगिक संस्कृति की वृद्धि अवश्यम्भावी है। उसके साथ मनुष्य का व्यक्तित्व अधिक से अधिक ग्रथित और संश्लिष्ट बनता जायेगा। उसके फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक समस्यायें जीवन में बहुत बढेंगी। स्वाभाविक है कि जीवन का चित्रण करने वाला साहित्य भी मनोविज्ञान प्रधान होगा। नाट्य साहित्य भी उससे अछूता न रहेगा। अतएव मनोवैज्ञानिक नाटकों का भविष्य अच्छा ही है। ऐसे नाटकों की संख्या अधिक से अधिक बढ़ने वाली है।

नाट्य शास्त्रियों का यह अभिमत है कि मनोवैज्ञानिक नाटकों के अभिनय के लिए रंगमच भी उनके अनुकूल विशेष प्रकार के चाहिये। वर्तमान में जैसे रंगमंच हैं वे उनके लिए पर्याप्त नहीं समझे जाते। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के रंगमंच है और प्रयोग में आ रहे है। उसी भांति के रंगमंच अपने देश में जब प्रयुक्त होने लगेंगे तो स्वाभाविक है कि मनोवैज्ञानिक नाटको का भविष्य उज्ज्वलतर हो जायेगा।

वैसे आजकल भी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो से सम्पन्न नाटको का विकास रेडियो पर मनोवैज्ञानिक नाटक कृतियों मे किंचित परिवर्तन करके बड़ी सुगमता से किया जा रहा है। मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों से अनुप्रेरित हिन्दी नाटककारों का झुकाव, वर्तमान रंग-मंच की अपूर्णता के कारण रेडियो नाट्य शिल्प की ओर क्षिप्रगति से होता जा रहा है, क्योकि मनोवैज्ञानिक चित्रण की पर्याप्त सुविधायें वहां मिलती हैं। मनोवैज्ञानिक ढंग से किसी पात्र के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने के लिए उसके विरोध में, उसके ही मन को वहां खड़ा करके कथोपकथन कराया जा सकता है,[1] जबकि यह मानसिक प्रक्रम आज के रंगमंच पर पूर्णतया अस्वाभाविक विदित होगा।

निदान, जब तक रंगमंच का निर्माण मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों से प्रेरित नाटकों के अनुरूप नहीं हो पाता तब तक उनका विकास रेडियो नाट्य शिल्प द्वारा ही सम्भव है। आज भी हिन्दी के मनोवैज्ञानिक नाटकों द्वारा रेडियो के माध्यम से यह पद्धति सम्पन्न हो रही है और आशा है कि भविष्य में भी इस प्रवृत्ति का विकास होता रहेगा।

१—रेडियो नाट्य शिल्प, सिद्धनाथ कुमार, पृ० सं० ३०

आलोचनात्मक एवम् अन्य सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

(१) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी भवन इलाहाबाद, तृ० सं० १९५१ ई०

(२) हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा, राजपाल, एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ली प्र० सं० २०११ संवत्

(३) हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन—डा० वेदपाल खन्ना भारत भारती दरियागंज दिल्ली, प्र० सं० १९५८ सन्

(४) हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—डा० रामचरण महेन्द्र, साहित्य प्रकाशन दिल्ली, प्र० सं० १९५८ सन्

(५) भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, हिन्दी भवन जालन्धर, प्र० सं० १९५९ सन्

(६) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद, सरस्वती मन्दिर जतनबर बनारस तृ० सं० संम्वत् २००६

(७) हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डा० श्री पति त्रिपठी, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, प्र० सं० सन् १९६१

(८) भारतेन्दु युग—डा० रामविलास शर्मा, (प्र० सं०) जनवरी १९५६ विनोद, पुस्तक मन्दिर हास्पिटल रोड, आगरा

(९) नाटक की परख—डा० एस० पी० खत्री, साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग, प्र० सं० १९४८

(१०) हिन्दी नाटक—डा० बच्चन सिंह, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० सं० १९५८

(११) आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र, साहित्य भण्डार आगरा, प्र० सं० संवत् २००७

(१२) हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार—डा० रामचन्द्र महेन्द्र, सरस्वती पुस्तक सदन मोती कटरा आगरा, प्र० सं०

(१३) **रेडियो नाटक**—हरिश्चन्द्र खन्ना एम० ए० आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली सन् १९५५
(१४) **रेडियो-नाट्य-शिल्प**—सिद्धनाथ कुमार एम० ए० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्र० सं० १९५५
(१५) **आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान**—डा० देवराज उपाध्याय, साहित्य भवन, प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद प्र० सं० १९५६ ई०
(१६) **पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव**—डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर सन् १९६०
(१७) **पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त**—लीलाधर गुप्त, भूमिका ले० डा० अमरनाथ झा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, प्र० स० १९५२
(१८) **विचार और अनुभूति**—डा० नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो दिल्ली द्वि० सं०
(१९) **सिद्धान्त और अध्ययन**—डा० गुलाबराय, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, प्र० सं० संवत् १९१७
(२०) **चिन्तामणि**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (दूसरा भाग)
(२१) **रीतिकाव्य की भूमिका देव तथा उनकी कविता**—डा० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो दिल्ली, सन् १९४९
(२२) **काव्य दर्पण**—राम दहिन मिश्र, ग्रन्थ माला कार्यालय, बाँकीपुर, प्र० सं० १९४७ ई०
(२३) **समीक्षा शास्त्र, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी**—अखिल भारतीय विक्रम परिषद काशी संवत २०१०
(२४) **अरस्तु का काव्य शास्त्र, डा० नगेन्द्र**—भारती भंडार लीडर प्रेस इलाहाबाद प्र० सं० संवत् २०१४
(२५) **हिन्दी साहित्य, डा० श्याम सुन्दरदास** - सन् १९४४
(२६) **साहित्यालोचन, डा० श्याम सुन्दरदास** - इन्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, आठवाँ सं० संवत २००५
(२७) **हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी**—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
(२८) **कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सैना**—विनोद पुस्तक मन्दिर हास्पिटल रोड, आगरा, प्र० सं० १९५८
(२९) **कामायनी अनुशीलन, रामलाल सिंह**—(द्वि० स०) सं० २००७ इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग
(३०) **आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद, डा० शम्भूनाथ पाण्डेय**—आगरा बुक स्टोर आगरा, प्र० सं० १९५५ ई०
(३१) **आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, डा० शैल कुमारी**—प्र० सं० सन् १९५१—हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

(३२) आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, डा० केसरी नारायण शुक्ल—सरस्वती मन्दिर काशी, संवत् २००४ प्रथम संस्करण

(३३) छायावाद और प्रगतिवाद, सम्पादक प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा—ग्रन्थमाला कार्यालय पटना—४ सं० २००६

(३४) हिन्दी साहित्य कोष, प्रधान सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा प्रथम संस्करण सम्मत २०१५—ज्ञान मन्दिर लिमिटेड, बनारस

(३५) सन्तुलन, प्रभाकर माचवे—(आधुनिक साहित्य और मनोविकृति)

(३६) साहित्य के स्वर, उदयशङ्कर भट्ट—मई १९६१ आत्मा एण्ड सन्स—दिल्ली

(३७) इबसेन की नाट्य कला—हरीश रायजादा (अलीगढ़)

(३८) विनय पत्रिका—तुलसीदास,

(३९) बिहारी सतसई—टी० ला० भगवानदीन, च० सं० सम्वत् १९९९, बनारस

(४०) विद्यापति पदावली—टी० कुमुद विद्यालंकर, प्र० सं० संवत् १९११, दिल्ली

(४१) जायसी ग्रन्थावली—मलिक मु० जायसी

(४२) सूर सागर—सूरदास,

(४३) उद्धव शतक—रत्नाकर, रसिक मण्डल-प्रयाग इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

(४४) प्रिय प्रवास,—'हरिऔध'

(४५) साकेत—मैथिलीशरण गुप्त,

(४६) परम्परा—अज्ञेय, (१९४६)

(४७) चिन्ता—अज्ञेय, द्वि० सं० (१९४६)

(४८) नयी दिशा—आरसीप्रसाद सिंह, (प्र० सं० १९४४)

(४९) मधूलिका—अंचल, (प्र० सं० १९३८)

(५०) प्रवासी के गीत—नरेन्द्र शर्मा, (दिसम्बर १९३८)

(५१) अग्नि समाधि—प्रेमचन्द,

(५२) आकाश दीप—जयशंकर प्रसाद, (द्वि० सं० संवत् १९९९)

(५३) कँटीले फूल लजीले काँटे—इलाचन्द्र जोशी, प्र० सं० १९५७ राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली,

(५४) पर्दे की रानी—इलाचन्द्र जोशी, चतुर्थ संस्करण संवत् २०१५ भारती भण्डार इलाहाबाद

(५५) शेखर एक जीवनी—अज्ञेय, द्वि० सं० १९४९

(५६) एक रात—जैनेन्द्र द्वि० सं० (सरस्वती प्रेस) इलाहाबाद

नाटक सूची

(१) **चक्रव्यूह**—लक्ष्मीनारायण मिश्र, कौशाम्बी प्रकाशन प्रयाग, द्वितीय संस्करण सन् १९५६

(२) **दशाश्वमेघ**—लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी भवन जालन्धर, इलाहाबाद, पांचवा संस्करण सन् १९५६

(३) **कावेरी में कमल (एकांकी संग्रह) लक्ष्मीनारायण मिश्र**—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

(४) **जय पराजय**—उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन गृह इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण सन् १९५०

(५) **दीपदान**—डा० रामकुमार वर्मा (एकांकी संग्रह) भारतीय भण्डार लीडर प्रेस इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण संवत् २०१५

(६) **विश्वामित्र और दो भावनाट्य**—उदयशंकर भट्ट, आत्माराम एन्ड सन्स दिल्ली सन् १९६०

(७) **एकका गाना**—उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नीलाभ प्रकाशन प्रयाग

(८) **छठा बेटा**—उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग सन् १९५२

(९) **वैशाली बसन्त**—लक्ष्मी नारायण मिश्र, विद्या भवन खजान्ची रोड, पटना प्रथम संस्करण संवत् २०१२

(१०) **भगवान मनु तथा अन्य एकांकी**—लक्ष्मीनारायण मिश्र (एकांकी संग्रह) आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली सन् १९५७

(११) **नव प्रभात**—विष्णु प्रभाकर (रेडियो नाटक) सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली संस्करण सातवां सन् १९५९

(१२) **जवानी और छः एकांकी**—उदयशंकर भट्ट, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली सन् १९६१

(१३) **वत्सराज**—लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी भवन इलाहाबाद, आठवां संस्करण, सन् १९५९

(१४) **कोणार्क**—जगदीशचन्द्र माथुर, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण संवत् २०११

(१५) **फूलों की बोली**—वृन्दावन लाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी चतुर्थ वृत्ति सन् १९५९

(१६) **विद्रोहिणी अम्बा**—उदयशंकर भट्ट, मसि जीवी प्रकाशन, नई दिल्ली

(१७) **चरवाहे**—उपेन्द्र नाथ अश्क—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग

(१८) **विक्रमोर्वशी**—(ध्वनि रूपक) उदय शंकर भट्ट, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, द्वितीय संस्करण सन् १९६१

(१६) रेशमी टाई—(एकांकी संग्रह) डा० रामकुमार वर्मा—भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग, पाँचवा संस्करण संवत् २०१५

(२०) केवट—वृन्दावन लाल वर्मा—मयूर प्रकाशन, झांसी चतुर्थावृत्ति सन् १६५६.

(२१) मुक्ति दूत—उदयशंकर भट्ट—आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ली—द्वितीय संस्करण सन् १६६०

(२२) कालिदास—उदयशंकर भट्ट—आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ली—सन् १६६१

(२३) आधी रात—लक्ष्मी नारायण मिश्र—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय द्वि० सं० मार्च सन् १६५७

(२४) पर्दे के पीछे—उदय शंकर भट्ट—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली सन् १६६०

(२५) पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ—उपेन्द्र नाथ 'अश्क' नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग सन् १६५१

(२६) नये एकांकी-सम्पादक-अज्ञेय—ले० लक्ष्मी नारायण मिश्र (एक दिन) एकांकी, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण, नवम्बर १६६१

(२७) बीरबल—वृन्दावन लाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी—चतुर्थावृत्ति सन् १६५७

(२८) स्वर्ग की झलक—उपेन्द्र नाथ अश्क, नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद पाँचवां संस्करण

२६) शिवाजी-डा० रामकुमार वर्मा—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग पंचम संस्करण १६४६

(३०) रिमझिमडा० रामकुमार वर्मा—किताब महल, दिल्ली, टि० सं० सन् १६५६

(३१) क्रान्तिकारी—उदय शंकर भट्ट, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली सन् १६६०

(३२) वितस्ता की लहरें - लक्ष्मी नारायण मिश्र, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, द्वि० सं० सन् १६५७

(३०) गरुण ध्वज-लक्ष्मीनारायण मिश्र—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१ तृतीय सं० १६५८ सन्

(३४) अजीतसिंह—आचार्य चतुरसेन, गौतम बुक डिप—नयी सड़क दिल्ली, तृतीय संस्करण सन् १६४६

(३५) छलावा—परिशोध गार्गी—आत्मारम एन्ड सन्स, काश्मीरी गेट दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १६६१

(३६) नव नाटक निकुंज-सम्पादक-चन्द्रमौलि शुक्ल—सरस्वती मन्दिर जतनबर, बनारस द्वि० सं० १६५६ सन्

(३७) राजसिंह-आचार्य चतुरसेन, गौतम बुक डिपो दिल्ली—द्वि० सं० १९४९ सन्

(३८) भोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर, नीलाभ प्रकाशन, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद—१ द्वि० सं०—जनवरी १९५७

(३९) सेठ गोविन्ददास ग्रन्थावली—(प्रथम खण्ड) भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली सन् १९५७

(४०) मछली के आँसू (रेडियो नाट्य संग्रह) श्री कृष्ण किशोर श्री वास्तव—विद्या प्रकाशन मन्दिर दरियागंग दिल्ली—७ प्रथम संस्करण—१९५७ सन्

(४१) रंग और रूप—(रेडियो नाट्य संग्रह) सिद्धनाथ कुमार, आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट, प्रथम संस्करण सन् १९६०

(४१) छाया—हरिकृष्ण प्रेमी—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली—तृतीय संस्करण १९५२

(४२) अन्तःपुर का छिद्र—गोविन्द बल्लभ पन्त—गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ द्वितीय आवृत्ति संवत् २०११

(४४) अन्धायुग—डा० धर्मवीर भारती-किताब महल इलाहाबाद-प्रथम संस्करण, सन् १९५५

(४५) कारवाँ—भुवनेश्वरप्रसाद, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण, ३० मार्च सन् १९३५

(४६) अन्धा कुआँ—डा० लक्ष्मी नारायण लाल, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण संवत २०१२

(४७) ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पन्त—लीडर प्रेस इलाहाबाद-द्वितीय संस्करण संवत २००४

(४) ऋतुराज—डा० राम कुमार वर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद सन् १९५१

(४९) कैद और उड़ान—उपेन्द्र नाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद सन् १९५५

(५०) अंजी दीदी—उपेन्द्र नाथ अश्क, नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद

(५१) आज का आदमी—उदयशंकर भट्ट, हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद सन् १९५९

(५२) रंगारंग—चिरंजीत (रेडियो नाट्य संग्रह) आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट, दिल्ली

(५३) रजत शिखर—सुमित्रानन्दन पन्त (काव्य रूपक) निर्माण १५ जौ० प्र० सं० संवत २००८ भारती भंडार लीडर प्रेस प्रयाग

(७५) अजातशत्रु—जयशंकर प्रसाद; भारती भण्डार इलाहाबाद संवत् १९९९
(७६) चन्द्रगुप्त—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार लीडर प्रेस, प्रयाग, नवाँ संस्करण संवत २०११
(७७) स्कन्दगुप्त—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार प्रेस; प्रयाग
(७८) शाहजहाँ—द्विजेन्द्रलाल राय, तेरहवाँ सं० १९६० (हि० सं० अनु० रूपनारायण
(७९) ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार इलाहाबाद, पन्द्रहवाँ सं० संवत २०१६
(८०) प्रेम की वेदी—प्रेमचन्द (१९३३)
(८१) चेखव के तीन नाटक—(हिन्दी संस्करण) अनु० राजेन्द्र यादव प्र० सं० सन् १९५८ भारतीय ज्ञान पीठ काशी
(८२) किंगलियर—शैक्सपियर (हिं० सं०) अनु० डा० रांगेय राघव द्वि० सं० १९५९ दिल्ली
(८३) आथेलो—शेक्सपियर (हि० सं०) अनु० डा० रांगेय राघव द्वि० सं० सन् १९५९ दिल्ली
(८४) मैकबैथ—शेक्सपियर (हि० सं०) अनु० डा० रांगेय राघव द्वि० सं० सन् १९५९ दिल्ली
(८५) हैमलेट—शेक्सपियर (हि०सं०) अनु० डा० रांगेय राघव प्र०सं० सन् १९५७ राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली

मनोविज्ञान और दर्शन ग्रन्थ

(१) साइकोलोजी आफ सेक्स—मूल० ले० हैवलाक् एलिस (हि० सं०)
(२) मनोविश्लेषण—फ्राइड (हि० सं०) अनु० देवेन्द्रकुमार प्र०सं० जुलाई १९५८ राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली
(३) मनोविज्ञान—मू० ले० राबर्ट एस० वुडवर्थ (हि०सं०, अनु० उमापतिराय सन् १९५२ दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड लखनऊ
(४) मनोविज्ञान—मूल ले० डा० यदुनाथ सिन्हा (हि० सं०) अनु०डा० गोवर्धन प्रसाद भट्ट चतुर्थ सं० १९६० लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
(५) नवीन मनोविज्ञान—लालजी राम शुक्ल, प्रस्तवना, डा० भगवानदास द्वितीय संस्करण सन् १९५० बनारस
(६) मनस्तत्व—यशदेव शल्य, प्रथम संस्करण सन् १९५८, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद

(७) **मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें**—डा० पद्मा अग्रवाल, सन् १९५५ मनोविज्ञान प्रकाशन बनारस

(८) **व्यावहारिक मनोविज्ञान**— डा० पद्मा अग्रवाल, द्वि० सं० सन् १९५७ मनोविज्ञान प्रकाशन चौक वाराणसी

(९) **अध्यात्मयोग और चित्तावकलन**—श्री वेंकटेश्वर शर्मा सन् १९५७ बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना

(१०) **रोगी मन**—सूरजनारायण मुन्शी, सावित्री एम० निगम प्र०सं० १४ दिसम्बर सन् १९६१ हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद

(११) **भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास**— डा० देवराज और डा० रामानन्द तिवारी द्वितीय सं०सन् १९५०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश इलाहाबाद

ENGLISH BOOKS

1. Historical introduction to modern Psychology—by G. n.urphy. Routledge and Kegan Paul LTD. London 1949
2. Contemporary schools of Phychology—By R. S. Woodworth Eighth Edition (1949)
3. Psycho - Dynamics of abnormal behaviour–by J. F. Brown First edition, New york and London 1940
4. Man, Morals and society–By J. G. Flugen (1948)
5. Group psychology and the analysis of the Eros–by S. Freud (8-9-1940)
6. Contribution to psycho analysis (1921-45) by Mrs. Melamia
7. Psychiatry of everyman–by J. A. C. Brown.--Philoso-phical Library–New york.
8. History of Western philosophy-by B. Russel–Gaorge Allen and Unwin LTD. London.
9. A History of philosophy–by Frank Thilly—Central Book Depot Allahabad.
10. New phychology—by Tansley
11. Collected papers—by Freud
12. Psychological types–Jung.
13. The Science of emotions–by Dr. Bhagwan dass (Footnote)
14. Beyond the pleasure principle–by Freud

15. An outline of psycho-analysis–by Freud

16 Individual psychology–by Aller

17. Introduction to mental Hygiene–dy Ernest R. Groves and phyllis–Gereld how limited 23 Soho Blanchard.

18. A Generel Introduction to psycho-analysis–by Freud (Hindi Edition) Rajpal and Sons, Delhi-1959

19. The pspchology of unconscious–by G. G. Jung.

20. Psychological types–by G. G. Jung.

21. Psychology of Jung–by Jacobi.

22. Psychology–A study of mental life–by R. S. Woodworth

23. Contributions to analytic psychology–by Jung.

24. Studies in Hysteri–by Breur and Freud–1895

25. Aspects of Modern Drama–by F. W. Chandler–The Macmillian Company.

26. Sanskrit–English–Dictionary–by Vaman Shive Ram Apte Shival Kar and Co. Poona (1890)

27. The Liberal imagination–by Lionel Trilling—London (1951) Seker and Wasling.)

(२८) साइकोलौजिकल स्टडीज इन रस– डा० राकेश गुप्त प्र० सं० अलीगढ़

(२९) वर्ल्ड ड्रामा––ए निकल

(३०) बिहेबियर डिसआर्डर्स नार्मल ए० कैमरान

(३१) साइकोलोजी आफ इन्सैनटी––बर्नर्ड रार्ट

(३२) दी ट्रौमा आफ बर्थ —ओटोरैंक

(३३) मनोविज्ञान के समसामयिक सम्प्रदाय––वुडवर्थ

(३४) इन्ट्रोडक्शन टू हीगेल्स फिलासिफी आव फाइन आर्ट—बर्नर्ड वासक्वेट लन्दन सन् १९०५

(३५) स्टिडीज इन यूरोपियन रियलिज्म––जार्ज लूकाज सन् १९५०, लन्दन हिलवे पब्लिशिंग कम्पनी

(३६) प्रिंसिपल आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म––रिचर्ड्स

(३७) इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स [illegible] साइकोएनालिसिस–फ्राइड (सातवीं आवृत्ति)

(३८) डा० जोन्स द्वारा सम्पादित—कलेक्टरस पेपर्स [illegible] प्रेस सन् १९५०